

# THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

[WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC](http://WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC)

---

## FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

**If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.**

**-The TFIC Team.**



मृत्तिग्रन्थ के दिशा-निर्देशक आचार्य श्री तुलसी

संस्कृत-प्रतुत  
ऐन व्याकरण और ढोश ढी परम्परा

आचार्य श्री कालूगणी स्मृति-ग्रन्थ

महोमनस्वी आचार्य श्री कालूगणी की जन्म-शताब्दी  
के उपलक्ष में



रां-रेवृत्त-प्रावृत्त

जैन व्याकरण और वीश की परा परा

दिशा-निर्देश

युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी

सपादक-मंडल

मुनि श्री चन्दनमल    मुनि श्री नथमल  
मुनि श्री छलमल    मुनि श्री बुद्धमल  
डॉ० नथमल टाटिया    श्रीचन्द रामपुरिया  
पं० दलमुख भाई मालवणिया

सपादक

मुनि श्री कुलहराज

डॉ० छगनलाल शास्त्री    डॉ० प्रेमसुमन जैन  
एम० ए० (तय), पी-एच० डी०    सहायक प्रोफेसर —  
मूलपूर्व प्राध्यापक    प्राकृत-संस्कृत विभाग,  
प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली    उदयपुर विश्वविद्यालय

प्रकाशक

श्री कालूगणी जन्म-शताब्दी समारोह समिति  
छापर (राजस्थान)

प्रबन्ध संपादक

मोतीलाल नाहटा

प्रधान मंत्री .

श्री कालूगणी जन्म-शताब्दी समारोह समिति,

छापर (राजस्थान)

प्रथम संस्करण

आचार्य श्री कालूगणी जन्म-शताब्दी दिवस

फाल्गुन शुक्ला २, सं० २०३३

[ २० फरवरी, १९७७ ]

मूल्य

पैंतालीस रुपये

## प्रकाशजीय

तेरापथ का उद्भव एक क्रान्तिपूर्ण इतिहास की कड़ियों से जुड़ा है। इसके आविर्भावक महान् लौहपुरुष आचार्य भिक्षु एक क्रान्ति-द्रष्टा साधक थे, जिन्होंने अध्यात्म-जगत् में अद्भुत क्रान्ति की। उन द्वारा उप्त क्रान्ति-बीज से अकुरित, सर्वद्वित, परलवित एवं पुष्पित तेरापथ का महान् वटवृक्ष सतत विकास पाता गया, जिसकी फलान्विति आज अनेक रूपों में दृष्टिगोचर है।

नूतन और पुरातन की भूल-भुलैया में न पड़ सत्य और यथार्थ का अवलम्बन करते हुए अग्रसर होते रहना तेरापथ का मूल मंत्र है। यही कारण है कि तेरापथ में समय-समय पर जब जैसे अपेक्षित हुए, विकास के नये-नये उन्मेष आते गए, संवर्द्धन, उन्नयन और विकास होता गया। समय और श्रुत दोनों दृष्टियों से तेरापथ एक उत्कर्षशील धर्म-संघ है। आचार्य भिक्षु के उत्तरवर्ती आचार्यों ने अनेक दृष्टियों से इसकी सतत अभिवृद्धि की।

जैन धर्म आचार-प्रधान धर्म है। शुद्ध आचार-सवाहकता जैन श्रमण का जीवन-सत्त्व है। आचार के साथ श्रुत शास्त्रज्ञान विद्या का भी अपना महत्त्व है क्योंकि उससे आचार को सबल वैचारिक पृष्ठभूमि प्राप्त होती है।

तेरापथ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी ने अपने आचार-समुन्नत अन्तेवासियों को अधिकाधिक श्रुत-समुन्नत करने का अपने शासनकाल में अत्यधिक प्रयत्न किया। उसी के अन्तर्गत संघ में हुए संस्कृत विद्या, प्राकृत भाषा आदि के गभीर अध्ययन का पक्ष आता है। आचार्य श्री कालूगणी चाहते थे, उनके साधु-संघ में संस्कृत विद्या का भरपूर प्रसार हो, क्योंकि इससे शास्त्र-परिशीलन में विशेष आनुकूल्य होगा। आचार्य श्री कालूगणी परम दृढ़ निश्चयी थे, उसी का यह परिणाम हुआ कि तेरापथ में संस्कृत के अनेक पारंगामी विद्वान् साधु-साध्वी तैयार हुए। इतना ही नहीं, संस्कृत और प्राकृत में अभिनव व्याकरण तक लिखे गए। प्रातः स्मरणीय आचार्य श्री कालूगणी द्वारा संचालित यह महान् प्रयास उनके उत्तराधिकारी महामहिम आचार्य श्री तुलसी द्वारा उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता रहा।

यह बहुत मुन्दर हुआ कि परमाराध्य आचार्य श्री की प्रेरणा और मुनि श्री नथमलजी के मार्गदर्शन से एक इस कोटि के स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशन का 'समिति' द्वारा निश्चय किया गया, जो आचार्य श्री कालूगणी के विद्या-जीवन से अनन्य-रूपेण सम्बद्ध व्याकरण आदि विषयो पर आधृत हो। उसका साकार रूप प्रस्तुत ग्रन्थ है।

हम इसे आचार्य प्रवर तथा मुनि श्री नथमल जी के आशीर्वाद का ही फल मानते हैं कि इस कोटि के स्मृति-ग्रन्थ का दुःसाध्य कार्य इतने अल्प समय में संपन्न हो सका है। इसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में प्राच्य विद्या के अध्येता मुनि श्री दुलहराज जी, प्राकृत जैन शोध संस्थान, वैशाली (बिहार) के भूतपूर्व प्राध्यापक डॉ० छगनलाल जी शास्त्री तथा उदयपुर विश्वविद्यालय के प्राकृत के सहायक प्रोफेसर डॉ० प्रेम सुमन जी जैन ने बड़ी लगन के साथ श्रम किया है। इसके लिए समिति उनका हृदय से आभार मानती है। ये तीनों ही विद्वान् सस्कृत-प्राकृत क्षेत्र के सुप्रसिद्ध सेवी हैं। इनके मर्क व प्रयास का ही यह परिणाम है कि बहुत कम समय में इतनी उपादेय सामग्री आज विद्वानों के समक्ष उपस्थित की जा सकी है।

सम्पादक मंडल के आदरास्पद मुनिजनों एवं सम्माननीय सदस्यों के भी हम आभारी हैं, जिनका सवल व मार्गदर्शन हमें सहज प्राप्त रहा है।

स्मृति ग्रन्थ के लिए जिन विद्वानों ने अपने शोधपूर्ण निबन्ध प्रेषित कर इसे समृद्ध बनाया है, उनके प्रति हम हृदय में कृतज्ञ हैं।

साहित्य प्रकाशन सम्बन्धी कार्य के सम्यक् निर्वह हेतु समारोह समिति के अन्तर्गत एक साहित्य समिति परिगठित की गई थी। साहित्य समिति के सभी सदस्यों का मुझे हार्दिक सहयोग प्राप्त रहा, जिसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

समिति की साहित्यिक योजना तथा कार्यों में हमारे सम्माननीय सदस्य, जैन विश्व भारती, लाडनू के कुलपति श्री श्रीचंद जी रामपुरिया का प्रारम्भ से लेकर प्रकाशन की अन्तिम वेला तक जो सहयोग और श्रम प्राप्त हुआ, वही आज फलीभूत होकर हमारी इस योजना को सफल बना पाया है। आदरणीय श्री रामपुरिया जी की सेवाओं के लिए सदा-सदा हमारी समिति कृतज्ञ रहेगी। प्रमुख समाज सेवी श्री मानिकचन्द जी सेठिया, श्री सतोषचन्द जी वरडिया एवं श्री गोपीचन्द जी चौपडा का समय-समय पर जो सत्परामर्श एवं मार्गदर्शन प्राप्त होता रहा, उसके लिए हम उनके भी हृदय से आभारी हैं।

समारोह समिति के सम्माननीय अध्यक्ष श्रीमान् मोतीलालजी कोठारी, उपाध्यक्ष श्रीमान् भीखमचंदजी वैद, जिनके महत्त्वपूर्ण, उपयोगी सुझाव मुझे बराबर मिलते रहे, का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। निरन्तर यत्नवत् कार्यरत श्रीमान्

मानिकचदजी चोरडिया का आभार मानना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूँ, जिनका प्रस्तुत कार्य मे मुझे हर समय साथ मिलता रहा । समारोह समिति के सभी सदस्यों को मैं अनेकानेक धन्यवाद देता हूँ, जिनकी सद्भावना, सहयोग तथा साहचर्य से मैं अपने कार्य मे गतिशील रह सका ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन-कार्य मे प० श्री शंकरलालजी पारीक बी० ए० साहित्य-रत्न, विज्ञानरत्न ने अपने अनवरत श्रम से जो स्तुत्य योग प्रदान किया, उसके लिए मैं अपना हार्दिक धन्यवाद देना नहीं भूल सकता ।

आशा है, प्राच्य विद्या जगत् के अध्येता, अन्वेष्टा तथा जिज्ञासु प्रस्तुत ग्रन्थ से लाभान्वित होंगे ।

छापर

चूरू (राजस्थान)

वसंत पंचमी, स० २०३३

मोतीलाल नाहटा

प्रधान मन्त्री

श्री कालूगणी जन्म-शताब्दी समारोह समिति

छापर (राजस्थान)



## सम्पादकीय

भाषा और भाव का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। भावों की सर्वाहकता में भाषा का अपना एक ऐसा दायित्व है, जिसे अनन्य-साधारण कहा जा सकता है। विभिन्न भाषाओं की अपनी-अपनी क्षमताएँ होती हैं क्योंकि शताब्दियों और सहस्राब्दियों के प्रयोगों के अनन्तर कोई एक भाषा परिनिष्ठित रूप प्राप्त करती है। इसे उस भाषा का शक्ति-अर्जनकाल अथवा क्षमता-सम्पादन का समय कहा जा सकता है। परिनिष्ठित, परिष्कृत तथा परिपक्व रूप प्राप्त भाषाओं में संस्कृत का अपना अद्वितीय स्थान है। संस्कृत के शब्दों की कुछ ऐसी अनुपम क्षमता है कि गहनतम विषयों के निरूपण में भी उसका अपना विशेष महत्त्व है। संस्कृत की इस कोटि की परिनिष्ठितता में उसके अपने वैज्ञानिक एवं परिपूर्ण व्याकरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि अत्यन्त कसे हुए व्याकरण के नियम भाषा को ससीम अवश्य बनाते हैं पर साथ ही साथ उसमें एक विशिष्ट शक्ति का आपादन भी करते हैं। संस्कृत का व्याकरण विश्व की भाषाओं के व्याकरणों में अपनी इसी विशेषता के कारण अनुपम है।

संस्कृत भाषा के इतिहास का यह गौरवमय पृष्ठ है कि जैन परम्परा के विद्वानों, आचार्यों और सन्तों ने संस्कृत के पल्लवन और विकास में बहुत बड़ा योगदान किया। जैन आगम-साहित्य की भाषा प्राकृत होते हुए भी उन्होंने संस्कृत में साहित्य के विविध अंगों पर प्रचुर रचनाएँ कीं। अपने आगम-वाङ्मय की व्याख्या, विश्लेषण तथा विवेचन में भी उन्होंने सोत्साह संस्कृत भाषा का उपयोग किया। इससे जहाँ एक ओर उनकी विचार-सम्पदा विद्वद्भोग्य बनी, दूसरी ओर संस्कृत-साहित्य की भी असाधारण श्रो-वृद्धि हुई। संस्कृत विद्या की निधि को आपूर्ण करने में जैन-मनीषियों का बहुत बड़ा योगदान रहा है।

तेरापथ में संस्कृत-प्राकृत की प्रगति

यह बड़े हर्ष का विषय है कि संस्कृतविद्या, जिसकी आज देश में चर्चा तो

वहुत चलती है पर क्रियात्मक रूप से जिसका पठन-पाठन दिनानुदिन क्षीण और क्षीणतर होता जा रहा है, का तेरापथ सघ मे आज भी उत्तरोत्तर विकासमान प्रचलन है। शताधिक साधु, साध्विया सस्कृत मे पारगत हैं। वे केवल अध्ययन और अनुशीलन ही नही, विविध प्रकार के अभिनव साहित्य के निर्माण मे भी तत्पर और कुशल हैं। तेरापथ के वर्तमान अधिनायक युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी के निर्देशन और मार्ग-दर्शन मे सरकृतविद्या के अभिवर्धन-उन्नयन का यह क्रम सतत प्रगतिशील है।

तेरापथ मे हुए सस्कृतविद्या के विकास के इतिहास का पर्यवेक्षण करे तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि परमाराध्य आचार्य श्री तुलसी के गुरुवर्य, तेरापथ के अष्टमाचार्य प्रात स्मरणीय श्री कालूगणी ने इसमे वहुत बडा कार्य किया। उन्होंने जीवन भर इस बात के लिए निरन्तर प्रयत्न किया कि उनके धर्म-सघ मे सस्कृत विद्या के विशिष्ट अध्येता और वेत्ता साधु तैयार हो। आचार्य श्री कालूगणी पल्लवग्राही पांडित्य के पक्षपाती नही थे, वे ठोस तथा मूलग्राही ज्ञान को महत्त्व देते थे। इसी लिए मस्कृत के अध्ययन मे उनका व्याकरण के पठन पर वहुत जोर था। नि सन्देह यह एक अनुकरणीय तथ्य है कि उन्होंने प्रौढावस्था मे स्वयं व्याकरण का गभीर अध्ययन किया एवं अपने अन्तेवासी साधु-साध्वियों को इस ओर प्रेरित किया। व्याकरण शब्दों के शुद्ध प्रयोग की शिक्षा देता है। प्रयोग के लिए प्रयोक्ता के पास शब्दों का वहुत अच्छा सग्रह होना चाहिए। आचार्य श्री कालूगणी ने इसका अनुभव किया और कोश के अध्ययन तथा कठस्थीकरण का विधेय क्रम उन्होंने चालू किया। फलतः अनेक साधु-साध्वियों ने आचार्य हेमचन्द्र द्वारा रचित अभिधान-चिन्तामणि आदि कोषों को कठाय कर लिया। सस्कृत व्याकरण के साथ-साथ प्राकृत व्याकरण के अध्ययन पर भी आचार्य श्री कालूगणी ने बल दिया। आचार्य श्री कालूगणी का शामनकाल तेरापथ मे वास्तव मे विद्या-विकास का काल कहा जा सकता है।

मस्कृत, प्राकृत, कोश आदि के ठोस अध्ययन के पश्चात् तेरापथ मे एक ऐसा कागज गुरु होता है, जब मौलिक साहित्य, विशेषतः लक्षण-ग्रन्थों का सर्जन चालू हुआ। उनके अन्तर्गत मृष्ट ग्रन्थों मे मुनि श्री चौयमल्लजी द्वारा रचित भिक्षु-शब्दानुशासन का अपना अनन्य स्थान है। मुनि श्री चौयमल्लजी ने देश मे प्रचलित, अप्रचलित अनेक व्याकरणों का गभीर परिशीलन किया तथा सरलतम, कोमलतम शैली मे इसकी रचना की। इस प्रसंग पर आशुकिरत्न, आयुर्वेदाचार्य प० रघुनन्दन शर्मा (अलीगढ़, उत्तरप्रदेश) का नाम बडे आदर के साथ स्मरणीय है, जो मुनि श्री के म व्याकरण-प्रणयन के ऐतिहासिक कार्य मे अनन्य सहयोगी रहे तथा म शब्दानुशासन पर वृहद् वृत्ति की रचना भी उन्होंने की।

भिक्षुशब्दानुशासन लिगानुशासन, उणादि, न्यायदर्पण आदि के साथ एक भव्यमम्पन्न व्याकरण है। तेरापथ मे इसका पठन-पाठन चालू हुआ। एक प्रकार



मे यह व्याकरण का एक अभिनव पीठ (New school of grammar) प्रतिष्ठित हुआ। इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ को सुसम्पादित रूप में शीघ्र प्रकाशित करने की योजना है।

संस्कृत का व्याकरण अन्यान्य भाषाओं की तरह साधारणतया भाषा के शिक्षण या वाक्य-रचना-प्रकार-बोधन का मात्र माध्यम नहीं है। वह तो स्वयं अपने आप में एक सर्वथा परिपूर्ण शास्त्र का रूप लिए हुए है। तभी तो कभी उसके लिए यह जनश्रुति प्रचलित हुई 'द्वादशभिर्वर्षे व्याकरणमधीयते' अर्थात् बारह वर्ष में व्याकरण का अध्ययन पूर्ण होता है। कहने का आशय यह है कि संस्कृत व्याकरण में निरन्तर विकास होता गया। टीका, व्याख्या, वृत्ति, वार्तिक, पजिका, फक्किका, प्रक्रिया आदि के रूप में विविध प्रकार का साहित्य निर्मित होता रहा। मुनि श्री चौथमल्लजी ने भी अपने शब्दानुशासन की एक संक्षिप्त प्रक्रिया तैयार की, जिसका उन्होंने अपने श्रद्धेय गुरुवर्य के नाम पर 'कालुकीमुदी' नाम रखा। यह कहना अतिरंजन नहीं है कि आचार्य श्री कालूगणी के शासनकाल में उनके अन्तर्वासी मुनि श्री चौथमल्लजी द्वारा प्रणीत भिक्षुशब्दानुशासन संस्कृत के व्याकरण-वाङ्मय को एक अप्रतिम देन है। भिक्षुशब्दानुशासन पर एक लघुवृत्ति की भी रचना हुई, जिसके लेखक भ्रातृद्वय श्री धनमुनि एव श्री चन्दन मुनि हैं। आचार्य श्री कालूगणी के समय में और भी अनेक विषयों पर संस्कृत में नूतन रचनाएँ हुईं।

आचार्य श्री कालूगणी के दिवंगमन के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी तेरापथ के वर्तमान सहाधिपति, युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी ने संस्कृत विद्या के इस विकास को न केवल बनाए रखा वरन् उसे और अधिक गतिशील किया है। आचार्य श्री तुलसी को वचन से ही संस्कृत से अनन्य अनुराग है। किशोरावस्था से ही उनको संस्कृत के सहस्रो श्लोक कंठस्थ हैं। वे व्याकरण, न्याय, काव्य, कोश आदि अनेक विषयों के मार्मिक अध्येता हैं। यह उनके द्वारा रचित जैनसिद्धान्त-दीपिका, भिक्षुन्यायकर्णिका, मनोनुशासन जैसे प्रौढ ग्रन्थों से प्रकट है। आचार्य-पद का उत्तरदायित्व अपने पर आने से पूर्व तो वे अपना अधिकांश समय शास्त्र-परिशीलन में लगाते ही थे, अब भी आचार्य-पद के अत्यन्त महत्वपूर्ण उत्तरदायित्वों का वहन करते हुए भी शास्त्र-पर्यवेक्षण में वे समय देते हैं। उन्होंने स्वयं तो संस्कृत विद्या के अगोपागो का अत्यन्त मार्मिक अध्ययन कर अनेक विषयों में पारंगामिता प्राप्त की ही, अनेक साधुओं एव साध्वियों को भी तैयार किया। आज तेरापथ में संस्कृत के इतने उच्चकोटि के जो विद्वान् दिखाई देते हैं, इसका बीज-उत्पा के रूप में आचार्य श्री कालूगणी को तथा सिंचक और सवर्धक के रूप में आचार्य श्री तुलसी को बहुत बड़ा श्रेय है।

आचार्य श्री तुलसी के शासनकाल में संस्कृत की तरह प्राकृत भाषा के अध्ययन पर भी बहुत जोर दिया गया।

एक प्रसंग है वि० स० २०११ का चतुर्मास वन्वई में था। पेनिस्ले-विया (अमेरिका) यूनिवर्सिटी के संस्कृत-विभागाध्यक्ष डॉ० नॉर्मन ब्राउन आचार्य श्री के पास आए। वे संस्कृत और प्राकृत भाषा के प्रकांड पंडित थे। साधु-साध्वियों के संस्कृत अध्ययन से वे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने आचार्य श्री से प्रार्थना के स्वर में कहा 'महाराज ! संस्कृत में बहुत कुछ सुना है। अब एक इच्छा है कि मैं भगवान् महावीर की भाषा प्राकृत में कुछ सुनूँ।' आचार्य श्री ने उनकी तीव्र उत्कठा को देखा और मुनि नयमल जी को प्राकृत में प्रवचन देने का निर्देश दिया। मुनि श्री ने लगभग बीस मिनट तक प्राकृत भाषा में धाराप्रवाह रूप से बोलते हुए परिपद् को आश्चर्यचकित कर दिया। प्राकृत भाषा में प्रवचन सुनते-सुनते प्राच्य विद्वान् ब्राउन हर्षविभोर हो उठे और उनकी आंखों से हर्ष के आसू टपक पड़े। उन्होंने कहा 'आज मेरी चिर अभिलाषा पूर्ण हुई। मैं कृतकृत्य हो गया।'।

श्रुतवर आचार्य श्री तुलसी ने जैन आगमों के संपादन तथा विवेचन का कार्य अपने हाथ में लिया। योजना बनी। आचार्य श्री वाचना-प्रमुख रहे और मुनि नयमल जी संपादक और विवेचक। उनके निर्देशन में अनेक साधु-साध्वी इस कार्य में जुटे। कार्य गतिशील हुआ और दो दशकों के इस कार्य-काल में अनेक आगम सुसंपादित और विवेचित होकर जनता के सामने आए। विद्वद्वर्ग ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और वे ग्रन्थ आगम संपादन के मेरुदंड बन गए। इस योजना के अंतर्गत भगवान् महावीर की पच्चीसवीं निर्माण-शताब्दी पर ग्यारह अंगों का सुसंपादित संस्करण 'अंगुसुत्ताणि' तीन भाग के रूप में प्रस्तुत हुआ। वह भी अपने-आप में एक अमूल्य अर्घ्य था। आगम संपादन के कार्य ने अनेक साधु-साध्वियों को प्राकृत भाषा के अध्ययन की ओर अग्रसर किया। अनेक साधु-साध्वी इसमें निष्णात हुए, लेखक और वक्ता बने।

श्री चन्दन मुनि ने प्राकृत भाषा में 'ण्णीइधम्मसुत्तीओ', 'रयणवालकहा' तथा 'जयचरिअ' ये तीन ग्रन्थ लिखे। अन्यान्य साधु-साध्वियों ने भी प्राकृत में स्फुट रचनाएँ कीं। इतना ही नहीं, प्राकृत के व्याकरण का भी नव सर्जन हुआ। प्रौढ विद्वान् एवं चिन्तक मुनि श्री नयमल जी ने तुलसीमजरी के नाम से सिद्ध हेमशब्दानु-शासन के अष्टम अध्याय के आधार पर एक प्रक्रिया-ग्रन्थ की रचना की, जो मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, पेशाची, चूलिका पेशाची, अपभ्रंश और आर्य प्राकृत का एक सुन्दर और सुगम व्याकरण है।

संस्कृत व्याकरण के विकास की शृंखला में मुनि श्री सोहनलाल जी (चूरु) द्वारा रचित तुलसीप्रभा नामक प्रक्रिया-ग्रन्थ से एक कड़ी और जुड़ जाती है। मुनि

श्री सोहनलालजी सिद्धहेमशब्दानुशासन के अच्छे पाठी थे। उन्होंने वर्तमान सधनायक आचार्य श्री तुलसी के नाम पर सिद्धहेमशब्दानुशासन पर इस नवीन प्रक्रिया-ग्रन्थ की रचना की। मुनि श्री सोहनलालजी एक कविहृदय मनीषी थे। उन्होंने व्याकरण जैसे नीरस तथा दुरुह विषय में जो सरसता और मृदुता का अपादान किया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार स्वनामधन्य आचार्य श्री कालूगणी से प्रारम्भ हुआ संस्कृत विद्या का अभियान निर्वाध गति से आगे बढ़ता गया, प्रसार पाता गया। इसकी फल-निष्पत्ति का यथार्थ अकन विद्वानों को तब प्रतीत हुआ, जब आचार्य श्री तुलसी अपने अनेक श्रमण-श्रमणी-समुदाय सहित भारत में संस्कृत के विशिष्ट केन्द्र पूना तथा वाराणसी जैसे स्थानों में गए। पूना में झडारकर ओरिएटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, डेक्कन कॉलेज तिलक विद्यापीठ, संस्कृत वाग्विधिनी सभा तथा वाराणसी में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, हिन्दू विश्वविद्यालय आदि संस्थानों में अनेक कार्यक्रम आयोजित हुए, जिनमें आचार्य श्री के मेधावी अन्तेवासी मुनि नथमलजी के संस्कृत-भाषण तथा आशुकिट्ट से वहा के विद्वान् आश्चर्यान्वित हो उठे। अनेक तटस्थ विद्वानों का तो यहां तक कहना रहा कि आचार्य तुलसी का धर्मसध वास्तव में संस्कृत विद्या का एक जगम विश्वविद्यालय है।

### प्रस्तुत ग्रन्थ की योजना

आचार्य श्री कालूगणी की जन्म-शताब्दी का प्रसंग आया। उस सन्दर्भ में करणीय कार्यों पर चिन्तन चला। साहित्य सर्जन तथा प्रकाशन का जब प्रश्न सामने आया तो आचार्यप्रवर की ओर से एक विशेष दिशा-संकेत इस प्रकार प्राप्त हुआ “आजकल अभिनन्दन ग्रन्थ तथा स्मृति ग्रन्थ तो बहुत अधिक निकल रहे हैं पर वे अधिकांशतः व्यक्तिपरक या प्रशस्तिमूलक ही दृष्टिगोचर होते हैं, किसी महान् पुरुष की स्मृति का अर्थ मैं यह लेता हूँ कि उनके द्वारा जीवन में जो महान् कार्य किये गए, उनमें से किसी एक महत्त्वपूर्ण पक्ष को लेकर उस पर ठोस और शोधपूर्ण सामग्री दी जाए, जो उस क्षेत्र में कार्य करने वाले तथा अग्रसर होने वाले अनुसन्धित्सु सुधीजनों के लिए एक प्रकाश-स्तम्भ का काम दे। आचार्य श्री कालूगणी के जीवन के अनेक ऐसे गरिमाशील पक्ष हैं, जिनसे आज भी हम प्रेरणा प्राप्त करते हुए अपने में एक अभिनव शक्ति एवं स्फूर्ति का संचार कर सकते हैं।

आचार्य श्री कालूगणी ने अपने जीवन में अनेक महान् कार्य किए। अपने श्रमण-सध में संस्कृत, प्राकृत आदि प्राच्य विद्याओं के विकास में जो सतत तत्परता और अध्यवसाय उन्होंने दिखाया, निश्चय ही वह स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है। उनके सतत कर्मठ और उद्यमशील जीवन की स्मृति आज भी हम लोगों में एक नई चेतना का जागरण करती है। संस्कृत, प्राकृत, व्याकरण, कोश आदि के गहन

अध्ययन की जो प्रेरणा उनसे समस्त माधु-साध्वियों को प्राप्त होती रही, वह नि-सन्देह विद्या-पथ पर अग्रसर होते अध्येताओं के लिए एक सबल सबल और पावन पायेय है। कितना अच्छा हो, आचार्य श्री कालूगणी के जीवन के इसी पक्ष को लेकर संस्कृत प्राकृत व्याकरण, भाषा-विज्ञान तथा कोश वाङ्मय पर एक अनु-मधानपूर्ण स्मृति-ग्रन्थ तैयार किया जाए।”

वास्तव में आचार्य श्री के इस दिशा-दर्शन में गभीर चिन्तन अनुस्यूत था। इस विषय को लेकर मुनि श्री नथमल जी के सान्निध्य में परिचर्चाएँ चलीं। मुनि श्री ने एतद्विषयक स्मृति-ग्रन्थ की महत्ता एवं उपयोगिता बताते हुए व्यक्त किया कि यदि ऐसा हो सका तो भारतीय विद्या (Indology) के क्षेत्र में एक महनीय कार्य होगा। यह एक ऐसा सन्दर्भ-ग्रन्थ बन जाएगा, जिसका अनुसन्धितम् विद्वान् सोत्साह उपयोग करेंगे।

मुनि श्री के मार्ग-दर्शन में हमने स्मृति-ग्रन्थ की एक परिकल्पना की। संस्कृत, प्राकृत व्याकरण, भाषा-विज्ञान तथा कोश सबधी विषयों का चयन किया। इस सबध में विशेष रूप से यह चिन्तन रहा कि विभिन्न विशिष्ट विषयों पर उन-उन विशिष्ट विद्वानों से निबन्ध प्राप्त किए जाएं, जो उन विषयों के गभीर अध्येता और गवेषयिता हैं। संस्कृत, प्राकृत आदि के क्षेत्र में कार्यरत रहने के कारण वैसे विद्वानों से हमारा निकट का परिचय एवं सम्पर्क रहा है। हमने इस ग्रन्थ के सबध में लिखने हेतु उन्हें निवेदन किया। यद्यपि जो विषय निर्धारित किए गए, वे इतने गम्भीर और गवेष्य थे कि उन पर लिखने के लिए पर्याप्त समयापेक्षी अध्ययन की आवश्यकता थी पर फिर भी विद्वानों ने थोड़े समय में भी प्रचुर श्रम करके अपने शोधपूर्ण निबन्ध तैयार कर प्रेषित किए। हमारा प्रारम्भ से ही यह चिन्तन रहा है कि कलेवर में सामग्री की बहुलता चाहे न रहे किन्तु गुणात्मकदृष्ट्या उममें उच्चता, गहनता तथा सूक्ष्मता हो। हमें सतोष है कि हमारा अभीप्सित सबध रहा है तथा विश्वास है कि इन विषयों में गहन अध्ययन करने वालों के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी प्रमाणित होगा।

## विषय-वस्तु

भारतीय वाङ्मय में व्याकरणशास्त्र का महत्त्व सर्वोपरि रहा है। आचार्य पाणिनि एवं पतञ्जलि आदि मनीषियों ने संस्कृत व्याकरणशास्त्र की जिस परम्परा को स्थापित एवं पुष्ट किया था, उसका विकास जैन परम्परा के व्याकरणों—जैनेन्द्र, शाकटायन, हेमचन्द्र, मलयगिरि आदि के द्वारा हुआ है। इन्होंने अपने-अपने समय की शब्द-सम्पत्ति का संस्कार करने में विशेष प्रयत्न किया है। जैन आचार्यों ने संस्कृत के व्याकरण-ग्रन्थों पर अनेक टीकाएँ लिखकर उन्हें सुगम और सुबोध बनाया है। इतना ही नहीं, अपितु प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों का परिमार्जन कर

उनमें शब्द, धातु, एवं गणपाठों की वृद्धि भी की है। संस्कृत के जैन महाकाव्यों में ऐसे अनेक नवीन शब्दों का प्रयोग भी जैन कवियों ने किया है, जो व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भिक निबन्ध इस दिशा में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत कर आधुनिक युग तक संस्कृत व्याकरण शास्त्र की परम्परा को स्पष्ट करते हैं।

संस्कृत की भाँति प्राकृत भाषा भी भारतीय चिन्तन की सवाहक रही है। प्राकृत भाषाओं के व्याकरण को प्रस्तुत करना अधिक कष्टसाध्य था क्योंकि उसके प्रयोग में विविधता बनी रही है। किन्तु जैन-आचार्यों ने इस क्षेत्र में भी प्रतिष्ठा प्राप्त की है। लोक में प्रचलित प्राकृत के अनेक शब्दों को व्याकरण की दृष्टि से वैकल्पिक रूपों के अन्तर्गत अनुशासित किया गया है। चण्ड, वररुचि, हेमचन्द्र, मार्कण्डेय आदि व्याकरणों ने ईसा की दूसरी शताब्दी से लगातार १८ वीं शताब्दी तक प्राकृत के व्याकरण लिखे हैं। इधर १९-२० वीं शताब्दी में भी कई विद्वानों ने प्राकृत भाषाओं का विवेचन व्याकरण की दृष्टि से किया है। होयेफर, वेबर, कौबेल, याकोबी, पिशेल, डोल्ची आदि पाश्चात्य विद्वानों ने प्राकृत व्याकरणशास्त्र को प्रकाश में लाने का अथक परिश्रम किया है। भारतीय विद्वानों में वैद्य, घाटगे, कत्रे, उपाध्ये, डॉ० हीरालाल जैन, सुकुमार सेन, प० वेचरदास, मुनि नयमल आदि ने प्राकृत भाषा के अनुसन्धान को गतिशील बनाया है। इस तरह भगवान् महावीर के बाद आधुनिक युग तक प्राकृत शब्दशास्त्र पर जो कार्य हुआ है, उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन कराना इस ग्रन्थ के निबन्धों का विषय है।

प्राकृत-अपभ्रंश भाषाओं का प्रभाव जन-जीवन पर निरन्तर पड़ता रहा है। अतः भारत की प्रायः सभी आधुनिक भाषाओं का अध्ययन बिना प्राकृत-अपभ्रंश को जाने नहीं हो सकता। हमारा यह प्रयत्न था कि इस विषय पर विस्तृत और सोदाहरण सामग्री प्रस्तुत की जाए। किन्तु कुछ लेखकों की स्वीकृति के उपरान्त भी हमें उनके लेख नहीं मिल सके। अतः ग्रन्थ का यह अंश कुछ अधिक सबल नहीं हो सका। किन्तु प्राकृत-अपभ्रंश का राजस्थानी भाषा पर कितना प्रभाव है, यह प्रस्तुत ग्रन्थ के एक लेख से अच्छी तरह प्रतिपादित हो सका है। इससे हमें इस दिशा में और अधिक चिन्तन करने की प्रेरणा मिलती है।

जैन-आचार्यों ने संस्कृत-प्राकृत व्याकरण और भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु कोश-साहित्य के निर्माण में भी अपूर्व श्रम किया है। आगमों में कई एकार्थक शब्दों की सूचियाँ प्राप्त होती हैं। व्याख्या-साहित्य में कई शब्दों की व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं। इस तरह भारतीय वाङ्मय में कोश-निर्माण की परम्परा जैन-आचार्यों के ग्रन्थों से प्रारम्भ होती है। धनपाल एवं हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-कोशों में ऐसे शब्दों का संग्रह किया है, जो भारत के सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण में आधार-शिला का काम कर सकते हैं। इन शब्दसंग्रहों के द्वारा जनभाषाओं के कई स्वरूप

सुरक्षित रह सके हैं। इस परम्परा को आधुनिक युग में जैन आचार्यों ने पल्लवित और पुष्ट किया है। अतः जैनकोशसाहित्य की उपलब्धियाँ भारतीय वाङ्मय के अनुसन्धान के लिये अपरिहार्य हैं। संस्कृत, प्राकृत की भाँति अपभ्रंश-कोश के निर्माण की नितान्त आवश्यकता भी स्पष्ट है। प्रस्तुत ग्रन्थ के एतद् विषयक निबन्ध अस्मिन् दिग्धतया अपनी उपयोगिता रखते हैं।

केवल कोशग्रन्थों में ही नहीं, अपितु अर्धमागधी व गीरसेनी साहित्य में भी अनेक ऐसे विशिष्ट शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो कोशों में भगृहीत होने की अपेक्षा रखते हैं। संस्कृत के जैन महाकाव्यों की शब्दावली संस्कृत भाषा के शब्दभण्डार की वृद्धि करती है। जैन आचार्यों ने बोलचाल की भाषा के जिन शब्दों का साहित्य में प्रयोग किया है, वे 'देशी' शब्द में अभिहित होते हैं। जैन साहित्य में प्रयुक्त देशी शब्द भारतीय साहित्य की बहुत बड़ी थाती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के निबन्धों ने इस विषय को चिन्तन के क्षेत्र में लाकर विद्वत्समाज को उपकृत किया है, अनुसन्धान की दिशाएँ उजागर की हैं। ग्रन्थ के अंग्रेजी निबन्ध भी संस्कृत प्राकृत-व्याकरण-शास्त्र की परम्परा को स्पष्ट करने में सहायक हुए हैं। इस प्रकार ग्रन्थ के विद्वान् लेखकों का अध्ययन व परिश्रम अवश्य ही भारतीय साहित्य के मनीषियों को प्रभावित व लाभान्वित करेगा, ऐसी आशा की जाती है।

## आभार

इस ग्रन्थ के रूप में जो कुछ हम उपस्थापित कर रहे हैं, वह प्राच्य विद्या के महान् उन्नायक, युगपुरुष आचार्य श्री तुलसी की प्रेरणा व कृपा का फल है। मुनि श्री नथमल जी के मार्ग-दर्शन के सहारे ही हम इस कार्य में गतिशील रह सके। इन महासत्त्वसम्पन्न साधकों के प्रति शाब्दिक कृतज्ञता-ज्ञापन तो नितान्त उपचार होगा। हम श्रद्धाभिमत हो उन्हें प्रणमन करते हैं। ग्रन्थ के सम्पादक-मण्डल के विद्वानों का भी हम सादर आभार मानते हैं।

जिन सम्मान्य विद्वानों ने प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए अपने बहुमूल्य निबन्ध लिखे हैं उनके हम हृदय से आभारी हैं। श्री कालूगणी जन्म-शताब्दी समारोह समिति, छापर ने अन्यान्य साहित्यिक कृतियों के साथ साथ इस महान् ग्रन्थ के प्रकाशन का जो निर्णय लिया, वह वास्तव में स्तुत्य है। आचार्य श्री कालूगणी जैसे महान् विद्योन्नायक, श्रद्धेय प्रज्ञापुरुष की इससे अधिक क्या स्मृति हो सकती है? जिस परम श्रुताराधक अलौकिक पुरुष ने अपने जीवन में श्रुत का सम्यक् संप्रसार करते हुए उसके विविध अंगोपांगों को सबलता और संपन्नता दी, उन महापुरुष के प्रति ऐसी ही श्रद्धाञ्जलि सर्वाधिक समीचीन है।

ग्रन्थ का प्रकाशन भी अल्प समय में सम्पन्न हुआ है। आशा है, ग्रन्थ की विषय-वस्तु एवं प्रस्तुतीकरण से सुधीजन लाभान्वित होंगे।

१ जनवरी १९७७  
राजलदेमर (राजस्थान)

मुनि दुलहराज  
छगनलाल शास्त्री  
प्रेमसुभन जैन

## प्रस्तुति

आचार्यवर श्री कालूगणी की स्मृति उस प्रकाशपुज की स्मृति है, जिसकी रश्मियों से असंख्य लोगों का जीवन-पथ प्रकाशित हुआ है। उन्होंने समग्र जीवन में विद्या की आराधना की। उनकी आराधना केवल स्वमुखी नहीं थी, किन्तु उभय-मुखी थी। दूसरों के लिए भी उनका अनुदान बहुत महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य-स्वभाव उनके ऋण को स्वीकारता है, जिनसे कुछ अनुदान मिलता है। हम सब आचार्यवर के ऋणी हैं। ऋणी आदमी उन्मत्त होने का भी प्रयत्न करता है। आगम-वाणी है कि गुण, माता-पिता और स्वामी के ऋण से उन्मत्त होना सरल काम नहीं है। हम ऋण से उन्मत्त हो सके या नहीं, यह चिंता करणीय नहीं है। करणीय यह है कि हम उन्मत्त होने का प्रयत्न करें। यह प्रयत्न ही सही दिशा का सूचन है।

आचार्यवर की जन्मशती पर चतुर्विध धर्म-संघ ने कृतज्ञतापूर्ण भाव से उनके चरणों में विनम्र श्रद्धाजलि समर्पित करने का सकल्प किया है। उस सकल्प के विभिन्न रूपों में एक रूप है यह स्मृति-ग्रन्थ। इस स्मृति-ग्रन्थ की परिकल्पना और प्रकल्पना चालू परिपाटी से भिन्न है। इसमें उनके जीवन के विषय में विशद वर्णन नहीं है और विविध विषयों पर लेख आमलित नहीं किए गए हैं। यह ग्रंथ पुस्तकालय का शोभा-ग्रन्थ न बने, किन्तु उपयोगी ग्रंथ बने, इस दृष्टि से यह एक निश्चित सीमा में बद्ध हुआ ग्रन्थ है। इसमें विषयों का विशेषीकरण है और इस विशेषीकरण के आधार पर ही इसमें लेख आमलित किए गए हैं। इस योजना से यह ग्रंथ जैन परम्परा में निर्मित व्याकरण और शब्दकोश का सदर्थ ग्रन्थ बन गया है।

आचार्यवर के जीवन-वृत्त का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। श्रद्धा-जलि और सस्मरण एक पुस्तक में सकलित है। उनके शिष्यों तथा प्रशंसकों द्वारा उनकी प्रशस्ति में लिखित संस्कृत काव्य—‘काव्यकुसुमाजलि’ के रूप में एक पुस्तक में सकलित है। ये तीनों ग्रन्थ स्मृति-ग्रन्थ से जुड़े हुए नहीं हैं, किन्तु स्वतन्त्र हैं। साधारण पाठकों के लिए

इनकी उपयोगिता अधिक है और विद्या के क्षेत्र में अनुसंधान करने वालों के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ की उपयोगिता अधिक है। दोनों भिन्नक्षेत्रीय उपयोगिताओं को एक क्षेत्रीय न बनाकर उन्हें पृथक्-पृथक् नियोजित किया है। इससे स्मृतिग्रन्थ का आकार अवश्य छोटा हुआ है पर प्रकार छोटा नहीं हुआ है।

जैन आचार्यों ने प्राकृत और संस्कृत—दोनों भाषाओं में ग्रन्थों का प्रणयन किया है। जैन आगम प्राकृत भाषा में हैं। प्राकृत के व्याकरण और शब्दकोश की रचना में भी जैन आचार्यों का योगदान है। आचार्य हेमचन्द्र का देशी नाममाला जैसा विरल ग्रन्थ उस योगदान की एक विशेष उपलब्धि है। प्राकृत का अध्ययन हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों के अध्ययन के लिए आज भी बहुत महत्वपूर्ण है। उसकी उपयोगिता भाषाशास्त्रीय अध्ययन ने और अधिक बढ़ा दी है। भारतीय सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, तत्त्वज्ञान और विज्ञान की बहुमूल्य सामग्री प्राकृत ग्रन्थों में उपलब्ध है। इस दृष्टि से प्राकृत भाषा के विविध पहलुओं पर उपलब्ध सीमासा इस ग्रन्थ की गौरववृद्धि करने वाली ही नहीं है किन्तु अतीत के प्रयत्नों का मूल्यांकन और वर्तमान की उपयोगिता का भी दिशा-निर्देश है।

संस्कृत का महत्व सर्वविदित है ही। उसमें वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों परंपराओं का देय है। जैन-आचार्यों ने संस्कृत के व्याकरण और शब्दकोशों के निर्माण में भी अपने प्रज्ञा-कौशल का परिचय दिया है। उसका सही मूल्यांकन अभी शेष है।

मुझे प्रसन्नता है कि इस ग्रन्थ की संयोजना ने एक नई दिशा का उद्घाटन किया है। आचार्यवर कालूगणी की स्मृति इसका निमित्त बनी है। उनकी स्मृति उनकी मनीषा के अनुरूप हुई है, इससे हम सब बहुत प्रसन्न हैं।

अल्प समय में इसकी सामग्री का चयन और उपलब्ध हुई है, इसमें संपादकों की तत्परता परिलक्षित होती है।

छापर आचार्यवर की जन्मभूमि है। वहाँ के निवासी श्रावक-गण ने प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन का दायित्व लिया है। इस ग्रन्थ से शोध-विद्यार्थियों को पथदर्शन प्राप्त हो सकेगा।

नाहर भवन,  
राजलदेसर  
२०-१-७७

आचार्य तुलसी



## शैलुक्रम

लेखक एवं विषय	पृष्ठ
१ आचार्य श्री कालूगणी व्यक्तित्व एवं कृतित्व युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी तेरापथ के नवम शास्ता, अणुव्रत-अनुशास्ता।	१
२. सस्कृत के जैन वैयाकरण एक मूल्यांकन डॉ० गोकुलचन्द्र जैन एम० ए० (सस्कृत, प्राकृत), साहित्याचार्य, शास्त्राचार्य, पी-एच० डी० प्राच्य विद्या सकाय, हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी	३७
३ आचार्य हेमचन्द्र और पाणिनि स्व० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य, पी-एच० डी०, डी-लिट्	७७
४ सस्कृत-व्याकरणों पर जैन-आचार्यों की टीकाएँ एक अध्ययन डॉ० जानकीप्रसाद द्विवेदी विद्यावारिधि (पी-एच० डी०), वाचस्पति, (डी-लिट्) अनुसन्धान-सहायक, सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी	९९
५ भिक्षुशब्दानुशासन एक परिशीलन मुनि श्रीचन्द्र 'कमल'	१४३
६ दो प्रक्रिया-ग्रन्थ मुनि 'दिनकर'	१६५

- ७ भिक्षुशब्दानुशासन का तुलनात्मक अध्ययन १६६  
 प० विश्वनाथ मिश्र  
 व्याकरण-साहित्याचार्य, एम० ए०  
 प्राचार्य शार्दूल सस्कृत कॉलेज, बीकानेर
- ८ प्राकृत व्याकरणशास्त्र का उद्भव एवं विकास १६३  
 डॉ० प्रेमसुभेन जैन  
 एम० ए० (पालि, प्राकृत एवं जैनज्म, प्राचीन  
 भारतीय इतिहास एवं एशियायी अध्ययन)  
 पी-एच० डी०, साहित्याचार्य  
 ४, रवीन्द्रनगर, उदयपुर (राजस्थान)
- ९ आर्ष प्राकृत स्वरूप एवं विश्लेषण २२७  
 मुनि श्री नथमल  
 सुप्रसिद्ध दार्शनिक, विचारक, आगम-संपादक तथा  
 विवेचक ।
- १० आधुनिक युग में प्राकृत व्याकरणशास्त्र का अध्ययन-अनुसन्धान २३६  
 डॉ० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'  
 एम० ए० (सस्कृत, पालि, प्राचीन इतिहास),  
 साहित्याचार्य, पी-एच० डी० (सीलोन)  
 अध्यक्ष पालि-प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय,  
 नागपुर
- ११ अर्धमागधी आगम-साहित्य की विशिष्ट शब्दावली २६३  
 डॉ० जगदीशचन्द्र जैन  
 एम० ए० (दर्शनशास्त्र), साहित्यशास्त्री, पी-एच० डी०  
 भूतपूर्व प्रोफेसर प्राकृत-जैन-शोध संस्थान, वैशाली  
 एवं वर्लिन विश्वविद्यालय, जर्मनी  
 निवास २८, शिवाजी पार्क, वम्बई-२८
- १२ शौरसेनी आगम साहित्य की भाषा का मूल्यांकन २७६  
 प० हीरालाल शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य  
 श्री ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन, व्यावर  
 (राजस्थान)

- १३ प्राकृत एवं अपभ्रंश का आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं पर प्रभाव २८७  
 डॉ० महावीरसरन जैन  
 एम० ए०, डी० फिल०, डी-लिट्  
 स्नातकोत्तर हिन्दी एवं भाषा-विज्ञान विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर
१४. प्राकृत-अपभ्रंश का राजस्थानी भाषा पर प्रभाव ३०३  
 डॉ० कृष्णकुमार शर्मा  
 एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच० डी०, डी-लिट्  
 हिन्दी विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर
१५. संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की आनुपूर्वी में कोश-साहित्य ३४३  
 डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री  
 एम० ए० (हिन्दी), साहित्याचार्य, पी-एच० डी०  
 हिन्दी विभाग, शासकीय महाविद्यालय, नीमच (म०प्र०)
१६. आधुनिक जैन कोश ग्रन्थों का मूल्यांकन ३८७  
 डॉ० श्रीमती पुष्पलता जैन  
 एम० ए० (हिन्दी, भाषा विज्ञान), पी-एच० डी०  
 न्यू एक्सटेन्शन एरिया, सदर, नागपुर
१७. १६ वी-२०वीं शताब्दी के जैन कोशकार और उनके कोशों का मूल्यांकन ४०१  
 डॉ० नेमीचन्द जैन  
 एम० ए० (हिन्दी), पी-एच० डी०  
 सम्पादक तीर्थङ्कर  
 ६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया रोड, इन्दौर
१८. शब्दकोश की प्राचीन पद्धति ४१७  
 मुनि दुलहराज
१९. संस्कृत के जैन पौराणिक काव्यों की शब्द-सम्पत्ति ४२५  
 (पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, आदिपुराण और उत्तरपुराण के सदर्भ में)  
 डॉ० रमाकान्त शुक्ल  
 एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), साहित्याचार्य, पी-एच० डी०  
 प्राध्यापक स्नातकोत्तर अनुसन्धान हिन्दी विभाग,  
 राजधानी कॉलेज, रिंग रोड, राजा गार्डन, नई दिल्ली

20. Aspects of Jaina Sanskrit 1  
 Dr. W. H. Maurer  
 Assistant Professor of Asian Studies and  
 Curator of the South Asia Collection,  
 University of Hawaii
21. Dialect and Sub-dialects of Prakrit 33  
 Dr. Satya Ranjan Banerjee  
 M. A. Ph. D. (Calcutta), Ph. D. (Edinburgh)  
 F. A. R. S. (London)  
 Department of Comparative Philology and  
 Linguistics, University of Calcutta.
22. Semantic Changes in Kṛta, Tretā, Dwāpara and 69  
 Kali  
 Dr. Ramprakash Poddar  
 M. A. (English, Prakrit), Ph. D.  
 Research Institute of Prakrit, Jainology &  
 Ahimsa, Vaishali (Bihar)
23. Importance of Jain Literature for the study of 83  
 Desya Prakrit  
 Dr. H. C. Bhayani  
 M. A. (Linguistics), Ph. D.  
 Ex Professor Linguistics, Gujarat University  
 9, High Land Park, Gulbai Tekara,  
 Ahmedabad





आचार्य श्री कालूगणी  
(१६ वर्ष की अवस्था में । आचार्य श्री माणकगणी के ग्रुप फोटो से)

## आचार्य श्री जालूगणी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी

जन्मभूमि

गोपालपुरा की पहाडिया लाडणू, सुजानगढ, छपर, चाडवास और वीदासर के मध्य में स्थित है। उनके पास एक ताल है, जो मीलों में फैला हुआ है और वह काले हिरनों के लिए प्रसिद्ध है। उसमें विशाल मात्रा में नमक का उत्पादन हो रहा है।

पहाडियों की शृंखला में आठ पहाडिया हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं

१ काली डूगरी, २ विनायक डूगरी, ३ सुलेर की डूगरी, ४ भेसास की डूगरी, ५. देवी डूगरी, ६ कोठणी डूगरी, ७ चरला की डूगरी, ८ विमर की डूगरी।

महाभारत काल में यह स्थान छपर के नाम से प्रसिद्ध था। आचार्य भारद्वाज (द्रोणाचार्य के पिता) आचार्यवास में रहते थे। उस युग का आचार्यवास ही वर्तमान का चाडवास है।

द्रोणाचार्य आजीविका की खोज में पूर्व की ओर जा रहे थे। पाडवों और कौरवों से सहमा मिलन हो गया। वे उनके गुरु बन गए। उन्होंने राजकुमारों को धनुर्विद्या में प्रशिक्षित कर दिया। धृतराष्ट्र बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने द्रोणाचार्य को गुरुदक्षिणा के रूप में 'छपर' प्रदेश दिया। द्रोणाचार्य ने काली डूगरी के पास द्रोणपुर बसाया। छपर प्रदेश में १४४० गांव थे। तीन मुख्यालय थे १ द्रोणपुर-छपर, २ लाडणू, ३ किरातावाटी।

द्रोणाचार्य के बाद इस प्रदेश पर शिशुपाल के पौत्र पवार डाहलिया का अधिकार हो गया। नागौर पर वागडियों का अधिकार था। डाहलियों (चन्देलों) और वागडियों में विरोध उभर आया। वागडियों ने डाहलियों को परास्त कर छपर प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। वि० सं० ६३१ तक यह प्रदेश वागडियों के प्रभुत्व में रहा।

श्रीमौर प्रदेश के राणा का नाम था मोहिल । उनके पिता का नाम था राणा सुरजन । पिता और पुत्र में अनवरत हो गई । मोहिल ने नये राज्य की खोज में दो गुप्तचरो को भेजा । द्रोणपुर की समतल भूमि पर अविकार करना सरल है, गुप्तचरो से यह सूचना पा मोहिल ने १७ हजार सैनिकों के साथ द्रोणपुर पर अचानक आक्रमण कर दिया । वागडियों के पास ५ हजार सैनिक थे, वे लड़ाई में पराजित हो गए । द्रोणपुर पर मोहिल का अविकार हो गया । मोहिल का शासन होने पर उस प्रदेश का नाम मोहिलवाटी हो गया । वि० सं० १५३१ तक मोहिलों ने द्रोणपुर पर शासन किया ।

वि० सं० १५२३ में राठौड़ नरेश जोधा ने मोहिलों के राज्य को हथिया लिया । ४-५ महीनों के बाद मोहिलों ने फिर उनसे छीन लिया । छुट-पुट लड़ाइयाँ होती रही । आखिर वि० सं० १५३१ में राठौड़ बीदा ने उस पर अपना स्थायी अधिकार कर लिया ।<sup>१</sup> पूज्य कालूगणी का जन्म हुआ, तब छापरा बीकानेर राज्य की सीमा में था ।

## जन्म

वि० सं० १६३३ फाल्गुन शुक्ल द्वितीया का पुण्य दिन । शुभ मुहूर्त और शुभ वेला । एक शिशु का जन्म हुआ । पिता का नाम भूलचन्दजी और माता का नाम छोगाजी । ओसवाल वंश और कोठारी जाति ।

भूलचन्दजी पहले ढढेरू गाँव में रहते थे । वहाँ के ठाकुर से अनवरत हो गई । इसलिए वे सं० १६१८ में छापरा में बस गए । हो सकता है कि एक महान् आत्मा को जन्म देने के लिए उसके उपयुक्त भूमि का चुनाव किया हो । अज्ञात में कुछ ऐसा घटित होता है कि ज्ञात घटना उसकी व्याख्या नहीं दे सकती ।

## नाम-रूप

जन्म-राशि के अनुसार शिशु का नाम शोभाचन्द रखा गया । उनके परिवार में 'काला-भैरू' की मान्यता थी । इसलिए माता-पिता और परिवार के लोग उन्हें 'कालू' नाम से संबोधित करने लगे । उनका प्रसिद्ध नाम यही है । वह कालू नाम शैशव में माता को तृप्ति देता था । मुनि-जीवन में वह मधवागणी को तृप्ति देने लगा । आचार्य-जीवन में यह नाम लाखों श्रद्धालुओं के लिए आस्था का केन्द्र बन गया । यह नाम तेरापत्र के गौरव का प्रतीक है । शिशु का वर्ण श्याम, छरहरा वदन पुडौल आकृति और शरीर सर्वांग-सुन्दर था ।

## शशव

शिशु कालू का जन्म हुआ, तब छोगाजी की अवस्था बत्तीस वर्ष की थी ।



स्वस्थ शरीर, स्वच्छ मन और श्रम की आच मे पका हुआ जीवन कालू के लिए वरदान हो रहा था। पर केवल वरदान या केवल अभिशाप विश्व-व्यवस्था के अनुकूल नहीं है। उसमे वरदान और अभिशाप दोनों एक साथ चलते हैं।

कालू तीन माह का हुआ, उसके पिता मूलचन्दजी का अचानक वि० स० १९३४ मे देहावसान हो गया। छोगाजी को इससे गहरा आघात लगा। पर कालू के मुख को देख-देख उस प्रचण्ड वज्रपात को झेलने मे समर्थ हो गई।

छोगाजी के पिता का नाम था नरसिंहदास लूणिया। उनके छ पुत्र और तीन पुत्रिया थी। छोगाजी उन सबसे छोटी थी। नरसिंहदासजी कोटासर मे रहते थे। वि० स० १९४० मे वे डूंगरगढ मे बस गए। छोगाजी बहुधा अपने पीहर मे रहने लगी। वहा साधु-साध्वियों का सुयोग सहज सुलभ था। वे साधु-साध्वियों के पास जाती थी। कालू भी उनके साथ-साथ जाता था। उस शिशु के मन मे धर्म के प्रति अनुराग जागृत हो गया। भावी जीवन का बीज कुछ-कुछ अकुरित होने लगा। कालू मा का इकलौता बेटा था। मा की सारी ममता उसे प्राप्त थी। पति के देहावसान के बाद वह और सधन हो गई। छोगाजी के लिए इस नश्वर ससार मे वही सब कुछ था। इसलिए उसके लालन-पालन मे उनकी सारी शक्ति लग रही थी।

कालू पाच वर्ष का था। तब आखें दुखने लगी। पन्द्रह दिन तक बहुत कष्ट रहा। आखें खुली ही नहीं। छोगाजी बहुत चिन्तित हो गईं। अचानक एक योगी घर पर आया। उसने कहा—माताजी! फराश की लकड़ी घिसकर बच्चे की आख मे आज दो। आखें ठीक हो जाएगी। छोगाजी ने वह उपचार किया। आखें ठीक हो गईं।

उन दिनों अध्यापक बच्चों की पिटाई करने मे स्वतन्त्र थे। मा नहीं चाहती थी कि मेरे शिशु के शरीर पर किसी का क्रोध से उठा हाथ लगे। इसलिए छोगाजी ने कालू को पढने के लिए स्कूल नहीं भेजा। कालू ने अपने मामा के पास ही थोड़ी-बहुत पढाई की।

मा की ममता कभी-कभी सीमा पार कर जाती है। बच्चे का मन खेलकूद मे लगता है। और, जो बचपन मे खेलने-कूदने नहीं जाता, वह कमजोर रह जाता है। पर छोगाजी कालू को खेल-कूद मे भी नहीं जाने देती। यह बच्चा है, कहीं हाथ-पैर मे चोट न लगा ले, यह आशंका बनी ही रहती। जब मा घर पर नहीं होती, तब साथी बच्चे खेलने के लिए कालू को बुलाते, पर मा को पूछे बिना कालू घर से बाहर नहीं जाता। कालू के शैशव का पूर्वार्द्ध मा की ममता भरी उगलियों के संरक्षण मे बीता। संस्कारों का वैभव दिन-प्रतिदिन समृद्ध होता गया।

## सवोधि

साध्वीश्री मृगाजी के मत्स्य में छोगाजी में वैराग्य का अकुर फूट गया। उनका मन सामारिक विषयो से उदामीन हो गया—वे साध्वी-दीक्षा के लिए तैयार हो गई। कालू अभी अवस्था में छोटा था, केवल आठ वर्ष का था। वे चाहती थी कि हम दोनों साथ ही दीक्षित हो। उन्होंने एक दिन कहा 'पुत्र ! मेरा तुम्हारे प्रति और तुम्हारा मेरे प्रति अति स्नेह है। मैं तुम्हें एक क्षण के लिए भी छोड़ना नहीं चाहती और तुम मुझे छोड़ना नहीं चाहते। पर कुछ बड़े होने पर तुम्हें कमाई के लिए परदेश जाना होगा। फिर हम साथ नहीं रह सकेंगे।

‘मा ! ऐसा कोई उपाय है, जिससे हम निरन्तर साथ रह सकें ?’

‘इसका उपाय है, पर बहुत कठिन है बेटे !’

‘वह क्या है माँ ! मैं उसे जानना चाहता हूँ।’

‘यदि हम दीक्षित हो जाए तो मधवागणी की सेवा में एक गाव में भी रह सकते हैं और यदि किसी दूसरे गाव में भी रहना पड़े तो भी कोई कष्ट नहीं होगा।’

यह उपाय कालू के हृदय में पैठ गया। आठ वर्ष के शिशु ने मा की भावना का समर्थन कर दिया। दीक्षा की पूर्व तैयारी शुरू हो गई। कालू साध्वी मृगाजी के पास तत्त्व-ज्ञान सीखने लगा। पञ्चीस बोल, प्रतिक्रमण आदि जो दीक्षा में पूर्व कण्ठस्थ करने होते हैं, उस शिशु ने कण्ठस्थ कर लिए।

एक दिन कालू ने कहा ‘मा ! हम साधु कब वनंगे ?’

मा ने कहा ‘हमारे आचार्य मधवागणी हैं। वे हमें साधु बनने की स्वीकृति देंगे, तब हम साधु वनंगे।’

‘मधवागणी कहा है ?’

‘सरदार गहर में है।’

‘तो हम उनके पास चले।’

सं० १९४१ का चतुर्मास मधवागणी सरदार गहर में बिता रहे थे। छोगाजी, कालू और कानकवरजी - तीनों उनके दर्शन करने वहाँ पहुँचे। कानकवरजी छोगाजी की भानजी थी। वह भी दीक्षित होना चाहती थी। उन दिनों थली प्रदेश में यातायात का मुख्य साधन बैलगाड़ी या ऊट था। ये ऊट की सवारी कर आ रहे थे। मधवागणी सरदार गहर के बाहर पवारे हुए थे। वहाँ तीनों ने उनके दर्शन किए और दीक्षा लेने की भावना उनके सामने रखी। प्रार्थना का पहला चरण सम्पन्न हो गया।

कुछ दिन मधवागणी की उपासना कर छोगाजी श्रीडूंगरगढ़ चली गई। अब उनकी सवोधि के नव-प्रभु को सीखना मधवागणी का कर्तव्य हो गया। वे अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक थे। समय पाकर साधु-माधवियों को भी डूंगर-

गड या छापर भेजकर वे कालू के उस वैराग्याकुर को सींचते रहे।

## मुनि-दीक्षा

मधवागणी मारवाड और मेवाड की यात्रा कर फिर थली प्रदेश में आए। लाडलू में छोगाजी ने उनके दर्शन किए और दीक्षित करने की प्रार्थना की। उस समय आचार्यवर ने उन्हें साधु-प्रतिक्रमण सीखने की स्वीकृति दी। यह साधु-दीक्षा की पूर्व स्वीकृति होती है।

स० १९४४ का चतुर्मास वीदासर में था। छोगाजी ने वहां मधवागणी के दर्शन किए। इस बार उनकी प्रार्थना स्वीकृत हो गई। उन तीनों (छोगाजी, कालू और कानकवरजी) को दीक्षा की आज्ञा प्राप्त हो गई।

शोभाचन्दजी बैंगानी वीदासर के वरिष्ठ श्रावक थे। धर्मिष्ठ, श्रद्धालु और सौभाग्यशाली। उन्होंने कालू से पूछा “तुम दीक्षा ले रहे हो, पर जानते हो कि अपने यह पारिवारिक जनो की स्वीकृति प्राप्त किए बिना दीक्षा नहीं हो सकती। क्या तुमने वह स्वीकृति प्राप्त कर ली?” कालू ने कहा “मेरी मा मुझे दीक्षा की अनुमति देगी और उनको मैं दूंगा, फिर और किसकी अनुमति लेनी है? कालू के उत्तर ने शोभाचन्दजी का मन जीत लिया।’

छोगाजी छापर गई, अपनी जेठानी की अनुमति प्राप्त करने के लिए। जेठानी ने उन्हें अनुमति नहीं दी और कहा कालू को मैं दीक्षित नहीं होने दूंगी। क्या मेरे देवर का घर उजाड़ना है? छोगाजी ने सोचा, जेठानी में अभी मोह का आवेश है। यह मेरी बात नहीं मानेगी। उन्होंने गोविन्दरामजी नाहटा आदि प्रमुख श्रावको के सामने अपनी समस्या रखी और अपनी जेठानी को समझाने का अनुरोध किया। उन लोगों के कहने पर उसने अनमने भाव से दीक्षा की अनुमति दी।

दीक्षा के समय शोभा-यात्रा निकाली गई। उस समय शोभाचन्दजी बैंगानी ने कालू को बहुमूल्य हार पहनाना चाहा। पर कालू ने यह स्वीकार नहीं किया। बार-बार आग्रह करने पर भी उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया। कालू ने कहा “मा, क्या मैं हार के बिना अच्छा नहीं लगता? जो घर में है, वही जब हम छोड़ रहे हैं, फिर दूसरो का हार क्यों पहनना चाहिए?” कालू की इस बात ने सबके मन में आश्चर्य पैदा कर दिया।

स० १९४४ आश्विन शुक्ल तृतीया को वीदासर में हजारों मनुष्यों की उपस्थिति में दीक्षा की विधि संपन्न हुई। दीक्षा देनेवाले थे तेरापथ के पाँचवें आचार्य श्री मधवागणी। दीक्षित होनेवाला था तेरापथ का भावी आचार्य मुनि कालू, छोगाजी और कानकवरजी। दीक्षा का स्थान था जीतमलजी दूगड का नोहरा।

## शिक्षा और जीवन-निर्माण

मुनि कालू मे विनय और विवेक का मणि-काचन योग था। उनकी बुद्धि भी प्रखर थी। वे चरित्र की अनुपालना मे बहुत जागरूक थे। इन विशेषताओं ने मधवागणी को शीघ्र ही आकर्षित कर लिया। उनकी शिक्षा मधवागणी के पास ही होती रही।

मधवागणी संस्कृत के बहुश्रुत विद्वान् थे। उन्होंने मुनि कालू को आगम-ग्रन्थों का अध्ययन कराया, अपना लिपि-कौशल सिखाया। उनकी हस्तलिपि बहुत सुन्दर थी। वह सुन्दरता मुनि कालू ने भी हस्तगत कर ली। सारस्वत का पञ्च-सन्धि प्रकरण कठस्थ कराया, पर संस्कृत विद्या का पर्याप्त ज्ञान नहीं किया जा सका। मुनि कालू को दीक्षित हुए पाच वर्ष हो रहे थे कि मधवागणी का स्वर्गवान हो गया।

मुनि कालू को मधवागणी की प्रतिकृति कहा जा सकता है। वही गति, वही चिंतन, वही रचि और वही जीवन-क्रम। जीवन से जो सीखा जा सकता है, वह पुस्तकों से नहीं सीखा जा सकता। इस सिद्धांत का जीवन्त भाष्य था मुनि कालू। उनके लिए मधवा एक व्यक्ति नहीं, आदर्श थे। जो मधवा मे नहीं था, वह उनके लिए मूल्यवान् नहीं था। इस पौद्गलिक जगत् मे मधवा का जीवन्त-शरीर नहीं रहा, पर कालू के मानस-पटल पर वह सदा अमिट रहा। वे उसे कभी नहीं भुला सके। आचार्य बनने के बाद भी वे जब कभी मधवागणी की चर्चा करते, उनकी आखें प्रेमाश्रुपूरित हो जाती। देखने वालों के सामने मानो मधवा की प्रतिमा साकार हो उठती।

मुनि कालू मधवा के प्रति समर्पित थे। समर्पण विनिमय के लिए नहीं होता। पर जहां समर्पण होता है, वहां विनिमय अपने आप हो जाता है। मुनि कालू को मधवा का हृदय प्राप्त था, और पूर्ण विश्वास। एक स्थविर मुनि ने मधवागणी से निवेदन किया कालू प्रतिलेखन ठीक नहीं करता। मधवागणी ने कालू से बिना पूछे ही कहा तुम से ज्यादा ठीक करता है। विश्वास उसका नाम है, जिसमे कोई छेद नहीं होता।

मुनि कालू प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण आदि मधवागणी के पास बैठकर ही किया करते थे। इसलिए वे कालू की मुनि-चर्या से भली-भांति परिचित थे। कालू के प्रति उनका आत्मीय भाव दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा था। एक दिन मुनि कालू मधवागणी के उपपात मे प्रतिलेखन कर रहे थे। सर्दी का मौसम था। ठिठुरा देने वाली सर्दी पड़ रही थी। मुनि कालू ने प्रतिलेखन के लिए ओढ़ने के सारे वस्त्र एक साथ उतार लिए। उनका शरीर कापने लगा। मधवागणी ने तत्काल अपनी पछेवड़ी उन्हे ओढ़ा दी। इस घटना को हमारी परम्परा मे विरल घटनाओं मे गिना जाता है।

मुनि कालू के जीवन-निर्माण में छोगाजी का भी बहुत बड़ा योग रहा है। वे दीक्षित होने के बाद भी मुनि कालू के जीवन-निर्माण का पूरा ध्यान रखती थी। मुनि कालू भी उनके प्रति बहुत कृतज्ञता का भाव रखते थे। एक बार मुनि कालू किसी मुनि के पास पाठ-वाचन कर रहे थे। उस समय साध्वी छोगाजी वहां आ गईं। उन्हें देखते ही मुनि कालू उनके पास जाकर बोले 'मैं बात नहीं कर रहा था। मैं उनसे पाठ-वाचन कर रहा था।'

मुनि कालू के जीवन को प्रभावित करने वाला तीसरा व्यक्तित्व था मुनि मगन। मुनि कालू दीक्षित होते ही मुनि मगन से अभिन्न हो गए। उनकी अभिन्नता निरन्तर प्रगाढ़ होती गई और जीवन भर उनमें कोई अन्तर नहीं आया। दो शरीर और एक आत्मा यह अनुभूति सबको होती रही। मुनि मगन बहुत प्रबुद्ध और विवेकभूति थे। उनका परामर्श मुनि कालू का पथ-दर्शन करता रहा।

निमित्त सहायक ही होते हैं, मूल होता है उपादान। जिसमें योग्यता का उपादान होता है और अनुकूल निमित्त मिल जाते हैं, तब ज्योति प्रज्वलित हो जाती है।

मुनि कालू की योग्यता पर मधवा ने मुहर छाप लगा दी थी। मधवागणी प्रातः काल प्रवचन करते थे। दोपहर और मध्याह्न में दूसरे साधु व्याख्यान देते थे। एक दिन उन सबने व्याख्यान देने में अपनी असमर्थता प्रकट की। मधवागणी बहुत कोमल प्रकृति के थे। उन्होंने उन साधुओं की स्वच्छंदता को सह लिया। उन्होंने कालू से कहा 'तुम व्याख्यान दोगे?' कालू बोले—'गुरुदेव! मैं दे सकता हूँ, पर मेरी कठिनाई है कि मुझे गीतिका की लय नहीं आती। न मुझे पदों का अर्थ ही आता है, फिर मैं कैसे व्याख्यान करूँगा? कैसे गाऊँगा? मधवा ने कहा—'लय मैं सिखा दूँगा। अर्थ मैं बता दूँगा।' 'गुरुदेव! तब मैं व्याख्यान दे दूँगा।' और मुनि कालू व्याख्यान देने लगे। अपनी छोटी अवस्था में ही मुनि कालू मधवागणी के लिए सहारा बन गए थे।

## विकास का नया आयाम

सं० १९६० में ढालगणी बीदासर में विराज रहे थे। यह कस्बा ठाकुर हुकम सिंहजी के आधीन था। उनको संस्कृत के अध्ययन में रुचि थी। उन्होंने ढालगणी के पास एक संस्कृत श्लोक भेजा और उसका अर्थ जानना चाहा।

ढालगणी ने वह श्लोक मुनि कालू को दिया। वह यह है

“दोषास्त्वामरणोदये रतिमितस्तन्वीरयात् शिव,  
यामैर्ममितथाः फलान्यदशुभं त्वय्यादृतेऽङ्गे च का।

नाराम नमजापयोधरहित मारस्य रगाहृद,  
सोभाधी गृहमेधिनाऽपि कुविद्यामीशोऽस्मि नन्दादिभू ॥”

मुनि कालू में संस्कृत विद्या का बीज-वपन मघवागणी ने किया था किन्तु उनके स्वर्गवास के पश्चात् उसे अंकुरित होने का अवसर नहीं मिला। इन श्लोक ने मुनि कालू के मुप्त मस्कार पर एक चोट की। वह चोट इतनी गहरी थी कि फिर वह संस्कार मो नहीं सका। इस श्लोक का अर्थ न समझ पाना उनके लिए प्रेरणा का स्रोत बन गया। उन्होंने नारम्बत का पूर्वार्द्ध कठस्थ करना शुरू कर दिया, कुछ ही दिनों में वह कठस्थ कर लिया। उन्हीं दिनों डालगणी चूल्ह पधारे। रायचन्द जी सुराणा संस्कृत विद्या में अति रुचि रखते थे। वे चूल्ह के मुन्गाणा परिवार के प्रमुख व्यक्ति और प्रमुख श्रावक थे। वे पंडित वनव्यामदीमजी के पास संस्कृत पढ़ा करते थे। मुनि कालू का उनमें परिचय हुआ। उन्होंने पंडितजी के नामने संस्कृत पढ़ने की भावना रखी। पंडितजी ने उसका समर्थन किया और उसके लिए अपनी सेवा समर्पित की। मुनि कालू की भावना, रायचन्दजी की ध्यान-भक्ति और पंडित वनव्यामजी की श्रद्धा का अद्भुत समन्वय हुआ और संस्कृत के अध्ययन का क्रम चालू हो गया।

‘जैनों को संस्कृत व्याकरण पढ़ाना साय को दूध पिलाना है’ इस वारणा के पंडितों ने पं० धनव्यामजी का विरोध शुरू कर दिया। पं० धनव्यामजी बगड के रहने वाले थे। आजीविका के लिए चूल्ह में रह रहे थे। बहुत कट्टर क्रिया-काण्डी ब्राह्मण थे। मुनि कालू के साथ उनका ऐसा संस्कार जुड़ा कि उन्होंने किसी भी विरोध की परवाह नहीं की। वे मुनि कालू को पढ़ाने लगे। हमारे नष्ट में भी संस्कृत विद्या के लिए अनुकूल वातावरण नहीं था। आगम सूत्रों के अभ्यास को जितना महत्त्व दिया जाता था, उतना महत्त्व संस्कृत के अध्ययन को नहीं दिया जाता था। अवैतनिक रूप में पढ़ाने वाले विद्वान् भी नहीं मिलते थे। उन समय वातावरण की निष्पत्ति डालगणी के इन शब्दों के द्वारा हुई ‘पंडितजी खुले मुंह कैसे पढ़ाएंगे?’ रायचन्दजी सुराणा ने कहा ‘मुखवन्त्रिका वाचकर पढ़ा देंगे।’ इसे नियति ही कहना होगा कि पंडितजी ने मुखवन्त्रिका वाचकर पढ़ाना स्वीकार कर लिया। यदि मुनि कालू के साथ उनका कोई पूर्व मस्कार नहीं होता तो वे इसे स्वीकार नहीं करते। उनके मन में कोई स्वार्थ की प्रेरणा नहीं थी। उनकी अन्त प्रेरणा ही इसमें काम कर रही थी। चूल्ह-प्रवास में मुनि कालू संस्कृत का अध्ययन करने रहे। कुछ दिनों बाद वहां से प्रस्थान हो गया। मुनि कालू का अध्यवसाय अपरिवर्तनीय था। स्वान्-परिवर्तन होने पर भी वह नहीं बदला। उनके अध्ययन का क्रम चालू रहा। बीच-बीच में पंडितजी का योग मिलता रहा।

## भावी आचार्य की नियुक्ति

स० १९६६ मे डालगणी का शरीर अस्वस्थ हो गया। वे अपने दायित्व के प्रति सजग थे। मुनि मगनलालजी ने अपनी प्रार्थना भी आचार्यवर के चरणों मे प्रस्तुत कर दी। श्रावण कृष्णा एकम को अपने उत्तराधिकार का पत्र लिख दिया। उस समय रूपचन्दजी सेठिया और साध्वी प्रमुखा जेठाजी बाहर थे। तीसरा कोई व्यक्ति आसपास भी नहीं था। डालगणी ने उस पत्र को पुट्टे मे सुरक्षित रख दिया और साधु-सघ को उसकी सूचना दे दी। समूचा सघ हर्ष-विभोर हो गया। अब सबका मन भावी आचार्य का नाम जानने को छटपटाने लगा। कुछ साधुओ और श्रावको ने डालगणी से प्रार्थना की आपने भावी व्यवस्था कर दी, उसके लिए हम आपके कृतज्ञ है। हम सबकी इच्छा है कि आप युवाचार्य का नाम प्रकट करें और वे आपके चरणो मे बैठकर आपके अनुभवो का लाभ लें। डालगणी ने इस प्रार्थना को एक मुस्कान मे ही टाल दिया। साधुओ और श्रावको की भावना पूरी नहीं हुई।

लाडणू के ठाकुर आणदसिहजी थे। वे डालगणी के प्रति बहुत ही श्रद्धा रखते थे। उन्हे पता चला कि डालगणी ने अपना उत्तराधिकारी नियुक्ति कर दिया। उनके मन मे जिज्ञासा पैदा हुई। वे डालगणी के पास आए। उन्होने कहा मैंने सुना है कि आपने उत्तराधिकारी का नाम लिख दिया है। मेरे मन मे उन्हे देखने की उत्सुकता है। इसलिए मैं अचानक अकेला आया हू। डालगणी उनके प्रति बहुत ही कृपालु थे। उन्होने एक साधु से कहा मुनि कालूजी को बुलाओ। साधु ने मुनि कालू से कहा—आचार्यवर आपको याद कर रहे है। वे तत्काल उस मुनि के साथ आए। मुनि कालू जैसे ही दृष्टिगोचर हुए, वैसे ही डालगणी ने उन्हे वापस भेज दिया। ठाकुर साहब ने भावी आचार्य के दर्शन कर लिए। डालगणी ने कहा—अभी यह नाम आप तक ही सीमित रहे। इसका कहीं भी प्रचार न हो। मैंने जानबूझकर इसे गुप्त रखा है और मैं अभी इसे गोपनीय ही रखना चाहता हू। ठाकुर साहब ने प्रतिज्ञापूर्वक कहा आप निश्चित रहे, यह रहस्य कहीं भी उद्घाटित नहीं होगा। ठाकुर साहब जैसे ही नीचे आए, लोगो ने उन्हे घेर लिया और भावी आचार्य का नाम जानने का प्रयत्न किया। ठाकुर साहब बोले आप मुझ से यह बात न पूछें। यदि भावी आचार्य का नाम प्रकट होता तो आप मुझे नहीं पूछते। यह प्रकट नहीं है। आचार्यवर ने यदि मेरे सामने उसे प्रकट किया है तो यह सोच समझकर ही किया है कि मैं उसे प्रकट नहीं करूंगा। आचार्यवर का मुझ पर जो विश्वास है, उसे मैं कभी आघात नहीं पहुंचाऊंगा। आप धैर्य रखें, जो है वह अपने आप सामने आ जाएगा। डालगणी के जीवन काल मे पत्र रहस्य ही बना रहा। भावी आचार्य का नाम जानने की उत्सुकता पूरी नहीं हुई। अनुमान चलते रहे, लोग अटकलें लगाते रहे। मुनि कालू की

जीवनचर्या वैसी ही चल रही थी, जैसी युवाचार्य पद पर नियुक्त करने से पहले थी। डालगणी बड़े अद्भुत व्यक्ति थे। उन्होंने मुनि कालू को अब भी कोई विशिष्टता प्रदान नहीं की। मुनि कालू की अपनी यही विशिष्टता थी कि वे प्रदत्त विशिष्टता से कभी विशिष्ट नहीं बने, जो बने वह अपनी ही आन्तरिक विशिष्टता से बने।

## आचार्य पद का दायित्व

सन् १९६६ भाद्रपद के शुक्ल पक्ष में डालगणी का स्वास्थ्य अधिक गिर गया। अब उनके ठीक होने की संभावना क्षीण हो गई। उनका संकेत पाकर मुनि कालू ने आराधना सुनाई। वह समाधिपूर्ण मृत्यु का एक अनूठा सवल है। जैन-साधना में समाधिपूर्ण जीवन का जितना महत्त्व है, उससे कहीं अधिक महत्त्व समाधिपूर्ण मृत्यु का है।

आराधना श्रीमज्जयाचार्य का अनुपम अनुदान है। उससे समाधिपूर्ण मृत्यु का वरण करने वाला हर व्यक्ति लाभान्वित हो सकता है, और होता है। आराधना सुनते-सुनते डालगणी ने सबके साथ 'खमत-खामणा' किए। भाद्रपद शुक्ला वारस के दिन डालगणी स्वर्गवासी हो गए।

मुनि मगनलालजी ने कहा। आप पद पर आसीन होकर हमें सनाथ करें। मुनि कालू ने सहज ही यह स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा—पहले पत्र पढ़ो, फिर बात करो। मुनिश्रेष्ठ मगनलालजी ने कहा। पत्र पढ़ लिया। अब कौन-सा पत्र पढ़ना बाकी है। सब सन्तों ने आग्रहपूर्वक मुनि कालू को पद पर आसीन कर दिया। वे उदासीन भाव से पद पर बैठे रहे। वे चाहते थे, यह सारा कार्य पत्र-वाचन के बाद में हो, पर साधुओं के आग्रह ने उन्हें पद पर बैठने के लिए बाध्य कर दिया।

भाद्रशुक्ला त्रयोदशी को मध्याह्न के समय तीर्थ-चतुष्टय की विशाल परिषद् जुड़ी। उसमें मुनि मगनलालजी ने डालगणी द्वारा लिखित आचार्य-पद का नियुक्ति-पत्र पढ़ा। वह इस प्रकार है

‘मिक्षु पाट भारीमाल। भारीमाल पाट रायचंद। रायचंद पाट जीतमल। जीतमल पाट मधराज। मधराज पाट माणकलाल। माणकलाल पाट डालचंद। डालचंद पाट कालू। विशेष आज्ञा प्रमाणे चाल्या फायदो होसी। वि० स० १९६६ प्रथम श्रावण प्रतिपदा।’

इस पत्र-वाचन द्वारा साधुओं की भावना, कार्य और व्यवहार की पुष्टि हो गई। यह अज्ञात नहीं था, किन्तु जो ज्ञात था, वह सवादी प्रमाण से प्रमाणित हो सुज्ञात हो गया। अब मुनि कालू तेरापथ के भाग्य-विधाता हो गए। अष्टम आचार्य के जयधोप से वायुमंडल गुंज उठा। समूचा सघ हर्ष-पुलकित हो गया।



डालगणी के चयन-कौशल की सर्वत्र प्रशंसा होने लगी। कालू जैसे अनासक्त और कर्मक्षम आचार्य को पाकर तेरापथ धर्मसंघ धन्य हो गया। भाद्रशुक्ला पूर्णिमा को सकल कला से समन्वित उस पूर्णचन्द्र का आचार्यपदाभिषेक हुआ। तेरापथ का भाग्यचन्द्र अपनी अमल-धवल चादनी से जन-जन की मनोभूमि को उद्योतित करने लगा। सब लोग नए दायित्व के अभिनव सृजन की प्रतीक्षा करने लगे।

## अध्ययन का पराक्रम

हमारे धर्मसंघ में संस्कृत विद्या के अध्ययन का श्रीगणेश जयाचार्य ने किया था। उन्होंने अपने उत्तराधिकारी मधवा को संस्कृत का अध्ययन करवाया। वे कहा करते थे हमारे यहाँ मधजी पंडित हैं। मधवागणी मुनि कालू को संस्कृत पढ़ाना चाहते थे। वे मुनि कालू को कहते संस्कृत हमारे आगमों की कुंजी है। आगम प्राकृत भाषा में है। उनकी टीकाएँ संस्कृत में लिखी गई हैं। संस्कृत जानने वाला टीकाओं के माध्यम से आगमों के रहस्य को समझ सकता है। इसलिए हमें संस्कृत अवश्य पढ़नी चाहिए।

मधवागणी ने मुनि कालू के हृदय में संस्कृत पढ़ने की भावना का बीज बो दिया था, पर वे उसे पर्याप्त समय तक सिञ्चन नहीं दे पाए। फलतः वह बीज अकुरित नहीं हुआ।

डालगणी के शासनकाल में फिर मुनि कालू संस्कृत पढ़ने लगे। इस अध्ययन काल में उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उस समय हमारे संघ में संस्कृत पढ़ाने वाला कोई मुनि नहीं था। ब्राह्मण पंडित जैन मुनि को संस्कृत पढ़ाने में सकुचाते थे। सबसे बड़ी समस्या थी अर्थ देकर विद्या न पढ़ना। इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी मुनि कालू ने अपना अध्ययन चालू रखा। उनका संस्कृत अध्ययन परिपक्व होने लगा।

मुनि कालू आचार्य बने, तब उनकी अवस्था ३३ वर्ष की थी। उस अवस्था में भी वे विद्यार्थी बने हुए थे। ३६ वर्ष की अवस्था (सं० १९७०) में छापरा प्रवास हुआ। उस समय उन्होंने फिर संस्कृत का अध्ययन शुरू किया। उन्होंने अपने व्यवसाय से यह प्रमाणित कर दिया कि ४० वर्ष के आसपास का आदमी भी विद्यार्थी हो सकता है और ७० वर्ष का भी हो सकता है। आचार्यपद का दायित्व उनके कंधों पर आ गया। फिर भी उनके अध्ययन का क्रम नहीं टूटा। वे पहले केवल व्यक्ति थे अपने आपमें सिमटे हुए। अब उनकी सीमाएँ विस्तृत हो गई, उनका कार्य-क्षेत्र विशाल हो गया। समूचे संघ के हितों का यह ध्यान रखना उनका कर्तव्य हो गया। उन्होंने अपने आचरण से यह प्रमाणित कर दिया कि व्यक्ति दायित्वपूर्ण पद पर रहते हुए भी अध्ययन के लिए समय निकाल सकता है।

मुनि मगनलालजी स्वामी जनता के बीच रहते और आचार्यवर एकान्त में बैठ अध्ययन करते। उस समय कण्ठस्थ करने की पद्धति चालू थी। बड़े-बड़े ग्रन्थ कण्ठस्थ कराए जाते थे। आचार्यवर ने भी सिद्धान्तचन्द्रिका का पाठ कण्ठस्थ कर लिया। प्रौढ अवस्था और सघ का दायित्व दोनों उनके दृढ़ अव्यवसाय में सहायक बने और उनका स्वप्न साकार होता गया।

## विकास के स्वप्न

कालूगणी के मन में विकास के स्वप्न उठते रहते थे। उनका स्वभाव निस्तरंग समुद्र की भांति शान्त था। हलचल और कोलाहल से वे दूर रहते थे। पर विकास की तरंगें उन्हें तरंगित करती रहती थी। स्वप्न उसी व्यक्त भावना के प्रतीक हो सकते हैं। हो सकता है कि विकास की सूचना देने के लिए वे आते हों। कालूगणी ने एक स्वप्न देखा उनकी आंखों के सामने एक सूखा वृक्ष है। वह देखते-देखते लहलहा उठा है। दूसरे दर्शन में वह फलों से लदा हुआ है।

इस स्वप्न की व्याख्या उन्होंने की अब मेरे सघ में संस्कृत विद्या का सूखा वृक्ष पत्तों, पुष्पों और फूलों के भार से झुका हुआ होगा। अब हमारा भविष्य विद्या के तार को गतशाखी बनायेगा।

पूज्य गुरुदेव ने एक स्वप्न देखा गाय के मऊंदे बछड़े और बछिया चारों तरफ फैल रहे हैं। इस स्वप्न का अर्थ उन्होंने लगाया श्वेत वस्त्रधारी अनेक तरेण साधु-साध्विया होगी। सचमुच ऐसा ही हुआ। कालूगणी के समय में तरेण साधु-साध्वियों की बड़ी संख्या में दीक्षा हुई। सघ बहुत सज्जितशाली हो गया।

कालूगणी जागृत अवस्था में भी बहुत स्वप्न लिया करते थे। उन्होंने अपने विकास को ही सीमा नहीं माना। अपने शिष्यों को भी विकास के पथ पर अग्रसर करना शुरू किया। अनेक साधु संस्कृत पढ़ने लगे। आचार्यवर स्वयं उन्हें पढ़ाते थे। सारस्वत और सिद्धान्तचन्द्रिका का प्रबल धोष सुनाई देने लगा।

आचार्यवर ने अनुभव किया सिद्धान्तचन्द्रिका का पूर्वार्द्ध अपर्याप्त है, सारस्वत का उत्तरार्द्ध अपर्याप्त है। वे अपने शिष्यों को सारस्वत का पूर्वार्द्ध और सिद्धान्तचन्द्रिका का उत्तरार्द्ध पढ़ाते थे। कुछ वर्षों बाद उनके मन में इसका विकल्प खोजने की प्रेरणा जागी। प्रयत्न शुरू हुआ। मुनि मगनलालजी बहुत दूरदर्शी, सूक्ष्म-बुद्धि के धनी थे। वे यतियों के उपाश्रयों में जाते, उनके पुस्तक-भंडार देखते और जो हस्तलिखित ग्रंथ प्राप्त होते, उन्हें ले आते। उन्होंने हस्त-निवृत्त ग्रंथों का महत्त्वपूर्ण संग्रह किया। उनमें अनेक दुर्लभ ग्रंथ हैं। लिपि-सौन्दर्य की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। श्रीचन्दजी गणेशदासजी गधैया, विरधीचन्दजी मदनचन्दजी गोठी, बालचन्दजी मालचन्दजी सेठिया सरदार-गहर, ईमरचन्दजी चौपडा गंगा शहर, तोलारामजी मुराना चूरू, मालचन्दजी

वैद रतनगढ तथा दानचन्दजी चौपडा सुजानगढ आदि कुछ परिवारो ने भी यतियों के पुस्तक-भंडारो से अनेक ग्रंथ खरीदे। इस प्रकार तेरापथ सघ के साधुओं तथा श्रावको के पास हस्तलिखित ग्रंथो का एक अच्छा सग्रह हो गया।

कालूगणी को सारकौमुदी की एक प्रति प्राप्त हुई। उसे प्राप्त कर आचार्य-वर को सतोप हुआ। उन्होंने कहा इसकी अष्टाध्यायी मिल जाए तो अच्छा रहे। जिसकी ऊर्जा आज्ञाचक्र की ओर प्रवाहिन होती है, उसकी हर कल्पना वास्तविकता बन जाती है और हर सपना साकार हो जाता है। आचार्यवर का स्वप्न आकार लेने लगा। मुनि चम्पालालजी (मीठिया) भादरा (जिला गगानगर, राजस्थान) में गए। वहां रावतमलजी पारख रहते थे। उनके पास यतियों के पुस्तक-भंडारो से खरीदी हुई कुछ पुस्तकें थी। मुनि चम्पालालजी ने पुस्तकें देखी। उनमें उन्हें विशालकीर्तिगणी द्वारा निम्न विशाल शब्दानुशासन (अष्टाध्यायी) की एक प्रति मिली। वे उसे प्राप्त कर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा आचार्यवर को जिसकी खोज है, वह शायद यही ग्रंथ है। वे उस ग्रंथ को ले आए। आचार्यवर को भेंट किया। आचार्यवर ने उसे देख आश्चर्य-मिश्रित हर्ष प्रकट किया। उस उपलब्धि के लिए उन्हें साधुवाद दिया।

सघ जब विकासोन्मुख होता है, तब आचार्य और उनके अनुयायी सभी एक दिशा में गतिशील हो जाते हैं। आचार्य कल्पना करते हैं और शिष्य-समुदाय उस काल्पनिक चित्र में प्राण भरने का प्रयत्न करता है। कालूगणी ऐसे ही सौभाग्य-शाली आचार्य थे। उन्हें शिष्यों का ऐसा विनम्र समुदाय मिला, जो उनके इंगित पर प्राण निछावर करने को तैयार रहता था। तेरापथ की परम्परा में यह सामान्य बात रही है। पर, कालूगणी में कुछ विशिष्ट चुम्बकीय प्रभाव था। वह शिष्यों के हृदय को सहज आकर्षित किये रहता था।

### पंडित रघुनन्दनजी

विकास का चरण जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे सामग्री की अपेक्षाएं भी बढ़ती जाती हैं। ग्रंथों की अपेक्षा पूरी हुई तो उन्हें पढानेवालों की अपेक्षा का अनुभव हुआ। जब विकास होता है तो अपेक्षा अपने आप पूरी होती है। आचार्य-वर स० १९७४ में सरदारशहर का चतुर्मास सपन्न कर चूरू पधारे। वहां रावतमलजी यति थे। वे धर्मसघ के प्रति बहुत अनुराग रखते थे। आचार्यवर के प्रति उनके मन में गहरा अनुराग था। उन्होंने कहा—महाराज! यहां एक विद्वान् आया हुआ है। अभी युवक ही है। पर उसमें अद्भुत विशेषताएं हैं। वह संस्कृत का पारंगामी विद्वान् है। आयुर्वेदाचार्य है। एक दिन में सैकड़ों श्लोक बना लेता है। आणुकवि है। किसी भी विषय पर धाराप्रवाह श्लोक बोल सकता है। ऐसा विद्वान् मैंने पहले कभी नहीं देखा। वह सुनामई गांव (जिला—अलीगढ़,

उत्तर प्रदेश) का निवासी है। यहाँ आजीविका-अर्जन के लिए आया है। यदि वह अनुभूत हो जाए तो अपने सब में संस्कृत विद्या का अच्छा विकास हो सकता है। उनका स्वभाव भी निराला है। वह एकान्तप्रिय है। विज्ञापन से दूर रहता है। गंभीर और धीर है। बहुत कम बोलता है। लोगों से मिलने-जुलने में भी सकोच करता है। अपने आप में मन्त है। रघुनन्दन शर्मा उसका नाम है।

यतिजी ने एक संस्कृतज्ञ विद्वान् का परिचय पाकर कालूगणी को हर्ष हुआ। इस हर्ष के पीछे उनका गुणानुराग तो था ही, किन्तु अपनी अपेक्षा की पूर्ति की परिकल्पना भी थी। आचार्यवर ने कहा कभी योग मिला तो उस विद्वान् से बातचीत करेंगे।

यतिजी ने पंडित रघुनन्दनजी के सामने पूज्य कालूगणी का परिचय दिया। उन्होंने कहा वे जैन आचार्य हैं, तेरापथ के नेता हैं। उनका बहुत बड़ा सघ है। वे बहुत जपितशाली हैं। स्वयं विद्वान् हैं और विद्या के अनुरागी हैं। विद्वान् को बहुत महत्त्व देते हैं। मैं चाहता हूँ कि तुम उनके पास चलो, मैं तुम्हें उनसे परिचित करा दूंगा।

यतिजी की बात पंडितजी सुन रहे थे। पर, समझ नहीं पा रहे थे। वे यतिजी का नाममान करते थे। इसलिए उनकी बात को अस्वीकार करना भी नहीं चाहते थे। और अन्तःकरण में जैन आचार्य और उसमें भी तेरापंथ के आचार्य के पास वे जाना नहीं चाहते थे। उन्होंने प्रकारान्तर में इस बात को टालना चाहा। यतिजी अपनी बात पर अटिग रहे। उन्होंने पंडितजी से कहा मुझे लगता है कि तुम्हारे मन में जैन धर्म और तेरापथ के प्रति कुछ भ्रान्तियाँ हैं। उन भ्रान्तियों को दूर करने का यह अच्छा अवसर है। इस अवसर का लाभ उठाना दूरदर्शिता ही होगी। यतिजी ने यतिजी का अनुरोध स्वीकार कर लिया। वे दोनों आचार्यवर की सेवा में उपस्थित हुए। प्रारम्भिक परिचय के बाद जैन धर्म और तेरापथ के बारे में चर्चा चली। पंडितजी के प्रश्नों का समाधान किया गया। अब पंडितजी विद्वान् ही बदल गए। भ्रान्तिकाल में मनुष्य जो होता है, वह उनके निरस्त हो जाने पर नहीं होता, दूसरा ही हो जाता है। उनके मन में प्रथम संपर्क में ही एक आश्चर्य पैदा हो गया। उन्हें अनुभव हुआ कि वे पूज्य कालूगणी और उनके धर्मसंगों की सेवा के लिए ही उत्तर प्रदेश में राजस्थान में आए हैं।

वे दूसरे दिन फिर आचार्यवर की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने विनम्र मुद्रा में आचार्यवर की एक पाठ्यलिपि दी। आचार्यवर ने पूछा 'पंडितजी! यह क्या है?'

पंडितजी ने कहा

'मैंने आपसे कुछ सीखा है'

'क्या? मैंने क्या सीखा है?' पंडितजी ने पूछा। 'यतिजी मुझे यहाँ

नही लाते तो मेरा मन आपके प्रति घृणा से भरा ही रहता। मैं आपके सपर्क में आया। मेरी शकाए निरस्त हो गई। मैंने अकारण ही आपके प्रति घृणा को पाला मुझे अपनी भूल का अनुभव हुआ। उसके प्रायश्चित्त स्वरूप यह साधु-शतक बना कर लाया हू। इसमें साधु की चर्या है। वह बहुत पवित्र है। उससे पापों का विनाश होता है। मैंने अपने मन में पाली हुई घृणा का प्रायश्चित्त इन शब्दों में किया है

“अत्रागत को न जहाति सत्ये रतो जनोऽसत्यसमूहजालम् ।

न नीलिमा कस्य निवर्तते हि, ममीरिकायोगगतस्य सद्यः।”<sup>२</sup>

आचार्यवर ! आपके चरणों में आया हुआ कौन सत्यप्रेमी मनुष्य है, जो असत्य के जाल को नहीं छोड़ देता। ममीरा के स्पर्श से किस नीली वस्तु की नीलिमा दूर नहीं होती।<sup>१</sup>

आचार्यवर ने तीन घटा में बनाई हुई उस कृति को देखा और देखा कि पंडितजी की ग्रहणशीलता कितनी प्रबल है। उन्होंने एक बार के सपर्क में साधु-चर्या को समझा और उसे काव्य में गुम्फित कर दिया। पंडितजी के प्रति आचार्य-वर के मन में आकर्षण पैदा हो गया। उन्होंने पंडितजी में वह सब पाया, जो यतिजी ने बताया था।

पंडितजी के मन में अगाध श्रद्धा पैदा हुई। उन्होंने आचार्यवर के चरणों में अपने आपको समर्पित कर दिया। साधुशतक के एक श्लोक में उसकी स्पष्ट ध्वनि है

“नेदानी त्वा त्यक्तुमर्हामि साधो !

भक्ति मे त्व शीघ्रतः सगृहाण ।

हस्ताभ्यामावद्धवन्ध प्रकार ,

किं नाह स्या घारितानन्तसेवः ॥”<sup>४</sup>

आचार्यवर ! अब मैं आपको नहीं छोड़ सकता। आप मेरी भक्ति को स्वीकार करें। मैं हाथ जोड़े हुए जीवन-पर्यन्त क्या आपकी सेवा में नहीं रहूंगा ? अवश्य रहूंगा।<sup>५</sup>

आचार्यवर ने पंडितजी के अनुरोध को मूक स्वीकृति दे दी। वे अपना आयुर्वेद का काम करते और जत्र कभी अवकाश होता आचार्यवर की सेवा में आ जाते। साधुओं को संस्कृत-अध्ययन का विशेष अवसर हाथ लग गया। पहले पं० धनश्याम-दास जी पढ़ाते थे। अब पंडित रघुनन्दनजी और पढ़ाने लगे। उनका ज्ञान बहुत विशद था। वे साधुओं को सारकौमुदी और विशाल शब्दानुशासन की अष्टाध्यायी पढ़ाने लगे। स० १९७८ में आचार्यवर लाडलू विराज रहे थे। उस

समय हेमशब्दानुशासन का एक प्रकाशित सस्करण जैचन्दलालजी वरमेचा के यहाँ उलब्ध हुआ। साधुओं ने आचार्यप्रवर को वह दिखाया। वह सर्वांगसपूर्ण व्याकरण था। कुछ साधुओं ने उसे पढ़ना शुरू किया।

### भिक्षुशब्दानुशासन का निर्माण

विशालशब्दानुशासन के परिभाषा-सूत्र सरल थे, हेमशब्दानुशासन के कठिन। पंडितजी दोनों को पढ़ाते थे। आचार्यवर भी दोनों को देखते रहते थे। उनकी यह धारणा बन गई कि हेमशब्दानुशासन के सूत्र कठोर हैं। उसका प्रक्रिया-ग्रंथ भी प्राप्त नहीं है। इसलिए विशालशब्दानुशासन में ही आवश्यक संशोधन कर उसे अध्ययन में प्रयुक्त करना चाहिए।

मुनि चौथमलजी<sup>०</sup> आचार्यवर की उस इच्छा की संपूर्ति में लगे। वे विशाल शब्दानुशासन के अध्येता थे। उनका अध्यवसाय स्थिर था। वे श्रमपटु थे। जिस कार्य में लग जाते, उसे बीच में छोड़ना उन्हें पसन्द नहीं था। पंडित रघुनन्दनजी का उन्हें सहयोग मिला। विशालशब्दानुशासन के परिष्कार का कार्य प्रारंभ हो गया।

मुनि चौथमलजी ने विशालशब्दानुशासन के परिष्कार का कुछ कार्य संपन्न कर लिया। पंडित रघुनन्दनजी ने उसकी वृहद् वृत्ति तैयार की। उसमें सिद्धान्त-कौमुदी और सिद्धहेमशब्दानुशासन आधार रहा। इस कार्य की संपूर्ति पर सबको बहुत प्रसन्नता हुई। आचार्यवर का स्वप्न पूरा हुआ। उन्हें इस बात का सतोष हुआ कि अब सस्कृत विद्या के अध्ययन का क्रम व्यवस्थित ढंग से चल पाएगा।

विशालशब्दानुशासन को परिष्कृत करने का उपक्रम चला था। पर उसमें इतना परिवर्तन हो गया कि एक नया ही व्याकरण-ग्रंथ बन गया। तब मंत्री मुनि मगनलालजी के सुझाव के अनुसार उसका नाम 'श्रीभिक्षुशब्दानुशासन' रखा गया। वह त्रीननम शब्दानुशासन है। उसके सूत्र कोमल हैं। परिभाषा की जटिलता से वह मुक्त है। पंडित रघुनन्दनजी ने हेमशब्दानुशासन की तुलना में उसका चित्र प्रस्तुत किया है।

हेममिद भम दक्षिणहस्ते,  
वामकरे भैक्षवमतिरम्यम्।  
ब्रूहि किमिच्छसि कोमलबुद्धे।  
कर्कश भूतमकर्कश सूत्रम् ॥<sup>६</sup>

भिक्षुशब्दानुशासन के प्रथम अध्येताओं में मैं और मेरे सहपाठी मुनि वनराजजी और चन्दामनजी थे। उस समय तक इसके प्रक्रिया-ग्रंथ का निर्माण नहीं हुआ था। इसलिए हम लोगों ने पहले सिद्धान्तचन्द्रिका कण्ठस्थ की, फिर

भिक्षुशब्दानुशासन का पारायण किया। मुनि चौयमलजी ने भिक्षुशब्दानुशासन के प्रक्रिया-ग्रन्थ के रूप में कालूकीमुदी की रचना की। इसके प्रथम अध्येताओं में मेरे विद्यार्थी मुनि नथमल, बुद्धमल आदि रहे।

पंडितजी ने भिक्षुशब्दानुशासन का पद्यबद्ध लिङ्गानुशासन तैयार किया। न्यायदर्पण, उणादिपाठ, धातुपाठ और गणपाठ भी तैयार हो गया। इस प्रकार देखते-देखते महाव्याकरण सर्वांगपूर्ण हो गया।

### चर्चा के अवसर और समता का अवगाहन

कालूगणी का विहार क्षेत्र सस्कृतज्ञ विद्वानों का क्षेत्र था। उस समय रामगढ़, फतेहपुर, चूरू, रतनगढ़ और बीकानेर में सस्कृत विद्या के केन्द्र थे। इनमें सैकड़ों सस्कृतज्ञ विद्वान् थे। जैसे-जैसे हमारे सघ में सस्कृत विद्या का विकास हुआ, वैसे-वैसे उन विद्वानों का संपर्क बढ़ने लगा। एक बार चन्द्रशेखरजी शास्त्री आचार्यवर के पास आये। बातचीत हो रही थी। मुनि सोहनलालजी ने पंडितजी के सामने एक जिज्ञासा प्रस्तुत की। उन्होंने कहा 'कथं द्वयेपामपि मेदिनी भृताम्' इस श्लोक में 'द्वयेपा' का प्रयोग कैसे हुआ है? यह व्याकरण से सिद्ध नहीं होता है। शास्त्रीजी ने इस जिज्ञासा को दूसरे अर्थ में लिया। उन्होंने सोचा, जैन मुनि महाकवि कालिदास के प्रयोगों में त्रुटि निकालना चाहते हैं। वे उस शब्द की सिद्धि के लिए धाराप्रवाह सस्कृत में बोलने लगे। वे बिना रुके बोलते ही गये। उन्होंने दूसरों को अपनी बात कहने का मौका ही नहीं दिया। उनकी वाक्शक्ति पर सब आश्चर्यचकित थे। आचार्यवर को लगा कि यह समय का सदुपयोग नहीं हो रहा है। उन्होंने कहा शास्त्रीजी! साधुओं ने जानकारी की दृष्टि से प्रश्न पूछा था। उनके मन में कोई विरोधी भावना नहीं थी। आप इसे सहज रूप में ही लें। आपकी वाक्-पटुता से मैं मुग्ध हूँ। पर जो कम बोलता है, उसे मैं कम समझदार नहीं समझता। आचार्यवर के इस वचन से शास्त्रीजी का विवेक जाग उठा। वे तत्काल सभल गये। विनम्रता पूर्वक बातचीत कर अपने स्थान चले गये।

तिरस्कार तिरस्कार की भावना को जगाता है और सम्मान सम्मान की भावना को। आचार्यवर ने शास्त्रीजी के सम्मान की सुरक्षा की। उनके मन में भी आचार्यवर के प्रति सम्मान की भावना जागी। वे दूसरे दिन आये और विनम्र स्वर में बोले —

सायतने गतदिने भवदीयशिष्यै, साक विवादविषयेऽत्र यते । प्रवृत्ते ।

यत् किञ्चिदल्पमपि जल्पितमस्तु कोष्ण, क्षन्तव्यमेव भवताऽत्र कृपापरेण ॥

विशदबोधविशुद्धमतिप्रभा, धवलिता ललिता वचनावलि ।

भगवतो मुखपद्मविनि मृता, सुमुदमातनुतेऽननुतेजस ॥

आचार्यवर ने उनकी विनम्र भावनाओं को स्वीकार किया। वे जीवनभर

आचार्यवर के प्रति कृतज्ञ बने रहे।

स० १६७० में आचार्यवर रतनगढ़ पधारे। प० हरिनन्दनजी संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। वे आचार्यवर के पास आये। प्रसंगवश आचार्यवर ने पूछा आपने कौन-सा व्याकरण पढ़ा है? पंडितजी ने गर्वोक्तिपूर्ण वाणी में कहा भट्टोजी दीक्षित रचित सिद्धान्त कौमुदी मैंने पढ़ी है। वही एक मात्र संस्कृत व्याकरण है। उसके सिवाय दूसरा कोई सर्वांगपूर्ण व्याकरण है ही नहीं। महर्षि अगस्त्य जैसे तीन अजुलियो में समुद्र को पी गये, वैसे ही तीन मुनियो ने समग्र शब्द-सिन्धु का निपान किया है। ऐसा कोई शब्द शेष नहीं बचा है, जो इस त्रिमुनि रचित व्याकरण से सिद्ध न हो।

गर्वोक्ति किसी के लिए भी अच्छी नहीं होती। एक विद्वान् के लिए तो वह अच्छी होती ही नहीं। विद्या अनन्त है। उसका अन्त पाना किसी भी व्यक्ति के लिए संभव ही नहीं है। फिर भी मनुष्य अपनी अल्पज्ञता के कारण समय-समय पर गर्वोक्ति कर बैठता है। यह कैसा आश्चर्य है कि सर्वज्ञ को गर्वोक्ति करने का अधिकार है पर वह करता नहीं। अल्पज्ञ को वह अधिकार प्राप्त नहीं है, फिर भी वह करता है। पंडितजी की गर्वोक्ति पर आचार्यवर को आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा पंडितजी, मैं सिद्धान्त-कौमुदी का प्रशंसक हूँ। उसका महत्त्व भी समझना हूँ। पर, आपकी गर्वोक्ति ने मुझे बाध कर दिया है यह कहने के लिए कि आप सिद्धान्त-कौमुदी के द्वारा 'तुच्छ' शब्द की सिद्धि करें।

सिद्धान्त-कौमुदी की पुस्तक पंडितजी के पास थी। वे उसमें 'तुच्छ' शब्द को सिद्ध करने वाला सूत्र देखने लगे। पुस्तक को काफी टटोला पर वह सूत्र मिला नहीं। उन्होंने कहा महाराज! आज वह सूत्र नहीं मिला है। कल उसे देखकर मैं आपकी सेवा में उपस्थित होऊंगा। दूसरे दिन मध्याह्न में वे आये। बातचीत के प्रसंग में कहा—'तुच्छ' शब्द को सिद्ध करने वाला सूत्र मुझे नहीं मिला। मैंने गर्वोक्ति की, उसके लिए आप मुझे क्षमा करें। आचार्यवर ने मुस्कान भरते हुए कहा—इस जगत् में सब-कुछ अपूर्ण है, फिर हम पूर्णता और अपूर्णता को मापेक्ष दृष्टि से ही देखें। यही क्षमा है। यही हमारा मैत्री-सूत्र है, जो सबको जोड़ता है, किसी को किसी से दूर नहीं करता। मचमुच वह प्रसंग मधुरता में बदल गया। आचार्यवर ने पंडितजी को पराजय का अनुभव नहीं होने दिया।

आचार्यवर के जीवन में तत्त्वचर्चा के भी अनेक अवसर आए। वह वाद-विवाद का युग था। शान्त्रार्थ करना बहुत रसपूर्ण कार्य था। जय-पराजय की भावना प्रबल थी। इसलिए तत्त्वचर्चा की अपेक्षा इसे अविक महत्त्व दिया जाता था कि कौन जीता और कौन हारा। आचार्यवर को भी इस युग के अनुभवों से गुजरना पड़ा। पर, उनका गहज रग इसमें नहीं था। इसका श्रेय उनके जल कमलवत् निर्दोष स्वभाव को ही दिया जा सकता है।



सन् १९७६ की बात है। भीनासर मे कुछ व्यक्ति<sup>१</sup> तत्त्वचर्चा करने आए। चर्चा प्रारम्भ हो गई। उसके बीच आचार्यवर ने सूत्रकृताग के प्रथम श्रुत-स्कन्ध के ११वे अध्यायन (१६-२१) की टीका का एक पाठ उन्हे वनलाया। वे सस्कृत नहीं जानते थे। अतः उन्हीने कहा हम कल किसी सस्कृत विद्वान् को साथ लेकर आएंगे। आपने जो अर्थ बताया वह हमे जचा नहीं। वह जचता भी कैसे, उस पाठ से उनके पक्ष को समर्थन नहीं मिल रहा था।

एक ही दिन बाद वे पंडित गणेशदत्तजी को साथ लेकर आए। तत्त्वचर्चा को सुनने के लिए बीकानेर के लोग भी काफी संख्या मे उपस्थित थे। आचार्यवर ने फिर प्रसंग को चालू करते हुए टीका का अर्थ उन्हे बताया। उन लोगो ने पंडित जी से कहा आप बताइए, टीका के इस पाठ का अर्थ क्या है? पंडितजी ने टीका का पन्ना अपने हाथ मे लिया, उसे ध्यान से पढा। उसका अर्थ समझने का प्रयत्न किया। फिर वे बोले मैं आपके साथ आया हू। आपका पक्षघर होकर आया हू। फिर भी मुझे यह कहना होगा कि टीका के इस पाठ का वही अर्थ है, जो पूज्य कालूगणी जी ने लिया है। उन लोगो ने कहा पंडितजी! आप फिर इसे ध्यान से पढिये। यह अर्थ हमारी समझ मे नहीं आया है।

पंडितजी ने दुबारा उसे पढा और कहा आपकी समझ मे आए या न आए, पर इसका अर्थ वही है, जो अभी-अभी आपको बताया गया था। सब लोग मौन हो गए। कनीरामजी बाठिया ने कहा—पंडितजी! आप भले ही पूज्यश्री का समर्थन करें, मैं इस अर्थ को नहीं मानता। तब आचार्यवर ने कहा—‘मैं नहीं मानता’—इसका उपाय मेरे पास भी नहीं है। जयद दुनिया की किसी भी शक्ति के पास नहीं है।

तत्त्वचर्चा के अनेक प्रसंग आते थे। आचार्यवर की अन्तर्-आत्मा बहुत निर्मल थी। अतः हर प्रसंग निर्मलता के साथ ही सम्पन्न हो जाता था। कोई-कोई प्रसंग खेदजनक भी बन जाता था। स० १९६१ की घटना है। आचार्यवर जोधपुर चतुर्मास के लिए यात्रा कर रहे थे। कालू पधारे। वहा के कुछ दिगम्बर भाई तत्त्वचर्चा के लिए आए। स्त्री की मुक्ति होती है या नहीं होती, इस विषय पर चर्चा हो रही थी। आचार्यवर ने गोम्मटसार की निम्नांकित गाथाए उद्धृत की, जिनसे स्त्री की मुक्ति का समर्थन होता है

“होति खवाइगि समये बोहियबुद्धा य पुरिसवेदा य ।

उक्कुसेणट्ठुत्तर-सयप्पमा। समगरो य चुदा ॥

पत्तेयबुद्ध तित्थयरत्थि णउसयमणोहिणाण जुदा ।

दम छक्क वीस दस वीसट्ठावीस जहाकमसो ॥

जेट्ठा वर बहु मज्झिम ओगाहणगादु चारि अट्ठेव ।

जुगव हवति खवगा उपसमगा अद्धमेदेसि ॥”

वे लोग गोमटसार की हस्तलिखित प्रति लाए। इस गाथा का पन्ना निकाला। वह पन्ना डधर-उवर लेते-देते फट गया। पता नहीं, किसके हाथ से फटा, पर फट गया। इस पर हगामा शुरू हो गया। तत्त्वचर्चा बीच में ही रह गई। आकोश उभर आया। मध्याह्न में लेकर दूसरे दिन सूर्योदय तक वातावरण तनावपूर्ण रहा। बीच-बीच में आचार्यवर के प्रवास-स्थल पर पथराव भी होता रहा।

इस प्रकार की घटना से यह बोंव-पाठ मिला कि ये तत्त्वचर्चा के प्रसंग कभी-कभी सार्थकता की अपेक्षा व्यर्थता को ही मिश्र कर देते हैं। तत्त्वचर्चा के अनुकूल या प्रतिकूल किसी भी प्रसंग में आचार्यवर की समता को खंडित होते नहीं देखा। उनकी आकृति पर भृकुटि को तनते नहीं देखा। यह उनकी सहज मिश्र क्षमा का ही अनुदान है।

नव व्यक्ति पूर्वधारणा की तुष्टि के लिए ही तत्त्वचर्चा नहीं करते। किन्तु ज्ञानधारा में अभिनव उन्मेष लाने के लिए भी करते हैं। उनका वाद निश्चित ही ज्ञानवर्धक होता है। तत्त्ववेत्ता के जीवन में इस प्रकार की तत्त्वचर्चा के भी अनेक प्रसंग आते हैं।

## नये प्रयोग : नई दिशाएं

( १ )

आचार्य का पद बहुत उत्तरदायित्वपूर्ण होता है। आचार्य के सामने अनेक समस्याएँ होती हैं। वे कभी-कभी नींद को भी प्रभावित कर देती हैं। आचार्यवर को जब नींद नहीं आती, तब वे स्वाध्याय का प्रयोग करते। कुछ लोग नींद को गोलियाँ खाकर नींद लेते हैं। यह स्वास्थ्य के लिए हितकर नहीं है। स्वाध्याय का प्रयोग बहुत लाभप्रद है। मस्तिष्क में तनाव नहीं रहता, ज्ञान-तन्तु कसे हुए नहीं रहते। स्नायविक तनाव नहीं होता, तब नींद अपने आप आ जाती है। कुछ लोग गिनती करते-करते नींद में चले जाते हैं। कुछ लोग वास गिनते-गिनते नींद ले लेते हैं। आचार्यवर को नींद नहीं आती, तब वे मुझे बुलाकर कहते 'स्वाध्याय शुरू करो। मैं किसी ग्रंथ के पाठ का पुनरावर्तन शुरू कर देता। आचार्यवर उसे सुनने लग जाते। कुछ ही मिनटों में नींद आने लगती।

( २ )

आचार्यवर आगम-नूतों का वाचन संस्कृत टीकाओं के माध्यम से किया करते थे। उन समय हमारे सभ में वे ही एकमात्र इसके अविकारी थे। दूसरा कोई संस्कृत का विद्वान् नहीं था। कोई विषय उनके व्यास में नहीं आता, उसे चिन्तन

के लिए छोड़कर आगे बढ़ जाते। वह चिन्तन में पड़ा रहता। कुछ दिनों बाद अर्द्ध-निद्रा में उसका अर्थ ध्यान में आ जाता। ऐसा अनुभव होता, मानो मधवागणी उन्हें वह अज्ञात विषय समझा रहे हैं। ऐसी घटना उनके जीवन में अनेक बार घटित होती थी। मनोविज्ञान इसकी व्याख्या अपने ढंग से करता है कि अवचेतन मन में गया हुआ विषय स्वयं समाधान प्रस्तुत कर देता है। आचार्यवर ने इसकी व्याख्या अपने ढंग से की। पर वे इस मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करते थे और उसमें सफल भी होते थे।

( ३ )

आचार्यवर के हाथ के लिखे हुए कुछ पन्ने प्राप्त हैं। उनमें सरस्वती-मन्त्र लिखे हुए हैं। सरस्वती की उपासना बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। अनेक आचार्यों ने इस विषय में अनेक मंत्रों की रचना की। आचार्यवर ने उनमें प्रमुख-प्रमुख मन्त्र अपने पन्नों में लिखे थे। इससे पता चलता है कि उनके मन में विद्या के विकास की भावना बहुत प्रबल थी। संभव है, उन्होंने सरस्वती-मन्त्र की साधना भी की हो।

हमारे धर्मसंघ में आज विद्या की जितनी शाखाएँ विकसित हैं, उनका बीज-वपन आचार्यवर ने ही किया था। तेरापथ धर्मसंघ वर्तमान युग में एक प्रबुद्ध धर्मसंघ के रूप में प्रतिष्ठित है। उसके प्रबुद्ध साधु-साध्वियों के कर्तृत्व से विज्ञान-समाज प्रभावित है। उसका मूल श्रेय आचार्यवर की दूरदर्शिता को ही है। संस्कृत विद्या का विकास उनके युग में ही हो चुका था। हेमचन्द्रानुशासन का आठवाँ अध्याय प्राकृत परिवार की छ भाषाओं का व्याकरण है। आचार्यवर ने मुझे और मेरे विद्यार्थी मुनि नथमलजी को उसका पाठ कठस्थ करा दिया था। न्यायशास्त्र के विषय में उन्होंने 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' का चुनाव किया। उसकी एक हस्त-लिखित प्रति वे अपने पास रखते थे और समय-समय पर उसका पारायण किया करते थे। साहित्य के क्षेत्र में अनेक आयाम खुल चुके थे। उस समय का मुनि-गण काव्यपाठी ही नहीं था, काव्य-निर्माता भी हो चुका था। आचार्यवर कविता को बहुत प्रोत्साहन देते थे। वे स्वयं बहुत अच्छे कवि थे, पर स्वयं कविता नहीं लिखते थे। दग्धाक्षर की आशंका से ही ऐसा हुआ था। वे कभी-कभी कविता लिखते, वह बहुत सुन्दर होती थी। स० १९६१ की बात है। मारवाड़ प्रदेश की यात्रा हो रही थी। आचार्यवर बड़े गुडे में विराज रहे थे। फाल्गुन वदी सप्तमी को<sup>११</sup> सायंकालीन प्रतिक्रमण के बाद मैं आचार्यवर की वन्दना करने गया। तब आचार्यवर ने मुझे लक्ष्य कर तत्काल एक सोरठा बनाकर मुझे कहा

सीखो विद्यासार, परहो कर परमाद नै।

बधसी बहु विस्तार, धार सीख धीरज मनै ॥

फाल्गुन वदी ६ को मध्याह्न में आचार्यवर ने पुनः एक सौरठा कहा

शिशु मुनिवर सुविसेख, क्रिया नित्य निर्मल करो ।

रच न चूको रेख, देख-देख पगला धरो ॥

यह पद्य उनकी ललित, प्रसन्न और मुदु शैली की काव्य-क्षमता की सूचना करते हैं। पर उक्त आशका ने उनकी क्षमता का उपयोग नहीं होने दिया।

( ४ )

आचार्यवर के जीवन की सव्या का समय चल रहा था। वे मालवा-यात्रा से लौटकर चित्तौड़ पवारे। वहा वह प्राणधाती व्रण उठा। आचार्यवर को कुछ आन्तरिक आभास हो गया। उन्होंने भक्तामर का पाठ शुरू किया। वे भक्तामर की एक हस्तलिखित प्रति अपने पास रखते थे। उस समय वह प्रति मुनि नथमल को दी हुई थी। उन्होंने वह प्रति मगवाई और पाठ शुरू किया। वह पाठ प्रतिदिन चलता था। शारीरिक व मानसिक समस्या आने पर स्तुति-मन्त्रों के पाठ का बहुत महत्त्व है। वे उसका महत्त्व जानते थे। उनका ज्ञान सघ में सक्रात हुआ। आज वह अनेक दिशाओं में प्रसार पा रहा है।

( ५ )

जयाचार्य के समय महासती गुलावाजी ने भगवती-सूत्र की जोड़ की हस्तलिपि की थी। कुछ समय बाद उसकी एक हस्तलिपि बड़े कालूजी स्वामी ने की। उसके बाद उसकी कोई हस्तलिपि नहीं हुई। वह विशाल ग्रंथ है। साठ हजार से अधिक उसके पद्य हैं। आचार्यवर के समय में उसकी दो हस्तलिपियां हुईं। एक मुनि कुन्दनमलजी ने की और एक साव्वी खूमाजी ने। अन्य अनेक साव्वियों ने भी लिपि-कौशल का अद्भुत विकास किया।

मुनि कुन्दनमलजी का लिपि-कौशल बहुत चमत्कारी सिद्ध हुआ। स० १६७७ (भिवानी-चतुर्मास) में उन्होंने एक पत्र लिखा। उसमें समूचा उत्तराव्ययन सूत्र और व्यवहार चूलिका लिखी हुई है। उस 'द' 'X' '४' इञ्च के पन्ने में लगभग अस्सी हजार अक्षर हैं। जितना सूक्ष्म, उतना ही सुन्दर। लिपि-कौशल के इतिहास में उसका अद्वितीय स्थान है। मुनि सोहनलालजी चूड़, मुनि अमीचन्दजी सुजानगढ़, मुनि सोहनलालजी चाड़वास आदि अनेक साधुओं ने ऐसी सुन्दर हस्तलिपियां की, जिन्हें देखकर कोई भी व्यक्ति आश्चर्य-चकित हुए बिना नहीं रह सकता।

सिलारि, पात्र की रगारि, रजोहरण आदि के निर्माण में भी कला का इतना विकास हुआ कि उनकी कलात्मकता सहज ही आकर्षण का हेतु बन गई।

## प्राचीनता और नवीनता की देहलीज पर

( १ )

आचार्य कालूगणी उस समय अस्तित्व में थे, जब हजार वर्ष की लम्बी पर-  
तन्त्रता के बाद हिन्दुस्तान स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ रहा था। महात्मा गांधी उस  
लड़ाई का नेतृत्व कर रहे थे। पुरानी धारणाएँ टूट रही थी, नई धारणाएँ  
स्थापित की जा रही थी। पुरानी परम्पराओं और सीमाओं का स्थान नई परम्प-  
राएँ और सीमाएँ ले रही थी। उस सन्धिकाल में कोई सर्वथा पुराना नहीं रहा  
था, और कोई भी सर्वथा नया नहीं हो पा रहा था। आचार्यवर नए विचारों के  
समर्थक थे, यह कहकर मैं अतिशयोक्ति करना नहीं चाहता। किन्तु यह अत्युक्ति  
भी नहीं होगी कि वे सन्धिकाल के अनुरूप प्राचीनता की मिट्टी में नवीनता के  
बीज बो रहे थे। वे यथावत् स्थिति के पोषक नहीं थे। यथार्थ की स्वीकृति के  
लिए उनका मानस तैयार था। सन् १९८४ का प्रसंग है। आचार्यवर बीदासर में  
विराज रहे थे। मानसिंह जी (मुशिदावाद, पश्चिम बंगाल) दर्शन करने आए।  
उन्होंने कहा 'महाराज श्री ! आप माधु-साध्वियों को बंगाल प्रान्त में क्यों नहीं  
भेजते ? आचार्यवर ने परम्परानुसारी उत्तर दिया 'वह अनार्य देश है। वहाँ  
हम लोग जा नहीं सकते। अपने कथन की पुष्टि के लिए आचार्यवर ने बृहत्कल्प  
का एक सूत्र उन्हें बताया, जिसमें मुनियों के विहार की सीमा बतलाई गई है।  
आचार्यवर ने कहा—इस सूत्र के अनुसार हम पूर्व में अग-मगध, दक्षिण में  
कौशाम्बी, पश्चिम में थूणा और उत्तर में कुणाल तक जा सकते हैं। यही आर्य क्षेत्र  
है। इससे आगे अनार्य क्षेत्र है। अतः इस सीमा से आगे नहीं जा सकते। इससे  
आगे जाने पर ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की हानि होती है।<sup>१३</sup> मानसिंहजी बोले  
महाराज श्री ! सीमा के बारे में आपने जो कहा वह ठीक है किन्तु मैंने सुना है कि  
इस सीमा से आगे जहाँ ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की वृद्धि हो, वहाँ मुनि जा  
सकते हैं।

आचार्यवर ने बृहत्कल्प का ट्वा (भावानुवाद) देखा। उसमें उस्सपाति का  
अर्थ 'हानि होती है' किया था। उसके भाष्य और टीका में इसका अर्थ 'वृद्धि  
होती है', किया था। आचार्यवर ने कहा 'वृद्धि का अर्थ ठीक है। उन्होंने पृष्ठों में  
'हानि होती है' यह अर्थ कटवा दिया और उसके स्थान पर 'वृद्धि होती है' यह अर्थ  
लिखवा दिया। कुछ समय बाद आचार्यवर ने मुनि चौथमल जी से कहा 'ट्वा में  
वह अर्थ किया हुआ था, जो अर्थ अब हमें पुनः मान्य नहीं होगा, फिर भी वही कर  
दो। यद्यपि यह अर्थ सही नहीं है पर ट्वाकार द्वारा किया हुआ अर्थ हम कैसे बदल  
सकते हैं ? यह अर्थ अब हमें मान्य नहीं होगा, फिर भी हमें उसे बदलने का अधि-

कार नहीं।

साधु-साध्वियों को बंगाल में भेजने का अवसर आचार्यवर के सामने नहीं आया। पर सुदूर क्षेत्रों में उन्हें भेजने का मार्ग खुल गया। बम्बई, पूना आदि क्षेत्रों में साधु गए उसके पीछे इस धारणा का योग अवश्य होना चाहिए कि जहाँ ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि हो वहाँ किसी भी क्षेत्र में मुनि विहार कर सकते हैं।

## ( २ )

वार्मिक पुस्तकों का प्रकाशन पहले से ही होता रहा है। पर व्यवस्थित रूप में संपादित होकर पुस्तक प्रकाशन आचार्यवर के समय से ही प्रारंभ हुआ। गुलाबचन्द जी लूणिया (जयपुर) आचार्यवर के युग में एक विशिष्ट श्रावक थे। उन्होंने श्री जयाचार्य रचित प्रश्नोत्तर-तत्त्व-बोध का सम्पादन किया। उसका प्रकाशन हीरालाल जी आचलिया (गंगाशहर निवासी) ने किया। श्री जयाचार्य का एक दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है भ्रम विध्वंसन। उसमें तेरापथ के सैद्धान्तिक पक्ष का बहुत सूक्ष्म प्रतिभा से प्रतिपादन किया गया है। उसका प्रकाशन वेला (कच्छ) के श्रावक मूलचन्द जी कोलवी ने कराया था। वे तपस्वी और आस्थावान् श्रावक थे। उन्होंने 'भ्रम विध्वंसन' देखा। उन्हें बहुत महत्वपूर्ण ग्रन्थ लगा। उन्होंने साधुओं के पुट्टों से उसकी प्रति निकाल ली और उसे प्रकाशित कर दिया। पर, वह बहुत ही अशुद्ध रूप में प्रकाशित हुआ।

सं० १९७६ में आचार्यवर का चतुर्मास वीकानेर में था। उस समय सैद्धान्तिक चर्चाओं का दौर चलता था। भ्रम विध्वंसन की बहुत उपयोगिता थी। तब अनायास ही उसके संपादन की ओर ध्यान आकर्षित हुआ। आचार्यवर ने अपने शिष्य मुनि चौयमलजी आदि को उसके संपादन का आदेश दिया। उन साधुओं ने प० मधुनन्दनजी के सहयोग से उसका संपादन किया। ईसरचन्दजी चौपडा ने उसे प्रकाशित करवाया। वह उस समय की सुसंपादित पुस्तक है। उसका चर्चा वार्ता में बहुत उपयोग हुआ।

## ( ३ )

इन शताब्दियों में आगम-सूत्रों को ट्वे के माध्यम से पढ़ने की प्रवृत्ति चल रही थी। आचार्यवर ने सस्कृत टीकाओं के माध्यम से आगम पढ़ने शुरू किए। वे बहुत बार कहते थे केवल शब्दार्थ से काम नहीं चलता। उसका तात्पर्य समझना चाहिए। वह समझने के लिए टीकाएँ पढ़ना बहुत आवश्यक हैं।

## परीक्षा के क्षण और प्रोत्साहन

( १ )

शिक्षा का अगला चरण है परीक्षा। आचार्य शिष्यो को शिक्षा देता है और समय-समय पर उसकी परीक्षा भी लेता है। आचार्यश्री कालूगणी भी अनेक बार अपने शिष्यो की परीक्षा लेते थे। एक बार प्राय सभी सन्तो को आमन्त्रित कर कहा —‘असवारी’ (पूरी पक्ति है राणाजी थारी देखन दो अस-वारी) यह रागिनी गाओ।

मुनि कुन्दनमलजी, चौथमलजी, सोहनलाल जी, (चूरू) आदि सन्तो ने वह रागिनी गाई। पर आचार्यवर की दृष्टि में वह ठीक नहीं गाई गई। आचार्य-वर के निर्देशानुसार मैंने वह रागिनी गाई। मैंने कुछ दिन पहले ही आचार्य-वर के पास बैठकर उस रागिनी को गाने का अभ्यास किया था। आचार्यवर ने कहा यह ठीक गाता है। परीक्षा में मैं उत्तीर्ण हो गया।

( २ )

पिछली रात के समय हम अनेक साधु आचार्यवर की सन्निधि में बैठे थे। व्याकरण का प्रसंग चल पड़ा। आचार्यवर ने कहा पठन के साथ-साथ मनन होना चाहिए। तुम लोग पढ़ते हो, पर मनन कौन-कौन करते हो, यह बताओ। मनन के बिना व्याकरण व्याधिकरण बन जाता है। परीक्षा की मुद्रा में आपने पूछा “कुमारीभिच्छति, कुमारी इव आचरति इति कुमारी ना” इसमें कौन-सी विभक्ति है ?

विद्यार्थी मुनि उलझन में फस गए। कुमारी शब्द का तृतीया विभक्ति का रूप कुमार्या बनता है और यह ‘कुमारीना’ भी तृतीया विभक्ति जैसा प्रतीत होता है। क्या उत्तर दिया जाए।

मुझे संबोधित कर पूछा —मैंने उत्तर दिया यह प्रथमा विभक्ति है। ना पुरुषवाची पद है। कुमारी उसका विशेषण है। जो पुरुष कुमारी को चाहता है या उसके अनुरूप आचरण करता है, वह कुमारीना कहलाता है।

( ३ )

आचार्यवर का संस्कृतज्ञ विद्वानो से काफी संपर्क था। वे विद्वान् आते और विद्यार्थी साधुओ की परीक्षा ले लेते। कभी-कभी दूसरे संप्रदाय के मुनि भी परीक्षा ले लिया करते थे।

स० १९८७ के भीनासर प्रवास की घटना है। पायचदिया गच्छ के श्री पूज्य

जी देवचंदजी ने आचार्यवर को अपने उपाश्रय में आने के लिए निवेदन किया। आचार्यवर वहाँ पधारे। कुछ समय तक वार्तालाप होता रहा। आचार्यवर वापस जाने लगे, तब वहाँ उपस्थित सवेगी मुनि लावण्यविजयजी ने कहा 'कदागुरोकसो भवन्त ?' इसका सघि-विच्छेद करिए। मुनि सोहनलालजी (चूरू) ने तत्काल बताया कदा आगुः ओकसो भवन्तः अर्थात् आप घर से कब आए ? यह उत्तर सुनकर मुनि जी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने आचार्यवर की ओर मुड़कर कहा आप सन्तो को खूब अच्छे ढंग से तैयार कर रहे हैं।

( ४ )

उसी वर्ष (स० १९८७) आचार्यवर बीकानेर में प्रवास कर रहे थे। वहाँ यतियो और सवेगी मुनियों का प्रवास भी होता रहता था। कभी-कभी परस्पर मिलने के अवसर भी आते थे। मिलन के एक अवसर पर एक सवेगी मुनि ने पूछा 'कुमरी नव भूपस्य' इस पद में सन्धि क्या है ? मुनि सोहनलालजी (चूरू) ने उसका उत्तर दिया कु अरीन् अव भूपस्य अर्थात् हे राजन ! पृथ्वी की रक्षा और शत्रुओं का अन्त कर। यह सुन मुनि बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने आचार्यवर के नेतृत्व में चल रहे विद्या-विकास के प्रति बहुत आदर व्यक्त किया।

( ५ )

आचार्यवर विकास की प्रक्रिया के कुशल ज्ञाता थे। वे उसकी साधना और साधनों को भी जानते थे। उनका अनुभव था कि परीक्षा एक प्रोत्साहन है। प्रोत्साहन के और भी अनेक उपाय हैं। उन्होंने अन्य उपायों को भी काम में लिया। वे विद्यार्थी और अध्यापन कराने वाले मुनियों को समर्थन देते, उन्हें पुरस्कृत भी करते।

मुनि भीमराजजी उस युग के प्रबुद्ध चेता विद्वान् थे। उनका विद्यानुराग और गुणानुराग अनुकरणीय था। वे समय और धन के बड़े पक्के थे। वे साधुओं को आगमभूत तथा संस्कृत ग्रन्थ पढाते थे। उनका सारा कार्य व समय दूसरों के लिए ही होता था। एक बार उन्होंने कुछ विद्यार्थी साधुओं को अन्वय सहित 'सिन्दूर प्रकर' सिखाया। आचार्यवर को इसका पता चला। उन्होंने विद्यार्थी मुनियों को बुलाकर उनसे सिन्दूर प्रकर के श्लोक सुने। स्पष्ट उच्चारण और अन्वय सहित श्लोकों को सुनकर आचार्यवर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने विद्यार्थी मुनियों और मुनि भीमराजजी—सभी को पुरस्कृत किया। परिष्ठापन एक सघीय व्यवस्था है। आचार्य अनुग्रह करते हैं, तब वे जमा होते हैं और प्रायश्चित्त प्राप्त होने पर उनका उपयोग होता है। आचार्यवर ने विद्यार्थी मुनियों को पाच-पाच और मुनि भीमराजजी को इकावन परिष्ठापनों से पुरस्कृत किया।



( ६ )

विद्यार्थी मुनि अध्ययन में जब कम रुचि लेते, तब आचार्यवर उन्हें बार-बार पुरस्कृत कर प्रोत्साहित करते। कभी संस्कृत का श्लोक कठस्थ कराते और कभी मारवाडी का दोहा। उसका अर्थ बताते और उसका मनन करने की प्रेरणा देते। वे इतने बड़े प्रेरणा-स्रोत थे कि उससे प्रेरणा की अनेक रश्मियाँ निकलती थी और मानस को आलोक से भर देती थी। स० १६८० की घटना है। आचार्यवर जयपुर में चतुर्मास बिता रहे थे। मुनि धनराजजी और मुनि चन्दनमलजी दोनों सप्ताह पक्षीय भाई, जिन्हें दीक्षित किए कुछ ही समय हुआ था, एक दिन दोनों में विवाद हो गया। मुनि चन्दनमलजी ने कहा—मैं नहीं रटूँगा। आप रटते जाइए, मैं सुन-सुन कर कठस्थ कर लूँगा। मुनि धनराजजी ने कहा—मैं क्यों रटूँ? सीखने की अपेक्षा तुम्हें है या मुझे है? मुनि चन्दनमलजी ने कहा—सीखाने की अपेक्षा आपको है या मुझे है? इस विवाद को लेकर दोनों भाई आचार्यवर के पास पहुँचे। उन्होंने अपनी-अपनी बात आचार्यवर के सामने रखी। दोनों की बात सुनकर आचार्यवर ने उनके सिर पर हाथ रखकर कहा—न तो इसे अपेक्षा है और न तुझे अपेक्षा है। अपेक्षा मुझे है, इसलिए जाओ ध्यानपूर्वक अध्ययन करो। विवाद समाप्त हो गया। सीखने और सिखाने का काम नए उत्साह से शुरू हो गया।

### गगापुर का चतुर्मास

आचार्यवर उदयपुर चतुर्मास के बाद प्रस्थान कर गगापुर पहुँचे। तब तक वे आठ सौ मील की यात्रा कर चुके थे। उनके घुटनों में दर्द रहता था। मंत्री मुनि भगनलालजी को भी चलने में कष्ट होता था। फिर भी उन्होंने मालवा की यात्रा बड़े उत्साह से की। कौन जानता था कि यह उनकी अन्तिम यात्रा है। कौन जानता था कि गगापुर का चतुर्मास उनका अन्तिम चतुर्मास है। उनकी आयु षष्टि-पूर्ति नहीं कर पाई थी। उनका शरीर बहुत शक्तिशाली था। घुटने के दर्द को छोड़कर बुढ़ापा उन पर आक्रमण नहीं कर पाया था। कुछ ऐसी ही नियति बन गई कि मृत्यु ने असमय में ही उन पर अपने डोरे डालने शुरू कर दिये। घटनाओं से निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने उसका सहयोग किया। वे शरीर की उपेक्षा कर केवल मनोबल से जीवन-यात्रा चलाने लगे।

गगापुर में चातुर्मासिक प्रवेश बड़े उत्साह के साथ हुआ। आचार्यवर ने ५० मिनट तक पहला प्रवचन किया। प्रवचन के समय प्रतीत नहीं होता था कि उनका शरीर अस्वस्थ है। यदि हाथ पर बधी हुई पट्टी को न देखे तो कोई कह नहीं सकता कि आचार्यवर अस्वस्थ हैं।

रगलालजी हिरण के भवन (रग-भवन) में आचार्यवर का निवास हुआ। उस

समय आचार्यवर के साथ चौबीस साधु और सत्ताईस साध्विया थी। साधुओं के छत्तीस और साध्वियों के पचास सिंघाड़े (कुल ८६) अन्य क्षेत्रों में चतुर्मास कर रहे थे। एक सौ इकतालीस साधु और तीन सौ चौतीस साध्विया उनके नेतृत्व में आत्म-साधना और उसके साथ-साथ जन-कल्याण कर रही थी। उनके शक्ति-शाली नेतृत्व में धर्मसंघ अङ्गुदय के शिखर का स्पर्श कर रहा था। प्रगति के नये उन्मेष नई संभावनाओं को खोज रहे थे।

आचार्यवर गंगापुर पहुँचकर बहुत प्रसन्न हुए। प्रसन्नता का पहला कारण था वचन का निर्वह और दूसरा कारण था शारीरिक बाधाओं के होने पर भी लक्ष्य की पूर्ति। आचार्यवर प्रतिदिन प्रवचन करते थे। और भी दैनिक कार्यक्रम पूर्ववत् चलता था। पर स्वास्थ्य दिन-दिन चिन्तनीय बनता जा रहा था। धाव भरा नहीं था। मधुमेह की मात्रा में कभी नहीं हुई। अन्न की अरुचि हो गई। ज्वर सतत् रहने लगा। लीवर विकृत हो गया। खासी भी सताने लगी। शरीर में शोथ हो गया। एक शरीर अनेक रोग। रोग ने एक ऐसे महापुरुष पर आक्रमण किया, जिसकी वेदना केवल उसी को नहीं, अनगिन श्रद्धालुओं को अभिभूत कर रही थी। रोगी वीर योद्धा की भाँति रोगों से जूझ रहा था और उसके श्रद्धालु उस युद्ध में उसका साथ नहीं दे पा रहे थे, किन्तु प्राण का मोह उन्हें त्रास दे रहा था।

### प० रघुनन्दनजी की चिकित्सा

चतुर्मास का प्रारम्भ हुआ, तब प० रघुनन्दनजी के आगमन की प्रतीक्षा की जाने लगी। पंडितजी चतुर्मास में प्रायः आचार्यवर की सन्निधि में रहते थे। वे श्रावण में आते और दीवाली के आसपास अपने घर चले जाते। श्रावण के शुक्ल पक्ष में पंडितजी आए। आचार्यवर के शरीर को देखकर वे स्तब्ध रह गए। यह क्या हुआ जैसे शतदल कमल के वन पर तुषारापात हो गया हो। उन्हें अपनी आँखों पर भरोसा नहीं हुआ। मंत्री मुनि भगनलालजी से पूछा यह क्या हो गया? उन्होंने कहा पंडितजी! कुछ समझ में नहीं आ रहा है। एक छोटी-सी फुन्सी निकली थी। यह सब उसी का विस्तार है। पुरानी कहावत चरितार्थ हो गई छोट ब्रण, चिनगारी, छोटे क्षण और अल्पप्राय कषाय की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उपेक्षा करने पर उनका छोटा रूप भी बड़ा बन जाता है। हमने भी फुन्सी को छोटा समझकर उसकी उपेक्षा की। आज उसका रूप भयंकर बन गया है। अब आप आचार्यवर के रोग का निदान कर चिकित्सा शुरू करें।

पंडितजी के आने पर सभी बड़े-बड़े सत एकत्र हो गए। उनकी भावना का ज्वार प्रवल हो गया। वे बोले पंडितजी! इस बार आपके आगमन से हमें उत्साह ही हर्ष हुआ है, जितना मेह के आने से मोर को होता है। यह छोटा क्षेत्र है। यह

कोई अच्छा डाक्टर नहीं है। अच्छे वैद्य भी नहीं हैं। बाहर से आने वाले डाक्टरों और वैद्यों की दवा आचार्यवर ले नहीं रहे हैं। एक अच्छे वैद्य से निदान और उपचार की अपेक्षा थी। अब आप आ गए। बहुत अच्छा हुआ। आप शीघ्राति-शीघ्र रोग का निदान कर उपचार शुरू करें।

पंडितजी समूचे सघ के मन को पढ़कर हर्ष से गदगद् हो रहे थे। सबके मन में आज एक ही भावना है आचार्यवर शीघ्र स्वस्थ हो। मैं आचार्यवर के स्वास्थ्य-लाभ में कारण बनूँ, यह मेरा सौभाग्य होगा। उन्होंने नाडी की परीक्षा की। आखो, नाखूनो, जीभ, यकृत और प्लीहा को देखा। रोग का निदान कर आत्म-विश्वास के साथ रोग का उपचार शुरू कर दिया। पंडितजी ने रोग का निदान इस प्रकार किया- उदर-व्याधि, मदाग्नि, विषम ज्वर, सूखी खासी, शोथ, उदर वृद्धि और मधुमेह।

पंडितजी ने इस निदान के आधार पर चिकित्सा शुरू की। सब रोगों को निर्मूल करने के लिए अनेक औषधियाँ दीं। उनकी औषधि की एक विशेषता थी कम मात्रा। उदर पर गोमूत्र का सिंचन भी शुरू किया गया। प्रातः और सायं दोनों समय नाडी की परीक्षा करते और आवश्यकतानुसार औषधि में परिवर्तन भी। एक सप्ताह बीत गया। बीमारी में कोई कमी नहीं हुई। दूसरा सप्ताह बीत रहा था, फिर भी विशेष लाभ प्रतीत नहीं हुआ। पंडितजी ने सोचा— यह क्या हुआ? दीप जल रहा है। पर अन्वकार ज्यों का त्यों है। ठीक वैसे ही हो रहा है कि दवा चल रही है पर रोग ज्यों का त्यों है। यदि लाभ नहीं, तब दवा कब तक चलेगी? और यह समाज का प्रश्न है, आचार्यवर का शरीर एक व्यक्ति का शरीर नहीं है, यह समाज का शरीर है। यदि कोई घटना घटित होती है तो उसका समूचे समाज पर अमर होता है। मैं दवा देना बंद कर चिकित्सा से हाथ खींच लूँ, यह कैसे हो सकता है और लाभ न होने की स्थिति में दवा चलती रहे, यह भी उचित नहीं। वे एक भारी मानसिक उलझन में फँस गये। उन्होंने अपने मन की उलझन मंत्री मुनि मंगनलालजी के सामने रखी। उनसे परामर्श चाहा कि मुझे क्या करना चाहिए। इस परामर्श के मध्य एक बात ध्यान में जची कि यदि स्वामी लच्छीरामजी आ सकें तो मन को कुछ समाधान मिले। वे बहुत बड़े अनुभवी कुशल चिकित्सक हैं। उनकी तुलना का वैद्य आसपास में नहीं है। वे आचार्यवर के शरीर की परीक्षा कर औषधि का निर्णय करें।

पंडितजी ने स्वामी लच्छीरामजी को संस्कृत में २१ पद्यों का एक पत्र लिखा। उसमें रोग-निदान और रोग-चिकित्सा दोनों प्रस्तुत कर उनसे परामर्श मागा।

वृद्धिचन्दजी गोठी और पूर्णचन्दजी चोपड़ा उस पत्र को लेकर स्वामी लच्छीरामजी के पास जयपुर गए। उनके चिकित्सालय में उनसे मिले। अपने आने का प्रयोजन बता पंडित रघुनन्दनजी का पत्र उन्हें दिया। स्वामीजी पत्र को पढ़

चिन्तन में निमग्न हो गए। गोठीजी ने कहा — आप गगापुर चले। उन्होंने कहा — अभी मैं वहाँ जाने की स्थिति में नहीं हूँ। पंडितजी को अपना परामर्श लिख दूँगा। उन्होंने मस्कृत में छः श्लोको का एक परामर्श पंडितजी को लिखा। गोठीजी और चोपडाजी उस पत्र को लेकर गगापुर आए और वह पत्र उन्होंने पंडितजी को दे दिया। स्वामी लच्छीरामजी ने पंडितजी की चिकित्सा का पूरा समर्थन किया। उन्होंने कुछ औषधियाँ और जोड़ने का सुझाव दिया। पत्र के अन्त में उन्होंने एक मार्मिक मकेन भी दे दिया। उन्होंने लिखा 'रोग कष्ट साध्य है, अवस्था वृद्ध है, रोगी मशक्त नहीं है, वर्षा ऋतु उपद्रव कर रही है। इस स्थिति को ध्यान में रखकर ही आप चिकित्सा चलाए।'\*

स्वामी लच्छीरामजी के पत्र से पंडितजी को स्फूर्ति मिली। साधुओं तथा समाज के लोगों का भी विश्वास जमा। फिर नई उमर के साथ पंडितजी ने चिकित्सा शुरू की। अड़सा के मूखे पत्ते के साथ एक दवा दी। उसमें नूझी खामी का वेग बन्द हो गया। उसमें बड़ी शान्ति मिली। कुछ नोद भी आई। सबको बड़ा उत्साह हुआ।

सरदार शहर से डॉ० व्यामनारायणजी आए। उन्होंने आचार्यवर के गरीर की जांच की। पंडितजी द्वारा संचालित चिकित्सा का अध्ययन किया। वे पंडितजी की चिकित्सा से प्रभावित होकर बोले — चिकित्सा बहुत सुन्दर चली है। इसके लिए पंडितजी को जितना साधुवाद दिया जाय, उतना कम है। पर रोग बहुत जटिल स्थिति में चला गया है। कलकत्ता, बंबई आदि नगरों से भी डाक्टर और वैद्य आए। उनका भी अभिमत यही रहा। बीमारी की समस्या सुलभने के बजाय जलभती ही गई।

### महाप्रयाण

भाद्र शुक्ल चौथ का दिन शान्ति में बीता। रात को श्वास का प्रकोप बढ़ गया। साधुओं ने प्रार्थना की 'गुरुदेव! आज स्थिति नाजुक है। शरीर का रंग बदलने लग गया है। अब क्या किया जाए। आचार्यवर स्वयं जागृत थे और अपने शिष्य-समुदाय का संकेत मिलने पर उनकी जागरूकता द्विगुणित हो गई। वे बोले 'अभी रात है। रात को कुछ खाना-पीना नहीं है। कल सवत्सरी है इसलिए सहज ही उपवास है। इस अवधि में यदि प्राण-त्याग हो जाए तो मुझे यावज्जीवन चतुर्विध आहार का त्याग है।

आचार्यवर ने सगर्त अनशन स्वीकार कर लिया। उनकी साधना कसौटी पर चढ़ गई। जिसे शरीर त्यागे, वह साधक कसौटी में अनुत्तीर्ण हो जाता है। जो पहले ही शरीर को त्याग दे, वही साधक कसौटी में उत्तीर्ण होता है। आचार्यवर इस परीक्षा में पूर्ण उत्तीर्ण हुए।

सवत्सरी पर्व जैन धर्म का सबसे बड़ा पर्व है। इस पर्व को समूचा जैन समाज त्याग, तपस्या के द्वारा मनाता है। इस दिन महत्त्वपूर्ण प्रवचन होते हैं। वर्ष भर नहीं आने वाले लोग भी उस दिन प्रवचन सुनने आते हैं। आचार्यवर सवत्सरी के दिन प्रायः वारह बजे तक प्रवचन किया करते थे। आज वे प्रवचन नहीं कर सके। उनका यह कार्य मैंने किया। आचार्यवर उस दिन शांत, मौन लेटे रहे। नाड़ी मन्द थी। वानावरण पूर्ण नीरव था। रात भी उसी प्रकार बीती। पिछली रात में थोड़ी ठंड हुई। आचार्यवर ने मौन खोलते हुए कहा—कल तो पूर्ण विश्राम किया। उसे (मुझे) पूछा भी नहीं कि लम्बे समय तक प्रवचन किया, उससे थकान आई या नहीं? प्यास लगी या नहीं? मुझे आमन्त्रित किया। मैं तत्काल वहां पहुंचा और मैंने कहा—आपकी कृपा से सब ठीक रहा।

छठ का सूर्य उदित हुआ। आचार्यवर का सकल्प पूरा हो गया। साधु-साध्वियों के अनुरोध पर आचार्यवर ने उपवास का पारणा किया। सबको कुछ आश्वासन मिला। ऐसा लगा मानो दुस्तर समुद्र तैर लिया गया हो। शरीर की इस क्षीणावस्था में सवत्सरी का उपवास कैसे होगा, पानी बिना यह शरीर कैसे टिकेगा? जब यह हो गया, तब समझा, अब खतरा टल गया। पर हमारी सद्भावना और मन का स्वप्न नियति को मान्य नहीं था। हमारे मन का आश्वासन चिरकाल तक टिक नहीं सका। दिन का चौथा पहर आया। सांभ डल रही थी। आचार्यवर ने पूछा—दिन कितना शेष है? मैंने पता लगाकर बताया—पौने छः बजे है। पैंतीस मिनट दिन शेष है। आचार्यवर बोले—मुझे बैठ कर, पानी पीना है। मैंने प्रार्थना की—आज बैठने की शक्ति नहीं है। इसलिए आप लेटे-लेटे ही जल लें, आचार्यवर ने कहा—लेटे-लेटे तरल वस्तु नहीं पीनी चाहिए। साधुओं ने हाथ का सहारा दिया। आचार्यवर बैठ गये। थोड़ा-सा जल लिया। फिर लेट गये। जैसे ही लेटे, वैसे ही श्वास का प्रकोप हो गया। धीमी-सी आवाज में आचार्यवर ने पूछा—मगनलालजी स्वामी जगल से लौटे या नहीं? मैंने कहा—अभी आये नहीं हैं, आने ही वाले हैं। तत्काल सत उनके सामने गए और इस घटना की उन्हें सूचना दी। मगनलालजी स्वामी तेज नहीं चल सकते थे पर जितनी शीघ्रता हो सकी, उतनी शीघ्रता से वहां पहुंचे। मैंने कहा—मगनलालजी स्वामी आ गए हैं। आचार्यवर ने उनकी ओर देखकर कहा—‘अबै’ इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सका।

मगनलालजी स्वामी ने पूछा—अनशन करा प्रत्याख्यान कराए? ‘हां’, कहकर आचार्यवर ने स्वीकृति दी। मगनलालजी स्वामी ने ऊंचे स्वर में कहा—आज से अर्हन्त, सिद्ध के साक्ष्य से आजीवन चतुर्विध आहार का त्याग है। इसके बाद वे जोर-जोर से बोलते गए—‘अर्हन्तो की शरण है, सिद्धों की शरण है, हम सब भी आप की शरण है।’ शरण-सूत्र की ध्वनि ने समूचे वातावरण को जागरण से

भर दिया और सब बातें विस्मृत हो गईं। केवल अर्हन्त और सिद्ध सब की आखों के सामने मूर्त हो गए। जागरण के उस पवित्र वातावरण में सात मिनट का अनशन पूर्ण कर आचार्यवर समाविस्थ हो गए। उनके प्राण आखों के मार्ग से बाहर चले गए केवल स्थूल शरीर शेष रह गया। आचार्यवर अन्तिम क्षण तक जागृत रहे। ऐसी जागृत मृत्यु किसी महान् सावक को ही उपलब्ध होती है।

## विहगावलोकन

जन्म	१९३३ फाल्गुन शुक्ला द्वितीया
दीक्षा	१९४४ आश्विन शुक्ला तृतीया
आचार्यपद	१९६६ भाद्रपद पूर्णिमा
स्वर्गवास	१९९३ भाद्रपद शुक्ला षष्ठी
जन्मस्थान	छापर (राजस्थान)
दीक्षा-स्थान	बीदासर     "
आचार्यपद-स्थान	लाडणू     "
स्वर्गवास-स्थान	मगापुर     "
गृहस्थ	१०॥ वर्ष
साधारण साधु	२२ वर्ष
आचार्य	२७ वर्ष
सर्व आयु	५९॥ वर्ष

## टिप्पणी

- १ छापर प्रदेश का विवरण राठीड रामदेव के विश्र्वखरी छन्दो पर आवृत है।
- २ साधुशतक, १६।
- ३ ममीरा नेत्र की दवा है। उसकी यही परीक्षा है कि उसे नीले वस्त्र पर लगाने से उस की नीलिमा मिट जाती है।
- ४ साधुशतक, ६२।
- ५ विद्यावाचस्पति, राष्ट्रपति समदत्त, राष्ट्रीय सस्कृत-विद्वान् प्रोफेसर विद्याधरजी गान्त्री का एक पत्र कुछ विस्तृत जानकारी प्रस्तुत करता है। उसका अंश इस प्रकार है—

“पूज्य श्री बानूगणीजी महाराज के चूल् पधारने पर मुझे पूज्य पिताजी विद्यावाचस्पति श्री देवीप्रसादजी गान्त्री महाराज के दर्शनार्थ श्री रायचन्दजी मुराना

के अतिथि निवास में ले गए थे। वहाँ श्री चौयमलजी मुनि भी उपस्थित थे और मेरे से लघु सिद्धान्त कौमुदी के प्रश्न पूछे गये थे। उस समय मुझे स्मरण है कि किसी प्रसंग में श्री रघुनन्दनजी ने अपने श्लोको में से “आवृतं किं न जानीते मिष्ट वस्तु पिपीलिका” यह पद सुनाकर मुझे मुग्ध कर दिया था। श्री रघुनन्दनजी अपनी आशुक्रवित्त्व-शक्ति प्रदर्शित करने के लिए श्री पूज्यजी महाराज की सेवा में पधारे थे और वहाँ उन्होंने निर्वाध रूप से श्री कालूगणीजी की प्रशस्ति में १०० श्लोक सुनाये थे।”

- ६ वीकानेर, २०-६-७६ [डॉ० छगनलालजी शास्त्री को लिखे गए पत्र से]  
उसके प्रथम अध्येता थे मुनि भीमराजजी, मुनि सोहनलालजी (चूट), मुनि कानमलजी और मुनि नयमलजी (दागोर)  
७ कालूगणी के एक विशिष्ट शिष्य ।  
८ पंडितजी का यह श्लोक महाकवि कालिदास के निम्नांकित श्लोक की छाया है

पद्ममिदं मम दक्षिणहस्ते,  
वामकरे लसदुत्पलमेतत् ।  
ब्रूहि किमिच्छसि पङ्कजनेत्रे ।  
कर्कशनालमकर्कशनालम् ॥

- ६ कनीरामजी बाठिया आदि ।  
१० गोम्मटसार, जीवकाण्ड, विचार ६ । ६२६-६३१ ।  
११ यह घटना ‘चतराजी का गुडा’ की है ।  
१२ बृहत्कल्प सूत्र १ ४७  
कप्यश्च निग्गयाण वा निग्गयीण वा पुरत्थिमेण जाव अगमगहाओ एतए, पच्चत्थिमेण जाव धूणाविसयाओ एतए, दक्षिणेण जाव कोसम्बीओ एतए, उत्तरेण जाव कुणाल विमयाओ एतए, एयावयाव कप्यश्च, एयावयाव आरिए खेंत्ते, नो से कप्यश्च एतो वारिह, तेण पर जत्य नाण दसणचरित्ताश्च उस्सप्पत्ति ।  
१३ श्रीमता वैद्य-वैद्याना, वारीन्द्राणा यशस्विनाम् ।  
लक्ष्मीरामाह्व साधूना, सेवायामिति तन्यते ॥ १ ॥  
सम्प्रत श्री जिनाचार्य, कालूरामाभिषो महान् ।  
पीड्यते कृच्छ्रसाध्येन, रोगेणैकेन भूरिश ॥ २ ॥  
चिकित्सा जायतेऽस्माक, यथावच्छास्त्रसम्भता ।  
तथापि क्रमशो लाभो, विशेषो न विलोक्यते ॥ ३ ॥  
लिख्यते रोग नामापि, निर्णीत यन्मया स्वत ।  
लक्षणान्यपि दर्शयते, कार्या निर्धारणा बुधै ॥ ४ ॥  
कुक्षेराध्मानमाटोप, शोथ पादकरस्य च ।  
इत्यादि लक्षणं स्पष्टीकृत्यते ह्युदरामय ॥ ५ ॥  
मन्दोऽग्निं वतंतेऽनल्पोऽनल्पकालसमुद्भव ।  
सर्वेषामिति कष्टानां, प्रारम्भो दृश्यते यत ॥ ६ ॥  
दृश्यते ज्वरवैषम्यमेकधिकशताङ्कगम् ।  
शुष्ककासो विशेषेण, पूर्वरात्रे च बाधते ॥ ७ ॥

व्याप्त. सर्वत्र देहेऽपि, तथापि क्रमयोर्द्वयो ।  
 शोयो विशेषता यातो, विस्मापयति मानवान् ॥ ८ ॥  
 करोति भिषजावर्य । स्वकीया न क्रिया यकृत् ।  
 दृश्यते पाण्डुता तेन, त्वचि मूत्रे, मलेऽपि च ॥ ९ ॥  
 ज्वराधिक्ये क्वचित्तन्द्रा, हृल्लासश्चाशनान्तिके ।  
 उदरस्योन्नतिर्धिमन् । कायकार्येऽपि वर्धते ॥ १० ॥  
 श्रयैका पिडका जाता, मधुमेह-समुद्भवा ।  
 वामे पाणौ महाभागे, शल्यज्ञे सा विपाटिता ॥ ११ ॥  
 साम्प्रत निम्बकल्कादि, योगेनायोजिताऽपि सा ।  
 शान्ताऽपि रोपण पूर्ण, मजते न विषायिता ॥ १२ ॥  
 चतु सख्य प्रतिशते, मधु-मूत्र-परीक्षकै ।  
 निश्चित तस्य भागोऽपि, बुध्यते न भयावह ॥ १३ ॥  
 विना प्रमेहमप्येता, जायन्ते दुष्टमेदस ।  
 सत्यस्मिन् सुप्रमाणेऽपि, मधुमेहोऽनुमीयते ॥ १४ ॥  
 साम्प्रत मयका किं किं, क्रियतेऽन्न चिकित्सितम् ।  
 सक्षेपेण च तद् वक्ष्ये, विचार्य वैद्यवल्लभै ॥ १५ ॥  
 यकृदरिज्वरारिश्च, सिंहनादरसस्तथा ।  
 मकरध्वजक प्राण-वल्लभो मेहकेशरी ॥ १६ ॥  
 हरीतकी च रोहीती, गोमूत्र च वृषो मधु ।  
 सत्त्व गुडुचिकायाश्च पिप्पली भूरिपेषिता ॥ १७ ॥  
 फाण्टे मन्येऽञ्जुपाने च, प्रयुज्यन्ते यया तथा ।  
 गामूत्रस्य च सेकोऽपि, क्रियतेऽथोदरोपरि ॥ १८ ॥  
 आहारे तु विशेषेण, पयो गव्य प्रदीयते ।  
 यवागू मुद्गदालिश्च, दीयतेऽपि कदाचन ॥ १९ ॥  
 केवलस्य तु दुग्धस्य, प्रयोगो नैव वर्तते ।  
 यद्यप्यस्य मतिर्भूयो, विज्ञवर्य । प्रपद्यते ॥ २० ॥  
 कृपा विधाय रोगार्तरक्षयश्च भिषग्यश ।  
 यत्करोति भवान् धीमान्, तत्कार्यमिति पूर्यताम् ॥ २१ ॥  
 श्रीमन् । भवद्गल प्राप्ता, साम्प्रत पद्यपेशलम् ।  
 रोगलक्षणविज्ञान, व्यवस्था च प्रकाशयत् ॥ १ ॥  
 व्याधे स्वरूपमालक्ष्य, बलकालानुसारत ।  
 अनुमोदामहे साधु, व्यवस्था भवता कृताम् ॥ २ ॥  
 किन्तु यद्युदरे जात, सभाव्ये तोदक तदा ।  
 जलोदरारिनामात्र, मात्रया दीयता रस ॥ ३ ॥  
 पुनर्नवाप्तक क्वाय, प्रात साय पिबेत् गदी ।  
 हृदयार्णवनामान, मधुना च लिहेद् रसम् ॥ ४ ॥  
 किंचात्र केवल दुग्ध, घनैव वापि कारभम् ।  
 विहायान्न प्रमेवेत क्षिप्रमारोग्यकाक्षया ॥ ५ ॥



रोग कष्टतमो वयो नहि नव नाप्यस्ति शक्तोगदी,  
कै चोपद्रवपीडितोऽथ समयो घाराघर क्रोधन ।  
इत्येतत् मनसाकलय्य यतता सम्यग् विविच्यात्मना,  
तस्यारोग्यमहं प्रपन्नशरणं धन्वन्तरि प्रार्यये ॥ ६ ॥



## संस्कृत के जैन वैयाकरण : एक मूल्यांकन

डॉ० गोकुलचन्द्र जैन

भारतीय वाङ्मय को समृद्ध करने में जैनाचार्यों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं पर सहस्राधिक ग्रन्थों की रचना की है। भाषा और देशकाल के बन्धन में वे कभी नहीं बन्धे। इसलिए प्राचीन भारतीय भाषाओं से लेकर आज तक की भाषाओं में ग्रन्थ रचना की स्रोतस्विनी का अजस्र प्रवाह प्रवर्तमान है।

समय के दीर्घ अन्तराल में भारतीय वाङ्मय के अनेक ग्रन्थरत्न काल के कराल गाल में समा गये। जैनाचार्यों की भी अनेक महनीय निधियां लुप्त हो गयीं, फिर भी जितना शेष है, उससे भी भारत के सांस्कृतिक इतिहास को जैनाचार्यों के महत्त्वपूर्ण योगदान का मूल्यांकन किया जा सकता है।

प्रस्तुत निबन्ध में हम संस्कृत व्याकरणशास्त्र को जैनाचार्यों के योगदान का मूल्यांकन करेंगे। व्याकरणशास्त्र पर जैनाचार्यों ने जितने ग्रन्थ लिखे, उनमें से अनेक अब उपलब्ध नहीं हैं। अन्य ग्रन्थों में उनके यत्न-तत्त्व बिखरे हुए जो सन्दर्भ मिलते हैं, उनसे उन ग्रन्थों की महनीयता का पता चलता है। वर्तमान में जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वही इस मूल्यांकन के आधार स्रोत हैं। मेरी राय में यह मूल्यांकन मुख्य रूप से निम्नलिखित दृष्टियों से किया जाना चाहिए।

१ जैनाचार्यों ने संस्कृत व्याकरणशास्त्र की दीर्घकालिक परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए पूर्वाचार्यों की उपलब्धियों को अपने ग्रन्थों में उदारतापूर्वक सरक्षित किया तथा प्राचीन ग्रन्थों पर न्यास, टीका आदि लिख कर संस्कृत व्याकरणशास्त्र का विस्तार, स्पष्टीकरण और सरलीकरण करके संस्कृत व्याकरणशास्त्र की परम्परा को आगे बढ़ाने में जो योगदान दिया, उसका मूल्यांकन इस प्रकार के अध्ययन का एक पहलू है।

२ भारत के सांस्कृतिक इतिहास की जिस महत्त्वपूर्ण सामग्री को पूर्वाचार्यों ने अपने ग्रन्थों में सरक्षित किया था, उसे सुरक्षित रखते हुए उसमें समसामयिक

विशिष्ट सामग्री को जोड़कर उदाहरणों आदि के माध्यम से अपने व्याकरण ग्रन्थों में मुरक्षित किया। इसका मूल्यांकन अध्ययन का दूसरा पहलू है।

३ जैन आचार्य इस बात के लिए विशेष जागरूक थे कि जैन तीर्थंकरों ने दार्शनिक चिन्तन में जिस एक विशेष दृष्टि को उद्भूत किया था, उसका प्रयोग ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में किस प्रकार किया जाए। व्याकरण ग्रन्थों की रचना के समय भी जैन आचार्य इस विषय में पूर्ण रूप से सजग रहे। उनके द्वारा लिखे गये ग्रन्थों का मूल्यांकन करने का यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू है।

जैन वाङ्मय में व्याकरणशास्त्र की परम्परा

जैन आगमों में वारहवा अंग दृष्टिवाद है। वर्तमान में यह पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है। दृष्टिवाद में चौदह पूर्व शामिल थे। प्रत्येक पूर्व का वस्तु और वस्तु का अवान्तर विभाग 'प्राभृत' नाम से कहा जाता था। आवश्यक-चूर्णि, अनुयोग-द्वारचूर्णि, सिद्धसेनगणिकृत तत्त्वार्थभाष्यटीका और मलधारी हेमचन्द्र सूरिकृत अनुयोगद्वार मूलटीका में 'शब्दप्राभृत' का उल्लेख मिलता है।

सिद्धसेनगणि ने कहा है कि पूर्वों में जो शब्दप्राभृत है, उसमें से व्याकरण का उद्भव हुआ है। शब्दप्राभृत लुप्त हो गया है। वह किस भाषा में था, यह निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता। ऐसा माना जाता है कि चौदह पूर्व संस्कृत भाषा में थे। इसलिए 'शब्द प्राभृत' भी संस्कृत में रहा होगा।<sup>१</sup>

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने लिखा है कि सत्यप्रवाद पूर्व में व्याकरणशास्त्र के नवी प्रमुख नियम आये हैं। इसमें वचन-संस्कार के कारण, शब्दोच्चारण के स्थान, प्रयत्न, वचन-प्रयोग, वचन-भेद आदि का निरूपण है। वचन-संस्कार का विवेचन करते हुए इसके दो कारण बताये गये हैं—रयान और प्रयत्न। शब्दोच्चारण के आठ स्थान बताये गये हैं—हृदय, कण्ठ, मस्तक, जिह्वामूल, दन्त, तालु, नासिका और ओष्ठ। शब्दोच्चारण के प्रयत्नों का विवेचन करते हुए स्पृष्टता, ईषत् स्पृष्टता, विवृतता, ईषद्विवृतता और सवृतता—इन पाँच की परिभाषा दी गयी है। वचन के शिष्ट और दुष्ट प्रयोगों के विश्लेषण में शब्दों के साधुत्व और असाधुत्व का भी प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार 'सत्यप्रवादपूर्व' में व्याकरणशास्त्र की एक स्पष्ट परंपरा दृष्टिगोचर होती है।

जैन अनुश्रुति के अनुसार पूर्व ग्रन्थ भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के थे। भगवान् महावीर के उपदेशों का जब संग्रह किया गया तो पूर्व ग्रन्थों को वारहवें दृष्टिवाद नामक अंग में शामिल कर लिया गया।

जैन आगमों में भाषा प्राकृत है। उनसे प्रतीत होता है कि प्राकृत में रचा गया संस्कृत प्राचीन प्राकृत व्याकरण रहा होगा।

अध्यात्मिक आगम ग्रन्थों में व्याकरण की अनेक बातें आई हैं। 'ठाणग' के

अष्टम स्थान में आठ कारको का निरूपण किया गया है। अनुयोगद्वारसूत्र में तीन वचन, लिंग, काल और पुरुषों का विवेचन मिलता है। इसी ग्रन्थ में चार, पाच और दस प्रकार की सज्ञाओं का उल्लेख आया है। सूत्र १३० में सात समासों और पाच प्रकार के पदों का कथन किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि संस्कृत में व्याकरण ग्रन्थों के प्रणयन के पूर्व जैनाचार्यों ने प्राकृत में व्याकरण ग्रन्थों की रचना की होगी, जो आज उपलब्ध नहीं हैं।

संस्कृत व्याकरण ग्रन्थों में पाणिनि का अष्टाध्यायी सर्वप्राचीन उपलब्ध व्याकरण है। यद्यपि पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में पूर्वज वैयाकरणों का उल्लेख किया है पर आज उनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। पाणिनि का समय ईसा पूर्व ५०० से ४०० तक माना जाता है। जैन परम्परा में संस्कृत व्याकरण ग्रन्थों की रचना कब से आरम्भ हुई, इसका ठीक-ठीक निर्णय करना कठिन है।

इस कथन में आशिक सत्यता प्रतीत होती है कि 'जब ब्राह्मणों ने शास्त्रों पर अपना सर्वस्व अधिकार कर लिया तब जैन विद्वानों को व्याकरण आदि विषय के अपने ग्रन्थ बनाने की प्रेरणा मिली।'<sup>३</sup>

यह कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि जैन परम्परा में जब संस्कृत में ग्रन्थ रचना होने लगी तो आचार्यों ने यह अनुभव किया कि उपलब्ध संस्कृत व्याकरणों से उनका पूरा काम नहीं चल सकता। वे इस बात के लिए भी अत्यधिक जागरूक थे कि तीर्थंकरों ने जिस दार्शनिक चिन्ताधारा का प्ररूपण किया था, उसका उपयोग व्याकरण शास्त्र में कैसे किया जाये। इसलिए उन्होंने स्वतन्त्र व्याकरण ग्रन्थों की रचना की।

ऊपर शब्दप्राभृत या सद्पाहुड के विषय में कहा गया है कि परम्परानुसार ऐसा ज्ञात होता है कि इसकी रचना संस्कृत में की गयी थी। शब्दप्राभृत पूर्व ग्रन्थों का अंग है। 'पूर्व' भगवान् पार्श्व की परम्परा के माने जाते हैं। पार्श्वनाथ का समय भगवान् महावीर से दो सौ पचास वर्ष पूर्व माना जाता है। महावीर का समय ईसा पूर्व छठी शताब्दी है। इससे ज्ञात होता है कि पूर्वों की रचना ईसा पूर्व आठवीं शती में हुई होगी।

महावीर के समय में भी व्याकरण रचे जाने का उल्लेख मिलता है। ऐसी परम्परा एवं मान्यता है कि भगवान् महावीर ने ऐन्द्र के लिए एक शब्दानुशासन कहा। उसे उपाध्याय ने सुन कर लोक में ऐन्द्र नाम से प्रकट किया। आवश्यक-निर्युक्ति तथा हारिभद्रोय आवश्यक वृत्ति में कहा है

सैक्को आ तत्समक्ख भगवत आसणे निवेसिता ।

सदस्स लक्खण पुञ्छे वागरण अवयवा इद ॥

डॉ० ए० सी० वर्नेल ने ऐन्द्र व्याकरण सम्बन्धी चीनी, तिब्बतीय और भारतीय

साहित्य के उल्लेखों का संग्रह करके 'आन द ऐन्ड स्कूल ऑफ ग्रामेरियन्स' नामक ग्रन्थ लिखा है।

पूज्यपाद देवनन्दि के जैनेन्द्र व्याकरण को ही ऐन्ड्र व्याकरण मानने का अम भी बहुत समय से चलता रहा। यह अम कम से कम सत्रहवीं शती जितना पुराना तो है ही। उपाध्याय विनय विजय (सं १६६६) और लक्ष्मीवल्लभ मुनि (१८वीं शती) ने जैनेन्द्र को भगवत्प्रणीत बताया है।

इस प्रकार के अम फैलाने के लिए रत्नपि का 'भगवद्वाग्वादिनी' नामक ग्रन्थ जिम्मेदार है। रत्नपि नामक किसी मुनि ने लगभग वि० सं० १७६७ में देवनन्दि-कृत जैनेन्द्र व्याकरण के उत्तरवर्ती पाठ के सूत्रों को तोड़मरोड़ कर उनकी दुव्यख्या करके ८०० श्लोक प्रमाण 'भगवद्वाग्वादिनी' नामक ग्रन्थ रचा और उसमें उन्होंने जैनेन्द्र व्याकरण का कर्त्ता साक्षात् भगवान् महावीर को बताया। यही नहीं इसे महावीर की जीवनी में इस प्रकार पिरोया कि सामान्य व्यक्ति को उस पर सन्देह भी नहीं हो सकता।<sup>५</sup>

ऐन्ड्र व्याकरण के अतिरिक्त 'क्षपणक व्याकरण' के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। क्षपणक नामक किसी आचार्य ने इसकी रचना की थी। मैत्रेय रक्षित ने अपने 'तन्त्रप्रदीप' नामक ग्रन्थ में क्षपणक व्याकरण का एकाधिक बार उल्लेख किया है। एक स्थान पर लिखा है

“अतएव नावमात्मान मन्यते, इतिविग्रहपरत्वादेन ह्रस्वत्व बाधित्वा अमागमे सति 'नाव मन्ये' इति क्षपणकव्याकरणे दशितम्।” (भारतकौमुदी भाग २, पृ० ८६३ की टिप्पणी)

तन्त्रप्रदीप सूत्र ४ १ १५५ में 'क्षपणकमहान्यास' का उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि क्षपणक रचित व्याकरण पर न्यास की भी रचना की गयी होगी।

'ज्योतिर्विदाभरण' में विक्रमादित्य राजा की सभा के जिन ऋवरत्नों के नाम उल्लिखित हैं, उनमें क्षपणक का नाम सर्वश्रेष्ठ है “क्षपणकोऽमरसिंहशङ्कूवेताल-भट्टघटकपर्करकालिदास। ख्यातो वराहमिहरो नृपते सभाया रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य।”

क्षपणक रचित व्याकरण, उसका न्यास या उनका कोई अंश अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में यह कहना युक्तिसंगत नहीं होगा कि सिद्धसेन दिवाकर का ही दूसरा नाम क्षपणक था।<sup>६</sup>

संस्कृत व्याकरण साहित्य के इतिहास में महर्षि पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि को मुनित्रय के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। उत्तरवर्ती व्याकरण शास्त्रकारों ने इस मुनित्रयी को अत्यन्त आदर के साथ स्मरण किया है।

जैन व्याकरण साहित्य के इतिहास में जिनेन्द्र, शाकटायन और हेम ऐसे ही मुनित्रय हैं। जिनेन्द्र अर्थात् आचार्य पूज्यपाद देवन्दी, शाकटायन अर्थात् आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन तथा हेम अर्थात् आचार्य हेमचन्द्र इन तीनों ने जैन व्याकरण के प्रवर्तन, प्रवर्धन और प्रसार में संस्कृत व्याकरण शास्त्र के मुनित्रय के समान ही अनुपम कार्य किया। यद्यपि शाकटायन ने जैनेन्द्र पर तथा हेम ने जैनेन्द्र या शाकटायन पर कोई वृत्ति या महाभाष्य नहीं लिखा, फिर भी जैनेन्द्र की उपलब्धियों को शाकटायन ने सुरक्षित रखा और आगे बढ़ाया तथा जैनेन्द्र और शाकटायन की उपलब्धियों को हेम ने अपने शास्त्र में सुरक्षित किया और उसे आगे बढ़ाया।

इस मुनित्रयी के व्याकरणों का अध्ययन संस्कृत व्याकरणशास्त्र में जैनान्तर्यामियों के योगदान को स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित करता है।

ऊपर हमने जिन तीन दृष्टियों से जैन व्याकरणशास्त्र के अनुशीलन की बात कही है, उनमें से प्रथम दो दृष्टियों से पाणिनि का अध्ययन डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' में किया है। इस प्रकार के अध्ययन का यह कीर्तिमान है। जैन व्याकरण के इस प्रकार के अध्ययन की भूमिका डा० अग्रवाल ने जैनेन्द्रमहावृत्ति की भूमिका में प्रस्तुत की है। पूज्यपाद देवन्दी को समर्पित उनका वह नैवेद्य उन्हीं के लिए अर्घ्यदान के रूप में यहाँ प्रस्तुत है।

डा० अग्रवाल ने संस्कृत व्याकरण शास्त्र के इतिहास की चर्चा से आरम्भ करते हुए लिखा है<sup>१</sup>

“भारतवर्ष में व्याकरणशास्त्र का अध्ययन लगभग तीन सहस्र वर्ष से चला आ रहा है। भाषा के शुद्धज्ञान के लिए व्याकरण का महत्त्व सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ, अतएव व्याकरण को 'उत्तरा विद्या' अर्थात् अन्य विद्याओं की अपेक्षा श्रेष्ठ कोटि में माना गया। किसी भी भाषा के इतिहास में धातु और प्रत्ययों की पहचान उस गौरवपूर्ण स्थिति की सूचक है जिसमें सूक्ष्मदृष्टि से भाषा के आन्तरिक संगठन का विवेक कर लिया जाता है, और शब्दों की उत्पत्ति और निर्माण की जो प्राणवन्त प्रक्रिया है उसके रहस्य को आत्मसात् कर लिया जाता है। यों तो सभी मनुष्य अपनी-अपनी मातृभाषा में बोलकर अपना अभिप्राय प्रकट कर लेते हैं, किन्तु व्याकरण की प्रक्रिया का जन्म उस राजपथ को निर्माण है जिस पर चलकर निर्भय भाव से हम भाषा के विस्तृत साम्राज्य में जहाँ चाहे वहाँ पहुँच सकते हैं और शब्दों में भावप्रकाशन की जो अपरिमित क्षमता है उसको भी प्राप्त कर सकते हैं। संस्कृत वैयाकरणों ने ससार में सर्वप्रथम इस प्रकार का महनीय कार्य किया। शब्दों के विभिन्न रूपों के भीतर जो एक मूल सज्ञा या धातु निहित रहती है उसके स्वरूप का निश्चय और प्रत्यक्ष जोड़कर उससे बनने वाले क्रिया और सज्ञा रूपी अनेक शब्दों की रचना एवं प्रत्ययों के अर्थों का निश्चय इस प्रकार के विविध विचार

की पद्धति का जिस शास्त्र में आरम्भ और विकास हुआ उसे शब्दविद्या या व्याकरणशास्त्र कहा गया है।

संस्कृत साहित्य में पाणिनि की अष्टाध्यायी व्याकरणशास्त्र का सर्वांगपूर्ण विवेचन है। उसके लगभग चार सहस्र सूत्रों में लौकिक और वैदिक संस्कृत का जैसा अद्भुत विचार किया गया है, वह विलक्षण है। पाणिनि ने संस्कृत व्याकरण का जो स्वरूप स्थिर किया उसी का विकास अनेक वृत्ति, वार्तिक, भाष्य, न्यास, टीका, प्रक्रिया आदि के रूप में लगभग इस शती तक होता आया है। किन्तु पाणिनि के अतिरिक्त, पर मुख्यतः उन्हीं की निर्धारित पद्धति से और भी व्याकरण-ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इस विषय में एक प्राचीन श्लोक ध्यान देने योग्य है

इन्द्रश्चन्द्र काशकृत्स्नापिशली शाकटायन ।

पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिका ॥

यह श्लोक मुग्धबोध के कर्ता प० वोपदेव का कहा जाता है। इस सूची में वैयाकरणों की दो कोटियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। पहली कोटि में इन्द्र, शाकटायन, आपिशलि, काशकृत्स्न और पाणिनि, ये पाँच प्राचीन वैयाकरण थे। दूसरी कोटि में अमर, जैनेन्द्र और चन्द्र इन नवीन शाब्दिकों की गणना है। पाणिनीय सूत्र 'ऋक्थ्यादिसूत्रान्ताट्ठक्' (४।२।६०) के एक वार्तिक पर काशिका में 'पचव्याकरण' यह उदाहरण पाया जाता है, इसका अर्थ था पाँच व्याकरणों का अध्ययन करने वाला या जानने वाला विद्वान्। (तदधीते तद्वेद)। इसमें जिन पाँच व्याकरणों का एक साथ उल्लेख है, वे यही पाँच प्राचीन व्याकरण होने चाहिए, जिनकी सूची मुग्धबोध के इस श्लोक में है। इस पर सूक्ष्म विचार करने से यह तथ्य सामने आता है कि पाणिनि से पूर्वकाल में व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन व्यापक रूप से हो रहा था, जैसा कि पाणिनीय व्याकरण के इतिहास से ज्ञात होता है। प्रातिशाख्य, निरुक्त और अष्टाध्यायी में लगभग ६४ आचार्यों के नाम आये हैं जिन्होंने शब्दशास्त्र के सम्बन्ध में उस प्राचीनकाल में ऊहापोह किया था। इनमें से इन्द्र, शाकटायन, आपिशलि और काशकृत्स्न के व्याकरण इस समय उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु पाणिनि से पहले वे अवश्य विद्यमान थे। ज्ञात होता है कि उन प्राचीन व्याकरणों की अधिकांश सामग्री के आवार पर एव स्वतः अपनी सूक्ष्मेक्षिका द्वारा लोक से शब्द-सामग्री का संग्रह करके पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी का निर्माण किया। वह शान्त्र लोक में इतना महान् और सुविहित समझा गया (पाणिनीय महत् सुविहितम्, भाष्य १।३।६६) कि पाणिनि के उत्तरकाल में नये व्याकरणों का रचना-क्रम एक प्रकार से वन्द सा हो गया। उनके बाद व्याकरण का परिष्कार केवल वार्तिक, भाष्य और वृत्तियों द्वारा चलता रहा। कात्यायन जैसे प्रखर बुद्धि-शाली आचार्य ने पाणिनि व्याकरण पर लगभग सवा चार सहस्र वार्तिकों की रचना करके उन महान् शान्त्र के प्रति अपनी निष्ठा अभिव्यक्त की, पर कोई स्वतन्त्र



व्याकरण रचने का उपक्रम नहीं किया। इसी प्रकार भगवान् पतंजलि का महा-भाष्य भी पाणिनीय व्याकरण की सीमा के भीतर एक अद्भुत प्रयत्न था। पाणिनि लगभग पाचवीं शती विक्रम पूर्व में नन्द राजाओं के समय में हुए थे। यह अनुश्रुति ऐतिहासिक तथ्य पर आश्रित जान पड़ती है जैसा कि हमने अपने 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' नामक ग्रन्थ में प्रदर्शित किया है। अतएव यह स्पष्ट है कि पाणिनि के बाद लगभग एक सहस्र वर्ष तक नूतन व्याकरण की रचना का प्रयत्न नहीं किया गया।

भारतीय साहित्यिक इतिहास का यह सुविदित तथ्य है कि कुपाण काल के लगभग संस्कृत भाषा को पुनः सार्वजनिक रूप में साहित्यिक भाषा और राजभाषा का पद प्राप्त हुआ। कनिष्क के समय में अश्वघोष के काव्यों की रचना और रुद्रदामा के जूनागढ़ लेख से यह स्पष्ट विदित होता है। वस्तुतः इस समय भाषा के क्षेत्र में जो क्रान्ति घटित हुई उसका ठीक स्वरूप कुछ इस प्रकार था ब्राह्मण साहित्य में तो संस्कृत भाषा की परम्परा सदा से अक्षुण्ण थी ही, पर उसके अतिरिक्त बौद्ध और जैन आचार्यों ने भी संस्कृत भाषा को उन्मुक्त भाव से अपना लिया और उसके अध्ययन से दोनों ने अपने क्षेत्र में विपुल साहित्य का निर्माण किया जिसमें किसी समय सहस्रो ग्रन्थ थे। कुपाण काल से जो भाषा सम्बन्धी नया परिवर्तन आरम्भ हुआ था वह उत्तरोत्तर सबल होता गया, यहाँ तक कि लगभग चौथी-पाचवीं शती ईस्वी में संस्कृत भाषा को न केवल भारत वर्ष में अखण्ड राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, वरन् मध्य एशिया से लेकर हिन्द एशिया या द्वीपान्तर तक के देशों में पारस्परिक व्यवहार के लिए वह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा भी बन गई।

इस पृष्ठभूमि में शब्दविद्या का पुनः वह छूटा हुआ सूत्र आरम्भ हुआ और नए व्याकरणशास्त्र लिखे जाने लगे। स्वयं पाणिनीय व्याकरणों पर वामन जयादित्य कृत काशिका वृत्ति और जिनेन्द्रबुद्धि कृत न्यास की रचना हुई। यह टीका के मार्ग से प्राचीन व्याकरण का ही विशदीकरण था, किन्तु बौद्ध और जैन दो बड़े समुदाय संस्कृत भाषा की नयी शक्ति से परिचित हो रहे थे, उन्होंने अपने अपने क्षेत्र में दो नये व्याकरणों का निर्माण किया। बौद्धों में आचार्य चन्द्रगोमी कृत चान्द्र व्याकरण और जैनो में आचार्य देवनन्दी पूज्यपाद कृत जैनेन्द्र व्याकरण गुप्त युग में अस्तित्व में आए। ज्ञात होता है कि दोनों की ही रचना लगभग ५वीं शती ईस्वी के उत्तरार्द्ध में हुई। चान्द्र व्याकरण की स्वोपज्ञ वृत्ति में 'अजयद् जतो हूणान्' (१।२।८१) उदाहरण से सिद्ध है कि पाचवीं शती के मध्य में स्कन्दगुप्त ने हूणों पर जो बड़ी विजय प्राप्त की थी उसकी समकालीन स्मृति इस उदाहरण में अवशिष्ट है। इससे चान्द्र व्याकरण के रचनाकाल पर प्रकाश पड़ता है। पूज्यपाद देवनन्दी ने दो सूत्रों में प्रसिद्ध आचार्य, सिद्धसेन (वेत्ते सिद्धसेनस्य, ५।१।७) और

समन्तभद्र 'चतुष्टय समन्तमद्रस्य' (१।४।१४०) का उल्लेख किया है। ये दोनों देवनन्दी से कुछ समय पूर्व हो चुके थे। यद्यपि सिद्धसेन दिवाकर का समय भी सर्वथा निश्चित नहीं है, किन्तु अनुश्रुति के अनुसार उन्हें विक्रमादित्य का समकालीन माना जाता है। विक्रम के नवरत्नों की सूची में जिस क्षपणक का उल्लेख है उन्हें विद्वान् चन्द्रसेन दिवाकर ही मानते हैं। श्री राइस ने सिद्धसेन का समय पाचवीं शती के मध्यभाग में माना है, किन्तु चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३७५-४१३) और सिद्धसेन की समसामयिकता का आधार यदि सत्य हो तो सिद्धसेन को चौथी शती के अन्त में मानना ठीक होगा। लगभग यही समय समन्तभद्र का होना चाहिए। श्री प्रेमी जी ने अपने पाण्डित्यपूर्ण लेख में देवनन्दी के समय के विषय में जो प्रमाण सङ्गृहीत किये हैं उनकी सम्मिलित साक्षी से भी यही सूचित होता है कि आचार्य देवनन्दी लगभग पाचवीं शती के अन्त में हुए हैं। इस सम्बन्ध में एक विशेष प्रमाण की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। इसके अनुसार सवत् ६६० में बने हुए दर्शनसार नामक प्राकृत ग्रन्थ में कहा है कि पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दी ने दक्षिण मधुरा से ५२६ विक्रमी में (४६६ ई०) द्राविड सघ की स्थापना की। इससे भी पूज्यपाद का समय ५वीं शती के उत्तरार्ध में सिद्ध होता है। इसी का समर्थन करने वाला एक अन्य प्रमाण है—कर्नाटक-कविचरित के अनुसार गग-वशीय राजा अविनीत (वि० स० ५२३) के पुत्र दुर्विनीत (वि० स० ५३८, ईस्वी ४८१) आचार्य पूज्यपाद के शिष्य थे, अतएव पूज्यपाद ५वीं शती के उत्तरार्ध के सिद्ध होते हैं। महाराज पृथिवीकोकण के दानपत्र में लिखा है श्रीमत्कोकण महाराजाधिराजस्याविनीतनाम्न पुत्रेण शब्दावतारकारेण देवभारती निबद्ध-बृहत्कथेन किरातार्जुनीयपचदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनाममध्येन ' अर्थात् अविनीत के पुत्र दुर्विनीत ने शब्दावतार नामक ग्रन्थ की रचना की थी। जैसे प्रेमी जी ने लिखा है शिमोगा जिले की नगर तहसील के शिलालेख में देवनन्दी को पाणिनीय व्याकरण पर शब्दावतार न्यास का कर्ता लिखा है। अनुमान होता है कि दुर्विनीत के गुरु पूज्यपाद ने वह ग्रन्थ रच कर अपने शिष्य के नाम से प्रचारित किया था।

जैनेन्द्र व्याकरण उस शृङ्खला की पहली कड़ी है जिसमें गुप्तकाल से लेकर मध्यकाल तक उत्तरोत्तर नये-नये व्याकरणों की रचना होती चली गई। जैनेन्द्र (पाचवीं शती), चन्द्र (पाचवीं शती), शाकटायन (नवमी शती का पूर्वार्द्ध), सरस्वतीकण्ठाभरण (ग्यारहवीं शती का पूर्वार्द्ध) और प्रसिद्ध हैमशब्दानुशासन (बारहवीं शती का पूर्वार्द्ध) इन सबने उन्मुक्त मन से और अत्यन्त सौहार्द भाव से पाणिनीय व्याकरण की मूल सामग्री का अवलम्बन लिया। इनमें भी जैनेन्द्र व्याकरण ने भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण को छोड़कर अपने आपको पाणिनीय सूत्रों के सबसे निकट रखा है। किसी भी प्रकरण के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैनेन्द्र ने पाणिनि सामग्री की प्रायः अविकल रक्षा की है। केवल स्वर

और वैदिक प्रकरणों को अपने युग के लिए आवश्यक न जानकर उन्होंने छोड़ दिया था। जैनेन्द्र व्याकरण के कर्त्ता ने पाणिनीय गणपाठ की बहुत सावधानी से रक्षा की थी। मूल व्याकरण में पाणिनि के गणसूत्रों को प्रायः स्वीकार किया गया है। यद्यपि वैदिक शाखाओं वाले और गोल्ल सम्बन्धी गणों से सिद्ध होने वाले नामों का जैन साहित्य के लिए उतना उपयोग न था, किन्तु जिस समय इस व्याकरण की रचना हुई उस समय भाषा के विषय में लोक की चेतना अत्यन्त स्वच्छ और उदार भाव से युक्त थी, अतएव जैनेन्द्र व्याकरण की प्रवृत्ति पाणिनि सामग्री के निराकरण में नहीं, वरन् उसके अधिक से अधिक संरक्षण में देखी जाती है। जैनेन्द्र व्याकरण के साथ उसका अलग गणपाठ किसी समय अवश्य ही रहा होगा, यद्यपि अब वह पृथक् रूप से उपलब्ध न होकर अभयनन्दीकृत महावृत्ति के अन्तर्गत ही सुरक्षित है। कात्यायन के वार्तिक और पतञ्जलि के भाष्य की दृष्टियों में जो नये नये रूप सिद्ध किये गये थे उन्हें देवनन्दी ने सूत्रों में अपना लिया है, इसलिए भी यह व्याकरण अपने समय में विशेष लोकप्रिय हुआ होगा। यह प्रवृत्ति काशिका में भी किसी अंश में आ गई थी और चन्द्र आदि व्याकरणों में भी बराबर पाई जाती है।

आचार्य अभयनन्दी की महावृत्ति लगभग काशिका के समान ही बृहत् ग्रन्थ है। इसके कर्त्ता ने कात्यायन के वार्तिक और पतञ्जलि के भाष्य से बहुत अधिक उपादेय सामग्री का अपने ग्रन्थ में संकलन कर लिया है। महावृत्ति का काल आठवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है और सम्भावना ऐसी है कि अभयनन्दी ने काशिका वृत्ति का उपयोग किया था। वस्तुतः किसी भी पाठक से यह तथ्य छिपा नहीं रह सकता कि अष्टाध्यायी और काशिका का ही रूपान्तर जैनेन्द्र पचाध्यायी और उसकी महावृत्ति में प्राप्त होता है। फिर भी काशिका और महावृत्ति की सूक्ष्म तुलना करने पर यह प्रकट हो जाता है कि अभयनन्दी ने कुछ ऐसे उदाहरण दिये हैं जो काशिका में उपलब्ध नहीं होते और फलस्वरूप ऐसी सामग्री की शिक्षा की है जो काशिका से प्राप्त नहीं हो सकती। उन्होंने जहाँ सम्भव हो सका वहाँ जैन तीर्थंकरों के, महापुरुषों के, या ग्रन्थों के नाम उदाहरणों में डाल दिये हैं। जैसे, सूत्र १।४।१५ के उदाहरण में 'अनुशालिभद्रम् आद्या', अनुसमन्तभद्र तार्किका, सूत्र १।४।१६ के उदाहरण में 'उपसिंहनन्दिन कवय, उपसिद्धसेन वैयाकरणा, सूत्र १।४।२० की वृत्ति में 'आकुमारेश्यो यश समन्तभद्रस्य, सूत्र १।४।२२ की टीका में 'अभयकुमार श्रेणिकत प्रति, सूत्र २।१।६८ की टीका में 'भरतगृह्य, भुजवलिगृह्य, सूत्र १।३।१० की वृत्ति में 'आकुमार यश समन्तभद्रस्य ऐसे उदाहरण हैं जो वृत्तिकार ने मूलग्रन्थ के अनुकूल जैन वातावरण का निर्माण करने के लिए अपनी प्रतिभा से बनाये हैं। सूत्र १।३।५ की वृत्ति में 'प्राभृतपर्यन्तमधीते' उदाहरण महत्वपूर्ण है, उसी के साथ 'सम्बन्धम्, सटीकम् अधीते' भी ध्यान देने

योग्य है। यहाँ ऐसा विदित होता है कि प्रामृत में तात्पर्य महाकर्मप्रकृति प्रामृतने या जिसके रचयिता आ० पुष्पदन्त तथा भूतवर्णि माने जाते हैं (प्रथम-द्वितीय शती)। इसी का दूसरा नाम पद्मखण्डागम प्रसिद्ध है। इसी का भागविभाग 'बन्ध' या महाबन्ध (महाध्वज निदानान्तर) था जिनके अध्ययन में यहाँ अभयनन्दी का तात्पर्य जात होता है, अर्थात् उन समय भी विद्वानों में प्रामृत या पद्मखण्डागम में पृथक् महाबन्ध का अस्तित्व या और दोनों का अध्ययन जीवन या आदर्श माना जाता था। 'सटीकमधीने' में जिन टीका का उल्लेख है वह ध्वज टीका नहीं हो सकती क्योंकि उसकी रचना दीर्घने ने ८१६ ई० में की थी। श्रुतावतार के अनुसार महाकर्मप्रामृत पर आचार्य कुन्दकुन्द ने भी एक बड़ी प्राकृत टीका लिखी थी जो इस समय अनुपलब्ध है। सम्भवतः वही टीका प्रामृत और बन्धके साथ पढ़ी जाती थी। इनके स्थान पर पाणिनि भूतके उदाहरणों में किन्नी समय उष्टि, पशुबन्ध, अग्नि, रहस्य नामक गतपथ ब्राह्मण के तत्तद् काण्डों का अध्ययन विद्या का आदर्श माना जाता था। देवनेन्दी ने सूत्र १।४।३४ में जिन श्रीदत्त आचार्यका उल्लेख किया है उन्हें कुछ विद्वान् काल्पनिक समझते हैं, परन्तु अभयनन्दी की महावृत्ति से सूचित होता है कि श्रीदत्त कोई अत्यन्त प्रसिद्ध व्याकरण थे जिनका लोक में प्रमाण माना जाता है। 'इतिश्रीदत्तम्,' यह प्रयोग 'इतिपाणिनि' के सदृश लोकप्रसिद्ध था। इसी प्रकार 'तच्छ्रीदत्तम्' 'अहोश्रीदत्तम्' प्रयोग भी श्रीदत्त की लोकप्रियता और प्रामाणिकता अभिव्यक्त करते हैं (श्रीदत्तशब्दों लोके प्रकाशते, महावृत्ति १।३।५)। सूत्र ३।३।७६ पर 'तेन प्रोक्तम्' के उदाहरण में अभयनन्दी ने श्रीदत्त के विरचित ग्रन्थ को श्रीदत्तीयम् कहा है। इससे ज्ञात होता है कि श्रीदत्त का बनाया कोई ग्रन्थ अवश्य था। १।४।४ की वृत्ति में 'अरुद भयुरा रमणीया, माम कल्याणी काची' ये दोनों उदाहरण अभयनन्दी की मौलिकता सूचित करते हैं। पाणिनि सूत्र 'कालाव्वनोरत्यन्तसयोगे' (२।३।५) की काशिका वृत्ति में मास कल्याणी' उदाहरण तो है किन्तु 'माम कल्याणी काची' यह ऐतिहासिक सूचना अभयनन्दी ने किसी विषय जोत से प्राप्त की थी। जिन काचीपुरी के मासव्यापी उत्सवों की विषय जोभा की ओर इस उदाहरण में नकेत है वह महेन्द्रवर्मन्, नरसिंहवर्मन् आदि पल्लव नरेशों की राजधानी के सम्बन्ध में होना चाहिए। अतएव सप्तम शती से पूर्व यह उदाहरण भाषा में उत्पन्न न हुआ होगा। सूत्र ४।३।११४ की वृत्ति में अभयनन्दी ने माघ के 'मटाछटाभिन्नधनेन विव्रता' श्लोक का उद्धरण दिया है। माघ के दाग मुप्रभदेव वर्मलात के मंत्री थे जिसका एक शिलालेख ६२५ ई० का पाया जाता है। अतएव माघ का समय सप्तम शती का उत्तरार्ध होना चाहिए। उनके बाद ही अभयनन्दी ने महावृत्ति का निर्माण किया होगा। सूत्र १।४।६६ पर 'चन्द्रगुप्तसभा' उदाहरण तो पाणिनीय परम्परा में प्राप्त होता है किन्तु उसके साथ काशिका में जो 'पुष्पनिवसभा' दूसरा उदाहरण

है उसकी जगह महावृत्तिकारने 'सातवाहनसभा' उदाहरण रखा है। उसी प्रकार काशिका (२।४।२३) में केवल 'काष्ठसभा' उदाहरण है, किन्तु अभयनन्दी ने 'पाषाणसभा और पक्वेष्टकासभा' ये दो अतिरिक्त उदाहरण दिये हैं। कही-कही अभयनन्दी ने काशिका की अपेक्षा भाष्य के उदाहरणों को स्वीकार किया है। जैसे सूत्र १।४।१३७ में औदालकि पिता, औदालकायन पुत्र 'यह भाष्य का उदाहरण था, जिसे बदलकर काशिका ने अपने समय के अनुकूल अर्जुन पिता, अर्जुनायन पुत्र ' (काशिका २।४।६६) यह उदाहरण कर दिया था। 'अर्जुनायन' काशिकाकार के समय के अधिक सन्निकट था जैसा कि समुद्रगुप्त की प्रयागस्तम्भ प्रशस्ति में अर्जुनायनगण के उल्लेख से ज्ञात होता है। कही-कही महावृत्ति में काशिका की सामग्री को स्वीकार करते हुए उससे अतिरिक्त भी उदाहरण दिये गये हैं जो सूचित करते हैं कि अभयनन्दी की पहुँच अन्य प्राचीन वृत्तियों तक थी, जैसे सूत्र १।४।८३ की वृत्ति में 'उद्धयेरावति' तो काशिका में भी है किन्तु 'विपाट्चक्रभिदम् (विपाशा और चक्रभिद् नदी का संगम) उदाहरण नया है। ऐसे ही सूत्र २।४।२६ में मयूरिकावन्ध, कौचवन्ध, चक्रवन्ध, कूटवन्ध उदाहरण महावृत्ति और काशिका में समान हैं, पर चण्डालिकावन्ध और महिषिकवन्ध उदाहरण महावृत्ति में नये हैं। काशिका का मुष्टिवन्ध महावृत्ति में दृष्टिवन्ध और चोरकवन्ध चारकवन्ध हो गया है। सूत्र १।३।३६ में भी चारकवन्ध पाठ है। सूत्र १।४।६६ 'पान देशे' की वृत्ति में काशिका के 'क्षीरपाणा उशीनरा' को 'क्षीरपाणा आन्ध्रा' और 'सौवीरपाणा वाह्लीका' को 'सौवीरपाणा द्रविणा' कर दिया है। 'द्रविणा' द्रमिल या द्रमिड का रूप है। ये परिवर्तन अभयनन्दी ने किसी प्राचीन वृत्ति के आधार पर या स्वयं अपनी सूचना के आधार पर किये होंगे। आन्ध्र देश में दूध पीने का और तमिल देश में काजी पीने का व्यवहार लोक में प्रसिद्ध रहा होगा। कही-कही महावृत्ति में कठिन शब्दों के नये अर्थ संग्रह करने का प्रयास किया है इसका अच्छा उदाहरण सूत्र २।४।१६ का 'अपडक्षीण' शब्द है। पाणिनि सूत्र १।४।७ की काशिका वृत्ति में 'अपडक्षीणो मन्त्र' उदाहरण है अर्थात् ऐसा मन्त्र या परामर्श जो केवल राजा और मन्त्री के बीच में हुआ हो (यो द्वाभ्यामेव क्रियते न बहुभिः)। 'पट्कर्णो भिद्यते मन्त्र' के अनुसार राजा और मुख्य मन्त्री की 'चार आखों' या 'चार कानों' से बाहर जो मन्त्र चला जाता था उसके फूट जाने की आशंका रहती थी। अभयनन्दी ने काशिका के इस अर्थ को स्वीकार तो किया है, किन्तु गौण रीति से। उन्होंने 'अपडक्षीणो देवदत्त' उदाहरण को प्रधानता दी है। अर्थात् कोई देवदत्त नाम का व्यक्ति जिसने अपने पिता, पितामह और पुत्र में से किसी को न देखा हो। अर्थात् जो स्वयं अपने पिता पितामह की मृत्यु के बाद उत्पन्न हुआ हो और स्वयं अपने पुत्र जन्म के कुछ मास पहले गत हो गया हो। इसके अतिरिक्त गेद को भी अपडक्षीणा कहा है (येन वा कन्दुकेन द्वौ क्रीडत सोऽप्येवमुक्तः)।

योग्य है। यहाँ ऐसा विदित होता है कि प्राभृत से तात्पर्य महाकर्मप्रकृति प्राभृतसे या जिसके रचयिता आ० पुष्पदन्त तथा भूतबलि माने जाते हैं (प्रथम-द्वितीय शती)। इसी का दूसरा नाम षट्खण्डागम प्रसिद्ध है। इसी का भागविशेष 'वन्ध' या महावन्ध (महाधवल सिद्धान्तशास्त्र) या जिसके अध्ययन से यहाँ अभयनन्दी का तात्पर्य ज्ञात होता है, अर्थात् उस समय भी विद्वानों में प्राभृत या षट्खण्डागम से पृथक् महावन्ध का अस्तित्व था और दोनों का अध्ययन जीवन का आदर्श माना जाता था। 'सटीकमधीते' में जिस टीका का उल्लेख है वह धवला टीका नहीं हो सकती क्योंकि उसकी रचना वीरसेन ने ८१६ ई० में की थी। श्रुतावतार के अनुसार महाकर्मप्राभृत पर आचार्य कुन्दकुन्द ने भी एक बड़ी प्राकृत टीका लिखी थी जो इस समय अनुपलब्ध है। सम्भवतः वही टीका प्राभृत और वन्धके साथ पढ़ी जाती थी। इनके स्थान पर पाणिनि सूत्रके उदाहरणों में किसी समय इष्टि, पशुवन्ध, अग्नि, रहस्य नामक शतपथ ब्राह्मण के तत्तद् काण्डों का अध्ययन विद्या का आदर्श माना जाता था। देवन्दी ने सूत्र १।४।३४ में जिन श्रीदत्त आचार्यका उल्लेख किया है उन्हें कुछ विद्वान् काल्पनिक समझते हैं, परन्तु अभयनन्दी की महावृत्ति से सूचित होता है कि श्रीदत्त कोई अत्यन्त प्रसिद्ध वैयाकरण थे जिनका लोक में प्रमाण माना जाता है। 'इतिश्रीदत्तम्,' यह प्रयोग 'इतिपाणिनि' के सदृश लोक-प्रसिद्ध था। इसी प्रकार 'तच्छ्रीदत्तम्' 'अहोश्रीदत्तम्' प्रयोग भी श्रीदत्त की लोक-प्रियता और प्रामाणिकता अभिव्यक्त करते हैं (श्रीदत्तशब्दों लोके प्रकाशते, महावृत्ति १।३।५)। सूत्र ३।३।७६ पर 'तेन प्रोक्तम्' के उदाहरण में अभयनन्दी ने श्रीदत्त के विरचित ग्रन्थ को श्रीदत्तीयम् कहा है। इससे ज्ञात होता है कि श्रीदत्त का बनाया कोई ग्रन्थ अवश्य था। १।४।४ की वृत्ति में 'शरद मथुरा रमणीया, मास कल्याणी काची' ये दोनों उदाहरण अभयनन्दी की मौलिकता सूचित करते हैं। पाणिनि सूत्र 'कालाध्वनोरत्यन्तसयोगे' (२।३।५) की काशिका वृत्ति में मास कल्याणी' उदाहरण तो है किन्तु 'मास कल्याणी काची' यह ऐतिहासिक सूचना अभयनन्दी ने किसी विशेष स्रोत से प्राप्त की थी। जिस काचीपुरी के मासव्यापी उत्सवों की विशेष शोभा की ओर इस उदाहरण में संकेत है वह महेन्द्रवर्मन्, नरसिंहवर्मन् आदि पल्लव नरेशों की राजधानी के सम्बन्ध में होना चाहिए। अतएव सप्तम शती में पूर्व यह उदाहरण भाषा में उत्पन्न न हुआ होगा। सूत्र ४।३।११४ की वृत्ति में अभयनन्दी ने माघ के 'सटाछटाभिन्नधनेन विभ्रता' जलोक का उद्धरण दिया है। माघ के दादा सुप्रभदेव वर्मलात के मन्त्री थे जिसका एक गिनालेख ६२२ ई० का पाया जाता है। अतएव भाव का समय सप्तम शती का अनन्तर्गत होना चाहिए। उसके बाद ही अभयनन्दी ने महावृत्ति का निर्माण किया होगा। सूत्र १।४।६६ पर 'चन्द्रभुगनसभा' उदाहरण तो पाणिनीय परम्परा में प्राप्त होता है किन्तु उसके साथ काशिका में जो 'पुष्पमित्तसभा' दूसरा उदाहरण

है उसकी जगह महावृत्तिकारने 'सातवाहनसभा' उदाहरण रखा है। उसी प्रकार काशिका (२।४।२३) में केवल 'काण्डसभा' उदाहरण है, किन्तु अभयनन्दी ने 'पाषाणसभा और पक्वेष्टकासभा' ये दो अतिरिक्त उदाहरण दिये हैं। कहीं-कहीं अभयनन्दी ने काशिका की अपेक्षा भाष्य के उदाहरणों को स्वीकार किया है। जैसे सूत्र १।४।१३७ में औदालकि पिता, औदालकायन पुत्र 'यह भाष्य का उदाहरण था। जिसे बदलकर काशिका ने अपने समय के अनुकूल अर्जुन पिता, अर्जुनायन पुत्र' (काशिका २।४।६६) यह उदाहरण कर दिया था। 'अर्जुनायन' काशिकाकार के समय के अधिक सन्निकट था जैसा कि समुद्रगुप्त की प्रयागस्तम्भ प्रशस्ति में अर्जुनायनगण के उल्लेख से ज्ञात होता है। कहीं-कहीं महावृत्ति में काशिका की सामग्री को स्वीकार करते हुए उससे अतिरिक्त भी उदाहरण दिये गये हैं जो सूचित करते हैं कि अभयनन्दी की पहुँच अन्य प्राचीन वृत्तियों तक थी, जैसे सूत्र १।४।८३ की वृत्ति में 'उद्धयेरावति' तो काशिका में भी है किन्तु 'विपाट्चक्रभिदम्' (विपाशा और चक्रभिद् नदी का संगम) उदाहरण नया है। ऐसे ही सूत्र २।४।२६ में मयूरिकावन्ध, कौचवन्ध, चक्रवन्ध, कूटवन्ध उदाहरण महावृत्ति और काशिका में समान है, पर चण्डालिकावन्ध और महिषिकवन्ध उदाहरण महावृत्ति में नये हैं। काशिका का मुष्टिवन्ध महावृत्ति में दृष्टिवन्ध और चोरकवन्ध चारकवन्ध हो गया है। सूत्र १।३।३६ में भी चारकवन्ध पाठ है। सूत्र १।४।६६ 'पान देशे' की वृत्ति में काशिका के 'क्षीरपाणा उशीनरा' को 'क्षीरपाणा आन्ध्रा' और 'सौवीरपाणा वाह्लीका' को 'सौवीरपाणा द्रविणा' कर दिया है। 'द्रविणा' द्रमिल या द्रमिड का रूप है। ये परिवर्तन अभयनन्दी ने किसी प्राचीन वृत्ति के आधार पर या स्वयं अपनी सूचना के आधार पर किये होंगे। आन्ध्र देश में दूध पीने का और तमिल देश में काजी पीने का व्यवहार लोक में प्रसिद्ध रहा होगा। कहीं-कहीं महावृत्ति में कठिन शब्दों के नये अर्थ संग्रह करने का प्रयास किया है इसका अच्छा उदाहरण सूत्र २।४।१६ का 'अपडक्षीण' शब्द है। पाणिनि सूत्र १।४।७ की काशिका वृत्ति में 'अपडक्षीणो मन्त्र' उदाहरण है अर्थात् ऐसा मन्त्र या परामर्श जो केवल राजा और मन्त्री के बीच में हुआ हो (यो द्वाभ्यामेव क्रियते न बहुभिः)। 'पट्कर्णो भिद्यते मन्त्र' के अनुसार राजा और मुख्य मन्त्री की 'चार आखों' या 'चार कानों' से बाहर जो मन्त्र चला जाता था उसके फूट जाने की आशंका रहती थी। अभयनन्दी ने काशिका के इस अर्थ को स्वीकार तो किया है, किन्तु गौण रीति से। उन्होंने 'अपडक्षीणो देवदत्त' उदाहरण को प्रधानता दी है। अर्थात् कोई देवदत्त नाम का व्यक्ति जिसने अपने पिता, पितामह और पुत्र में से किसी को न देखा हो। अर्थात् जो स्वयं अपने पिता पितामह की मृत्यु के बाद उत्पन्न हुआ हो और स्वयं अपने पुत्र जन्म के कुछ मास पहले गत हो गया हो। इसके अतिरिक्त गेद को भी अपडक्षीणा कहा है (येन वा कन्दुकेन द्वौ क्रीडत सोऽप्येवमुक्त)।

या तो ये अर्थ अभयनन्दी के समय में लोकप्रचलित थे या उनकी कल्पना है। महावृत्ति में 'अपडक्षीण' का एक अर्थ मछली भी किया है पर उसमें खीचतान ही जान पड़ती है। सूत्र ३।४।१३४ में 'अयानयीन' शब्द के अर्थ का भी महावृत्ति में विस्तार है।

महावृत्ति सूत्र २।२।६२ में इतिहास की विशेष महत्वपूर्ण सामग्री सुरक्षित रह गयी है। उसमें ये दो उदाहरण आए हैं

‘अरणन्महेन्द्रो मयुराम् । अरणद् यवन साकेतम् ।’

व्याकरण की दृष्टि से यह आवश्यक था कि कोई ऐसा उदाहरण लिया जाता जो लोकप्रसिद्ध घटना का सूचक हो, जो कहने वाले के परोक्ष में घटित हुआ हो किन्तु जिसका देख सकना उसके लिए सम्भव हो अर्थात् उसके जीवन काल की ही कोई प्रसिद्ध घटना हो, पर जिसे सम्भव होने पर भी उसने स्वयं देखा न हो। भाष्यकार पतञ्जलि ने इसका उदाहरण देते हुए अपनी समसामयिक दो घटनाओं का उल्लेख किया था ‘अरणद् यवन साकेतम्, अरणद् यवनो मध्यमिकाम् ।’ इनमें शाकल के यवन राजाओं द्वारा किये हुए उन दो हमलों का उल्लेख है जिनमें से एक पूर्व की ओर साकेत पर और दूसरा पच्छिम में मध्यमिका पर। मध्यमिका चित्तौड़ के पास का वह स्थान था जिसे इस समय नगरी कहते हैं और जहाँ खुदाई में प्राप्त पुराने सिक्कों पर मध्यमिका नाम लिखा हुआ मिला है। ये हमले किस राजा ने किये थे उसका नाम पतञ्जलि ने नहीं दिया, किन्तु यूनानी इतिहासलेखकों के वर्णन से ज्ञात होता है कि उस राजा का नाम मिनन्डर था जिसे पाली भाषा में मिलिन्द कहा गया है। उसके सिक्कों पर तत्कालीन बोलचाल की प्राकृत भाषा में उसका नाम मेनन्द्र मिलता है। महावृत्ति के ‘अरणन्महेन्द्रो मयुराम्’ इस उदाहरण में दो महत्वपूर्ण सूचनाएँ हैं। इसमें राजा का नाम महेन्द्र दिया हुआ है, पर हमारी सम्मति में इसका मूलपाठ ‘मेनन्द्र’ था। पीछे के लेखकों ने मेनन्द्र नाम की ठीक पहचान न समझ कर उसका सस्कृत रूप महेन्द्र कर डाला। इस उदाहरण से सस्कृत साहित्य की भारतीय साक्षी प्राप्त हो जाती है कि पूर्व की ओर अभियान करने वाले यवनराज का नाम मेनन्द्र या मिनन्डर था। यवनराज मेनन्द्र ने पाटलिपुत्र पर दात गड़ा कर पहले धक्के में मयुरा पर अधिकार जमाया और फिर आगे बढ़ कर साकेत को छेक लिया। साकेत पहुँचने के लिए मयुरा का जीतना आवश्यक था। अब यह सूचना पक्के रूप में अभयनन्दी के उदाहरण से प्राप्त हो जाती है। इसमें यह भी पता लगता है कि काशिका के अतिरिक्त भी अभयनन्दी के सामने पाणिनि व्याकरण की ऐसी सामग्री थी जिससे उसे यह नया ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त हुआ। सूत्र १।३।३६ की वृत्ति में आरण्यक पर्व १२।६८-१० का यह श्लोक पठित है

उलूखनैराभरणं पिशाची यदभापत् । एतत्तु ते दिवा नृत्त रात्रौ नृत्त तु द्रक्ष्यमि ॥



काशिका २।१।४५ में यह श्लोक किन्हीं प्रतियों में प्रक्षिप्त और किन्हीं में मूल के अन्तर्गत माना गया है, किन्तु महावृत्ति से सिद्ध हो जाता है कि वह काशिका के मूल पाठ का भाग था। श्लोक के उत्तरार्द्ध में जो 'दिवानृत्त रात्रौ नृत्त' पाठ है उसका समर्थन महाभारत की कुछ प्रतियों से होता है पर कुछ अन्य प्रतियों में 'वृत्त' पाठ है जैसा कि काशिका में और महाभारत के पूना संस्करण में भी स्वीकार किया गया है। आचार्य अभयनन्दी ने अपनी महावृत्ति को जिस प्रकार पाणिनीय व्याकरण की पुष्कल सामग्री से भर दिया है, वह सर्वथा अभिनन्दन के योग्य है। आशा है जिस समय काशिकावृत्ति, अभयनन्दीकृत महावृत्ति और शाकटायन व्याकरण की अमोघवृत्ति इन तीनों का तुलनात्मक अध्ययन करना सम्भव होगा तो यह बात और भी स्पष्ट रूप से जानी जा सकेगी कि प्रत्येक वृत्तिकार ने परम्परा से प्राप्त सामग्री की कितनी अधिक रक्षा अपने-अपने ग्रन्थ में की थी। यह सन्तोष का विषय है कि इन कृतियों ने सावधानी के साथ प्राचीन सामग्री को बचा लिया।

आचार्य देवन्दी ने पाणिनीय अष्टाध्यायी को आधार मानकर उसे पचाध्यायी में परिवर्तन करते समय दो बातों की ओर विशेष ध्यान रखा था— एक तो धातु प्रत्यय, प्रातिपादिक, विभक्ति, समास आदि अन्वर्थ महासंज्ञाओं को भी जिनके कारण पाणिनीय अष्टाध्यायी व्याकरण में इतनी स्पष्टता और स्वारस्य आ सका था, इन्होंने बीजगणित के जैसे अतिसंक्षिप्त संकेतों में बदल दिया है। दूसरे जितने स्वर सम्बन्धी और वैदिक प्रयोग सम्बन्धी सूत्र थे उनको आ० देवन्दी ने छोड़ दिया है। किन्तु ऐसा करते हुए इन्होंने उदारता से काम लिया है, जैसे आनाय्य, धाया, सानाय्य, कुण्डपाय्य, परिचाय्य, उपचाय्य, (२।१।१०४-१०५), प्रावस्तुत् (२।२।१५६) आदि वैदिक साहित्य में प्रयुक्त होने वाले शब्दों को रख लिया है। इसी प्रकार सास्य देवता प्रकरण (३।२।२१-२८) में शुक्र अपोन्पृ, महेन्द्र, सोम, धावापृथिवी, शुनासीर, मरुत्वत्, अग्नीपोम, वास्तोस्पति, गृहमेध आदि गृह्यसूत्र कालीन देवताओं के नामों को पाणिनीय प्रकरण के अनुसार ही रहने दिया है। प्रत्येक में आने वाले फ, ढ, ख, छ, घ, और यु, वु, एव उनके स्थान में होने वाले आदेशों को भी ज्यों का त्यों रहने दिया है। (५।१।१, ५।१।२)। 'तेन प्रोक्तम्' प्रकरण (३।३।७६-८०) में वैदिक शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों के नाम भी ज्यों के त्यों जैनेन्द्र व्याकरण में स्वीकृत कर लिये गए हैं। कहीं-कहीं जैनेन्द्र ने उन परिभाषाओं को स्वीकार किया जो प्राक्पाणिनीय व्याकरणों में मान्य थी और जिनका उल्लेख भाष्य या वार्तिकों में आया है। उदाहरण के लिए जैनेन्द्र सूत्र १।३।१०५ में उत्तरपद की द्युसंज्ञा मानी गयी है। पतञ्जलि के महाभाष्य में सूत्र ७।३।३ पर श्लोकवार्तिक में द्यु पाठ है और वहाँ 'किमिद घोरिति उत्तरपदस्येति' लिखा है। सूत्र ७।१।२१ के भाष्य में अघु को अनुत्तरपद का पर्याय माना है पर कीलहर्न

का सुझाव था कि घु का शुद्ध पाठ घु होना चाहिए। वह बात जैनेन्द्र के सूत्र १।३।१०५ 'उत्तरपद घु' से निश्चयेन प्रमाणित हो जाती है। और अब भाष्य में भी घु ही शुद्ध पाठ मान लेना चाहिए।

सबसे आश्चर्य की बात यह है कि पाणिनि के 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८।२।१) सूत्र और उससे सम्बन्धित असिद्ध प्रकरण को भी जो पाणिनि के शास्त्रनिर्माण कीशल का अद्भुत नमूना है, जैनेन्द्र व्याकरण में 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र (१।३।२७) में स्वीकार किया है। तदनुसार जैनेन्द्र के साढ़े चार अध्यायों के प्रति अन्त के लगभग दो पाद असिद्ध शास्त्र के अन्तर्गत आते हैं। देवनन्दी ने अपनी पचाध्यायी में पाणिनीय अष्टाध्यायी के सूत्रक्रम में कम से कम फेरफार करके उसे जैसे का तैसा रहने दिया है। केवल सूत्रों के शब्दों में जहाँ-तहाँ परिवर्तन करके सन्तोष कर लिया है।

पूज्यपाद देवनन्दी ने आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र पर सर्वार्थसिद्धि नामक टीका का निर्माण किया था जो जानपीठ से प्रकाशित हो चुकी है। उस ग्रन्थ में उन्होंने कई स्थलों पर व्याकरण के सूत्रों का उद्धरण दिया है। उनमें बिना पक्षपात के जैनेन्द्र सूत्रों को भी और पाणिनीय सूत्रों को भी उद्धृत किया गया है। उदाहरण के लिए अध्याय ४ सूत्र १६ की सर्वार्थसिद्धि टीका में दो सूत्रों का उल्लेख है 'तदस्मिन्नस्तीति' और 'तस्य निवास'। इनमें पहले के विषय में यह कहना कठिन है कि वह किस व्याकरण से लिया गया है, किन्तु दूसरा पाणिनीय व्याकरण का ही है (४।२।६६) क्योंकि उसका जैनेन्द्रगत पाठ 'तस्य निवासादूरभवौ' रूप में मिलता है (सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृष्ठ ५०)। पूज्यपाद ने न केवल नवीन व्याकरण सूत्रों की रचना की, वरन् उन पर जैनेन्द्र-न्यास भी बनाया था। उन्होंने पाणिनीय सूत्रों पर शब्दावतार न्यास भी लिखा था किन्तु अभी तक ये दोनों ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य पूज्यपाद पाणिनीय व्याकरण, कात्यायन के वार्तिक और पतञ्जलि के भाष्य के पूर्ण मर्मज्ञ थे, एव जैनधर्म और दर्शन पर भी उनका असामान्य अधिकार था। वे गुप्तयुग के प्रतिभाशाली महान् साहित्कार थे जिनका तत्कालीन प्रभाव कोकण के नरेशों पर था, किन्तु कालान्तर में जो सारे देश की विभूति बन गये।

डॉ० अग्रवाल ने जैनेन्द्र के उपर्युक्त विश्लेषण में जो बातें कही हैं उन्हें विद्वान् शत प्रतिशत रूप में ज्यों का त्यों स्वीकार कर ले, यह आवश्यक नहीं है। वे अपनी व्याख्या अलग दे सकते हैं। इस प्रकार के अध्ययन के लिए यह आकाशदीप है, इसमें दो राय नहीं हो सकती।

जैन व्याकरण शास्त्र के अध्ययन की जिस तीसरी दृष्टि का हमने ऊपर जिक्र किया है, उसे किन्हीं अर्थों में पारस्परिक तरीके से देखने-सोचने की बात

भी कहा जा सकता है पर है वह एक विशेष दृष्टि। उस दृष्टि से भी जब हम देखते हैं तो सर्व प्रथम हमारा ध्यान जैनेन्द्र पर ही जाता है।

उपलब्ध जैन व्याकरण ग्रन्थों में पूज्यपाद देवनन्दी का जैनेन्द्र व्याकरण प्रथम है। देवनन्दी दिगम्बर परम्परा के विश्रुत जैनोचार्य थे। उनके पूज्यपाद तथा जैनेन्द्रबुद्धि नाम भी प्रचलित थे। नन्दीसप्त पट्टावली में इसका उल्लेख निम्नप्रकार किया गया है

“यथा कीर्तिर्यशोनन्दि देवनन्दी महामति ।

श्री पूज्यपादापराख्यो गुणनन्दी गुणाकर ॥”

श्रवणवेलगोल के ४०वें शिलालेख में देवनन्दी का जैनेन्द्रबुद्धि नाम बताया गया है

“यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जैनेन्द्रबुद्धि ।

श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजित पादयुग यदीयम् ॥

इससे ज्ञात होता है कि आचार्य का प्रथम नाम देवनन्दी था, बुद्धि की महत्ता के कारण वह जैनेन्द्रबुद्धि कहलाये तथा देवो ने उनके चरणों की पूजा की, इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ। जैनेन्द्रबुद्धि नाम के एक बौद्ध साधु विक्रम की आठवीं शती में हुए। उन्होंने पाणिनीय व्याकरण की काशिकावृत्ति पर एक न्यास की रचना की थी, जो ‘जैनेन्द्रबुद्धिन्यास’ के नाम से प्रसिद्ध है। ये जैनेन्द्र बुद्धि पूज्यपाद जैनेन्द्रबुद्धि से भिन्न है। श्रवणवेलगोल के एक अन्य लेख १०८ (२८५) में उनका उल्लेख इस प्रकार है

“जिनवद् बभूव यदनङ्गचापहृत् स जैनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णित ।”

पूज्यपाद अद्भुत प्रतिभा के धनी थे। दर्शन और लक्षणशास्त्र के वे अद्वितीय पण्डित थे।

प० युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार पूज्यपाद के ‘अरण्यमहेन्द्रो मयुराम्’ उदाहरण में गुप्तवंशीय कुमारगुप्त (४१३-४५५) की मयुरा विजय की ऐतिहासिक घटना सुरक्षित है।<sup>१</sup> इससे ज्ञात होता है कि पूज्यपाद कुमार गुप्त के समकालीन थे।

पूज्यपाद ने जैनेन्द्र व्याकरण में अपने पूर्ववर्ती छह आचार्यों का उल्लेख इस प्रकार किया है

१ गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् ॥१४१३४॥

२ कुवृषिभृजा यशोभद्रस्य ॥२११६६॥

३. राट् भूतवले (१३४८३॥

४. रात्रे कृति प्रभाचन्द्रस्य ॥४३१८०॥

५. वेत्ते सिद्धसेनस्य ॥५११७॥

६ चतुष्टय समन्तभद्रस्य ॥५४१४०॥

इन छह आचार्यों में से किसी एक का भी कोई व्याकरण ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। न ही कही इनके वैयाकरण होने का उल्लेख मिलता है। इस लिए मात्र इन उल्लेखों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि इन आचार्यों ने व्याकरण ग्रन्थों की रचना की होगी। इतना अवश्य है कि ये आचार्य पूज्यपाद से पूर्ववर्ती तथा विश्रुत आचार्य हुए हैं। उनके ग्रन्थों में व्याकरण के प्रयोगों का जो वैशिष्ट्य मिलता है उसमें उनके वैयाकरण होने का प्रमाण मिलता है। पूज्यपाद के इन उल्लेखों से उक्त आचार्यों के समय निर्णय के लिए एक निश्चित आधार उपलब्ध हो जाता है।

### जैनेन्द्र व्याकरण के दो पाठ

ऊपर बताया गया है कि उपलब्ध जैन व्याकरण-ग्रन्थों में पूज्यपाद देवनन्दी का जैनेन्द्र व्याकरण सर्वप्रथम है। वर्तमान में इसके दो पाठ मिलते हैं। दोनों पाठों पर अलग-अलग टीका या वृत्ति ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं।

एक सूत्र पाठ के अनुसार जैनेन्द्रव्याकरण में कुल ३००० सूत्र हैं। इन पर आचार्य अभयनन्दीकृत महावृत्ति आचार्य प्रभाचन्द्रकृत शब्दाभोजमास्कर, श्रुतकीर्तिकृत पचवस्तु नाम की प्रक्रिया तथा पंडित महाचन्द्रकृत लघु जैनेन्द्र टीका उपलब्ध हैं।

दूसरे सूत्र पाठ के अनुसार ग्रन्थ में कुल ३७०० सूत्र हैं। इस पर सोमदेव सूरिकृत शब्दार्णवचन्द्रिका तथा गुणनन्दीकृत प्रक्रिया उपलब्ध है। इस पाठ में ७०० सूत्र अधिक होने के अतिरिक्त शेष ३००० सूत्र भी पूर्णतया एक जैसे नहीं हैं। इस सूत्र पाठ के अनेक सूत्र परिवर्तित और परिवर्द्धित किये गये हैं। सज्ञाओं में भी भिन्नता है। इतना होने पर भी दोनों में पर्याप्त समानता है।

जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्र पाच अध्यायों में विभक्त है। इस कारण इसे पचाध्यायी भी कहा जाता है।

जैनेन्द्र व्याकरण की अनेक विशेषताएँ हैं, जो उसे पाणिनी व्याकरण से अलग करती है। उदाहरण के लिए

१ जैनेन्द्र का सर्वप्रथम सूत्र है सिद्धिरनेकान्तात् ॥१।१।१॥ अर्थात् शब्द की सिद्धि अनेकान्त द्वारा होती है।

अनेकान्त जैन दर्शन का अन्यतम सिद्धान्त है। इसके द्वारा वस्तु की अनेक धर्मात्मकता का प्रतिपादन किया जाता है। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। शब्द पुद्गल की पर्याय है। इसलिए वह भी अनन्त धर्मात्मक है। शब्द में नित्यत्व, अनित्यत्व, उभयत्व, अनुभयत्व आदि अनेक धर्म पाये जाते हैं। ऐसे शब्दों की सिद्धि अनेकान्त में ही सम्भव है। एकान्त सिद्धान्त से अनेक धर्मविशिष्ट शब्दों का साधुत्व नहीं बताया जा सकता।

२ "स्वाभाविक त्वादिभिधानस्यैकशेषानारम्भ ॥१॥१॥६६॥ इस सूत्र द्वारा प्रतिपादित किया गया है कि शब्द स्वभाव से ही एक शेष की अपेक्षा न कर एकत्व, द्वित्व, और बहुत्व में प्रवृत्त होते हैं। अतः एकशेष मानना निरर्थक है। इसी कारण जैनेन्द्र व्याकरण अनेक शेष है। पूज्यपाद की मान्यता है कि लोक व्यवहार में जो चीज सर्वत्र प्रचलित है उसे सूत्रवद्ध निर्देश करने से शास्त्र का निरर्थक कलेवर बढ़ता है।

पाणिनि ने 'रामा' जैसे बहुवचन के प्रयोगों की सिद्धि के प्रसंग में अनेक के स्थान पर एकशेष करने के लिए "संरूपाणामेकशेष" सूत्र की रचना की है। जैनेन्द्र ने इसे निरर्थक माना है।

३. जैनेन्द्र का सज्ञा प्रकरण बहुत ही मौलिक और साकेतिक है। इसमें धातु, प्रत्यय, प्रातिपादिक, विभक्ति, समास आदि अन्वय महा-सज्ञाओं के लिए बीज-गणित जैसी अति सक्षिप्त और पूर्ण सज्ञाएँ दी गई हैं। पाणिनि की तुलना में ये सज्ञाएँ अति सक्षिप्त हैं। दोनों की तुलना करके देखने पर इसका स्पष्ट ज्ञान होता है

पाणिनि की सज्ञाएं	जैनेन्द्र की सज्ञाएं	पाणिनि की सज्ञाएं	जैनेन्द्र की सज्ञाएं
१ अर्द्धधातुकम्	अग	२ चतुर्थी विभक्ति	अप्
३ द्वितीया विभक्ति	इप्	४ सप्तमी विभक्ति	ईप्
५ उपधा	उङ्	६ श्लु	उच्
७ वृद्धि	ऐच्	८ पचमी विभक्ति	का
९ सवृद्धि	कि	१०. लोप	ख
११ सज्ञा	खु	१२ उपसर्ग	गि
१३ अगम्	गु	१४ अगम्	गु
१५ लघु	घि	१६ अनुनासिकम्	ङ्
१७ भावकर्म	डि	१८ अश्रयास	च
१९. अव्ययम्	झि	२० कर्मव्यतिहार	व
२१ षष्ठी विभक्ति	ता	२२ गति	ति
२३. प्रत्यय	त्य	२४ अभ्यस्तम्	थ
२५. आत्मने पदम्	द	२६ प्रगृह्यम्	दि
२७ दीर्घम्	दी	२८ वृद्धम्	डु
२९ उत्तरपदम्	द्यु	३०. सर्वनाम स्थानम्	धम्
३१ अकर्मकम्	घि	३२. धातु	घु
३३ निपात	नि	३४ नपुसक लिंगम्	नप्

## ५४ संस्कृत-प्राकृत व्याकरण और कोश की परम्परा

३५ उपसर्जनम्	न्यक्	३६ प्लुत	प
३७ ह्रस्व	प्र	३८ बहुव्रीहि	वम्
३९ सवोधनम्	बोध्यम्	४० तृतीया विभक्ति	आ
४१ परस्मै पदम्	मम्	४२ नदी	मु
४३ प्रातिपदिकम्	मृत	४४ कर्मधारय	य
४५ द्विगु	र	४६ गुरु	रु
४७ प्रथमा विभक्ति	वा	४८ उपपदम्	वाक्
४९ कृत्य	व्य	५० तत्पुरुष	षम्
५१. समास	स	५२ वर्तमानम्	सत्
५३ सयोग	स्फ	५४ सवर्णम्	स्वम्
५५. सर्वनाम	स्ति	५६ सख्या	स्ति
५७ अव्ययीभाव	ह	५८. तद्धित	हृद्
५९ जुहोत्वादि	ह्वादि		

४ जैनेन्द्र का विधानक्रम पाणिनि की तरह है, किन्तु जैनेन्द्र में स्वर और वैदिक प्रयोग सम्बन्धी सूत्रों का परित्याग कर दिया गया है। छान्दस प्रयोगों को भी लौकिक मान कर सिद्ध किया गया है।

५ सूत्र शैली की सबसे बड़ी विशेषता शब्द लाघव है। पाणिनि की अपेक्षा जैनेन्द्र के सूत्रों में पर्याप्त लाघव है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित सूत्र दृष्टव्य है

पाणिनि व्याकरण	जैनेन्द्र व्याकरण
१ ल कर्मणि च भावेचाकर्मकेभ्य ।	ल कर्मणि च भावे चघे ।
२ हलान्तरा सयोग ।	हलो ऽन्तरा स्फ ।
३ ईद्वेद्विवचन प्रगृह्यम् ।	ईद्वेद् द्विद्वि ।
४ भूवादयो धातव ।	भूवादयो घु ।
५ परिव्यवेभ्यः क्रिय ।	परिव्यवक्रिय ।
६ विपराभ्या जे ।	विपराजे ।
७ नेविश ।	निविश ।
८ व्याङ्परिभ्यो रम ।	व्याङ्श्च रम ।
९ विशेषण विशेष्येणम् बहुलम् ।	विशेषण विशेष्येवेति ।
१० पति समास एव ।	पति से ।
११ दूरान्तिकार्येस्तृतीया ।	दूरान्तिकार्ये स्ता च ।
१२. दिवादिभ्य श्यम् ।	दिवादे श्य ।
१३. सर्वादीति सर्वनामानि ।	सर्वादि सर्वनाम ।
१४ प्रादय ।	प्रादि ।

६ जैनेन्द्र में “सैन्धो” ॥४।३।६०॥ को अधिकार सूत्र कह कर चतुर्थ अध्याय के तृतीय और चतुर्थ पाद तथा पचम अध्याय के कुछ सूत्रों में सन्धि का निरूपण किया गया है। अधिकार सूत्र के बाद छकार के रहने पर सन्धि में तुगागम का विधान किया गया है। तुगागम करने वाले चार सूत्र दिये गये हैं। इन सूत्रों द्वारा ह्रस्व, आड्, माड् तथा सञ्को से परे प्रयोगों का साधुत्व प्रदर्शित किया गया है। यह प्रक्रिया पाणिनि के समान है, किन्तु इसमें अधिक सूत्रों की आवश्यकता उपस्थित नहीं होती। सज्ञाओं की मौलिकता के कारण ही यह सम्भव हुआ है।

७ जैनेन्द्र पचास व्याकरण है। इसमें धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र तथा लिङ्गानुशासन के प्रयोग पूर्णतया उपलब्ध होते हैं।

जैनेन्द्रव्याकरण के सम्बन्ध में इस प्रकार के मन्तव्य सर्वथा निराधार हैं तथा जैनेन्द्र व्याकरण विषयक इतिहास और अध्ययन की अज्ञता के द्योतक है कि “पिछले किन्हीं दिगम्बर जैन विद्वानों ने पाणिनीय अष्टाध्यायी सूत्रों को अस्तव्यस्त कर यह कृत्रिम व्याकरण बना कर देवचन्द्र के नाम पर चढ़ा दिया है।”<sup>१९</sup> इतिहास ग्रन्थों में इस प्रकार के मन्तव्यों को उद्धृत करना गैरजिम्मेदाराना ही कहा जाएगा।

### स्वोपज्ञ जैनेन्द्रन्यास

पूज्यपाद देवचन्द्र ने जैनेन्द्र पर स्वोपज्ञ न्यास की रचना की। इसके उल्लेख प्राप्त होते हैं। शिमोगा जिले में प्राप्त एक शिलालेख में पूज्यपाद द्वारा रचित स्वोपज्ञन्यास तथा पाणिनीय व्याकरण पर लिखे शब्दावतारन्यास का निम्नलिखित रूप में उल्लेख प्राप्त होता है

न्यास जैनेन्द्रसज्ञ सकलबुधनत पाणिनीयस्य भूयो,

न्यास शब्दावतार मनुजततिहित वैद्यशास्त्र च कृत्वा।

इन दोनों न्यासों में से वर्तमान में कोई भी न्यास उपलब्ध नहीं है।

### अभयनन्दीकृत जैनेन्द्रमहावृत्ति

जैनेन्द्र की उपलब्ध सभी टीकाओं में अभयनन्दीकृत महावृत्ति सर्वाधिक प्राचीन है। अभयनन्दी दिगम्बर परम्परा के मान्य आचार्य थे। इनका समय विक्रम की ८-९वीं शताब्दी माना जाता है। डा० वेल्वलकर ने इनका समय सन् ७५० बताया है।<sup>२०</sup>

जैनेन्द्र के एक अन्य टीकाकार श्रुतकीर्ति ने अभयनन्दी की इस महावृत्ति को जैनेन्द्रायकरण रूप महल के किवाड़ की उपमा दी है। पञ्च-वस्तु के अन्तिम दो पद्यों में कहा गया कि जैनेन्द्रव्याकरणरूपी महल सूत्र रूपी स्तम्भों पर खड़ा किया गया है। न्यास रूपी उसकी भारी रत्नमय भूमि है। वृत्ति रूप उसके कपाट है,

भाष्यरूप शय्यातल है, टीका रूप उसके भाल या मजिल है और यह पचवस्तु टीका उसकी सोपान श्रेणी है।'

अभयनन्दी की यह महावृत्ति १२,००० श्लोक परिमाण है। काशिका की तरह वृहत् है। इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं

१. अभयनन्दी ने अपनी इस वृत्ति में कात्यायन के वार्तिक और पतञ्जलि के महाभाष्य से सार ले कर वार्तिक, परिभाषा और उपाख्यान लिख कर उन व्याकरण नियमों की पूर्ति की है जिनकी कमी उन्हें जैनेन्द्र के सूत्रों में महसूस हुई।

२ इस वृत्ति में शिक्षासूत्र भी उपलब्ध होते हैं। सूत्र १।१।२ की व्याख्या में लगभग ४० शिक्षा-सूत्र दिये गये हैं।

३ परिभाषाओं की व्याख्याएँ भी वृत्ति में दी गयी हैं।

४ अभयनन्दी ने अपनी वृत्ति में अनेक उणादिसूत्र उद्धृत किये हैं। इसमें कतिपय प्राचीन पचपादी से मिलते हैं और कुछ पाठान्तर हैं। इसलिए जैनेन्द्र के उणादि सूत्रों को जानने के लिए इस महावृत्ति का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

५ अनेक नवीन शब्दों का साधुत्व प्रदर्शित किया गया है। जैसे सूत्र १।१।६६ की व्याख्या में 'प्रविनय्य' प्रयोग की सिद्धि में असाधारण पाण्डित्य दिखाया गया है।

६ महावृत्ति में दिये गये उदाहरणों से अनेक ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश में आते हैं। सूत्र १।४।४ की वृत्ति में दिये गये 'अरद मथुरा रमणीया' मास कल्याणी काची' उदाहरणों से ज्ञात होता है कि काचीपुरी में मासव्यापी उत्सव होता था तथा मथुरा में शारदोत्सव में विशेष शोभा की जाती थी।

७ महावृत्ति के उदाहरणों में तीर्थंकरों, महापुरुषों, ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के नाम भी आये हैं। जैसे

सूत्र १।४।१५ में 'अनुशालिभद्रम्' आद्या, 'अनुसमन्तभद्र तार्किका'।

सूत्र १।४।१६ में 'उपसिंहनन्दिन कवय', 'उपसिद्धसेन वैयाकरणा'।

सूत्र १।३।१० में 'आकुमार यश समन्तभद्रस्थ'।

**प्रभाचन्द्र का शब्दाभोजभास्कर न्यास**

आचार्य प्रभाचन्द्र ने जैनेन्द्र व्याकरण पर 'शब्दाभोजभास्कर' नाम से न्यास की रचना १६,००० श्लोक परिमाण में की थी। इस न्यास के अध्याय ४, पाद ३, सूत्र २११ तक की हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं। शेष ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।

आचार्य प्रभाचन्द्र विक्रम की ११वीं शती के प्रसिद्ध विद्वान् थे। उनके ग्रन्थों की प्रशस्तियों और शिलालेखों से ज्ञात होता है कि प्रभाचन्द्र धाराधीश भोजदेव



और जयसिंह देव के राज्यकाल में विद्यमान थे। एक स्थान पर तो यह भी कहा गया है कि भोजदेव उनकी पूजा करता था। ५० महेन्द्र कुनार न्यायाचार्य ने न्यास रचना का समय सन् ६८० से १०६५ बताया है।<sup>१२</sup>

प्रभाचन्द्र ने सर्वप्रथम पूज्यपाद और अकलक को नमस्कार करके न्यास रचना का आरम्भ किया है। अपने न्यास के विषय में उन्होंने कहा

शब्दामनुशासनानि निखिलान्यध्यायताह्निश,  
यो य सारतरो विचारचतुरस्तल्लक्षणाशो गत ।  
त स्वीकृत्य तिलोत्तमेव विदुषा चेतस्त्वमत्कारक-  
सुव्यक्तेरसमै प्रसन्नवचनैर्न्यास समारम्भते ॥

इस आरम्भ वचन से प्रभाचन्द्र के व्याकरण विषयक पाण्डित्य का पता चलता है। प्रभाचन्द्र अपने समय के एक महान् टीकाकार और दार्शनिक विद्वान् थे। न्यास में उन्होंने दार्शनिक शैली अपनाई है और विवेचन स्फुटरीति से किया है।

### श्रुतकीर्तिकृत पचवस्तु

पचवस्तु टीका (वि० स० ११४६) जैनेन्द्रव्याकरण का प्रक्रिया ग्रन्थ है। यह ३३०० श्लोक परिमाण है। शैली सुबोध और सुन्दर है। व्याकरण के प्रारम्भिक अभ्यासियों के लिए यह ग्रन्थ बड़ा उपयोगी है। जैनेन्द्रव्याकरण रूपी महल में प्रवेश के लिए इस पचवस्तु को सोपानपक्ति की तरह बताया गया है। इसकी दो पाण्डुलिपियां भाण्डारकर रिसर्च इस्टीट्यूट, पूना में हैं। ग्रन्थ के आदि अन्त में ग्रन्थकार का उल्लेख नहीं मिलता। एक स्थान पर सधि प्रकरण में “सन्धि त्रिधा कथयति श्रुतकीर्तिराय” ऐसा उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि इसके कर्ता श्रुतकीर्ति आचार्य थे।

नन्दीसध की पट्टावली में श्रुतकीर्ति को वैयाकरण भास्कर कहा गया है “त्रैविध्य श्रुतकीर्त्याख्यो वैयाकरणभास्कर ।”

कन्नड चन्द्रप्रभचरित के रचयिता अगलकवि ने श्रुतकीर्ति को अपना गुरु बताया है। यह ग्रन्थ शक स० १०११ (वि० स० ११४६) में रचा गया था। यदि आर्य श्रुतकीर्ति और श्रुतकीर्ति त्रैविध्य चक्रवर्ती एक ही हों तो ‘पचवस्तु’ वि० की १२वीं शती में रची गयी मानना चाहिए।

### महाचन्द्रकृत लघुजैनेन्द्र

५० महाचन्द्र ने विक्रम की १२वीं शताब्दी में जैनेन्द्रव्याकरण पर अभयनन्दी की महावृत्ति के आधार पर ‘लघु जैनेन्द्र’ नामक टीका लिखी। इसकी एक प्रति अकलेश्वर दिगम्बर जैन मन्दिर में तथा दूसरी अपूर्ण प्रति प्रतापगढ़ (मालवा) के दिगम्बर जैन मन्दिर में है।

## गुणनन्दीकृत शब्दार्णव

आचार्य गुणनन्दि ने जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्रों को परिवर्तित और परिवर्धित करके इस व्याकरण को सर्वांगपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। इसकी रचना वि० स० १०३६ के पूर्व हुई।

शब्दार्णवप्रक्रिया के अन्तिम श्लोक में कहा गया है

सेया श्रीगुणनन्दितानितवपु शब्दार्णवे निर्णय,

नावत्या श्रयताविविक्षुमनसा साक्षात् स्वय प्रक्रिया।”

इससे ज्ञात होता है कि गुणनन्दी ने जैनेन्द्र के सूत्रों का विस्तार किया और उन पर प्रक्रिया भी लिखी।

गुणनन्दि ने जैनेन्द्र के आद्ये से अधिक सूत्र वही रखे हैं। सज्ञाओं और सूत्रों में अन्तर किया है।

गुणनन्दी नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। एक गुणनन्दी का उल्लेख श्रवण-वेलगोल के ४२, ४३ और ४७वें शिलालेखों में है। उसके अनुसार वे बलाकपिच्छ के शिष्य, गृध्रपिच्छ के प्रशिष्य थे। वे तर्क, व्याकरण तथा साहित्यशास्त्र के निपुण विद्वान् थे। उनके पास ३०० शास्त्रपारंगत शिष्य थे। ‘कर्णाटकक विचरिते’ के लेखक ने गुणनन्दी का समय वि० स० ६५७ निश्चित किया है।

## सोमदेवकृत शब्दार्णवचन्द्रिका

उपर्युक्त शब्दार्णव पर आचार्य सोमदेव ने शब्दार्णवचन्द्रिका नामक एक विस्तृत टीका की रचना की थी। ग्रन्थकार ने स्वयं लिखा है

श्री सोमदेवयतिनिर्मितमादधाति या नौ

प्रतीतगुणनन्दितशब्दवारिधौ।

अर्थात् शब्दार्णव में प्रवेश करने के लिए नौका के समान यह टीका सोमदेव मुनि ने बनाई है।

## शब्दार्णवप्रक्रिया

यह ग्रन्थ जैनेन्द्रप्रक्रिया नाम से प्रकाशित हुआ है।” ग्रन्थ के अन्त में गुणनन्दि का उल्लेख निम्नलिखित रूप में हुआ है

“राजन्मृगाधिराजो गुणनन्दी भुवि चिरजीयात्।”

इस उल्लेख के आधार पर इस प्रक्रिया का लेखक गुणनन्दी मानने में कतिपय विद्वानों को संकोच है। उनका कहना है कि लेखक स्वयं इस प्रकार आत्मप्रशंसा नहीं कर सकता।

इसी ग्रन्थ के तीसरे पद्य में श्रुतकीर्ति नाम का इस प्रकार उल्लेख है

“सोऽयं यः श्रुतकीर्तिं देवयतिपः भट्टारकोत्तमः ।

ररम्यान्मम मानसे कविपतिः सद् राजहसश्चिरम् ॥

यह श्रुतकीर्ति ‘पचवस्तु’ के रचयिता से भिन्न होगे क्योंकि इसमें श्रुतकीर्ति को कवि पति कहा गया है। श्रवणवेलगोल के शिलालेख सख्या १०८ में जिन श्रुतकीर्ति का उल्लेख है, सम्भवतया वही यह हो। इन्हीं के शिष्य ने यह प्रक्रिया ग्रन्थ बनाया।

यह टीका ग्रन्थ सोमदेव की शब्दार्णवचन्द्रिका के आधार पर प्रक्रियावद्ध रूप में लिखा गया है।

जैनेन्द्रव्याकरण पर कुछ अन्य टीकाओं की भी जानकारी प्राप्त होती है।

ऊपर जिस भगवद्वाग्वादिनि की चर्चा की है, उसे वि० सं० १७६७ में रत्नपिनामक किसी मुनि ने लिखा था। इसमें जैनेन्द्र व्याकरण का शब्दार्णवचन्द्रिकाकार द्वारा मान्य सूत्र पाठ मात्र है जो ८०० श्लोक परिमाण है।

### मेघविजयकृत जैनेन्द्रव्याकरणवृत्ति

राजस्थान के जैन शास्त्रभंडारों की ग्रन्थसूची भाग २ पृ० २५० में मेघविजय द्वारा लिखित वृत्ति का उल्लेख है। यदि वे हेमकौमुदी (चन्द्रप्रभा) व्याकरण के कर्ता ही हो तो इस वृत्ति की रचना १८वीं शताब्दी में हुई मान सकते हैं।

### विजयविमलकृत अनिटकारिकावचूरी

जैनेन्द्रव्याकरण की अनिटकारिका पर श्वेताम्बर जैन मुनि विजयविमल ने १७ वीं शती में अवचूरी की रचना की है।

जैनेन्द्र पर इतने टीका ग्रन्थों से उसके प्रसार का पता चलता है।

### पाल्यकीर्ति का शब्दानुशासन या शाकटायन व्याकरण

ऊपर हमने जैन व्याकरणशास्त्र की जिस मुनित्रयी का उल्लेख किया है, उसमें जैनेन्द्र के बाद आते हैं आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में आचार्य शाकटायन का उल्लेख किया है। सन् १८६४ में ब्रुहलर को जब पाल्यकीर्ति के शब्दानुशासन की पाण्डुलिपि का कुछ अंश प्राप्त हुआ तो उन्होंने संस्कृत जगत् को सूचित किया कि उन्हें पाणिनि द्वारा उल्लिखित शाकटायन व्याकरण उपलब्ध हो गया है। वास्तव में यह अम था। बाद में ज्ञात हुआ कि उपलब्ध व्याकरण पाल्यकीर्ति शाकटायन का है। तब से लेकर अब तक शाकटायन व्याकरण के अध्ययन-अनुसन्धान के प्रयत्न बराबर होते रहे और इसका जो नवीनतम संस्करण अमोघवृत्ति सहित भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

से प्रकाशित हुआ है, उसकी अगरेजी प्रस्तावना में जर्मन विद्वान् डा० आर० विरवे ने शाकटायन व्याकरण का एक विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत शाकटायन व्याकरण का मूल नाम शब्दानुशासन है। इसके रचयिता का नाम पाल्यकीर्ति प्राप्त होता है। किन्तु ग्रन्थ में सर्वत्र ग्रन्थकार का नाम शाकटायन ही उपलब्ध होता है।

पाल्यकीर्ति शाकटायन जैन परम्परा के यापनीय सध के अग्रणी और प्रसिद्ध आचार्य थे। वे अमोधवर्ष के राज्यकाल में हुए। अमोधवर्ष शक संवत् ७३६ (वि० सं० ८७१) में राजगढ़ी पर बैठा। इसी के आसपास पाल्यकीर्ति ने अपने व्याकरण ग्रन्थ की रचना की होगी।

पाल्यकीर्ति ने अपने पूर्ववर्ती व्याकरणों में पाणिनि, चन्द्र, और जैनेन्द्र के व्याकरणों का गहन अव्ययन किया था। डा० विरवे ने पाणिनि, चन्द्र, जैनेन्द्र तथा शाकटायन की तुलना करके यह स्पष्ट किया है कि शाकटायन के ४० से ५० प्रतिशत तक नियम उक्त व्याकरण ग्रन्थों के समान हैं। शाकटायन की निम्न-लिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं

१ शाकटायन का अध्याय विभाजन पूर्वाचार्यों से भिन्न है। पाणिनि में आ०, चन्द्र में छह तथा जैनेन्द्र में पाँच अध्याय हैं, किन्तु शाकटायन व्याकरण चार अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं। प्रथम अध्याय में ७२१ सूत्र, द्वितीय में ७५३, तृतीय में ७५५ तथा चतुर्थ में १००७ सूत्र हैं। इस प्रकार कुल सूत्रसंख्या ३२३६ है। इसमें १३ शिव सूत्र शामिल नहीं हैं, जो ग्रन्थ के प्रारम्भ में उपलब्ध हैं। अध्याय विभाजन में शाकटायन कातन्त्र के निकट है।

२ शाकटायन ने अपने व्याकरण की विषयवस्तु को भी पूर्वाचार्यों की तरह प्रस्तुत न करके उसे स्वतन्त्र रूप में प्रस्तुत किया है। यह विषयक्रम भी कातन्त्र के अधिक निकट है।

३ शाकटायन व्याकरण में कातन्त्र तथा जैनेन्द्र की तरह स्वर नियम नहीं दिये हैं। इसी प्रकार छान्दस प्रयोगों का भी सर्वथा अभाव है।

४ शाकटायन और पाणिनि के पारिभाषिक शब्दों की तुलना करने पर निम्नलिखित तथ्य ज्ञात होते हैं

(क) शाकटायन तथा पाणिनि में प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्द समान हैं। जैसे अनुनासिक (१११६८), अनुस्वार (१११११०), अव्यय (१११३६), अव्ययीभाव (२११६) इत्यादि।

(ख) शाकटायन ने पाणिनि के शब्दों के स्थान पर नये शब्द दिये हैं जैसे पाणिनि के अग के लिए प्रकृति (१११५६), अविकरण के लिए आधार (१३१७६) आदि।

(ग) शाकटायन ने पाणिनि की अनेक परिभाषाओं को छोड़ दिया है।

जैसे अनुदात्त, उदात्त, कर्मप्रवचनीय, प्रातिपदिक, षष्ठ्यसहिता, सत्, सम्बन्धी और स्वरित् ।

५ शाकटायन में नौ प्रकार के सूत्रों का कथन किया गया है १ सज्ञा, २ नियम, ३ निषेध, ४ अधिकार, ५ नित्यापवाद, ६ विधि, ७ परिभाषा, ८ अतिदेश और ९ विकल्प ।

सज्ञानियमनिषेधाधिकारनित्यापवादविधिपरिभाषाः ।

अतिदेशविकल्पाविति गतयशब्दानुशासने सूत्राणाम् ॥

६ शाकटायन पचाग है । सूत्रपाठ, गणपाठ, धातुपाठ, लिङ्गानुशासन और उणादिये पचाग हैं । इसमें पाणिनीय या जैनेन्द्र के समान वार्तिक, उपाख्यान अथवा अन्य नियम-वाक्यों की आवश्यकता नहीं है ।

७ शाकटायन में सामान्य सज्ञाएँ बहुत कम हैं । स्वर्ण सज्ञा के मात्र दो सूत्र हैं । (१) इत्सज्ञा विधायक (२) स्वर सज्ञा विधायक । पूरे सज्ञा प्रकरण में कुल छह सूत्र हैं । अन्य किसी भी व्याकरण में इतने कम सूत्रों से सज्ञाओं का काम नहीं चलाया गया । सरलता और आशुबोधता की दृष्टि से इस सज्ञा प्रकरण का अधिक महत्व है ।

८ प्रत्याहार सूत्र शाकटायन में तेरह प्रत्याहार सूत्रों का निरूपण किया गया । ये प्रत्याहार सूत्र न तो पाणिनि जैसे हैं और न इनका क्रम जैनेन्द्र से मिलता है । शाकटायन ने इन दोनों में ही संशोधन और परिवर्तन किया है । शाकटायन के प्रत्याहार सूत्र इस प्रकार हैं—(१) अइउण्, (२) ऋक्, (३) एओङ्, (४) ऐ ओच्, (५) ह्यवरल, (६) मङ्गणनम्, (७) जबगडदश् (८) क्षभघढवप्, (९) खफछठयट्, (१०) चटतप्, (११) कपय्, (१२) शषस अ अ क पर, (१३) हल् ।

स्पष्ट है कि शाकटायन ने इन सूत्रों में न तो पाणिनि का अनुसरण किया है और न ही जैनेन्द्र का । शाकटायन ने लृकार को स्वर नहीं माना । इसी प्रकार अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय की गणना व्यञ्जनो के अन्तर्गत कर ली है । पाणिनि ने अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को विकृत व्यञ्जन माना है । वास्तव में अनुस्वार सकार या नकार जन्य है । विसर्ग कही सकार से और कही रेफ से स्वतः उत्पन्न होता है । जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय दोनों क्रमशः क, ख तथा प, फ के पूर्व विसर्ग के ही विकृत रूप हैं । पाणिनि ने इन सभी को अपने प्रत्याहार सूत्रों में कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया । बाद के पाणिनीय व्याकरणों में से कात्यायन ने उक्त चारों को स्वर, व्यञ्जन दोनों में ही परिगणित करने का निर्देश दिया है । शाकटायन ने अनुस्वार, विसर्ग आदि के मूल रूपों को ध्यान में रख कर ही उन्हें प्रत्याहार सूत्रों में स्थान दिया तथा उन्हें व्यञ्जन माना ।

शाकटायन के प्रत्याहार सूत्रों की दूसरी विशेषता यह है कि उनमें 'लण्' सूत्र को स्थान नहीं दिया और लवर्ण को पूर्व सूत्र में ही शामिल कर लिया गया है। इसमें सभी वर्णों के प्रथम अक्षरों के क्रम से अलग-अलग प्रत्याहार सूत्र दिये गये हैं। मात्र वर्णों के प्रथम वर्णों के ग्रहण के लिए दो सूत्र दिये गये हैं। पाणिनीय, वर्ण समान्ताय की तरह शाकटायन में भी हकार दो बार आया है। पाणिनीय व्याकरण में ४१, ४३ या ४४ प्रत्याहार रूप मिलते हैं किन्तु शाकटायन में मात्र ३८ प्रत्याहार ही उपलब्ध हैं।

१० शाकटायन ने 'न १११७०' सूत्र द्वारा विराम में सन्धि कार्य का निषेध किया है तथा अविराम सन्धि का विधान मानकर 'न' सूत्र को अधिकार सूत्र बताया है। अच् सन्धि के आरम्भ में सर्वप्रथम अयादि सन्धि का विधान किया है। इसके बाद "अस्वे १११७३।" द्वारा यण् सन्धि का प्रतिपादन किया है। इसी प्रसंग में "ह्रस्वो वा पदे १११७४" सूत्र दिया गया है। इसके द्वारा "दधी + अत्त = दधिअत्त, दध्यत्त, नदी + एषा नदिएषा, नद्येषा रूप सिद्ध होते हैं। पाणिनि में ह्रस्व विधान का नियम नहीं है। यह शाकटायन की अपनी उद्भावना है।

शाकटायन ने प्रकृति भाव सन्धि को निषेध सन्धि कहा है। इस प्रकरण में १११६६ से ११११०२ तक मात्र चार सूत्र हैं। पाणिनि की अपेक्षा इसमें नवीनता नहीं है फिर भी यह इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि इतने कम सूत्रों से शाकटायन ने अपना प्रयोजन साध लिया है।

११. शाकटायन ने 'सम्राट्' शब्द की सिद्धि "सम्राट् १११११३" सूत्र द्वारा की है। इस सूत्र की वृत्ति में लिखा है "समित्यस्य राजतौ विवन्ते, उत्तरपदे परेऽनुस्वाराभारो निपात्यते।" इससे स्पष्ट है कि शाकटायन ने मकार को निपातन से ही ग्रहण कर लिया है। यद्यपि इस सूत्र के पहले शाकटायन में वैकल्पिक अनुस्वार का अनुशासन विद्यमान है तो भी उन्होंने अनुस्वार के अभाव की बात नहीं कही। निपातन का अर्थ है अन्य विकार्य स्थितियों का अभाव। संभवतया इसी कारण शाकटायन ने हेम की तरह अनुस्वाराभाव कहने की आवश्यकता नहीं समझी।

१२ शब्दसाधुत्व में शाकटायन का दृष्टिकोण पाणिनि के समान ही है। उन्होंने एक शब्द को लेकर सातों विभक्तियों में उनके रूपों को सिद्ध करने की विधि बतायी है।

१३ स्त्री प्रत्यय शाकटायन ने स्त्री-प्रत्यय प्रकरण में स्त्री-प्रत्यान्त शब्दों को सिद्ध नहीं किया। जैसे दीर्घपुच्छी, दीर्घपुच्छा, कवरपुच्छी, मणिपुच्छी, अश्व-कीर्ति, मनसाकीर्ति मृदृश प्रयोगों का अभाव है। हेमचन्द्र ने इसके लिए स्वतन्त्र सूत्रों का विधान किया है।

१४ शाकटायन में कारक सामान्य तथा कर्ता, कर्म, करण आदि की परि-

भाषाएँ नहीं दी गयी हैं। इसमें विभक्ति विधायक सूत्रों का सीधे ढग से ही कथन किया गया है।

**१५ समास प्रकरण** शाकटायन में समास प्रकरण के आरम्भ में ही बहुव्रीहि समास विधायक सूत्र का निर्देश किया गया है। इसके बाद कुछ तद्धित प्रत्यय आये हैं, जिनका उपयोग प्रायः बहुव्रीहि समास में होता है।

बहुव्रीहि समास का प्रकरण समाप्त होते ही अव्ययीभाव समास का प्रकरण आरम्भ हो जाता है। यहाँ युद्ध वाच्य में ग्रहण और प्रहरण अर्थ में केशाकेशि और दण्डादण्डि को शाकटायन ने अव्ययीभाव समास माना है। शाकटायन के अनुसार अव्ययीभाव समास के प्रधान दो भेद हैं (१) अन्यपदार्थप्रधान, (२) उत्तरपदार्थप्रधान। इसलिए “केकाश्च केशाश्च परस्परस्य ग्रहण यस्मिन् युद्धे”, इस प्रकार के साध्य प्रयोग विग्रह वाक्य में अन्य पदार्थ प्रधान अव्ययीभाव समास है। पाणिनि ने जिन प्रयोगों को बहुव्रीहि समास में गिनाया है शाकटायन ने उनमें से कतिपय अव्ययीभाव समास में परिगणित किये हैं।

**१६ तद्धित, कृदन्त और तिङन्त** — शाकटायन में तद्धित, कृदन्त और तिङन्त प्रकरण प्रायः पाणिनि के समान हैं। विशेषता यह है कि शाकटायन का प्रत्यय विधान और प्रत्ययों के अर्थ अपनी मौलिकता लिये हुए हैं।

### शाकटायन अमोधवृत्ति

शाकटायन पर अमोधवृत्ति नाम की एक बृहद् वृत्ति है। यह अठारह हजार श्लोक परिमाण है।

अमोधवृत्ति शाकटायन की स्वोपज्ञवृत्ति है। ‘अमोधवृत्ति’ इस श्लिष्ट पद के द्वारा शाकटायन ने एक ओर अन्य वृत्तियों की अपेक्षा अपनी वृत्ति की महनीयता प्रतिपादित की है, दूसरी ओर अपने समकालीन राष्ट्रकूट राजा अमोधवर्ष प्रथम का आदरपूर्ण स्मरण किया है।

शब्दानुशासन के संक्षिप्तसूत्रों में जो बातें कहने से रह गयी थी, उनकी भी पूर्ति इस वृत्ति द्वारा कर दी गयी है।

मुनिवशाभ्युदय काव्य के रचयिता ने लिखा है कि “उस मुनि (शाकटायन) ने अपने बुद्धिरूप मदराचल से श्रुतरूप समुद्र का मयन कर यश के साथ व्याकरण रूप उत्तम अमृत निकाला। शाकटायन ने उत्कृष्ट शब्दानुशासन को बना लेने के बाद अमोधवृत्ति नाम की टीका, जिसे बड़ी शाकटायन कहते हैं, बनायी, जिसका परिमाण १८०० श्लोक है। जगत्प्रसिद्ध शाकटायन मुनि ने व्याकरण के सूत्र और साथ ही पूरी वृत्ति भी बना कर एक प्रकार का पुण्य संपादन किया। एक बार अत्रि-कर्ण सिद्धान्त चक्रवर्ती पद्मनन्दी ने मुनियों के मध्य-पूजित शाकटायन को मन्दार पर्वत के समान धीरे-विशेषण से विभूषित किया। यक्ष वर्मा ने अपनी चिन्तामणि

वृत्ति में अमोघवृत्तिको विशालकाय (अतिमहती) तथा शाकटायन की स्वोपज्ञवृत्ति बताया है।

अमोघवृत्ति के प्रारम्भ में ग्रन्थावतार के विषय में शाकटायन ने लिखा है “परिपूर्णमल्पग्रन्थ लघूपाय शब्दानुशासनं शास्त्रमिदं महाश्रमणसघाधिपतिर्भगवानाचार्य शाकटायन प्रारभते।”

अमोघवृत्ति के समस्त पुष्पिका वाक्यों में शाकटायन का उल्लेख इस प्रकार आया है

“इति श्रुतकेवलदेशीयाचार्यशाकटायनकृतौ शब्दानुशासने अमोघवृत्तौ।”

यहाँ कृतौ का अन्वय शब्दानुशासन तथा अमोघवृत्ति दोनों से है। डा० विरवे का सुझाव है कि यदि इन पुष्पिका वाक्यों में “शब्दानुशासने अमोघवृत्तौ” के स्थान पर “शब्दानुशासनामोघवृत्तौ” पाठ हो तो पुष्पिकावाक्य में जो अस्पष्टता है, वह दूर हो जाती है। उस स्थिति में तनिक भी सन्देह की गुजाइश नहीं रहती कि यह वृत्ति स्वयं सूत्रवार की है।

चिन्तामणिकार ने अपनी टीका में शाकटायन के विषय में लिखा है

इष्टिर्नष्टा न वक्तव्य वक्तव्य सूत्रत पृथक् ॥

संख्यान नोपसंख्यान यस्य शब्दानुशासने ॥

इन्द्रचन्द्रादिभिः शाब्दैर्यद्वक्त शब्दलक्षणम् ।

तदिहास्ति समस्त च यन्त्रेहास्ति न तत्त्वचित् ॥

अर्थात् शाकटायन व्याकरण में इष्टिया पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। सूत्रों से अलग वक्तव्य कुछ नहीं है। उपसंख्यानो की भी आवश्यकता नहीं है। इन्द्र चन्द्र आदि वैयाकरणों ने जो शब्द लक्षण कहा वह सब इस व्याकरण में आ जाता है। इसमें और जो विरोध है वह अन्यत्र नहीं है।

डा० विरवे की राय में यक्ष वर्मा का यह कथन इस बात को द्योतित करता है कि शाकटायन की अमोघवृत्ति पतञ्जलि के महाभाष्य से विशिष्ट है, क्योंकि महाभाष्य में इष्टिया अनेक बार आयी है।

वर्धमान सूरि ने गणरत्नमहोदधि में शाकटायन के नाम से जो अनेक उल्लेख दिये हैं वे अमोघवृत्ति में उपलब्ध हैं। डा० विरवे ने ऐसे १२४ सन्दर्भों की गणना की है।

आचार्य मलयगिरि ने नन्दिसूत्र की टीका में अमोघवृत्ति के मूल पद्य “वीर-संभृत ज्योतिः” इत्यादि को शाकटायन की स्वोपज्ञवृत्ति बताया है।

इस प्रकार सन्देह की गुजाइश नहीं दीखती कि अमोघवृत्ति शाकटायन की स्वोपज्ञवृत्ति है।

अमोघवृत्ति की विरोधता बताते हुए चिन्तामणिकार ने लिखा है



गण-धातुपाठयोगेन धातून् लिगानुशासने लिगत्तम् ।

औणादिकानुणादौ शेष निशेषमत्र वृत्तौ विधात् ।

अर्थात् गणपाठ, धातुपाठ, लिगानुशासन और उणादि के अतिरिक्त इस वृत्ति में सभी विषय वर्णित हैं ।

अमोघवृत्ति की एक अन्य विशेषता इसका लिगानुशासन है । प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद के प्रथम सूत्र “नपो चो ह्रस्व ” के उपरान्त लिगानुशासन दिया गया है । हेमचन्द्र ने शाकटायन की इस पद्धति को अपनी बृहद्वृत्ति में अपनाया है । सूत्र १।१।२६ के बाद उन्होंने लिगानुशासन दिया है ।

शाकटायन में उणादि प्रकरण नहीं है । हेमचन्द्र ने अपनी वृत्ति में उणादि प्रकार सूत्र ५।२।६२ के बाद दिया है ।

शाकटायन ने अमोघवृत्ति में धातु पाठ के अन्तर्गत सभी नव धातु गणों को गिनाया है । यथा

- |   |         |          |
|---|---------|----------|
| १ | अदादि   | (४।३।२१) |
| २ | भ्वादि  | (४।३।२१) |
| ३ | दिवादि  | (४।३।२२) |
| ४ | स्वादि  | (४।३।२८) |
| ५ | तुदादि  | (४।३।३२) |
| ६ | रुधादि  | (४।३।३४) |
| ७ | तनादि   | (४।३।३३) |
| ८ | क्रयादि | (४।३।३०) |
| ९ | चुरादि  | (४।१।७)  |

अमोघवृत्ति में मात्र एधादि धातुगण नहीं है जो शाकटायन का प्रथम धातु-पाठ है ।

शाकटायन ने काशिका की पद्धति पर अमोघवृत्ति का निर्माण किया है । कही-कही शाकटायन ने भी वही उदाहरण दिये हैं जो काशिकाकार ने बृहद्वृत्ति में दिये हैं । यथा

१ शाकटायन सूत्र १।४।३७ की वृत्ति में किरात्तार्जुनीय का ‘सशय कणादिषु तिष्ठते य ।’ उदाहरण दिया है । यही उदाहरण पाणिनि सूत्र १।३।२३ की काशिका में दिया गया है ।

२ शाकटायन सूत्र ३।१।१६६ की वृत्ति में निम्नलिखित उदाहरण दिये गये हैं

“भद्रवाहुना प्रोक्तानि भद्रवाह्वाण्युत्तराध्ययनानि, याज्ञवल्केन प्रोक्तानि याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि, पाणिना प्रोक्त पाणिनीयम्, आपिशलिना प्रोक्तमापिशलम्, काशकृत्स्निना प्रोक्त काशकृत्स्नम् ।”

पाणिनि सूत्र ४।३।१०१ की काशिका में “पाणिनीयम्,” “आपिशलम्” और “काशकृत्स्नम्” उदाहरण आये हैं।

## शाकटायन तथा व्याकरण शास्त्र का इतिहास

शाकटायन ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों का अनेक बार उल्लेख किया है। ये उल्लेख कही नाम से तथा कही एक, एके, एकेषाम्, कश्चित्, केनचित्, केषांचित्, अन्य, अन्ये, अन्येषाम्, अपरे आदि शब्दों के साथ दिये गये हैं। डा० विरवे ने इस प्रकार के लगभग २१० सन्दर्भों का जिक्र किया है। कुछ सन्दर्भ ऐसे भी हैं जहाँ न तो वैयाकरण का नाम दिया है और न ही ‘कश्चित्’ आदि कहा है।

## आपिशलि का महत्वपूर्ण उल्लेख

शाकटायन सूत्र २।४।१८२ के उल्लेख से ज्ञात होता है कि पाणिनि की तरह आपिशलि का व्याकरण भी आठ अध्यायों में निबद्ध था “अष्टका आपिशलपाणिनीया”। व्याकरणशास्त्र के इतिहास में इस प्रकार का दूसरा कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है जिससे आपिशलि के व्याकरण के सम्बन्ध में इतनी निश्चित सूचना प्राप्त हो। इससे ज्ञात होता है कि व्याकरणशास्त्र के इतिहास में अष्टाध्यायी व्याकरण रचने वाले अकेले पाणिनि नहीं हैं। उनके पहले आपिशलि ने भी अष्टाध्यायी व्याकरण की रचना की थी। पाणिनि ने अपने व्याकरण को अष्टाध्यायी बनाने का सूत्र उन्हीं से ग्रहण किया होगा।

डा० वेलवल्कर ने लिखा है कि शाकटायन ने शब्दानुशासन और अमोघवृत्ति के अतिरिक्त निम्नलिखित प्रकरणों की भी रचना की थी<sup>४</sup>

- १ परिभाषामूल
- २ गणपाठ (१६ पाद)
- ३ धातुपाठ
- ४ उणादिसूत्र (४ पाद)
- ५ लिगानुशासन (१७ आर्या छन्द)

वास्तव में इनमें से लिगानुशासन तथा गणपाठ अमोघवृत्ति में शामिल हैं। लिगानुशासन अलग में भी प्राप्त है। इसलिए इसे स्वतन्त्र मानना भी उचित लगता है।

गणपाठ कुछ पाण्डुलिपियों में स्वतन्त्र रूप से प्राप्त होता है। इस बात में नन्देह नहीं कि यह अमोघवृत्ति से ही मकलित किया गया है। यद्यपि अमोघवृत्ति में गणपाठ लिगानुशासन की तरह स्वतन्त्र उपलब्ध नहीं है फिर भी उन उन सूत्रों की वृत्ति में निबद्ध है।

शाकटायन ने गणों का स्पष्ट विभाजन इस प्रकार बताया है -

१ परिपूर्णगण में किसी नियम विशेष के अन्तर्गत आने वाले सभी शब्दों की गणना दी जाती है।

२ आकृतिगण के अन्तर्गत कुछ नमूने मात्र दिये जाते हैं। शिष्टप्रयोग के आधार पर अन्य शब्दों को इसके अन्तर्गत शामिल किया जा सकता है।

पाणिनि सूत्रों से शब्दों के गण-विभाजन का स्पष्ट पता नहीं चलता। इसके लिए वृत्तियों पर निर्भर करना पड़ता है। शाकटायन ने इनको स्पष्ट भेदक एक-वचन और बहुवचन के रूप में दिया है। एकवचन के प्रयोग परिपूर्णगण और बहुवचनान्त आकृतिगण के अन्तर्गत परिगणित हैं। उदाहरण के लिए सूत्र “कच्छा-देन्दन्तस्थे।३।१।४६” के अन्तर्गत परिगणित शब्द परिपूर्णगण तथा ‘रूढादिभ्य १।३।४’ के अन्तर्गत दिए गए शब्द आकृतिगण हैं। वृत्ति में स्पष्ट लिखा है कि “बहुवचनादाकृतिगणोऽयम्।”

शाकटायन के पूर्व इस प्रकार का गण-विभाजन जैनेन्द्र में उपलब्ध है (दृष्टव्य सूत्र ३।२।१४६, ३।१।८६, ३।१।४६ तथा ३।१।४)। हेमचन्द्र ने शाकटायन की इस परम्परा को आगे बढ़ाया है।

पाणिनि के साथ तुलना करने पर ज्ञात होता है कि शाकटायन में गणसूत्र नहीं है। पाणिनीय गणसूत्रों को जैनेन्द्र की तरह शाकटायन ने भी त्याग दिया है। हेमचन्द्र ने भी इसी परम्परा को अपनाया है।

## शाकटायन के परिभाषा सूत्र

व्याकरण नियमों की सही व्याख्या के लिए कतिपय विशेष सिद्धान्तों की आवश्यकता होती है। इन्हें परिभाषा कहते हैं। शाकटायन सूत्रों तथा अमोघवृत्ति में यत्न-तत्पर परिभाषा-सूत्र उपलब्ध हैं किन्तु एक साथ नहीं हैं। स्वतन्त्र रूप से जो सौ परिभाषा सूत्र प्राप्त होते हैं, उनका तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह निर्णय करना कठिन है कि ये परिभाषा सूत्र स्वयं पात्यकीर्ति शाकटायन के हैं या अन्य किसी शाकटायन के। क्योंकि इन सौ सूत्रों में सम्पूर्ण रूप से वे परिभाषाएँ भी नहीं आ पाईं, जो शाकटायन और अमोघवृत्ति में उपलब्ध हैं। डाक्टर विरवे ने ज्ञानपीठ सस्मरण में उक्त परिभाषा सूत्र अपनी प्रस्तावना के परिशिष्ट एक के रूप में प्रकाशित किए हैं तथा प्रस्तावना में इनका विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है।

## यक्षवर्मा कृत चिन्तामणि वृत्ति

शाकटायन पर यक्षवर्मा कृत चिन्तामणि नाम की वृत्ति है। अपनी वृत्ति के विषय में उन्होंने स्वयं लिखा है कि अमोघवृत्ति नामक बृहद् वृत्ति को सक्षिप्त

करके यह वृत्ति बनाई है। अपनी वृत्ति का महत्त्व उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है —

तस्यातिमहती वृत्ति सहृत्येय लघीयसी ।

सम्पूर्णलक्षणा वृत्तिर्वक्ष्यते यक्षवर्मणा ॥

बालाबलाजनोप्यस्याऽवृत्तेरभ्यासवृत्तित्ता ।

ममस्त वाङ्मय वेत्ति वर्षेणैकेन निश्चयात् ॥

अमोघवृत्ति नामक अत्यन्त विस्तृत वृत्ति को सक्षिप्त करके यह अल्पकाय किन्तु सम्पूर्ण लक्षण युक्त वृत्ति को यक्षवर्मा कहता है। बालक और स्त्री जन भी इस वृत्ति के अभ्यास से एक वर्ष में निश्चय ही सम्पूर्ण वाङ्मय को जान लेता है।

यक्षवर्मा के विषय में अन्य जानकारी नहीं मिलती।

### प्रभाचन्द्रकृत शाकटायन न्यास

माधवीयधातुवृत्ति (१४वीं शती) में प्रभाचन्द्र कृत शाकटायनन्यास का उल्लेख है। इसके मात्र दो अध्याय उपलब्ध होते हैं। ये प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता प्रभाचन्द्र से भिन्न व्यक्ति हैं, ऐसा डॉक्टर महेन्द्र कुमार जी का मत है।

माधवीयवृत्ति में अमोघ विस्तर नामक एक अन्य टीका का भी उल्लेख है किन्तु इसके विषय में अन्य विवरण नहीं मिलता।

भावसेन त्रैवेद्य ने भी शाकटायन पर एक टीका ग्रन्थ लिखा था।

किसी अज्ञात लेखक ने शाकटायनतरंगिणी नामक टीका लिखी।

डा० बृहलर ने एक अन्य अपूर्ण टीका का उल्लेख किया है जिसका नाम तथा लेखक अज्ञात है। (इडिया आफिस केटलाग न० ५०४३)

अजितसेन (१२वीं शती) ने चिन्तामणि के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए चिन्तामणिप्रकाशिका, मगारस ने चिन्तामणि प्रतिपद तथा समन्तभद्र ने चिन्तामणिविषयपदटीका लिखी। एक अन्य अपूर्णचिन्तामणिवृत्ति की प्रति इडिया आफिस लायब्रेरी (५०४७) में उपलब्ध है।

### रूपसिद्धि

प्रविडसध के आचार्य मुनि दयापाल ने शाकटायन पर एक सक्षिप्त टीका रूप-सिद्धि नाम से लिखी। श्रवणवेलगोल के ५४वें शिलालेख में इनके विषय में कहा गया है कि वे वादिराज के सधर्मा थे। उनके गुरु का नाम मतिसागर था।

### गणरत्न महोदधि

गोविन्दभूरि के शिष्य वर्धमानभूरि नामक श्वेताम्बर आचार्य ने शाकटायन के

गणों का संग्रह करके गणरत्नमहोदधि नामक ग्रन्थ लिखा। यह ४२०० श्लोक प्रमाण है। इसकी रचना वि० स० ११६७ में हुई।

इस प्रकार शाकटायन की टीकाओं से ज्ञात होता है कि जैन परम्परा में उसका प्रसार अत्यधिक मात्रा में हुआ।

## आचार्य हेमचन्द्र का सिद्धहेमशब्दानुशासन

जैन व्याकरणशास्त्र की मुनित्तयों में पूज्यपाद और शाकटायन के बाद तीसरा नाम आचार्य हेमचन्द्र का है। सौभाग्य से आचार्य हेमचन्द्र का विपुल साहित्य उपलब्ध है। उससे उनके ज्ञान वैभव का पता चलता है।

गुर्जर नरेश सिद्धराज जयसिंह के अनुरोध पर आचार्य हेमचन्द्र ने सिद्धराज के साथ अपना नाम जोड़ कर सिद्धहेम शब्दानुशासन की रचना की। इसकी रचना का समय वि० स० ११४५ के लगभग माना जाता है।

हेमशब्दानुशासन का परिमाण सवा लाख श्लोक माना जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण पर छोटी-बड़ी वृत्तियाँ तथा उणादिसूत्र, धातुपाठ, गणपाठ, लिगानुशासन स्वयं ही बनाए हैं।

हेम में आठ अध्याय हैं। पहले सात में संस्कृत शब्दानुशासन है तथा आठवें में प्राकृत शब्दानुशासन। स्व० डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने हेम शब्दानुशासन की निम्नलिखित विशेषताओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया है<sup>१५</sup>

१ हेम के पूर्व पाणिनि, चान्द्र, पूज्यपाद, शाकटायन और भोजदेव आदि कितने ही वैयाकरण हो चुके हैं। इन्होंने अपने समय में उपलब्ध समस्त शब्दार्थ को अध्ययन कर एक सर्वांगपूर्ण, उपयोगी एवं सरल व्याकरण की रचना कर संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं को पूर्णतया अनुशासित किया है। तत्कालीन प्रचलित अपभ्रंश भाषा का अनुशासन लिख कर हेम ने इस भाषा को अमर बना ही दिया है, किन्तु अपभ्रंश के प्राचीन दोहों को उदाहरण के रूप में उपस्थित कर लुप्त होते हुए महत्त्वपूर्ण साहित्य के नमूनों की रक्षा भी की है। वास्तविकता यह है कि शब्दानुशासक हेम का व्यक्तित्व अद्भुत है। उन्होंने धातु और प्रातिपदिक और प्रत्यय, समास और वाक्य, कृत और तद्धित, अव्यय और उपसर्ग प्रभृति का निरूपण विवेचन एवं विश्लेषण किया है।

२ शब्दानुशासन के क्षेत्र में हेमचन्द्र ने पाणिनि, भट्टोजिदीक्षित और भट्टिका का कार्य अकेले ही सम्पन्न किया है। इन्होंने वृत्ति के साथ प्रक्रिया और उदाहरण भी लिखे हैं। संस्कृत शब्दानुशासन सात अध्यायों में और प्राकृत शब्दानुशासन एक अध्याय में, इस प्रकार कुल आठ अध्यायों में अपने अष्टाध्यायी शब्दानुशासन को

समाप्त किया है। संस्कृत शब्दानुशासन के उदाहरण द्वयाश्रय काव्य में और प्राकृत शब्दानुशासन के उदाहरण प्राकृत द्वयाश्रय काव्य में लिखे हैं।

३ संस्कृत शब्दानुशासन के प्रथम अध्याय में २४१ सूत्र, द्वितीय में ४६०, तृतीय में ५२१, चतुर्थ में ४८१, पंचम में ४६८, षष्ठ में ६६२ और सप्तम में ६७३ सूत्र हैं। कुल सूत्र संख्या ३५६६ है। प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में मञ्जाओ का विवेचन किया है। इसमें स्वर, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, नामी, समान, सन्ध्यक्षर, अनुस्वार, विसर्ग, व्यजन, घुट, वर्ग, अधोप, धोपवत्, अन्तन्ध शिष्ट, न्व प्रथमादि, विभक्ति, पद, वाक्य, नाम, अव्यय, और संख्यावत् इन चौबीस का प्रतिपादन किया है। शिष्टायस्य द्वितीयो वा १।३।५६ द्वारा खणीरम्, क्षीरम् तथा अप्सरा, अप्सरा जैसे शब्दों की सिद्धि प्रदर्शित की है। हिन्दी क्षीर शब्द हेमचन्द्र के क्षीरम् से बहुत नजदीक है। हेम ने इस प्रकरण में व्यजन और विसर्ग इन दोनों सन्धियों का सम्मिलित रूप में विवेचन किया है। इसके कुछ सूत्र व्यजन सन्धि के हैं तथा कुछ विसर्ग के और आगे बढ़ने पर विसर्ग सन्धि के सूत्रों के पश्चात् पुन व्यजन सन्धि के सूत्रों पर लौट आते हैं और अन्त में पुन विसर्ग सन्धि की बातें बतलाने लगते हैं। सामान्य रूप से देखने पर एक गडबड जाला दिखलाई पड़ेगा, पर वास्तविकता यह है कि हेमचन्द्र ने व्यजन सन्धि के समान ही विसर्ग सन्धि को भी व्यजन सन्धि ही माना है, अतः दोनों एक जातीय स्वरूप हैं। दूसरी बात यह है कि प्रायः देखा जाता है कि व्यजन सन्धि के प्रसंग में आवश्यकतानुसार ही विसर्ग सन्धि के कार्य का समावेश हो जाया करता है। हेम विसर्ग को 'र' और 'स' का प्रतिनिधि ही मानते हैं। प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद में कतिपय स्वरान्त और व्यजनात् शब्दों का भी नियमन किया गया है।

४ द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में अवशेष शब्द रूपों की चर्चा द्वितीय पाद में कारक प्रकरण, तृतीय पाद में पत्व-णत्व विधान और चतुर्थ पाद में स्त्री प्रत्यय प्रकरण है। तृतीय अध्याय के प्रथम और द्वितीय पाद में समास प्रकरण तथा तृतीय और चतुर्थ पाद में आख्यान प्रकरण का ही नियमन किया गया है। पंचम अध्याय के चारों पादों में कृदन्त और पठ तथा सप्तम अध्याय में तद्धित प्रकरण सन्निविष्ट हैं।

५ यह पहले ही कहा जा चुका है कि हेम ने अपने पूर्ववर्ती समस्त व्याकरण शास्त्र का अध्ययन कर अपने शब्दानुशासन को सर्वांगपूर्ण और अद्वितीय बनाने का श्लाघनीय प्रयास किया है। अब यह विचार कर लेना भी आवश्यक है कि हेम ने अन्य व्याकरणों की अपेक्षा क्या वैशिष्ट्य है।

६ सर्वप्रथम पाणिनि और हेम की तुलना करने से ज्ञात होता है कि हेम ने पाणिनि से बहुत कुछ लिया है, पर इस अवदान को मौलिक और नवीन रूप में ही उन्होंने प्रस्तुत किया है। विचार करने से अवगत होता है कि संस्कृत के शब्द-

नुशासको ने विभिन्न प्रकार से अपनी-अपनी सज्ञाओं के साकेतिक रूप दिये हैं। यत्न-तत्न एकता होने पर भी विभिन्नता प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। यही तो कारण है कि जितने विशिष्ट वैयाकरण हुए, उनकी रचनाएँ अलग-अलग व्याकरण के रूप में अभिहित हुईं। विवेचन शैली की विभिन्नता के कारण एक ही संस्कृत भाषा में व्याकरण के कई तन्त्र प्रसिद्ध हुए।

७ हेमचन्द्र की सर्वत्र व्यावहारिक प्रवृत्ति है। इन्होंने स्वर तथा व्यंजन विधान सज्ञाओं का विवेचन करने के अनन्तर विभक्ति, पद, नाम और सज्ञाओं का बहुत ही वैज्ञानिक निरूपण किया है। पाणिनीय व्याकरण में इस प्रकार के विवेचन का ऐकान्तिक अभाव है। पाणिनि तो वाक्य की परिभाषा देना ही भूल गये हैं। परवर्ती वैयाकरण कात्यायन ने सभालने की कोशिश अवश्य की है, पर इन्होंने जो परिभाषा 'एकतिङ्वाक्यम्' दी है, वह भी अधूरी ही रह गई है। बाद के पाणिनीय तन्त्रकारों ने इसे व्यवस्थित करना चाहा है, किन्तु वे भी 'एकतिङ्वाक्यम्' के दायरे से दूर नहीं हो सके हैं। फलतः इनकी वाक्य परिभाषा सीधा स्वरूप ले कर उपस्थित नहीं हो सकी है। और उसकी अपूर्णता ज्यों-की-त्यों बनी रही। किन्तु हेम ने वाक्य की बहुत स्पष्ट परिभाषा दी है "सविशेषमाख्यात वाक्यम् १।१।२६" त्याद्यन्त पदमाख्यात साक्षात्पारम्पर्येण वा यान्याख्यातविशेषणानि तैः प्रयुज्यमानैः प्रयुज्यमानैर्वा सहित प्रयुज्यमानमप्रयुज्यमानं वा आख्यात वाक्यसज्ञा भवति।" अर्थात् मूल सूत्र में सविशेषण आख्यान की वाक्य सज्ञा बतलाई गई है। यहाँ आख्यान के विशेषण का अर्थ है अव्यय, कारक, सज्ञा, विशेषण और क्रियाविशेषण का साक्षात् या परम्परया रहना। इस सूत्र के वृत्त्यर्थ से स्पष्ट है कि प्रयुज्यमान अथवा अप्रयुज्यमान विशेषणों के साथ प्रयुज्यमान अथवा अप्रयुज्यमान आख्यान ही की वाक्य में प्रधानता रहती है। यहाँ विशेषण शब्द से केवल सज्ञा विशेषण को ही ग्रहण नहीं किया गया है, अपितु साधारणतः अप्रधान अर्थ में इसे ग्रहण किया है। 'वैयाकरणों का यह सिद्धान्त भी है कि वाक्य में आख्यात अर्थ ही प्रधान होता है। हेम ने अपनी वाक्य परिभाषा का सम्बन्ध 'पदायुग्विभक्त्येक वाक्ये रस्ति सौ बहुत्वे' २।१।२१ सूत्र से भी माना है। अतः पाणिनीय तन्त्रकारों की अपेक्षा हेम की वाक्य-परिभाषा अधिक तर्क सगत है।

८ हेम ने सात सूत्रों में अव्यय सज्ञा का निरूपण किया है। इस निरूपण में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि निपात सज्ञा को अव्यय सज्ञा में ही विलीन कर लिया है। इन्होंने चादि को निपात न मान कर सीधा अव्यय मान लिया है। यह सक्षिप्तीकरण का एक लघुतम प्रयास है। इत् प्रत्यय और सख्यावत् सज्ञाओं का विवेचन भी पूर्ण है। हेम ने अनुनासिक का अर्थ व्युत्पत्तिगत मान लिया है, अतः इसके लिए पृथक् सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं समझी है। सज्ञा प्रकरण की हेम की सज्ञाएँ शब्दानुसारी हैं, किन्तु आगे वाली कारकीय सज्ञाएँ अर्थानुसारी हैं।

पाणिनि के समान हेम की सज्ञाओं का तात्पर्य भी अधिक शब्दावली को अपने अनुशासन द्वारा समेटना मालूम पड़ता है। अतः हेम ने पाणिनि और जैनेन्द्र की अपेक्षा कम सज्ञाओं का प्रयोग करके भी कार्य चला लिया है। इस सत्य से कोई इनकार नहीं कर सकता कि हेम ने पाणिनीय व्याकरण का अवलोकन कर उनकी सज्ञाओं को ग्रहण नहीं किया है। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत सज्ञाएँ पाणिनि ने भी लिखी हैं, किन्तु हेम ने इन सज्ञाओं में स्पष्टता और सहज बोधगम्यता लाने के लिए एक, द्वि और त्रिमात्रिक को क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ, दीर्घ और प्लुत कह दिया है। यद्यपि पाणिनि के 'उका लो ऽञ्जस्वदीर्घप्लुत' १।२।२६ सूत्र में हेम का उक्त भाव अंकित है, किन्तु हेम ने एक मात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक कह कर सर्वसाधारण के लिए स्पष्टीकरण कर दिया है।

६ हेम और पाणिनि की सज्ञाओं में एक मौलिक अन्तर है कि हेम प्रत्याहारों के झमेले में नहीं पड़े हैं। इनकी सज्ञाओं में प्रत्याहारों का विलकुल अभाव है। वर्णमाला के वर्णों को ले कर ही हेम ने सज्ञा विधान किया है। पाणिनि ने प्रत्याहारों द्वारा सज्ञाओं का निरूपण किया है, जिससे प्रत्याहार क्रम को स्मरण किये बिना सज्ञाओं का अर्थ बोल नहीं हो सकता है। अतः हेम का सज्ञाविधान पाणिनि और जैनेन्द्र की अपेक्षा सरल एवं स्पष्ट है।

१० सन्धि-प्रकरण में भी हेम ने लाघव को कायम रखने की पूरी चेष्टा की है। गुण मन्वि में ऋ के स्थान पर अर् और लृ के स्थान पर अल् किया है। पाणिनि को इसी कार्य की मिट्टि के लिए पृथक् 'उरणरपर' १।१।५ सूत्र लिखना पड़ा है। हेम ने इस एक सूत्र की वचन कर ली है। पाणिनि ने 'एडिपररूपम्' १।१।६४ सूत्र द्वारा पहले अ हो और बाद में ए हो तो पर रूप करने का अनुशासन किया है। हेम ने 'वोप्लौती ममासे' १।२।१७ द्वारा लुक् का नियमन किया है। अतः पाणिनि की अपेक्षा हेम में लाघव है। हेम ने यह प्रक्रिया शाकटायन से अपनायी है।

पाणिनि ने ७।१।५७ के द्वारा जिस के स्थान में 'शी' होने का विधान किया है, हेम ने १।४।६ द्वारा मीघे जम् के स्थान पर 'ई' कर दिया है। इसका कारण यह है कि पाणिनि के यहाँ यदि 'ई' का विधायन होता, तो जस के अन्तिम वर्ण स् को भी होने लगता, अतएव उन्होंने शकार अनुबन्ध को लगाना आवश्यक समझा और समस्त जन् के स्थान पर शी का विधान किया। हेम के यहाँ इस तरह कुछ भी झमेला नहीं है। इनके यहाँ जम् के स्थान पर किया गया 'ई' का नियमन समस्त जन् के स्थान पर होता है। अतः यहाँ हेम की लाघव दृष्टि प्रशंसनीय है। हेम ने पाणिनि की तरह नर्वादि की नर्वनाम मज्ञा नहीं की है, किन्तु सर्वादि कह कर ही काम चलाया है। जहाँ पाणिनि ने नर्वनाम की रोक कर नर्वनाम प्रयुक्त कार्य रोका है, वहाँ हेम ने नर्वादि ही नहीं मान कर काम चलाया है। यह भी हेम की लाघव दृष्टि का सूचक है। पाणिनि ने आम् को माम् बनाने के लिए भुद आगम



किया है, पर हेम ने १।४।१५ सूत्र द्वारा आम को सीधे साम बनाने का अनुशासन किया है।

११ अजन्त स्त्रीलिंग में लताये, लताया और लतायाम् की सिद्धि के लिए पाणिनि ने बहुत द्रविड प्राणायाम किया। उन्होंने ७।३।११३ सूत्र से याद किया है, पुन वृद्धि की, तब लतायै बनाया तथा दीर्घ करने पर लताया और लतायाम् का साधुत्व सिद्ध किया। पर हेम ने १।४।७ सूत्र द्वारा सीधे ये, याद और याम् प्रत्यय जोड़ कर उक्त रूपों का सहज साधुत्व दिखाया है। हेम की यह प्रक्रिया सरल और लाघव सूचक है। मुनि शब्द की औ विभक्ति को पाणिनि ने पूर्व सवर्ण दीर्घ किया है। हेम ने १।४।२१ सूत्र द्वारा इकार के बाद औ हो तो दीर्घ ईकार और उकार के बाद औ हो तो दीर्घ ऊकार का अनुशासन किया है। हेम की यह प्रक्रिया भी शब्द शास्त्र के विद्वानों के लिए अधिक रुचिकर और आनन्ददायक है। मुनी प्रयोग में पाणिनि ने ७।३।११६ के द्वारा इ को ऊ और डी को औ किया है तथा वृद्धि कर देने पर मुनी की सिद्धि की है, किन्तु हेम ने १।४।२५ सूत्र के द्वारा डी को डौ किया है जिससे यह इ का अनुबन्ध होने से मुनि शब्द का इकार स्वय ही हट गया है, अतएव मुनि शब्द के नकार में रहने वाले इकार के स्थान पर हेम को अकार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई।

१२ हेम ने कारक प्रकरण आरम्भ करते ही कारक की परिभाषा दी है, जो इनकी अपनी विशेषता है। पाणिनि तन्त्र में क्रिया विशेषण को कर्म बनाने का कोई भी नियम नहीं है, बाद के वैयाकरणों और नैयायिकों ने 'क्रियाविशेषणाना कार्यत्व' का सिद्धान्त स्वीकार किया है। हेम ने २।२।४१ सूत्र में उक्त सिद्धान्त को अपने तन्त्र में संग्रहीत कर लिया है। पाणिनि ने २।३।१६ सूत्र द्वारा अल शब्द के योग में चतुर्थी का विधान किया है, किन्तु हेम ने शक्त्यर्थक सभी शब्दों के योग में चतुर्थी का नियमन किया है, इससे अधिक स्पष्टता आ गई है। पाणिनि के उक्त नियम को व्यावहारिक बनाने के लिए अल शब्द को पर्याप्तार्थक मानना पड़ता है, अन्यथा 'अल महीपाल तब श्रमेण' इत्यादि वाक्य व्यवहित हो जाएंगे। हेम ने शक्त्यर्थक और पर्याप्तार्थक शब्दों के साधुत्व को पृथक् कर दिया है, जिससे किसी भी प्रकार का विरोध नहीं आता है।<sup>१५</sup>

१३ उपर्युक्त सक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि हेम में पाणिनि जैनन्द्र और शाकटायन की अपेक्षा अधिक लाघव और स्पष्टता है, पर यह भी हमें नहीं भूलना चाहिए कि हेम ने उक्त तीनों व्याकरणों से प्रचुर सामग्री ग्रहण की है। पूज्यपाद और पाणिनि की अपेक्षा हेम ने शाकटायन से बहुत कुछ ग्रहण किया है। जैनन्द्र के 'सिद्धरत्नकान्तात्' का प्रभाव 'सिद्धि स्याद्वादात् १।१।२' पर स्पष्ट है। हेम ने तद्धित और कृदन्त प्रकरण में जैनन्द्र के सूत्र ज्यों के त्यों अपनाये हैं।

१४. शाकटायन व्याकरण की शैली का प्रभाव तो हेम पर सर्वाधिक है। यहाँ

एक उदाहरण देकर उक्त कथन का स्पष्टीकरण किया जाता है। पाणिनि ने 'पारेमध्येपठ्यावा' २।१।१८, पूज्यपाद ने 'पारे मध्ये तथा वा' १।३।१५, और शाकटायन ने 'पारे मध्येऽन्त पठ्या वा' २।१।१६ सूत्र लिखा है। हेम ने उक्त सूत्र के स्थान पर 'पारेमध्येऽन्त पठ्या वा' सूत्र लिखा है। उपर्युक्त प्रसिद्ध वैयाकरणों के सूत्र की हेम सूत्र के साथ तुलना करने पर अवगत होता है कि हेम ने शाकटायन का सर्वाधिक अनुकरण किया है।

१५ शाकटायन के 'ननृपूजार्थध्वजचित्रे' ३।३।३४ का अमोघवृत्ति सहित हेम ने 'ननृपूजार्थध्वजचित्रे' ७।१।१०६ में शब्दशः अनुकरण किया है। यद्यपि हेम ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों से बहुत कुछ लिया है, तो भी अपनी मौलिकता प्रतिभा द्वारा शब्दानुशासन में अनेक नवीनताएँ लाने का उनका प्रयास प्रशस्य है।

१६ हेमशब्दानुशासन का अष्टम अध्याय प्राकृत भाषा का अनुशासन करता है। इसमें चार पाद और कुल १११६ सूत्र हैं। प्रथम पाद में स्वर और व्यंजन विकार, द्वितीय में सयुक्त, व्यंजन विकार, तृतीय में सर्वनाम, कारक, कृदन्त एवं चतुर्थ पाद में धात्वादेश, शीरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची तथा अपभ्रंश का अनुशासन वर्णित है। प्राकृत भाषा की जानकारी के लिए इससे बड़ा और सर्वांगपूर्ण व्याकरण अन्य कोई नहीं है। पाणिनि ने जिस प्रकार संस्कृत और लौकिक संस्कृत भाषा का अनुशासन किया, उसी प्रकार हेम ने लौकिक संस्कृत तथा उसकी निकटवर्ती प्राकृत का नियमन उपस्थित किया। भाषा के तत्वों की जानकारी हेम की अद्भुत है। हेम शब्दानुशासन इतना पूर्ण है कि इस व्याकरण के अकेले अध्ययन में ही लोक प्रचलित सभी पुरातन भारतीय भाषाओं की यथेष्ट जानकारी हो सकती है। यह गुजरात का व्याकरण कहलाता है।

हेमशब्दानुशासन पर अनेक टीका ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनका परिचय जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ५ में दिया गया है।

X

X

X

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन व्याकरण शास्त्र की इस मुनितयों ने संस्कृत व्याकरण शास्त्र के संरक्षण, सर्वार्थ एवं प्रसार में जो योगदान दिया, वह व्याकरणशास्त्र के इतिहास में अद्वितीय है। व्याकरणशास्त्र पर होने वाले भविष्य के अनुसंधान कार्यों में इन उपलब्धियों का उपयोग किया जाना चाहिए। और अधिक विस्तार के भय से अन्य ग्रन्थों, टीकाओं आदि पर इस निबन्ध में विचार नहीं किया जा सका।

जिस प्रकार देवचन्द्र, शाकटायन और हेमचन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के कृतित्व को अपनी कृतियों में समाहित करके उसे संरक्षित किया और उनकी उपलब्धियों को सम्बद्धित करके प्रसारित किया उसी प्रकार प्रस्तुत निबन्ध में हमने

स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की 'जैनेन्द्र महावृत्ति की भूमिका, डा० आर० विरवे की शाकटायन व्याकरण की अगरेजी प्रस्तावना, स्व० डा० नैमिचन्द्र शास्त्री के निबन्ध तथा जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भाग (पाच) की सामग्री को भी समाहित किया है।

आचार्य श्री कालूगणी की शताब्दी के पुण्य-प्रसंग पर उन सभी विद्वानों के लिए हमारा यह नैवेद्य निवेदित है।

## सदर्भ

१. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ६।
- २ जैन विद्या का सांस्कृतिक अवदान, पृ० ४२-४३।
- ३ जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ४।
- ४ टा० आ० ने० उपाध्ये, जनरल एडिटोरियल, शाकटायन व्याकरण, पृ० १२।
- ५ जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ५।
- ६ डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—जैनेन्द्र महावृत्ति की भूमिका पृ० ६-१२।
- ७ युधिष्ठिर भीमासक—जैनेन्द्र शब्दानुशासन तथा उसके खिल पाठ, जैनेन्द्र महावृत्ति, पृ० ३६।
- ८ वही, पृ० ४३-४४।
- ९ प्रबन्ध पारिजात, पृ० २१४, उद्धृत जै० सा० वृ० इ०, भाग ५।
- १० सिस्टम्स आफ सस्कृत ग्रामर, पैरा ५०।
- ११ शिलालेख संग्रह, भाग १, पृ० ११८।
- १२ प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रस्तावना, पृ० ६७।
- १३ सनातन जैन ग्रन्थमाला ५, वाराणसी।
- १४ सिस्टम्स आफ सस्कृत ग्रामर, पृ० ७१।
- १५ जैन विद्या का सांस्कृतिक अवदान, पृ० ५३-६०।
- १६ द्रष्टव्य—आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन।



## आचार्य हेमचन्द्र और पाणिनि

स्व० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री

संस्कृत व्याकरण की रचना बहुत प्राचीनकाल से होती आई है। संस्कृत के प्रकाण्ड वैयाकरण महर्षि पाणिनि के पूर्व भी कई प्रभावशाली वैयाकरण हो चुके थे, किन्तु पाणिनि के व्याकरण की पूर्णता एवं प्रभावशालिता के कारण सूर्य के सामने नक्षत्रों की भाँति उनकी प्रभा विलीन हो गई और व्याकरण जगत् में पाणिनीय प्रकाश व्याप्त हो गया। इतना ही नहीं अपितु इस भास्वर प्रकाश के सामने बाद में भी कोई प्रतिभा उद्भासित नहीं हो सकी। विक्रम की बारहवीं शताब्दी में एक ही प्रतिभा ही इसके अपवाद रूप में जागरित हुई। यह प्रतिभा केवल प्रकाश ही लेकर नहीं आई अपितु उस प्रकाश में रसमयी शीतलता का सहयोग भी था। हेम ने शब्दानुशासन के साथ शब्दप्रयोगात्मक द्रव्याश्रय काव्य की भी रचना की।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन को पाणिनीय शब्दानुशासन की अपेक्षा सरल बनाने की सफल चेष्टा की है, साथ ही पाणिनीय अनुशासन से अवशिष्ट शब्दों की सिद्धि भी बतलाई है। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि शब्दानुशासन-प्रक्रिया में पाणिनीय वैयाकरणों के समस्त मस्तिष्कों से जो काम पूरा हुआ है, उसे अकेले हेम ने कर दिखाया है। सच कहा जाए तो इस दृष्टि से संस्कृत भाषा का कोई भी वैयाकरण चाहे वह पाणिनि ही क्यों न हो, हेम की बराबरी नहीं कर सकता। हमें ऐसा लगता है कि हेम ने अपने समय में उपलब्ध कातन्त्र, पाणिनीय, सरस्वती कण्ठाभरण, जैनेन्द्र, शाकटायन आदि समस्त व्याकरण ग्रंथों का आलोचन कर सारग्रहण किया है और उसे अपनी अद्भुत प्रतिभा के द्वारा विस्तृत और चमत्कृत किया है।

प्रस्तुत निबन्ध में शब्दानुशासन की समस्त प्रक्रियाओं को ध्यान में रखते हुए हेम की पाणिनि के साथ तुलना की जाएगी और यह बतलाने का आयास रहेगा कि हेम में पाणिनि की अपेक्षा कौन सी विशेषता और मौलिकता है तथा शब्दानुशासन की दृष्टि से हेम का विधान कैसा और कितना मौलिक एवं उपयोगी है।

सर्वप्रथम पाणिनि और हेम के मन्त्राप्रकरण पर विचार किया जाएगा और

दोनों की तुलना द्वारा यह बतलाने की चेष्टा की जाएगी कि हेम की सज्ञाए पाणिनि की अपेक्षा कितनी सटीक और उपयोगी हैं।

संस्कृत भाषा के प्रायः सभी ग्रन्थों में सर्वप्रथम पारिभाषिक सज्ञाओं का एक प्रकरण दे दिया जाता है। इसमें लाभ यह होता है कि आगे सज्ञा शब्दों द्वारा संक्षेप में जो काम चलाये जाते हैं वही उनका विशेष अर्थ समझने में बहुत कुछ सहूलियत हो जाया करती है। संस्कृत के व्याकरणग्रन्थ भी इसके अपवाद नहीं। वास्तव में व्याकरणशास्त्र में इस बात की और अधिक उपयोगिता है, यतः विशाल शब्दराशि की व्युत्पत्ति की विवेचना इसके बिना समभव नहीं है। उसमें विशेष कर संस्कृत व्याकरण में जहाँ एक-एक शब्द के लिए सविधान की आवश्यकता पड़ती है।

संस्कृत के शब्दानुशासकों ने विभिन्न प्रकार से अपनी-अपनी सज्ञाओं के साकेतिक रूप दिए हैं। कहीं-कहीं एकता होने पर भी विभिन्नता प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। यही तो कारण है कि जितने विशिष्ट व्याकरण हुए उनकी रचनाएँ अलग-अलग व्याकरण के रूप में अभिहित हुईं। विवेचन शैली की विभिन्नता के कारण ही एक संस्कृत भाषा में व्याकरण के कई तन्त्र प्रसिद्ध हुए।

हेमचन्द्र की सर्वत्र व्यावहारिक प्रवृत्ति है, इन्होंने सज्ञाओं की संख्या बहुत कम रखकर काम चलाया है। इन्होंने स्वरों का सज्ञाओं में वर्गीकरण करते हुए, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, नास्ति, समान और सन्ध्यक्षर ये छ सज्ञाएँ सकलित की हैं। ये हैं घुट्, वर्ग, घोषवान्, अघोष, अन्तस्थ, और शिट्। स्वर सज्ञाओं तथा व्यञ्जन सज्ञाओं का विवेचन कर लेने के बाद एक स्वर सज्ञा का विधान है। जिसका उपयोग स्वर एवं व्यञ्जन दोनों के लिए समान है।

स्वर तथा व्यञ्जन विधान सज्ञाओं के विवेचन के अनन्तर विभक्ति, पद, नाम, और वाक्य सज्ञाओं का बहुत ही वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है। पाणिनीय व्याकरण में इस प्रकार के विवेचन का ऐकान्तिक अभाव है। पाणिनि तो वाक्य की परिभाषा देना ही भूल गए हैं। परिवर्ती व्याकरण कात्यायन ने समालने का प्रयत्न अवश्य किया है, पर उन्होंने वाक्य की जो परिभाषा 'एक-तिडवाक्यम्' दी है, वह भी अधूरी ही रह गई है। बाद के पाणिनीय तन्त्रकारों ने इसे व्यवस्थित करना चाहा है, किन्तु वे 'एकतिडवाक्यम्' के दायरे से दूर नहीं जा सके हैं। फलतः उनकी वाक्य-परिभाषा सीधा स्वरूप लेकर उपस्थित नहीं हो सकी है और उसकी अपूर्णता ज्यों की त्यों बनी रही है। किन्तु हेम ने वाक्य की बहुत स्पष्ट परिभाषा दी है 'सविशेषणमाख्यात वाक्यम्' १।१।२६ 'त्याद्यन्त पदमाख्यातात्, साक्षात् पारस्पर्येण वा यान्याख्यातविशेषणानि तैः प्रयुज्यमानैरप्रयुज्यमानैर्वा सहित प्रयुज्यमानमप्रयुज्यमान वा आख्यात वाक्यमज्ञ भवति।' अर्थात् मूल सूत्र में सविशेषण आख्यात वाक्य की वाक्यसज्ञा

वतलाई गई है। यहा आख्यात के विशेषण का अर्थ है अव्यय, कारक, कारक विशेषण और क्रिया विशेषणो का साक्षात् या परम्परया रहना। आगे वाले वृत्त्यश से स्पष्ट है कि प्रयुज्यमान अथवा अप्रयुज्यमान विशेषणो के साथ प्रयुज्यमान अथवा अप्रयुज्यमान आख्यात को वाक्य कहा गया है। यहा विशेषण शब्द द्वारा केवल सज्ञा विशेषण का ही ग्रहण नहीं है, अपितु साधारणतः अप्रवान अर्थ लिया गया है और आख्यात को प्रधानता दी गई है। वैयाकरणो का यह सिद्धान्त भी है कि वाक्य मे आख्यात का अर्थ ही प्रधान होता है। तात्पर्य यह है कि हेम की वाक्य परिभाषा सर्वाङ्गपूर्ण है। इन्होने इस परिभाषा का समन्वयवाक्य प्रदेश 'पदाद्युग्विभक्त्येकवाक्ये वस्तुसौ बहुत्वे' २।१।२१ सूत्र से भी माना है। पाणिनि या अन्य पाणिनीय तन्त्रकार वाक्यपरिभाषा को हेम के समान सर्वांगीण नहीं बना सके हैं। यो तो 'एकतिङ्वाक्यम्' से कामचलाऊ अर्थ निकल आता है और किसी प्रकार वाक्य की परिभाषा बन जाती है, पर अभीचीन और स्पष्ट रूप मे वाक्य की परिभाषा सामने नहीं आ पाती है। अतः आचार्य ने वाक्य परिभाषा को बहुत ही स्पष्ट रूप मे उपस्थित किया है।

हेम ने सात सूत्रो मे अव्ययसज्ञा का निरूपण किया है। इस निरूपण मे सबसे बड़ी विशेषता यह है कि निपातसज्ञा को अव्ययसज्ञा मे ही विलीन कर लिया है। उन्होने चादि को निपात न मानकर सीधा अव्यय मान लिया है। यह एक सक्षिप्तीकरण का लघुतम प्रयास है। इत् प्रत्यय और सख्यावत् सज्ञाओ का विवेचन भी पूर्ण है। हेम ने अनुनासिक का अर्थ व्युत्पत्तिगत मान लिया है, अतः इसके लिए पृथक् सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं समझी है। सज्ञाप्रकरण की हेम की सज्ञाएँ शब्दानुसारी हैं, किन्तु आगे वाली कारकीय सज्ञाएँ अर्थानुसारी हैं। पाणिनि के समान हेम की सज्ञाओ का तात्पर्य भी अधिक से अधिक शब्दावली को अपने अनुशासन द्वारा समेटना मालूम पड़ता है। अतः हेम ने पाणिनि की अपेक्षा कम सज्ञाओ का प्रयोग करके भी कार्य चला लिया है। यह सत्य है कि हेम ने पाणिनीय व्याकरण का अवलोकन कर भी उनकी सज्ञाओ को ग्रहण नहीं किया है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत सज्ञाएँ पाणिनि ने भी लिखी हैं किन्तु हेम ने इन सज्ञाओ मे स्पष्टता और सहज बोधगम्यता लाने के लिए एक, द्वि और त्रिमात्रिक को क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत कह दिया है। वस्तुतः पाणिनि के 'ऊकालो-ऽङ्गम्रस्वदीर्घप्लुत' १।२।२७ सूत्र का भाव ही अंकित करके हेम ने एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक कहकर सर्वसाधारण के लिए स्पष्टीकरण किया है। हेम के 'औदन्ता स्वराः १।१।४ की अनुवृत्ति भी उक्त सज्ञाओ मे विद्यमान है।

पाणिनि का सवर्णसज्ञा विधायक 'तुल्यायस्यप्रयत्न सवर्णम् १।१।६ सूत्र है। हेम ने इसी सज्ञा के लिए 'तुल्यस्थानास्यप्रयत्न स्व.' १।१।१७ सूत्र लिखा है। इस

सज्ञा के कथन में हेम की कोई विशेषता नहीं है, बल्कि पाणिनि का अनुकरण ही प्रतीत होता है। हा, सर्वर्णसज्ञा के स्थान पर हेम ने स्वसज्ञा नामकरण कर दिया है। दोनों ही गव्दानुशासको का एक सा ही भाव है।

हेम और पाणिनि की सज्ञाओं में एक मौलिक अन्तर यह है कि हेम प्रत्याहार के झमेले में नहीं पड़े है, उनकी सज्ञाओं ने प्रत्याहारों का बिल्कुल अभाव है। वर्णमाला के वर्णों को लेकर ही हेम ने सज्ञाविधान किया है। पाणिनि ने प्रत्याहारों द्वारा सज्ञाओं का निरूपण किया है जिससे प्रत्याहारक्रम का स्मरण किए बिना सज्ञाओं का अर्थबोध नहीं हो सकता है। अतः हेम के सज्ञाविधान में सरलता पर पूर्ण ध्यान रखा गया है।

पाणिनि ने अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय को व्यजन-विकार कहा है। वास्तव में अनुस्वार मकार या नकारजन्य है। विसर्ग सकार या कही रेफजन्य होता है। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय दोनों क्रमशः क, ख तथा प, फ के पूर्व स्थित विसर्ग के ही विकृत रूप हैं। पाणिनि ने उक्त अनुस्वार आदि को अपने प्रत्याहार सूत्रों में—वर्णमाला में, स्वतन्त्र रूप से कोई स्थान नहीं दिया है। उत्तरकालीन पाणिनीय व्याकरणों ने इसकी बड़ी जोरदार चर्चा की है कि इन वर्णों को स्वरों के अन्तर्गत माना जाए अथवा व्यजनों के। पाणिनीय शास्त्र के उद्भट विद्वान् कात्यायन ने इसका निर्णय किया कि इनकी गणना दोनों में करना उचित होगा। पाणिनीय तत्त्ववेत्ता पतञ्जलि ने भी इसका पूर्ण समर्थन किया है। हेम के अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को 'अ अ (क) प शपा. शिट्' १।१।१६ सूत्र द्वारा शिट् सज्ञक माना है। इससे स्पष्ट है कि हेम ने अपने गव्दानुशासन में विसर्ग, अनुस्वार, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को व्यजनों में स्थान दिया है। हेम की शिट् सज्ञा व्यजनवर्णों की है तथा व्यजन वर्णों की सज्ञाओं में हेम ने उक्त विसर्गादि को स्थान दिया है। शाकटायन व्याकरण में भी अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को व्यंजनों के अन्तर्गत माना है। ऐसा लगता है कि हेम इस स्थल पर पाणिनि की पेशा शाकटायन से ज्यादा प्रभावित हैं। हेम का अनुस्वार, विसर्ग आदि का व्यंजनों में स्थान देना अधिक तर्कसंगत जचता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम सक्षेप में इतना ही कह सकते हैं कि हेम ने अपनी आवश्यकता के अनुसार सज्ञाओं का विधान किया है। जहाँ पाणिनि के निरूपण में क्लिष्टता है वहाँ हेम में सरलता और व्यावहारिकता है।

पाणिनि ने जिसे अच सन्धि कहा है हेम ने उसे स्वर सन्धि। हेम ने गुण सन्धि में ऋ के म्यान पर अर् और लृ के म्यान पर अल् किया है। पाणिनि को इमी कार्य की मिष्टि के लिए पृथक् 'उरण रपर' १।१।५१ सूत्र लिखना पड़ा है।



हेम ने इस एक सूत्र की वचन कर १।२।३ सूत्र में ही उक्त कार्य को सिद्ध कर दिया है। हेम ने ऐ और औ को सन्धि-स्वर कहा है, पाणिनि और कात्यायन ने नहीं। उत्तरकालीन व्याख्याकारों ने इनकी सन्ध्यक्षरों में गणना की है।

पाणिनि ने 'एडि पररूपम् ६।१।६४ सूत्र द्वारा पहले अ हो और बाद में ए, ओ हो तो पररूप करने का अनुशासन किया है। हेम ने 'वौण्ठीतौ समासे' १।२।१७ द्वारा लुक् का विधान किया है। पाणिनि ने अयादि सन्धि के लिए 'एचोऽयवा-याव' ६।१।७८ सूत्र का कथन कर समस्त कार्यों की सिद्धि कर ली है, किन्तु हेम को इस अयादि सन्धि कार्य के लिए 'एदौतोऽयाय' १।२।२३ तथा 'ओदौतो वाव' १।२।२६ इन दो सूत्रों की रचना करनी पड़ी है। स्वर सन्धि में हेम का 'ह्रस्वो-ऽपदे वा' १।२।२२ बिल्कुल नवीन है। पाणिनि व्याकरण में इसका जिक्र नहीं है। मालूम होता है कि हेम के समय में 'नदि एपा' और 'नद्येपा' ये दोनों प्रयोग प्रचलित थे। इसी कारण इन्हे उक्त रूपों के लिए अनुशासन करना पड़ा। गव्यति, गव्यते, नाव्यति, नाव्यते, लव्यम् एव लाव्यम् रूपों के साधुत्व के लिए हेम ने 'य्यव्ये' १।२।२५ सूत्र लिखा है। इन रूपों की सिद्धि के लिए पाणिनि के 'वान्तो यि प्रत्यये' ६।१।७९ तथा 'धातोस्तन्निमित्तस्यैव' ६।१।८० ये दो सूत्र आते हैं। अभिप्राय यह है कि हेम ने लव्यम् और लाव्यम् की सिद्धि भी १।१।२५ से कर ली है, जब कि पाणिनि को इन रूपों के साधुत्व के लिए ६।१।८० सूत्र पृथक् लिखना पड़ा है। पाणिनि के पूर्वरूप और पररूप का कार्य हेम ने लुक् द्वारा चला लिया है। पाणिनि ने जिसे प्रकृतिभाव कहा है, हेम ने उसे असन्धि कहा है।

उ, इति, विति तथा ऊ इति इन रूपों की साधनिका के लिए पाणिनी ने 'उब' १।१।१७ तथा 'ऊ' १।१।१८ ये दो सूत्र लिखे हैं हेम ने उक्त रूपों की सिद्धि 'ऊ चोब' २।२।३६ सूत्र द्वारा ही कर दी है।

पाणिनि ने जिसे हल् सन्धि कहा है, हेम ने उसे व्यञ्जन सन्धि। हेम ने व्यञ्जन सन्धि में कवर्गादि क्रम से वर्णों का ग्रहण किया है, जब कि पाणिनि ने प्रत्याहार-क्रम ग्रहण किया है। पाणिनि ने विसर्ग को जिह्वामूलीय और उपध्मानीय बताया है, पर हेम ने र कक्षपफयो (क)पौ १।३।५ सूत्र में रेफ को ही विसर्ग तथा जिह्वामूलीय और उपध्मानीय कहा है। जो काम पाणिनि ने विसर्ग से चलाया है, वह काम हेम ने रेफ से चलाया है।

हेम ने 'नोऽप्रशानोऽनुस्वारानुनासिकौ च पूर्वस्थाधुत् परे' १।३।८ सूत्र द्वारा न को सीधे स बना दिया है, जब कि पाणिनि ने न व स = र स क्रम रखा है, यही नहीं बल्कि अनुनासिक और अनुस्वार करने के लिए पाणिनि ने 'अत्रानु-नासिक पूर्वस्य तु वा' ८।३।२ और 'अनुनासिकात्पराऽनुस्वार' ८।३।४ इन दो सूत्रों को लिखा है। हेम ने उपर्युक्त सूत्र में ही इन दोनों सूत्रों को समेट लिया है। हेम ने १।३।१३ में पतञ्जलि के 'समो वा लोपमेके' सिद्धान्त को अर्थात् सम् के म्

का वैकल्पिक लोप होता है, को निहित किया है। इसमें अवगत होता है कि हेम ने पाणिनीय तन्त्र का अवगाहन कर उनकी समस्त विशेषताओं को अपने शब्दानुशासन में स्थान दिया है तथा अपनी सूक्ष्म प्रतिभा द्वारा सरलीकरण और लघुवीकरण की ओर भी व्याप्त किया।

हेम ने 'सम्राट्' १।३।१६ सूत्र में सम्राट् शब्द लिखकर सम्राट् की मिथ्या मान ली है जबकि पाणिनि ने ८।३।२५ सूत्र में इसकी प्रक्रिया भी प्रदर्शित की है। हेम ने १।३।२२ सूत्र में स का लुक् कर दिया है। पाणिनि ८।३।१७ के द्वारा स को य बनाकर ८।३।२२ सूत्र में लोप किया है। हेम का लाभ यह कि नितान्त वैज्ञानिक है। हेम ने १।३।३५ में अस्पष्ट और ईपत्स्पष्टतर में व और य का विधान किया है। पाणिनि ने ८।३।१८ में इन्हे लघुप्रथम कहा है।

हेम ने १।३।२८ में छ को द्वित्व किया है, जबकि पाणिनि ने ६।१।७५ द्वारा तुक् का आगम किया है, पञ्चात् तु को च् किया है। तुलना करने से ज्ञात होता है कि पाणिनि की अपेक्षा हेम का यह अनुशासन सरल होने के साथ वैज्ञानिक भी है, क्योंकि हेम छ को द्वित्व कर पूर्व छ को च् कर देते हैं। पाणिनि तुक् आगम कर तु को च् बनाते हैं, इसमें प्रक्रिया गौरव अवश्य है।

पाणिनि का सूत्र है 'आड्माडोश्च' ६।१।७४। इसके द्वारा तुक् किया जाता है, किन्तु हेम ने १।३।२८ के अनुसार आ, मा को छोड़कर ओप दीर्घ पदान्त शब्दों से विकल्प से छ का विधान किया है। किन्तु वृद्धि के अनुसार आ मा के पास छ का होना नित्य सिद्ध होता है, पर यह सत्य है कि उक्त सूत्र के अनुसार कथन में स्पष्टता नहीं आने पाई है।

हेम ने तच्श्चेते, तच्श्चेते में 'त शिट्' १।३।३६ द्वारा श को द्वित्व किया है, जो हेम की मौलिकता का द्योतक है। हेम ने विसर्ग सन्धि का निरूपण पृथक् नहीं किया है, बल्कि उसे रेफ कहकर व्यञ्जन सन्धि में ही स्थान दिया है। हेम ने 'रो रे लुग् दीर्घश्चादिदुत्' ८।३।४१ इस एक ही सूत्र में 'रो रि' ८।३।१४ तथा 'द्विषे पूर्वस्य दीर्घोऽण' ६।३।१११ पाणिनि के इन दोनों सूत्रों के कार्यविधान को एक साथ रख दिया है।

हेम ने 'अद्याद्यस्य द्वितीयो वा' १।३।५६ सूत्र में एक नया विधान किया है। बताया गया है कि श, प, स के परे वर्ग के प्रथम अक्षर का द्वितीय अक्षर होता है, जैसे क्षीरम्, स्पीरम्, अप्सरा, अप्सरा आदि। भाषाविज्ञान की दृष्टि से हेम का यह अनुशासन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ऐसा लगता है कि पाणिनि की अपेक्षा हेम के समय में स्कूल भाषा की प्रवृत्तियाँ लोकभाषा के अधिक निकट आ रही थी। इसी कारण हेम का उक्त अनुशासन सभी संस्कृत वैयाकरणों की अपेक्षा नया है। यह सत्य है कि हेम को अपने समय की भाषा का यथार्थ ज्ञान था। उसकी समस्त प्रवृत्तियों की उन्हें जानकारी थी। इसी कारण उन्होंने अपने अनु-

शासन में भाषा की समस्त नवीन प्रवृत्तियों को समेटने की चेष्टा की है।

शब्दरूपों की सिद्धि को हेम ने प्रथम अध्याय के चतुर्थपाद में आरम्भ किया है। पाणिनि ने अजन्त की साधनिका आरम्भ करने से पूर्व 'अर्थवदवातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' १।२।४५ सूत्र द्वारा प्रातिपदिक सज्ञा पर प्रकाश डाला है। हेम ने 'अधातुविभक्तिवाक्यमर्थयनाम' १।१।२७ सूत्र में नाम की परिभाषा बतलाई है। पाणिनि ने जिसे प्रातिपदिक कहा है हेम ने उसको मात्र नाम का अन्तर माना है, अर्थ का नहीं। हेम ने इसी नाम सज्ञा का अधिकार मानकर विभक्तियों का विधान किया है। हेम शब्दानुशासन में पाणिनि के द्वारा प्रयुक्त विभक्तियाँ ही प्रायः गृहीत हैं। केवल प्रथमा एकवचन में पाणिनि के सु के स्थान पर कातन्त्र के समान 'सि' विभक्ति का विधान किया गया है। हेम ने १।४।२ सूत्र से 'अत' की अनुवृत्ति कर 'मस् ऐस्' १।४।२ सूत्र रचा है जो पाणिनि के 'अतो मिस् ऐस्' ७।१।६ के समान प्रयास है।

पाणिनि ने 'जश्शसो शि' ७।१।२० के द्वारा जस् के स्थान में 'शि' होने का विधान है, हेम ने 'जस इ' १।४।६ द्वारा सीधे जस् के स्थान पर 'इ' कर दिया है। इसका कारण यह है कि पाणिनि के यहाँ यदि केवल इ का विधान होता तो वह जस् के अन्तिम वर्ण स् को भी होने लगता, अतएव उन्होंने शकार अनुबन्ध को लगाना आवश्यक समझा और समस्त जस् के स्थान पर शि का विधान किया। हेम के यहाँ इस तरह का कुछ भी झमेला नहीं है। इनके यहाँ जस् के स्थान पर किया गया 'इ' का विधान समस्त जस् के स्थान पर होता है। अतः यहाँ हेम की लाघव दृष्टि प्रशसनीय है। हेम ने पाणिनि की तरह सर्वादि की सर्वनामसज्ञा नहीं की, किन्तु सर्वादि कहकर ही काम चलाया गया है। जहाँ पाणिनि ने सर्वनाम को रोककर सर्वनाम प्रयुक्त कार्य रोक दिया है, वहाँ हेम ने सर्वादि को सर्वादि ही नहीं मानकर काम चलाया है। यह भी हेम की लाघव दृष्टि का सूचक है।

पाणिनि ने आम् को साम् बनाने के लिए सुट् का आगम किया है, पर हेम ने 'अवर्णस्याम साम्' १।४।१५ सूत्र द्वारा आम् को सीधे साम् बनाने का अनुशासन किया है।

अजन्त स्त्रीलिंग में लतायै लताया और लताया की सिद्धि के लिए पाणिनि ने बहुत द्रविड प्राणायाम किया है। उन्होंने 'याडाप' ७।३।११३ सूत्र से याट् किया, पुनः वृद्धि की, तब लतायै बनाया तथा दीर्घ करने पर लताया और लताया का साधुत्व सिद्ध किया। पर हेम ने १।४।१७ सूत्र द्वारा सीधे यै यास् और याम् प्रत्यय जोड़कर उक्त रूपों का सहज साधुत्व दिखलाया है। हेम की यह प्रक्रिया सरल और लाघवसूचक है।

भुनि शब्द की औ विभक्ति को पाणिनि ने पूर्वसवर्ण दीर्घ किया है। हेम ने 'इदुतोऽस्त्रेरीदुत्' १।४।२१ के द्वारा इकार के बाद औ हो तो दीर्घ ईकार और

उकार के बाद औ हो तो दीर्घ ऊकार का विधान किया है। हेम की यह प्रक्रिया भी शब्दशास्त्र के विद्वानों को अधिक रुचिकर और आनन्ददायक है।

‘मुनी’ प्रयोग में पाणिनि ने ‘अच्च घे’ ७।३।११६ के द्वारा इ को अ और डि को औ किया है, तथा वृद्धि कर देने पर मुनी की सिद्धि की है किन्तु हेम ने १।४।१५ के द्वारा डि को डौ किया है जिससे यहाँ ड का अनुबन्ध होने के कारण मुनि शब्द का डकार स्वयं ही हट गया है, अतएव मुनि शब्द के डकार के स्थान पर हेम को अकार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई।

‘देवानाम्’ में पाणिनि ने नुद् का आगम किया है, किन्तु हेम ने ‘ह्रस्वापश्च’ १।४।३२ के द्वारा सीधे आम् को नाम् कर दिया है। हेम ने पाणिनि के ‘त्रेस्त्रय’ ६।१।५३ सूत्र को ज्यो का त्यो ‘त्रेस्त्रयः’ १।४।३४ में ले लिया है। इसी तरह ‘ह्रस्वस्य गुण’ ७।३।१०८ को भी १।४।४१ में ज्यो का त्यो ले लिया है। पाणिनि ने नपुमक लिंग में मतरद् प्रयोग की सिद्धि के लिए ‘अद्ङडतारादिभ्य पचभ्य’ ७।१।२५ सूत्र द्वारा सु और अम् विभक्ति को अद् का विधान किया है और अ का लोप किया है, पर हेम ने सि और अम् को सिर्फ ‘द’ बनाकर कतरद् की सिद्धि की है। इससे इन्होंने अकार लोप को बचाकर लाघव प्रदर्शित किया है।

पाणिनि ने कुर्वत् शब्द को पुल्लिङ्ग में कुर्वन् बनाने के लिए ‘उगिदचा सर्वनामस्थानेऽधातोः’ ७।१।७० द्वारा ‘नुम्’ और ‘सयोगान्तस्य लोप’ ८।२।२३ द्वारा ‘त्’ के लोप होने का नियमन किया है। हेम ने सीधे ‘ऋदुदित’ १।४।७० द्वारा ‘त्’ के स्थान पर ‘न्’ कर दिया है।

उशनस् शब्द के सम्बोधन में रूप सिद्ध करने के लिए कात्यायन ने ‘अस्य सम्बुद्धौ वानङ् नलोपश्च वा वाच्य’ वार्तिक लिखा है। इस वार्तिक के सिद्धान्त को हेम ने ‘वोशनसो नश्चामत्स्यसौ’ १।४।८० में रख दिया है।

पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती अनेक वैयाकरणों का नाम लिया है, कहीं-कहीं ये नाम मात्र प्रशंसा के लिए ही आते हैं, किन्तु अधिकतर वहाँ उनसे सिद्धान्त का प्रतिपादन ही किया जाता है। जहाँ सिद्धान्त का प्रतिपादन रहता है, वहाँ स्वयमेव विकल्पार्थ हो जाता है। हेम ने अपनी अष्टाध्यायी में पूर्ववर्ती आचार्यों का नाम नहीं लिया है। विकल्प विधान करने के लिए प्रायः ‘वा’ शब्द का ही प्रयोग किया है।

युष्मद् और अस्मद् शब्दों के विविध रूपों की सिद्धि के लिए हेम ने अपने सूत्रों में तत्पद रूपों को ही सकलित कर दिया है, जब कि पाणिनि ने इन रूपों की प्रक्रिया द्वारा सिद्ध किया है।

इद शब्द के पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग के एकवचन में रूप बनाने के लिए पाणिनि के अलग नियम हैं। उन्होंने ‘इदमो म’ ७।२।१०८ के द्वारा म विधान और ‘इदोऽपुसि’ ७।२।१११ के द्वारा इद को अय विधान किया है। स्त्रीलिङ्ग में ‘इयम्’

बनाने के लिए पाणिनि ने 'य सौ' ७।२।११० से इद् के 'द' को 'य' बनाया है, किन्तु हेम ने सीधे 'अयमियम् पुस्त्रियो सौ २।१।३८ के द्वारा अय और इय रूप सिद्ध किए हैं। यहा पाणिनि की अपेक्षा हेम की प्रक्रिया सीधी, सरल और हृदय-ग्राह्य है। हेम की प्रयोगसिद्धि की प्रक्रिया से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये शब्दानुशासन में सरलता और वैज्ञानिकता को समान रूप से महत्व देते हैं। पाणिनि की प्रक्रिया वैज्ञानिक अवश्य है, पर कहीं-कहीं जटिल और बोझिल भी है। हेम अपनी सूक्ष्म प्रतिभा द्वारा प्रायः सर्वत्र ही जटिलता के बोझ से मुक्त हैं।

पाणिनि के त्यद् यद् आदि शब्दों के पुलिग में रूप बनाने के लिए 'त्यदा-दीनाम्' ७।२।१०२ सूत्र द्वारा अकार का विधान किया है, इस प्रक्रिया में त्यद् आदि से लेकर द्वितक का ही ग्रहण होना चाहिए, इसके लिए भाष्यकार ने द्विपर्यन्तानामेव्रेष्टि' द्वारा नियमन किया है। हेम ने भाष्यकार के उक्त सिद्धान्त को भिलाते हुए 'अद्वे २।१।४१ के द्वारा उसी बात को स्पष्ट किया है। पाणिनि ने 'अचि श्नुघातुभुवाय्वोरियुङ्चडौ' ६।४।७७ के द्वारा इ को इयङ का विधान किया है। हेम 'धातोरिवर्णोवर्णस्येयुस् स्वर प्रत्यये' २।१।५० के द्वारा इय्, उय् मात्र का विधान कर एक नया दृष्टिकोण उपस्थित किया है।

पाणिनि ने विदुष शब्द की सिद्धि के लिए, 'वसो सम्प्रसारणम्' ६।४।१३१ सूत्र द्वारा सम्प्रसारण किया है तथा धात्व विधान करने पर विदुषः का साधुत्व प्रदर्शित किया है। हेम ने 'वसूपमत्तौ च' २।१।१०५ सूत्र से विद्वस् के व-स् को उप कर दिया है। वृत्रघ्न बनाने के लिए पाणिनि ने हन् में हकार के आकार का लोप कर ह् के स्थान पर घ् बनाने के लिए 'हो हन्तेर्जिर्गन्नेषु' ७।३।५४ सूत्र लिखा है। हेम ने हन् को 'हनो हो घ्न' २।१।११२ के द्वारा सीधे घ्न बना दिया है। हेम का प्रक्रियालाघव शब्दानुशासन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

हेम ने कारक प्रकरण आरम्भ करते ही कारक की परिभाषा दी है, जो इनकी अपनी विशेषता है। पाणिनीय अनुशासन में उनके बाद के आचार्यों ने 'क्रियान्वयित्वम् कारकत्वम्' अथवा 'क्रियाजनकत्व कारकत्वम्' कहकर कारक की परिभाषा बताई है, किन्तु पाणिनि ने स्वयं कोई चर्चा नहीं की है। हेम और पाणिनि दोनों ने ही कर्ता की परिभाषा एक समान की है। पाणिनि ने द्वितीयान्त कारक जिसे कर्मकारक कहते हैं, बताने के लिए कभी तो कर्मसज्ञा की है और कभी कर्मप्रवचनीय तथा इन दोनों सज्ञाओं द्वारा द्वितीयान्त पदों की सिद्धि की है। 'कर्मणि द्वितीया' तथा 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' सूत्रों द्वारा द्वितीया के विधान के साथ सीधे द्वितीयान्त का भी विधान किया है। हेम ने कर्मकारक बनाते समय सर्वप्रथम कर्म की सामान्य परिभाषा 'कर्तुर्व्याप्य कर्म' २।२।३ सूत्र में बताई है, इसके पश्चात् विशेषपद, मन्निधान में जहा द्वितीयान्त बनाना है, वहा कर्मकार-

कत्व का ही विधान है अर्थात् कर्म कह देने में द्वितीयान्त समझ लिया जाना है। हेम के अनुसार कर्म स्वतः सिद्ध द्वितीयान्त है, उसमें द्वितीया विभक्ति लाने के लिए सामान्यतः किसी नियमन की आवश्यकता नहीं है। किन्तु एक बात यहाँ विशेष उल्लेखनीय है, वह यह है कि जहाँ पाणिनि ने यह स्वीकार किया है कि द्वितीयान्त बन जाने में ही कर्मकारक नहीं कहलाया जा सकता, वल्कि उसमें कर्म की परिभाषा भी घटित होनी चाहिए, फिर भी द्वितीयान्तमात्र होने के कारण उन रूपों का भी कारक प्रकरण के कर्मभाग में संग्रह कर दिया गया है। अतः पाणिनि की दृष्टि में विभक्ति और कारक 'वृथक्' वस्तु है। विभक्ति अर्थ की अपेक्षा रखती है, पर कारक शब्द सापेक्ष है, हेम ने भी 'क्रिया विशेषणात्' २।२।४१ तथा कालाध्वनोर्व्याप्ती' २।२।४२ में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। हेम का यह प्रकरण पाणिनि के समान ही है।

हेम का 'उगन्वध्याङ्वम्' २।२।२१ सूत्र पाणिनि के १।४।४८ के तुल्य तथा 'साधकतम करगम्' २।२।२४ सूत्र पाणिनि के १।४।४२ के तुल्य हैं। पाणिनि ने 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' १।४।२५ सूत्र में 'ध्रुव' शब्द का प्रयोग किया है, जिसकी व्याख्या परवर्ती आचार्यों ने अवधि अर्थ द्वारा की है। हेम इस प्रकार के झमेले में नहीं पड़े हैं। इन्होंने सीधे 'अपायेऽवधिरपादानम्' २।२।२६ सूत्र लिखा है। पाणिनि के रचित सूत्र में सन्देह के लिए अवकाश था, जिसका निराकरण टीकाकारों द्वारा हुआ। परन्तु हेम ने सूत्र में ही अवधि शब्द का पाठ रखकर अर्थ सन्देह की गुजायश नहीं रखी है।

'सम्बोधने चे' २।३।४७ पाणिनि का सूत्र है पर हेम ने 'आभन्ते च' २।२।३२ सूत्र सम्बोधन का विधान करने के लिए लिखा है।

पाणिनीय तन्त्र में क्रिया विशेषण को कर्म बनाने का कोई भी नियम नहीं है, बाद के व्याकरणों और नैयायिकों ने 'क्रिया विशेषणानां कर्मत्वम्' का सिद्धान्त स्वीकार किया है। हेम ने 'क्रिया विशेषणात्' २।४।४१ सूत्र में उक्त सिद्धान्त को अपने तन्त्र में संगृहीत कर लिया है।

पाणिनि ने 'नम स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलवष ड्योगान्व' २।३।१६ सूत्र द्वारा अल शब्द के योग में चतुर्थी का विधान किया है, किन्तु हेम ने शक्यार्थ सभी शब्द के योग में चतुर्थी का नियमन किया है इससे अधिक स्पष्टता आ गई है। पाणिनि के उक्त नियम को व्यावहारिक बनाने के लिए उपर्युक्त सूत्र में अल शब्द को पर्याप्तार्थक मानना पड़ता है। अन्यत्र 'अल महीपाल तव श्रमेण' इत्यादि वाक्य व्यवहृत हो जायेंगे। हेम व्याकरण द्वारा सभी वाक्यों स्पष्ट हो जाती हैं, अतः किसी भी शक्यार्थक या पर्याप्तार्थक शब्द के साधुत्व में कहीं भी विरोध नहीं आता है।

पाणिनि ने अपादान कारक की व्यवस्था के लिए 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' १।४।२५ सूत्र लिखा है, किन्तु इस सूत्र से उक्त कारक की व्यवस्था अधूरी रहती

है। अतएव वात्तिककार ने वात्तिक और पाणिनि ने अन्य सूत्र लिखकर इस व्यवस्था को पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकरण में 'जुगुप्सा विराम-प्रमादा-र्थानामुपसंख्यानम्' (का० वा०), 'भीत्रार्थानां भयहेतु' १।४।२५, 'पराजेरसोढ' १।४।२६, 'वारणार्थानामीप्सित' १।४।२७, 'अन्तर्थो येनादर्शनमिच्छति' १।४।४८, 'जनिकर्तुं प्रकृति' १।४।३०, 'भुव प्रभव १।४।३१, पचमी विभक्ते' २।३।४२ 'यतश्चाध्वकालनिर्माणं तत्रपचमी' (का० वा०) सूत्र और वात्तिक लिखे गये हैं। पर आचार्य हेम ने 'अपायेऽवधिरपादानम्' २।२।१६ इस एक सूत्र में ही उक्त समस्त नियमों को अन्तर्भुक्त कर लिया है।

इस प्रकार हेमचन्द्र ने पाणिनि के उक्त कार्यों का एक ही सूत्र में अन्तर्भाव कर लिया है। यद्यपि महाभाष्य में 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' १।४।२५ में हेम की उक्त समस्त वाते पाई जाती हैं, तो भी यह मानना पड़ेगा कि हेम ने महाभाष्य आदि ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन कर मौलिक और संक्षिप्त शैली में विषय को उपस्थित किया है।

पाणिनीय तन्त्र में जातिवाचक शब्दों के बहुवचन का विधान कारक के अन्तर्गत नहीं है। पाणिनि ने 'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्व्यतरस्याम्' १।२।५८ सूत्र द्वारा विकल्प से जातिवाचक शब्दों में एक में बहुत्व का विधान किया है और अनुशामक सूत्र को तत्पुरुष समास में स्थान दिया है। पर हेम ने इसी तात्पर्यवाले 'जात्याख्यायाऽनवैकोऽमख्यो बहुवत्' २।२।१२१ सूत्र को कारक के अन्तर्गत रखा है। ऐसा मालूम होना है कि हेम ने यह सोचा होगा कि एक वचनान्त या बहुवचनान्त प्रयोगों का नियमन भी कारक प्रकरण के अन्तर्गत आना चाहिए। इसी आधार पर दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के अन्तिम चार सूत्र लिखे गये हैं। हेम के कारक प्रकरण का यह अन्तिम भाग पाणिनि की अपेक्षा विशिष्ट है। उक्त चारों सूत्र एकार्थ होने पर भी बहुवचन विभक्तियों के विधान का समर्थन करते हैं। विभक्ति-विधायक किसी भी तरह के सूत्र को कारक से सम्बद्ध मानना ही पड़ेगा। अतः इन चारों सूत्रों का यद्यपि विभक्ति नियमन के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, फिर भी परम्परागत सम्बन्ध तो है ही किन्तु विभक्त्यर्थ के साथ एक-वचन या बहुवचन के नियमन का सीधा सम्बन्ध नहीं है, इसी कारण हेम ने इन्हे कारक प्रकरण के मध्य में स्थान नहीं दिया। कारक के साथ उक्त विधान का पारस्परिक सम्बन्ध है, यह बात बतलाने के लिए ही इन्होंने कारक प्रकरण से दूर कर के उसी के अन्त में ग्रथित किया है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी का स्त्रीप्रत्यय प्रकरण चौथे अध्याय के प्रथम पाद से आरम्भ होकर ७७वें सूत्र तक चलता है। आरम्भ में सुप् प्रत्ययों का विधान है। इसके पश्चात् तृतीय सूत्र 'स्त्रियाम्' ४।१।३ के अधिकार में उक्त सभी सूत्रों को मानकर स्त्री प्रत्यय-विधायक सूत्र निश्चित किए गए हैं। प्रत्ययों में सर्वप्रथम

टाप् और डीप् आए हैं, अनन्तर डाप्, डीन्, डीप् और ती प्रत्यय आये हैं। हेम-व्याकरण में दूसरे अध्याय के सम्पूर्ण चौथे पाद में स्त्री प्रत्यय समाप्त हुआ है। सुप् प्रत्ययों का समावेश न करके 'स्त्रिया नृतो भवस्त्रादेर्डी' २।४।१ सूत्र में ही 'स्त्रियाम्' पद आया है जिसकी आवश्यकता स्त्रीत्व के ज्ञान के लिए है, हेम ने यही से स्त्रीत्व का अधिकार मान लिया है। पाणिनि ने ऋकारान्त और नकारान्त शब्दों से डीप् करने के लिए 'ऋन्नेभ्यो डीप्' ४।१।५ अलग सूत्र लिखा है तथा 'न षट् स्वस्रदिभ्य' ४।२।१० द्वारा यहाँ डीप्, टाप् का प्रतिषेध किया है। पाणिनि ने 'उगितश्च' ४।१६ के द्वारा भवती, प्राची जैसे दो तरह के शब्दों का साधन कर लिया है, परन्तु हेम ने इसके लिए 'आवातूदृदिन' १।४।२ और 'अच' ३।४।३ ये दो सूत्र बनाए हैं। अत्यन्त लाघवेच्छु हेम का यहाँ गौरव स्पष्ट है।

पाणिनि ने बहुव्रीहि समास सिद्ध शब्दों को स्त्रीलिंग बनाने के लिए प्राय बहुव्रीहि विषय के सामान्य सूत्रों की रचना की, लेकिन हेम यहाँ विशेष रूप से ही अनुशासन करते दिखाई पड़ते हैं। अशिथु से अशिपी बनाने के लिए 'अशिशो' २।४।८ सूत्र की अलग रचना है।

पाणिनि ने सर्वप्रथम स्त्री प्रत्यय में 'अजाद्यतष्टाप्' ४।१।४ सूत्र लिखा है, हेम ने इस प्रकरणिका में ही परिवर्तन किया है। हेम व्याकरण में पहले डीप् प्रत्यय का प्रकरण है, उसके अन्त में उभका निषेध करने वाले 'नोपान्त्यवत्' २।४।१३ और 'मन्' २।४।१४ ये दो सूत्र हैं। उक्त दोनों सूत्रों के कारण जिन शब्दों में अन् और मन् प्रत्यय लगे होते हैं, उनके बाद स्त्रीलिंग बनाने के लिए डी प्रत्यय नहीं आता है। इस प्रकार डी प्रत्यय को स्त्रीलिंग बनाने के लिए 'ताभ्या वाप् ङित्' २।४।१५ सूत्र द्वारा आम् प्रत्यय का विधान किया है। तत्पश्चात् 'अजाये' २।४।१६ सूत्र को रखा है। पाणिनि ने कुमारी आदि शब्दों को सिद्ध करने के लिए 'व्यसि प्रथमे' ४।१।२० सूत्र की रचना की, जिसका तात्पर्य है कि प्रथम अवस्था को बतलाने वाले शब्द से स्त्रीलिंग बनाने के लिए डीप् प्रत्यय होता है। हेम के यहाँ उक्त सूत्र के स्थान पर 'वयस्यन्त्ये' २।४।२१ सूत्र है। इसमें अन्तिम अवस्था पुढापा से भिन्न अर्थ को बतलाने वाले सभी शब्दों के आगे डी प्रत्यय लगता है। जैसे कुमारी, किशोरी और वधूटी आदि। पाणिनि के उक्त सूत्रानुसार वधूटी और किशोरी शब्द नहीं बनने चाहिए, क्योंकि ये शब्द प्रथम अवस्थावाची नहीं हैं, अतः इनकी सिद्धि उक्त सूत्र से नहीं हो सकती है। अतएव किशोरी और वधूटी के स्थान पर पाणिनि के अनुसार किशोरा और वधूटा ये रूप होने चाहिए। पर हेम के सूत्र से उक्त सभी उदाहरण सिद्ध हो जाते हैं। हेम ने 'वयस्यन्त्ये' २।४।२१ सूत्र बहुत सोच समझ कर लिखा है।

पाणिनि के दोषपरिमार्जन के लिए कात्यायन ने 'वयस्यचरमे इति वाच्यम्' वार्तिक लिखा है। सचमुच में हेम का उक्त अनुशासन अध्ययन पूर्ण है।



पाणिनि ने समाहार में द्विगु समास माना है और उसको 'द्विगो' ४।१।२१ के द्वारा त्रिलोकी को नित्य स्त्रीलिंग माना है। हेम ने उसके लिए 'द्विगोस्समाहारात्' २।४।२१ सूत्र लिखा है। यहाँ समाहारात् शब्द जोड़ने का कोई विशेष तात्पर्य नहीं मालूम होता।

पाणिनि ने बहुादिगण पठित शब्दों को स्त्रीलिंग बनाने के लिए वैकल्पिक डीप् का विधान किया है। उक्त गण के अन्तर्गत पद्धति शब्द को भी मान लेने पर पद्धति, पद्धती इन दो रूपों की सिद्धि होती है जिसको 'पद्धते' २।४।३३ के द्वारा हेम ने भी स्वीकार किया है। स्त्री प्रत्यय प्रकरण में आया हुआ 'यूनस्ति' ४।१।८७ सूत्र दोनों में एक है।

अव्ययीभाव समास के प्रकरण में पाणिनि की अपेक्षा हेमव्याकरण में निम्न मौलिक विशेषताएँ हैं —

(१) पाणिनि ने 'अव्यय विभक्तिसमीपसमृद्धिवृद्ध्यर्थाभावात्प्रत्ययासम्प्रति-शब्दप्रादुर्भावपश्चात्प्रत्ययानुपूर्वैर्यौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु' २।१।६ सूत्र लिखा है। प्रयोग की प्रक्रिया के अनुसार एक सूत्र रखने में सगति नहीं बैठती, क्योंकि केवल अव्यय का विभक्ति आदि अर्थों के अतिरिक्त भी समास होना चाहिए, इसके लिए उत्तरकालीन पाणिनीय व्याख्याकारों ने अव्यय का योग-विभाग करके काम चलाया है, पर हेम ने अपने व्याकरण को इस भ्रमे से बचा लिया है। इन्होंने ३।२।२१ वा सूत्र 'अव्ययम्' पृथक् लिखा है। इसके अतिरिक्त इन्होंने एक विशेषता और भी बतलाई है, वह यह है कि इससे द्वारा निष्पन्न समस्त शब्दों का बहुव्रीहि सज्ञा दी है।

(२) पाणिनि ने केशा-केशि, मुसला-मसलि, दण्डा-दण्डि इत्यादि शब्दों में बहुव्रीहि समास माना है। उक्त प्रयोगों में 'अनेकमन्यपदार्थे' २।२।२४ सूत्र द्वारा बहुव्रीहि समास हो जाने के बाद 'इच् कर्मव्यतिहारे' ४।४।१२७ तथा 'द्विदण्ड्या दिभ्यश्च' ५।४।१२८ सूत्रों द्वारा इच् प्रत्यय का विधान किया है। किन्तु हेम ने इसके विपरीत उपर्युक्त प्रयोगों में अव्ययीभाव समास माना है। इस प्रक्रिया के लिए हेम ने 'युद्धे व्ययीभाव' ३।१।२६ सूत्र की रचना की है। हेम की यह मौलिक विशेषता है कि इन्होंने उक्त स्थलों पर अव्ययीभाव का अनुशासन किया है।

(३) पाणिनीय व्याकरण में 'अव्यय विभक्ति' इत्यादि सूत्र में यथा शब्द आया है। व्याकरणों ने उसके चार अर्थ किये हैं।

(१) योग्यता, (२) वीप्सा, (३) पदार्थानतिवृत्ति और (४) सादृश्य। उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार ही पाणिनि का बाद में आया हुआ सूत्र 'यथा सादृश्ये' २।१।७ सगत होता है। उसका अर्थ है यथा शब्द का समास सादृश्य अर्थ से भिन्न अर्थ में हो। इसका उदाहरण 'यथा हरिस्तथा हर' में समास को रोकना

है। अर्थात् यथा के अर्थ में कई अव्यय हैं, जिसमें स्वयं यथा का समास सादृश्य-भिन्न अर्थ में होता है।

हेम ने 'विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यङ्ग्यार्थभाव-अव्ययम्' ३।१।३६ सूत्र से यथा को हटा दिया। और 'योग्यता वीप्सार्थान् तिवृत्तिसादृश्ये' ३।१।४० अलग सूत्र लिखा, इसका तात्पर्य यह है कि इन चारों अर्थों में किसी अव्यय का समास हो जाता है। यथा अनुरूपं, प्रत्यर्थं, यथाशक्ति, सशीलम् इत्यादि। इसके बाद 'यथा था' ३।१।४१ सूत्र द्वारा यथा हरि यथा हर प्रयोगों की सिद्धि भी हेम ने कर ली है। उपर्युक्त प्रकरण में हेम ने अपनी अत्यन्त कुशलता का परिचय दिया है। हेम के अनुसार यथा शब्द दो प्रकार के होते हैं

(अ) प्रथम प्रकार का यथा शब्द यत् शब्द से 'था' प्रत्यय लगाने पर लगता है।

(ब) द्वितीय प्रकार का यथा शब्द स्वयं सिद्ध है। यथा शब्द के इन दो रूपों के अनुसार समासस्थलीय और असमासस्थलीय ये दो भेद हैं। जिस यथा शब्द में 'था' प्रत्यय नहीं है, ऐसे यथा शब्द का तो समास होता है जैसे यथारूपं चेष्टते, यथामूत्रम् अधीते, किन्तु यहाँ यथा शब्द 'था' प्रत्ययवाला है, वहाँ समास नहीं होता है। जैसे - यथा हरिस्तथा हर यहाँ समास नहीं है। इसी प्रकार यथा चैत्र-स्तथा मैत्र में भी समास का अभाव है।

इस प्रकार हेम ने अव्ययीभाव समास में पाणिनि की अपेक्षा मौलिकता और नवीनता दिलाई है। हेम ने यथा शब्द का व्याख्यान कर शब्दानुशासक की दृष्टि से अपनी सूक्ष्म प्रतिभा का परिचय दिया है। समास प्रकरण में हेम की प्रक्रिया प्रवृत्ति में लाघव और सरलता ये दोनों गुण विद्यमान हैं।

हेम का तत्पुरुष प्रकरण 'गतिवकन्यस्तत्पुरुष' ३।१।४२ से आरम्भ होता है। इस सूत्र के स्थान पर पाणिनि ने 'कुगतिप्रान्यः' २।२।१८ सूत्र लिखा। उनके यहाँ गति और प्रादि अलग-अलग हैं, किन्तु हेम ने दोनों का समावेश गति में किया है। हेम की एक सूक्ष्म सूक्ति यहाँ यह है कि 'कुत्मित पुरुषो यस्थ स कुपुरुष' इस स्थल पर बहुव्रीहि समास न हो इसके लिए उन्होंने अन्य पद लिखा है, जिसकी व्याख्या उन्होंने स्वयं कर दी है। 'गतिकवन्वस्तत्पुरुष' ३।१।४२ सूत्र की लघुवृत्ति में हेम ने लिखा है 'अन्यो बहुव्रीह्यादिलक्षणहीन' पाणिनी ने भी उक्त स्थल में अन्य पदार्थ की प्रधानता होने के कारण बहुव्रीहि समास होने में सन्देह नहीं किया है।

पाणिनि तन्त्र के 'प्रादया' गताद्यर्थे प्रथमया' 'अत्याद्य कान्ताद्यथ द्वितीयया अवाद्य कुक्ष्ठाद्यर्थे तृतीया' आदि पाँच वाक्तिकों को हेम ने प्रात्यक्षपरिनिरादयो गतकान्तकुष्ठग्लानकान्तार्था प्रथमान्तै ३।१।४७ सूत्र में ही समेट लिया है।

'कुम्भकार' पाणिनि का उपपद समास है जिसका विग्रह 'कुम्भकरोति' और

समास कुम्भ | ऊम् | कार मे होता है। उक्त समास स्थल मे पाणिनीय तन्त्र मे कुछ द्रविड प्राणायाम करना पड़ता है, किन्तु हेम ने 'डस्युक्त कृता' ३।१।४६ सूत्र द्वारा स्पष्ट अनुशासन कर दिया है। न समास विधायक न ३।१।५१ सूत्र दोनो के यहा समान है।

पाणिनि ने द्विगु समास के लिए 'सख्यापुर्वो द्विगु.' सूत्र लिखा है, जिसकी त्रुटिपूर्ति कात्यायन ने समाहारे चायमिष्यते' कार्तिक द्वारा की है। इसी प्रकरण मे पाणिनि ने तद्धितार्थ, उत्तरपद और समाहार मे तत्पुष्प समास करने के लिए 'तद्धितार्थोत्तरपद समाहारे च' २।१।५१ सूत्र लिखा है। हेम ने इस बृहत् प्रक्रिया के लिए एक ही 'सख्या समाहारे च द्विगुश्चानान्ययम्' ३।१।६६ सूत्र रखा है। प्रायः यह देखा जाता है कि जहा पाणिनि ने सक्षिप्त शैली को अपनाया है वहा हेम की शैली प्रसार प्राप्त है किन्तु उपर्युक्त स्थल मे हेम का सक्षिप्तीकरण श्लाघ्य है। यहा एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहा पाणिनीय तन्त्र मे विस्तृत प्रक्रिया होने पर भी विश्लेषण नही हो पाया है। वहा हेम की सक्षिप्त शैली से भी पाठक को विषय समझने मे अधिक सरलता होती है।

पाणिनि ने 'चित्रा भावो यस्य स चित्तगु' मे बहुव्रीहि समास किया है किन्तु साथ ही चित्राओ मे कर्मधारय समास मानकर चित्रा का पूर्व निपात किया है। हेम ऐसे स्थलो से एकमात्र बहुव्रीहि समास मानते हैं, अतः चित्रा पद की व्यवस्था के लिए 'तृतीयोक्त वा' ३।१।५० सूत्र का पृथक् निर्माण किया है। इससे ज्ञात होता है कि बहुव्रीहि मे विशेषण का पूर्व निपात करने के लिए पृथक् नियम बनाना आवश्यक है क्योंकि बहुव्रीहि समास स्थल मे विशेष्य-विशेषण पदो मे अलग-अलग समास हेम के मत मे नही होता है। यदि होता तब तो चित्रा शब्द का पूर्व निपात हो ही जाता, किन्तु हेम ने सिद्धांतानुसार बहुव्रीहि समास हो जाने के उपरान्त विशेष्य-विशेषण समास का निषेध हो जाता है पर इसमे यह सन्देह नही रहता कि विशेषण का पूर्व निपात हो या विशेष्य का। इस सन्देह का निरसन करने के लिए हेम ने विशेषण का स्पष्ट रूप से पूर्व निपात करने का पृथक् विधान कर दिया है।

पाणिनि के उदीचो उत्तरवासियो के मत मे 'मातरपितरौ' को शुद्ध माना है अर्थात् उसके अनुसार 'मातरपितरौ ? और मातापितरौ' ये दोनो प्रयोग होने चाहिए। हेम ने भी मातरपितर वा ३।२।४७ मे वैसा ही विधान स्वीकार किया है, परन्तु इनके उदाहरणो मे भतभिन्नता भी प्रकट होती है। पाणिनि ने द्वन्द्व समास की विभक्ति मे ही 'मातरपितर' रूप ग्रहण किया है। किन्तु हेम ने सभी विभक्तियों के योग मे 'मातरपितर' रूप ग्रहण किया है, जैसे—मातपितरयौ आदि। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि हेम के समय मे मातरपितर, यह वैकल्पिक रूप सभी विभक्तियों के योग मे व्यक्त होने लगा था।

संस्कृत में यह साधारण नियम है कि न ममाम में दूसरा पद जहाँ व्यजनादि होता है वहाँ न के स्थान पर अ होता है। और उत्तरपद स्वरादि हो तो न के स्थान पर अन् होता है। पाणिनि ने इन प्रयोगों की सिद्धि के लिए क्लिष्ट प्रक्रिया दिखलायी है। उन्होंने व्यजनादि शब्द के सम्पर्क में रहने वाले 'न' के न् का लोप किया है और उत्तरादि उत्तरपद के पूर्व स्थित न में न् का लोप कर अवशिष्ट अ के बाद नु का आगम कर अनु बनाया है। हेम ने इस प्रसंग में अत्यन्त सीधा एवं स्पष्ट तरीका अपनाया है। उन्होंने नत् ३।२।२५ सूत्र के द्वारा सामान्य रूप से न के स्थान में अ का विधान किया और अन् स्वरे ३।२।१२६ सूत्र के द्वारा अपवाद स्वरूप स्वरादि उत्तरपद होने पर अनु का विधान किया है।

तिङन्त प्रकरण पर विचार करने से ज्ञात होता है कि—हेम के पूर्वकाल-संवर्धी प्रक्रिया के लिए दो विधियाँ प्रचलित थीं। प्रथम कातन्त्र प्रक्रिया की विधि, जिसमें वर्तमाना, सप्तमी, पचमी हस्तनी, अद्यतनी, परोक्षा, आशीश्वस्तनी, भविष्यन्ति एवं क्रियातिपत्ति ये दश काल की अवस्थाएँ थीं। दूसरी पाणिनि की प्रक्रिया जिसमें लट्, लिट्, लुट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ् एवं लृङ् ये दश लकार कालद्योतक माने गये थे। हेम ने कातन्त्र पद्धति को अपनाया है। इसका कारण यह है कि पाणिनीय तन्त्र में एक तो प्रक्रिया में अर्थ-ज्ञान के पूर्व एक मूल कोटि का ज्ञान आवश्यक था अर्थात् लकारों के स्थान में आदेशों को समझना पड़ता था और साथ ही अर्थों को भी, किन्तु कातन्त्र तन्त्र में केवल अर्थों के अनुसार प्रत्ययों को समझना आवश्यक था। अतएव हेम ने सरलता की दृष्टि से कातन्त्र पद्धति को ग्रहण किया। हेम का यह सिद्धान्त समस्त शब्दानुशासन में पाया जाता है कि ये प्रक्रिया को जटिल नहीं बनाते। जहाँ तक संभव होता है वहाँ तक प्रक्रिया को सरल और बोधगम्य बनाने का आयास करते हैं।

पाणिनि के लङ् (ह्यस्तनी हेम) का विधान अद्यतन सूत्र के लिए किया है और परीक्षा के लिए लिट् का। इसमें यह कठिनाई हो सकती है कि अनद्यतन परीक्षा में लिट् लकार का ही सर्वथा प्रयोग किया जाय। हेम ने उक्त कठिनाई का निराकरण 'अनद्यतने ह्यस्तनी' के व्याख्यान में तथा 'अविक्षिते' ५।२।१४ सूत्र द्वारा कर दिया है अर्थात् इनके मत में परोक्ष होते हुए भी जो विषय दर्शन अविवक्षित शक्य हो वहाँ तथा परोक्ष जहाँ परोक्ष की विवक्षा न हो, वहाँ ह्यस्तनी का ही प्रयोग होना चाहिए।

हेम के तिङन्त प्रकरण में पाणिनि की अपेक्षा निम्नांकित धातु नवीन मिलती है। धातुरूपों की प्रक्रिया पद्धति में दोनों शब्दानुशासकों का समान ही शासन उपलब्ध होता है।

धातु	अर्थ	रूप
अधुङ्	गत्याक्षेप	अङ्घने, अङ्घिष्ट, आनङ्घे ।
अर्जण	प्रतियत्न	आर्जयति, आर्जयत्, अर्जया चकार ।
अटुड	गति	अण्ठते, आण्ठिष्ट, आनण्ठे ।
आङ्शासूकि	इच्छा	आशास्ते, आशामिष्ट, आशशासे ।
इ	गति	अयति, अयेत्, अयतु आयत् ऐषीत्, इयाय, इयात्, एता, एष्यति, ऐष्यत् ।
इजुड	गति	ऐजिष्ट, इ जा चक्रे, इ जामास, इ जाम्बभूव ।
उगु	गति	उडगा चकार, उङ्गामास, उडगाम्बभूव ।
उष	दाह	ओषति, ओषेत्, ओषतु, औषत् ।
उदि	मान और क्रीडा	ऊर्दते, और्दिष्ट, ऊर्दा चक्रे ।
ओवै	शोषण	ओवयात्, ओवयास्ताम्, ओवयासु ।
कर्ज	व्यथन	कर्जति, कर्ज, कर्ज्यत्, कर्जिता, कर्जिष्यति, अकर्जिष्यत्
किकिष्ण्	हिंसा	क्रिष्कयते, अचिक्रिष्कत, क्रिष्कया चक ।
कुत्सिण्	अवक्षेप	कुत्सयते, अचूकुत्सत, कुत्सया चक्रे ।
कूणिण	सकोचन	कूणयते, अचूकुणत, कूण्या चक्रे ।
कुख्, खुज्	स्तेय	खोजति, कोजति, खोजेत्, कोजेत्, खोजतु, कोजतु, अखोजत्, अकोजत्, अखोजीत्, अकोजीत् खुखोज, कुकोज, खुज्यात् ।
कृ	हिंसा	कृणाति, कृणीयात्, कृणातु, अकृणात्, अकारीत्, चकार, कर्यात् ।
केवङ्	सेवन	केवते, अकेविष्ट, चिकेवे ।
वनथ	हिंसा	वनथति, अवनाथीत्, अवनथीत्, चवनाथ ।
गड	सेवन	गडति, अगाडीत्, अगडीत् ।
गग्घ	हसन	गग्धति, गग्धेत्, गग्धतु, अगग्धत्, अगग्धीत्, गगग्घ ।
गुत्	पुरीषोत्सर्ग	गुवति, गुवेत्, गुवतु, अगुवत्, अगुपीत्, जुगाव, गूयात् ।
जेषङ्	गति	जेपते, अजेपिष्ट, जिजिषे ।
टुड	निमज्जन	टुडति, अटुडीत्, टटोड,

डपि, ङिपि	सघात	डम्पयते, ङिम्पयते, अडङम्पत, अङी- ङिम्पत, डम्पया चक्रे, ङिम्पया चक्रे ।
डवु, ङिवुण	क्षेप	डम्पयति, ङिम्पयति, अडङम्पवत्, अङि- ङिम्पवत्, डम्पया चकार ।
तुवुण्	मर्दन	तुम्पयति, अतुतुम्पवत्, तुम्पया चकार ।
त्सर	छद्मगति	त्सरति, अत्सारीत्, तत्सार ।
नख	गति	नखति, नखेतु, नखतु, अनखत्, अनखीत्, ननाख, नखात् ।
नर्व	गति	नर्वति, अनर्वीत्, ननर्व ।
निवु	सोचन	निन्वति, अनिन्वीत्, निनिन्व ।
निपू	सेवन	नेपति, अनेपीत्, निनेप ।
पिच्चण्	कुट्टन	पिच्चयति, अपिपिच्चत्, पिच्चया चकार ।
व्नीश	वरण	व्लिनाति, अव्लेपीत्, विल्लाय ।
व्लेष्कण्	दर्शन	व्लेष्कयति, अविल्लेष्कण् व्लेष्कयामास ।
भुडत्	सघात	भुडति, अभुडीत्, वुभुडिम् ।
मिथग्	मेघा और हिमा	मेयति, अमेथीत्, मिमेय, मेयते, अमेथिष्ट, मिमेथे ।
मेथग	सगम	मेयति, अमेथीत्, मिमेथ, मेथते, अमेथिष्ट, मिमेथे ।
वर्फं	गति	वर्फति, अवर्फीत्, ववर्फ ।
वाघड	रोटन	वाघते, अवाघिष्ट, ववाघे ।
हेड	वैष्टन	हेडति, अहेडीत्, जिहेड ।

पाणिनि और हेम के कृदन्त प्रकरण पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इन दोनों वैयाकरणों ने इस प्रकरण को पर्याप्त विस्तार दिया है। दोनों अनुशासकों के प्रयोगों में समता रहने पर यत्र तत्र विशेषताएँ भी दिखलाई पड़ती हैं।

पाणिनि ने 'वास्तव्य' प्रयोग की सिद्धि के लिए कोई अनुशासन ही नहीं किया है। कात्यायन ने इसकी पूर्ति अवश्य की है, किन्तु उनका अनुशासन प्रकार पूर्ण वैज्ञानिक नहीं रहा है। उन्होंने उक्त प्रयोग की सिद्धि के लिए 'वसेस्तव्यत् कर्तरि णिच्' वार्तिक लिखा है, जिसका अभिप्राय है कि वस् धातु के कर्ता अर्थ में तव्यत् प्रत्यय होता है और वह स्वयं णित् भी होता है। णित् करने का लाभ यह है कि णित् करने से आदिम स्वर की वृद्धि भी हो जाती है। हेम ने उक्त प्रयोग की सिद्धि निपातन के द्वारा की है, यद्यपि निपातन की विधि अगतिक गति ही है, किन्तु हेम के यहाँ यह स्थिति मौलिक बन गई है। पाणिनि ने रच्य और अव्यय्य को निपातन के द्वारा ही सिद्ध किया है। हेम ने उक्त प्रयोग द्वय में वास्त-

व्य को भी मिलाकर 'रुच्या व्यथ्यवास्तव्यम्' ४।१।६ द्वारा नैपातनिक अनुशासन किया है। हेम के ऐसा करने से यह लाभ हुआ है कि वास्तव्य की सिद्धि से अष्टाध्यायी के अभाव की पूर्ति तो हुई ही है, साथ ही कात्यायन की गौरवभ्रस्त प्रक्रिया से बचाव भी हो गया है।

पाणिनि ने तव्य, तव्यत्, अनीयर्, यत्, वयप् और घ इन प्रत्ययों की कृत्य सज्ञा देने के लिए एक अधिकार सूत्र "कृत्या" ३।१।६ की रचना की है, जिससे ण्वुल् के पहले आने वाले उपर्युक्त प्रत्यय कृत्य बोधक हो जाते हैं। हेम ने इससे भिन्न शैली अपनायी है। पहले उन सभी प्रत्ययों का उल्लेख कर देने के बाद 'ते कृत्या' ५।१।४७ सूत्र के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि ऊपर के सभी प्रत्यय कृत्य कहे जाते हैं। ऐसा करने से इस सन्देह का अवसर ही नहीं आता कि आगे आने वाले कितने प्रत्यय कृत्य कहे जा सकते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी का "कृत्या" सूत्र इस बात को स्पष्ट करने में अक्षम है कि उसका अधिकार कहा तक रहे? इसका स्पष्टीकरण उत्तरकालीन पाणिनीय वैयाकरणों के द्वारा ही हो सका है। नन्दिग्रहिपचादिभ्यो त्युणिन्यच ३।१।३४ सूत्र से पाणिनि ने नन्द्यादि से अन्, ग्रहादि से णिनि और पचादि से अच् प्रत्यय का विधान किया है, किन्तु हेम ने इन तीनों प्रत्ययों के विधान के लिए पृथक्-पृथक् तीन सूत्र रखे हैं। अच्-विधाय अच् ५।१।४६ सूत्र, अन्-विधायक नन्धादिभ्योऽनः ५।१।५२ और णिन्-विधायक ग्रहादिभ्यो णिन् ५।१।५३ सूत्र है। हेम ने सरलता की दृष्टि रखकर तो विभाजन किया ही है, साथ ही अनुशासन शैली में मौलिकता भी स्थापित की है। यह स्पष्ट है कि अच् प्रत्यय-विधायक सूत्र का हेम ने सामान्यतः उल्लेख किया है, इसमें एक बहुत बड़ा रहस्य है। नन्दादि एव ग्रहादि दोनों गणों में पठित शब्द परिगणित हैं, इसी कारण पाणिनि ने भी पचादि को आकृतिगण माना है। आकृतिगण का मतलब यह होता है कि परिगणितों के सदृश शब्द भी उसी तरह सिद्ध समझे जायें। यहाँ पचादि को आकृतिगण मानने से पाणिनि का तात्पर्य यह है कि पचादिसवन्धी अच् कार्य पचादि गण में अनिर्दिष्ट धातुओं से भी सम्पन्न हो।

हेम व्याकरण में जैसा कि —ऊपर कहा जा चुका है कि सामान्य रूप से सभी धातुओं से अच् प्रत्यय का विधान माना गया है। इससे फल यह निकलता है कि पचादि का नाम लेकर उसे आकृतिगण मानने की आवश्यकता नहीं होती। इस शैली में एक यह अडचन अवश्य होती है कि क्या सभी धातुओं के आगे अच् प्रत्यय लगे? मालूम होता है कि विशेष रूप से अभिहित अण और णन् प्रत्ययों में प्रकृति स्थलों को छोड़कर सर्वत्र अच् प्रत्यय का अभिधान करना हेम को स्वीकार है। संभव है इनके समय में इस तरह के प्रयोग किये जाने लगे होंगे।

पाणिनि ने जृ धातु से अतन् प्रत्यय विधान का जरत शब्द सिद्ध किया है,

जिसका स्त्रीलिंग रूप जरती होगा। हेम ने जृष धातु से अत् प्रत्यय करके उक्त रूपों की मिद्धि की है।

संस्कृत भाषा की यह सामान्य विधि है कि इसमें परस्मैपदी धातुओं के साथ अत् और आत्मनेपदी धातुओं के साथ आन प्रत्यय (होता हुआ अर्थ में) लगते हैं। इसके विपरीत परस्मैपदी धातुओं से आन तथा आत्मनेपदी धातुओं से अत् प्रत्यय नहीं आ सकते। पाणिनीय व्याकरण में इस बात का पूर्ण निर्वाह किया गया है। पर हेम व्याकरण में पाणिनि की अपेक्षा प्रक्रिया की विशेषता है। हेम ने अवस्था, ज्विन एव गील अर्थ में गच्छमान आदि प्रयोग भी सिद्ध किये हैं। यह भाषा शास्त्र की एक घटना ही कही जायगी। ऐसा मालूम होता है कि पाणिनि के बहुत दिनों के बाद उक्त अर्थों में गच्छमान आदि प्रयोगों का भी औचित्य मान लिया गया होगा। इसलिए हेम ने कुछ विशेष अर्थों में परस्मैपदी धातुओं से भी आन प्रत्यय का अनुशासन किया। कृदन्त प्रकरण में और पाणिनि के अवशेष प्रत्ययों के अनुशासन में प्रायः समता है। हेम ने अपने इस प्रकरण को पर्याप्त पुष्ट बनाने का प्रयास किया है।

कृदन्त के अनन्तर हेम ने तद्धित प्रत्ययों का अनुशासन किया है। यद्यपि पाणिनीय अनुशासन में तद्धित प्रकरण कृदन्त के पहिले आ गया है। भट्टोजि दीक्षित का पाणिनीय तन्त्र की प्रक्रिया को व्यवस्थित रूप देने के लिए सिद्धान्त कौमुदी का पाणिनीय मस्करण तैयार किया है। इसमें इन्होंने प्रतिपादित शब्दों के साधुत्व के अनन्तर उनके विकारी तद्धित रूपों की साधना प्रस्तुत की है। यह एक साधारण सी बात है कि सुवन्त शब्दों का विकास तद्धित-निष्पन्न शब्द है, और तिङन्त शब्दों का विकार कृदन्त शब्द है। अतः व्याकरण के क्रमानुसार वर्णमाला, सन्धि सुवन्त शब्द, उनके स्त्रीलिंग और पुल्लिंग विवायक प्रत्यय, अर्थानुसार विभक्ति विधान, सुवन्तों के सामाजिक प्रयोग, सुवन्तों के विकारी तद्धित प्रत्ययों से निष्पन्न तद्धितान्त शब्द, तिङन्त, तिङन्तों के विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त प्रक्रिया रूप एव तिङन्त के विकारी कृत प्रत्ययों से मयोग से निष्पन्न कृदन्त शब्द आते हैं। हेम व्याकरण में तिङन्तों के अनन्तर कृदन्त शब्द और उसके पञ्चात् विभिन्न अर्थों में, विभिन्न तद्धित प्रत्ययों से निष्पन्न सुवन्त विकारी तद्धितान्त शब्द आए हैं। हेम का क्रम इस प्रकार है—पहले वे सुवन्त, तिङन्त की समस्त चर्चा करते हैं, इसके पञ्चान् उनके विकारों का निरूपण करते हैं। इन विकारों में प्रथम तिङन्तविकारी कृत प्रत्ययान्त कृदन्तों का प्ररूपण है, अनन्तर सुवन्तों के विकारी तद्धितान्त शब्दों का कथन है। अतः हेम ने अपने क्रमानुसार तद्धित प्रत्ययों का मन्त्रसे अन्त में अनुशासन किया है।

पाणिनि ने ण्य प्रत्यय के द्वागं दिनि में दैत्य, अदिनि और आर्त्त्य दोनों से



आदित्य तथा पत्यन्त बृहस्पति आदि शब्दों से बार्हस्पत्य आदि शब्दों की व्युत्पत्ति की है। हेम ने अनिदम्यणपवादे च दित्यदित्यादित्ययमपत्युत्तर पदाभ्या ६।१।१५ द्वारा नवप्रयुक्त याम्य शब्द की भी व्युत्पत्ति उक्त शब्दों के साथ प्रदर्शित कर पाणिनि की अवशिष्ट-पूर्ति की है।

पाणिनि ने गोघा शब्द से गौघेर, गौघार और गौघेय इन तीन तद्धितान्त रूपों की सिद्धि की है हेम ने भी गौघार और गौघेर की सिद्धि गोघाया दुष्टे-णार च ६।३।८४ के द्वारा की है। पाणिनीय तन्त्र में गौघार और गौघेर की सामान्यतः व्युत्पत्ति भर कर दी है अर्थात् गोघा के अपत्य अर्थ में उक्त शब्दों का साधुत्व प्रदर्शित किया गया है। पर हेम ने आर्थिक दृष्टि से एक विशेष प्रकार की नवीनता दिलायी है। इनके तन्त्र में ६।१।८१ के द्वारा निष्पन्न गौघार और गौघेर शब्द मात्र गोघा के अपत्यवाची ही नहीं हैं, किन्तु दुष्ट अपत्यवाची हैं।

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार मनोरपत्यम् अर्थ में अण् प्रत्यय कर मानव शब्द की सिद्धि की गयी है। हेम ने भी मानव शब्द की सिद्धि के लिए वही प्रयत्न किया है, किन्तु हेम ने इस प्रसंग में एक नवीन शब्द की उद्भावना भी की है। माणव कुत्यासाम् ६।१।६५ सूत्र द्वारा कुत्सित अर्थ में मानव में णत्व विधान कर 'मनोरपत्य भूढ माणव' की सिद्धि भी की है।

पाणिनीय तन्त्र में सम्राज शब्द से तद्धितान्त भाववाची साम्राज्य शब्द तो बन सकता है, पर कर्तृवाचक नहीं। हेम ने साम्राज्य शब्द को कर्तृवाचक भी माना है, जिसका अर्थ है क्षत्रिय। इसकी साधनिका सम्राज क्षत्रिये ६।१।१०१ सूत्र द्वारा बतलायी गई है। अर्थात् पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'सम्राज भाव या सम्राज. कर्म' इन विग्रहों में साम्राज्य शब्द निष्पन्न हो सकता है, जिसका अर्थ सम्राट् का स्वभाव या सम्राट् सम्बन्धी होगा। पर हेम के अनुसार सम्राज अपत्य पुपान्' इस विग्रह में भी साम्राज्य शब्द बनता है, जिसका अर्थ होगा सम्राट् की पुरुष सन्तान, इस प्रकार यहाँ यह देखा जाता है कि साम्राज्य शब्द के कर्तृवाचक स्वरूप की ओर या तो पाणिनि का ध्यान ही नहीं गया था अथवा उनके समय में इसका प्रयोग ही नहीं होता था। जो भी हो, पाणिनि की उस कमी की पूर्ति हेम ने अपने इस तद्धित प्रकरण में की है।

पाणिनीय शब्दानुशासन में वस घातु से ति प्रत्यय करने पर वसति रूप बनता है, हेम के यहाँ भी वसति रूप सिद्ध होता है। इस वसति शब्द से राष्ट्र अर्थ में अक और अण करने पर वासातक तथा वासात ये दो रूप बनते हैं। इन दोनों रूपों की सिद्धि के लिए हेम ने वसातेर्वा ६।२।६७ सूत्र की रचना की है, जिसके लिए पाणिनीयतन्त्र में कोई अनुशासन नहीं है।

पाणिनि ने 'युर्वातर्जया यस्य' इस अर्थ में बहुव्रीहि समास का विधान करने के बाद जाया के अन्तिम आकार को निङ आदेश करने का नियमन किया है।

पश्चात् उसके पूर्ववर्तीय य का लोपकर युवजानि प्रयोग बनाने का विधान है, यह एक बहुत विलष्ट प्रक्रिया मालूम पड़ती है, इसीलिए हेम ने सरलतापूर्वक उक्त प्रयोग की सिद्धि के लिए जाया या जानि ७३।१६४ के द्वारा जाया शब्द को जानि के रूप में आदिष्ट किया है। तद्धित का यह प्रयोग हेम के सरल अनुशासन का अच्छा परिचायक है।

हेम और पाणिनि दोनों ही महान् हैं। दोनों ने सस्कृत भाषा का श्रेष्ठ व्याकरण लिखा है। हेम में पाणिनि बहुत पहले हुए हैं। अतः इन्हें पाणिनि के शब्दानुशासन के अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ। पर हेम ने पाणिनि का पूर्ण अनुकरण नहीं किया है। जहाँ अनुकरण किया भी है, वहाँ उसमें मौलिकता का भी समावेश किया है। हेम ने एक नहीं अनेक स्थलों पर पाणिनि की अपेक्षा वैशिष्ट्य दिखलाया है। सरलता के लिए तो हेम प्रसिद्ध है ही। इन्होंने आरम्भ में विकार दिखलाया है। पश्चात् उत्सर्ग और अपवाद के सूत्र लिखे। वास्तव में हेम ने शब्दानुशासन के क्षेत्र में बड़ी समझदारी और वारीकी से काम लिया है। जहाँ पाणिनि ने वैदिक भाषा का अनुशासन दिया है, वहाँ हेम ने प्राकृत भाषा का। दोनों के व्याकरण अष्टाध्याय प्रमाण है। हेम के प्रयोगों के आधार पर से मस्कृत भाषा की प्रवृत्तियों का सुरु र इतिहास तैयार किया जा सकता है। शब्द सम्पत्ति की दृष्टि से हेम का भाण्डार अविक समृद्धशाली है। अपने समय तक की सस्कृत भाषा में होने वाले नवीन प्रयोगों को भी इन्होंने समेट लिया है। अतः यह निष्पक्ष कहा जा सकता है कि जिस काम को समस्त पाणिनि तन्त्र के आचार्यों ने मिलकर किया, उसको अकेले हेम ने कर दिखलाया। भाषा की विकसनशील प्रकृति का बहुत ही सुन्दर और मौलिक विश्लेषण इनके शब्दानुशासन में उपलब्ध होता है।

हेम और पाणिनि के इस तुलनात्मक विवेचन से ऐसा निष्कर्ष निकालना नितान्त भ्रम होगा कि पाणिनि हेम की अपेक्षा हीन है या उनमें कोई बहुत बड़ी त्रुटि पायी जाती है। सत्य यह है कि पाणिनि ने अपने समय में शब्दानुशासन का बहुत बड़ा कार्य किया है। सस्कृत भाषा को व्यवस्थित बनाने में इनके दिए गए अमूल्य सहयोग को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता है। हेम ने जहाँ अपनी मौलिक निष्पत्तियाँ उपस्थित की हैं, वहाँ उन्होंने पाणिनि से बहुत कुछ ग्रहण भी किया है। अनेक नियमन स्थलों में उनके ऊपर पाणिनि का ऋण है।\*

## संस्कृत व्याकरणों पर जैनाचार्यों की टीकाएँ : एक अध्ययन

डॉ० जानकी प्रसाद द्विवेदी

संस्कृत व्याकरण शास्त्र पर आचार्यों ने अपनी ज्ञानसाधना से जो अनेक व्याकरण ग्रन्थ लिखे उनमें आठ या नव को अपनी स्वतन्त्र विशेषताओं के कारण संस्कृत वाङ्मय में प्रमुख स्थान प्राप्त है। इनमें भी कुछ व्याकरण लौकिक-वैदिक उभयविध हैं तथा कुछ केवल लौकिक शब्दों का ही अन्वाख्यान करते हैं। ढ या ९ प्रमुख व्याकरणों के भी दो मूल स्रोत माने जाते हैं—माहेश्वर और ऐन्द्र। माहेश्वर व्याकरण को समुद्रवत् तथा ऐन्द्रव्याकरण को उसकी तुलना में बहुत ही सक्षिप्त बताया गया है। फिर भी पाणिनीय व्याकरण की अपेक्षा वह विस्तृत ही था। पाणिनि से पूर्व लगभग ८५ व्याकरण आचार्यों के नाम प्राप्त होते हैं। दश आचार्यों के नाम पाणिनीय अष्टाध्यायी में भी स्मृत हैं। पाणिनि से पूर्वभावी व्याकरणों में केवल कुछ प्रातिशाख्य ही सम्प्रति प्राप्त होते हैं, जो वैदिक शाखाओं के व्याकरण हैं।

लौकिक-वैदिक उभयविध पाणिनीय व्याकरण शब्दलाघव का प्रातिनिध्य करता है और उसे सर्ववेदपारिपद कहा गया है। पाणिनि-परवर्ती कातन्त्रव्याकरण में अर्थलाघव को मान्यता दी गई है और वह अनेकत्र पाणिनीय व्याकरण की अपेक्षा सरल, सुबोध तथा भावप्रकाशक है। इसे मैंने अपने ग्रन्थ “कातन्त्रसूत्राणां पाणिनीयसूत्रं सह तुलनात्मकमध्ययनम्” में प्रत्येक सूत्र की समीक्षा करते हुए लिखा है (ग्रन्थ अप्रकाशित है)। अपनी कुछ विशेषताओं के कारण ही बङ्गाल, उड़ीसा, कश्मीर, राजस्थान एवं दक्षिणी प्रदेशों तथा तिब्बत, श्रीलङ्का, कम्बोडिया आदि अन्य देशों में भी कातन्त्र का पर्याप्त अध्ययन-अध्यापन होता रहा। टीका-सम्पत्ति के अतिरिक्त कातन्त्र को आधार मानकर कुछ अन्य व्याकरणों की भी रचना की गई।

कातन्त्र के अतिरिक्त पाणिनीय परवर्ती लगभग ४० व्याकरणों के नाम

उपलब्ध होते हैं, जिनमें कुछ तो अद्यावधि अप्रकाशित ही हैं, कुछ प्रकाशित व्याकरणों का भी प्रचार नहीं हो सका। सम्भवतः साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से लिखे जाने वाले हरिनामामृत आदि व्याकरण इस श्रेणी में आते हैं। शाकटायन, जनेन्द्र, हेमचन्द्र आदि प्रमुख जैन व्याकरणों का भी सम्प्रति विरल ही प्रयोग होता है। गुरुपद हालदार ने अपने “व्याकरणदर्शनेर इतिहास” (पृ० ४५५-५८) में व्याकरणों के प्रचार-प्रसार आदि को विशद रूप में समझाया है।

संस्कृत वाङ्मय के दर्शन, साहित्य, आयुर्वेद आदि क्षेत्रों में तो जैनाचार्यों का कार्ययोग प्रशसनीय रहा ही है, व्याकरण क्षेत्र में भी उन्होंने स्वतन्त्र व्याकरणग्रन्थ तथा अनेक टीकाग्रन्थों की रचना कर जो महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं वे संस्कृतसाहित्य की निधि के रूप में सदैव मान्य होते रहेंगे। प्राकृत निबन्ध में पाणिनीय, कातन्त्र, मारस्वत तथा सिद्धान्तचन्द्रिका नामक ४ जैनैतर व्याकरणों पर ६५ जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत टीकाग्रन्थों का परिचय दिया गया है जिनमें १६ टीकाओं पर विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। विशेष अध्ययन में किन्हीं अन्य टीकाओं के साथ सामान्यतया तुलना नहीं की गई है, केवल ग्रन्थ की भाषाशैली, विषयपरिचय, रचनाप्रयोजन तथा ग्रन्थगत कुछ मुख्य विशेषताओं को बताया गया है, जिनसे ग्रन्थनाम, रचनाप्रयोजन, ग्रन्थकार के ज्ञान तथा श्रम आदि की सार्थकता सिद्ध होती है।

उक्त चार व्याकरणों के अतिरिक्त वर्धमानकृत गणरत्नमहोदधि तथा उसकी स्वोपजवृत्ति पर भी एक संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि यह ग्रन्थ किसी एक निश्चित व्याकरण पर आधारित नहीं है, फिर भी इतना अवश्य है कि वह किसी जैन व्याकरण के गणपाठ की भी व्याख्या नहीं है तथा संस्कृत व्याकरण में गणपाठ का प्रौढ ग्रन्थ है। ऐसे टीकाग्रन्थों का परिचय यहाँ नहीं दिया गया है जिनके ग्रन्थकार असन्दिग्ध रूप में जैनाचार्य नहीं थे। सम्भवतः इनमें कुछ ऐसे भी ग्रन्थकार होंगे जो ग्रन्थ लिखते समय तक जैनधर्मानुयायी नहीं हो सके हों और इसीलिए उनके नामों के साथ किसी जैनीय उपाधि का उल्लेख भी न किया गया हो। प्रस्तुत लघुनिबन्ध में जिन टीकाओं का विशेष अध्ययन या सामान्य परिचय दिया गया है उन टीकाग्रन्थों तथा टीकाकारों की सूची अन्त में मलग्न है।

पाणिनीय प्रभृति सम्प्रदायों में राघवसूरि, पेरूसूरि, रामकृष्ण दीक्षितसूरि आदि कुछ अन्य जैनाचार्य वार्त्तिकभाष्य आदि ग्रन्थों के प्रणेता माने जाते हैं। उन ग्रन्थों के अनुपलब्ध होने में या विन्तारमय में उनका परिचय यहाँ नहीं दिया गया है। कातन्त्रसम्प्रदाय में दुर्गासिंह को एक प्रधान व्याख्याकार के रूप में मान्यता प्राप्त है, उनके वृत्तिटीका-परिभाषावृत्ति आदि ग्रन्थ भी प्राप्त हैं, परन्तु जैनाचार्यत्व में प्रामाण्य प्रमाण न होने में उनकी कृतियों का परिचय नहीं दिया गया है। कातन्त्र के आचार्य पर नक्षेत्र या विन्तार में बनाए गए बालशिक्षाव्याकरण तथा कातन्त्रोत्तर

(अपरनाम विधानन्द) को स्वतन्त्र व्याकरण भी माना जाता है—फिर भी इनमें कातन्त्र के ही अधिकांश सूत्रों की व्याख्या देखी जाती है, अतः उन ग्रन्थों का परिचय कातन्त्रव्याकरण की टीकाओं के क्रम में दिया गया है। जिनरत्नप्रणीत 'सिद्धान्तरत्न' को सारस्वतव्याकरण का रूपान्तर कहा गया है, परन्तु ग्रन्थ के अनुपलब्ध होने से यहाँ उसकी चर्चा सारस्वत व्याकरण की टीकाओं के अन्तर्गत की गई है।

## पाणिनीय व्याकरण टीकाएँ .

पाणिनीय व्याकरण पर चार जैनाचार्यों ने टीकाएँ लिखी हैं, जिनमें से किसी का तो नाममात्र ही शेष है, परन्तु ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता। (१) पूज्यपाद देवन्दी ने 'शब्दावतारन्यास' नामक टीकाग्रन्थ का प्रणयन किया था। (२) विद्यासागर मुनि ने काशिकावृत्ति की 'प्रक्रियामञ्जरी' नामक व्याख्या लिखी थी, जो मद्रास, त्रिवेन्द्रम के हस्तलेख भण्डारों में ही सुरक्षित है। (३) आचार्य जिनदेवसूरि ने पाणिनीय धातुपाठ पर 'क्रियाकलाप' नामक एक टीका लिखी थी। (४) आचार्य विश्वेश्वर सूरि ने 'व्याकरणसिद्धान्त-सुधानिधि' नामक अष्टाध्यायीक्रम से एक व्याख्या की रचना की है, जो तीन अध्यायों पर ही उपलब्ध होती है। सम्पूर्ण सूत्रों पर यह व्याख्या लिखी गई या नहीं—असन्दिग्धरूप से नहीं कहा जा सकता। यहाँ सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ का विशेष अध्ययन प्रस्तुत है।

### १ व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि

आचार्य विश्वेश्वरसूरि ने अष्टाध्यायीसूत्रक्रम से यह व्याख्या लिखी है। 'सुधानिधि' नाम के अनुसार यह विस्तृत व्याख्या है, जिसमें क्वचित् एक ही विषय के निरूपण में अनेक मतसम्बन्धी वचन प्रस्तुत किए गए हैं। ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार ने लक्ष्मीधर का परिचय अपने पिता के रूप में दिया है। अपने पिता से ही उन्होंने विद्याध्ययन भी किया था—ऐसा प्रतीत होता है। यह ग्रन्थ प्रारम्भिक ३ अध्यायों पर ही प्राप्त है, जो १६२४ में विद्याविलास प्रेस से दो भागों में प्रकाशित हुआ था। इसके द्वितीय भाग में भाण्डारी श्रीमाधवशास्त्री ने ग्रन्थकार का परिचय देते हुए एक किवदन्ती को भी उद्धृत किया है। जिसके अनुसार श्रीलक्ष्मीधर पाण्डेय अपनी वृद्धावस्था में अपत्यहीनता के कारण अत्यन्त सन्तप्त थे। दम्पति की तपस्या से भगवान् शङ्कर प्रसन्न हुए और उन्होंने लक्ष्मीधर को वर दिया कि आप मेरे समान पुत्र प्राप्त करेंगे। सातवें महीने में ही उत्पन्न होने वाले बालक का नाम विश्वेश्वर रखा गया, क्योंकि विश्वेश्वर के प्रसाद से ही इनका जन्म हुआ था।

पाँचवे वर्ष में ही पिता लक्ष्मीधर ने विधिवत् उपनयन स्कार किया और उन्हें वेद-शास्त्रादि की शिक्षा दी। विश्वेश्वर ने शीघ्र ही विविध विद्याओं में पारंगामिता प्राप्त कर ली तथा ३२ वर्ष की आयु से पहले ही इन्होंने तर्ककौतूहल, अलकारकौस्तुभ, सिद्धान्तसुधानिधि, रुक्मिणीपरिणय, आर्यासप्तशती एवं अलकार-कुलप्रदीप जैसे महान् ग्रन्थों की रचना की थी। ३२ वर्ष की आयु में इनका देहावसान हो गया था।

“अथ च वार्धक्य एवानपत्यत्वक्लेशप्रतप्रमानसाम्यादम्पतिभ्या प्रतप्ततीव्रतप-  
प्रसन्नेन यत किलाय सप्तम एव मासि गर्भवासान्निर्गत्य ३२ द्वावि-  
शतोऽब्देभ्य प्रागेव परममहनीयान् तर्ककौतूहल अलकारकुलप्रभृतीन् नैक-  
ग्रन्थान् महनीयान् विरच्य कीर्तिमालशरीरता लेभे इति च किंवदन्ती वदन्ति”  
(भूमिका, पृ० ३)।

ग्रन्थ के आरम्भ में वाङ्मय ब्रह्म को नमस्कार कर मुनित्रय तथा पिता लक्ष्मीधर को लोकोत्तर बताते हुए उनकी स्तुति की है। यह भी बताया गया है कि यद्यपि फणिनायक (पतञ्जलि) द्वारा किए गए भाष्य के सम्बन्ध में अल्पबुद्धिवाला कोई भी व्यक्ति सिद्धान्त निर्धारित करने में समर्थ नहीं हो सकता, फिर भी भगवान् शङ्कर के प्रसाद से यह कार्य सम्भव हो जाता है।

विषये फणिनायकस्य मार्ग क्षमते नैन विधातुमल्पमेधा ।

विवुधाधिपतिप्रसादद्वारा पुनराराद्रुपकारमारभन्ते

मंगलाचरण, श्लोक ५

इस कथन के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि उन्होंने महाभाष्य को आधार मानकर अपनी व्याख्या लिखी है। इस विषय का स्पष्टीकरण भूमिका में श्रीमाधव-शास्त्री ने भी किया है। फिर भी कही-कही भाष्यकार-वातिकार के मतों में लाघव या गौरव दिखाया गया है। भूमिका में उक्त आधार पर इसे प्रकरणग्रन्थ कहा गया है, जिससे ५ अध्यायों पर व्याख्या के न होने पर भी कोई न्यूनता नहीं कही जा सकती (द्र०—भूमिका, पृ० २)।

तृतीय अध्याय के अन्त में विद्वानों को लक्ष्य कर जो कहा गया है कि इसमें वर्णित वस्तु पर मनन करते हुए विद्वान् उसमें परिष्कार करें। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने ३ अध्यायों पर ही यह व्याख्या लिखी थी। ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ को सशय नष्ट करने वाला तथा विद्वानों के कौतूहल को बढ़ाने वाला कहा है। यद्यपि प्रतिज्ञानुसार महाभाष्य के अनेक मत उद्धृत किए गए हैं फिर भी अनेकत्र विषय से सबद्ध काशिका, पदमञ्जरी, शब्दकण्ठकोद्वार आदि ४० से भी अधिक ग्रन्थों तथा २० से भी अधिक ग्रन्थकारों के मतवचन उद्धृत किए गए हैं।

भूमिका-लेखक ने विश्वेश्वर सूरि का जीवनकाल भट्टोजिदीक्षित के अनन्तर तथा उनके पौत्र हरिदीक्षित से पूर्व माना है, क्योंकि सिद्धान्तसुधानिधि में शब्द-

कौस्तुभ के मत अनेकल उद्धृत हैं परन्तु शब्दरत्न का उल्लेख नहीं किया गया है। अन्य प्रमाणों के अभाव में यह विचार ही मान्य प्रतीत होता है। संस्कृत-विद्वानों को शब्दकौस्तुभ तथा व्याकरण सिद्धान्तसुधानिधि की अपूर्णता पर अवश्य ही ध्यान देना चाहिए तथा प्राप्त अशो का विधिवत् अन्वेषण कर नवीन तथ्य प्रकाश में लाने चाहिए।

## २ शब्दावतारन्यास

जैनेन्द्र व्याकरण के प्रणेता पूज्यपाद देवनन्दी ने अपने व्याकरण तथा पाणिनीय व्याकरण पर 'न्यास' ग्रन्थ बनाया था। पाणिनीय व्याकरण पर रचित 'न्यास' का नाम 'शब्दावतारन्यास' था, परन्तु यह सम्प्रति अप्राप्य है। इसकी रचना में प्रमाण प्राप्त हैं। नाथूराम प्रेमी, युधिष्ठिर भीमासक तथा अम्बालाल प्रे० शाह ने शिमोगा जिले की 'नगर' तहसील के एक शिलालेख को उद्धृत कर इसे स्पष्ट किया है। शिलालेख का सवद्ध अंश यह है—

न्यास जैनेन्द्रसज्ञ सकलबुधनुत पाणिनीयस्य भूयो  
न्यास शब्दावतार भनुजततिहित वैद्यशास्त्र च कृत्वा ।  
यस्तत्त्वार्थस्य टीका व्यरचयदिह भात्यसौ पूज्यपाद  
स्वामी भूपालवन्द्य स्वपरहितवच पूर्णदृग्बोधवृत्त ॥

इसमें पूज्यपादरचित वैद्यशास्त्र तथा तत्त्वार्थटीका का भी उल्लेख किया गया है। वृत्तविलास ग्रन्थ में कनाडी भापा के काव्यग्रन्थ 'धर्मपरीक्षा' की प्रशस्ति की गई है। प्रशस्तिवचन में पूज्यपाद द्वारा पाणिनीय व्याकरण पर किसी टीकाग्रन्थ के लिखे जाने का उल्लेख है (द्र० —संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४१३)। सम्भवतः 'शब्दावतारन्यास' को लक्ष्य कर ऐसा कहा गया हो। आचार्य वर्धमान ने स्वरचित 'गणरत्नमहोदधि' की स्वोपज्ञवृत्ति में अनेकल दिग्बस्त या दिगम्बर नाम से इन्हे अभिहित किया है और गणरत्नमहोदधि के प्रारम्भ में इनकी स्तुति भी की है दिग्बस्तभर्तृहरिवामनभोजमुख्या ।

## ३ प्रक्रियामञ्जरी

विद्यासागर मुनि ने काशिकावृत्ति पर यह टीका लिखी थी, इसके हस्तलेख मद्रास तथा त्रिवेन्द्रम में संगृहीत हैं। प्रारम्भिक लेख के अनुसार ग्रन्थकार के गुरु का नाम श्वेतगिरि था। लेख इस प्रकार है

“वन्दे मुनीन्द्रान् मुनिवृन्दवन्द्यान्,  
श्रीमद्गुरुन् श्वेतगिरीन् वरिष्ठान् ।  
न्यासकारवच पञ्चनिकरोद्गीर्णमम्बरे ।  
गृह्णामि मधुप्रीतो विद्यासागरषट्पद ॥

वृत्ताविति । सूत्रार्थप्रधानो ग्रन्थो भट्टनत्पूरप्रभृतिभिविरचितो वृत्तिः ।  
(द्र०-संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४६१-६२, युधिष्ठिर  
मीमांसक) ।

इस लेख में न्यासकार का स्मरण बड़े आदर के साथ किया गया है । इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने ग्रन्थ में न्यासकार के मतों का विशेष अनुसरण किया होगा । यहाँ न्यासकार शब्द का प्रयोग पूज्यपाद देवनन्दी के लिए किया गया है जो जैनाचार्य हैं और जिन्होंने पाणिनीय व्याकरण पर 'शब्दावतार' नामक न्यास बनाया था अथवा बोधिसत्त्वदेशीय आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि के लिए, जिन्होंने अपर नाम काशिकाविवरणपरिञ्जका न्यास की रचना की है और समग्र रूप में जो प्राप्त भी है यह स्पष्ट नहीं हो पाता । ग्रन्थ के अन्त का लेख इस प्रकार है

“इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यासागरमुनीन्द्रविरचिताया ।”

## ४ क्रियाकलाप

जैनसाहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ५ के लेखक प० अम्बालाल प्रेम शाह के अनुसार इसकी रचना जिनदेवसूरि ने की है । ये भावडारगच्छीय आचार्य थे तथा वि० स० १४१२ में पार्श्वनाथचरित की रचना करने वाले आचार्य भावदेवसूरि के गुरु थे । इससे यह कहा जा सकता है कि आचार्य जिनदेव ने वि० स० १४१२ के पूर्व या उसके आसपास क्रियाकलाप लिखा होगा । ग्रन्थ सम्प्रति अप्राप्य है ।

## कातन्त्रव्याकरण पर टीकाएँ

कातन्त्रव्याकरण के जैन तथा जैनोत्तर होने में अलग-अलग उल्लेख प्राप्त होते हैं ।<sup>१</sup> यहाँ जैनोत्तर मानकर उस पर जैनाचार्यों द्वारा लिखी गई टीकाओं का परिचय दिया जा रहा है । कातन्त्रव्याकरण की अनेक विशेषताओं में से कुछ इस प्रकार हैं अर्थलाघव तथा लोकव्यवहार का पर्याप्त समादर करना । इस व्याकरण में यद्यपि वैदिक शब्दों का अन्वाख्यान नहीं किया गया है तथापि ऐसे अनेक शब्दों की साधनप्रक्रिया बताई गई है जो मतान्तर से वेदप्रयुक्त भी माने जाते हैं । 'मोदक देहि' को सकेत मानकर आचार्य शर्ववर्मा द्वारा लिखे गए इस व्याकरण में सन्धि (मा । उदकम्), नाम (मोदकम्) तथा आख्यात (देहि) नामक तीन अध्याय एवं १६ पाद हैं (क्रमशः ५ + ६ + ५ = १६) । आचार्य शर्ववर्मा द्वारा इन तीन अध्यायों में ८५५ सूत्र बनाए गए हैं । चतुर्थ अध्याय (कृदन्त) वररुचि द्वारा प्रणीत है जिसमें ५४६ सूत्र हैं । शब्दानुशासन भाग के अतिरिक्त खिलपाठ, शिक्षा, छन्द-प्रक्रिया, कातन्त्रपरिशिष्ट आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध हैं । अनेकत्र पाणिनि की



अपेक्षा आचार्य शर्ववर्मा ने सरलप्रक्रिया का निर्देश किया है, जिसे मैंने प्रत्येक सूत्र के साथ तुलना करते हुए अपने एक ग्रन्थ में स्पष्ट किया है।

कातन्त्रवाङ्मय, सूत्ररचना, धातुपाठ आदि पर विशेष जानकारी के लिए मेरा ग्रन्थ “कातन्त्रव्याकरणविमर्श” (प्रकाशित १९७५ ई०) देखना चाहिए। पाणिनीयउत्तरवर्ती लगभग चालीस व्याकरणों में प्रमुख तथा सर्वप्रथम इस कातन्त्रव्याकरण का अध्ययन-अध्यापन भारत के अनेक प्रदेशों तथा देशान्तरो में भी होता रहा। देवनागरी, शारदा, वङ्ग, उत्कल, तेलुगु लिपियों में लिखे गए अनेक ग्रन्थ आज तक प्रकाशित नहीं हो सके हैं, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

प्रक्रियाक्रम के आविष्कारक इस व्याकरण पर अनेक सम्प्रदायों के आचार्यों ने व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं, जिनमें २८ आचार्य जैनसम्प्रदाय के हैं। इन आचार्यों के अधिकांश टीकाग्रन्थ अप्रकाशित हैं। यहाँ १३ टीकाओं पर विशेष अध्ययन प्रस्तुत कर १५ टीकाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

## १ कलापदीपिका

दुर्गसिंहछत कातन्त्रवृत्ति पर गीतम पण्डित ने यह लघु टीका लिखी है, इसका हस्तलेख विक्रमविश्वविद्यालय, उज्जैन के सिन्धिया प्राच्यविद्या शोधप्रतिष्ठान में सुरक्षित है। नामाध्याय के प्रथम पाद की समाप्ति पर उपन्यस्त वचन से ऐसा लगता है कि ग्रन्थकार के पिता का नाम वीरसिंहदेव था “इति वीरसिंहदेवोपाध्यायगीतमपण्डितविरचिताया दुर्गसिंहोक्तकातन्त्रवृत्तिटीकाया कलापदीपिकाया नाम्नि प्रथम पाद समाप्ति।”

टीकाकार ने यद्यपि अपने लेख की प्रामाणिकता के लिए व्याघ्रभूति, विद्यानन्द, वर्धमान आदि अनेक आचार्यों के अभिमत वचनों को उद्धृत किया है तथापि कुछ स्थलों के अध्ययन से पता चलता है कि विद्यानन्द के प्रति ग्रन्थकार की विशेष श्रद्धा थी। जैसे ‘अतिजर’ शब्द के सवय में कुछ विद्वानों का मत है कि नपुंसकलिङ्ग में अम् का पाक्षिक लोप होगा तथा लोपपक्ष में विसर्गान्त रूप होगा अतिजर कुल तिष्ठति, अतिजर कुल पश्य। विद्यानन्द ने यह मत उपेक्षणीय माना है अतः ग्रन्थकार ने विद्यानन्द का अभिमत उचित सिद्ध किया है तदिहाप्रमाणम् इत्युपेक्षिते इति विद्यानन्द। तस्माद् उभयत्र ‘अतिजरम्’ इत्येव भवति (पृष्ठ ४२ अ)।

## २ कातन्त्रदीपकः

मुनीश्वर सूरि के शिष्य मुनि हर्ष ने इसकी रचना की है। इसका आख्यातान्त भाग हस्तलेखों में सुरक्षित है। ग्रन्थ की रचना का प्रयोजन बुद्धिवर्धन बताया

गया है। प्रारम्भ में जिनेश्वर तथा भारती का स्मरण कर ग्रन्थरचना की प्रतिज्ञा की गई है—

भूर्भुव स्वस्त्रयीशान वरिवस्य जिनेश्वरम् ।

स्मृत्वा च भारती सम्यग् वक्ष्ये कातन्त्रदीपकम् ॥

अन्त में गुरु का नाम तथा रचनाप्रयोजन इस प्रकार दिया गया है

श्रीमुनीश्वरसूरीक शिष्येण लिखितो मुदा ।

मुनिहर्षमुनीन्द्रेण नाम्ना कातन्त्रदीपक ॥

व्यलेखि मुनिहर्षाख्यैर्वाचकैर्बुद्धिबृद्धये ॥ इति ।

### ३ कातन्त्रमन्त्रप्रकाश

कातन्त्रव्याकरण के रहस्यों को स्पष्ट करने के उद्देश्य से श्रीकर्मधर ने इस ग्रन्थ की रचना की है। चार खण्डों में विभक्त ४६५ पदों का इसका हस्तलेख अलवर (रा० प्रा० वि० प्र०) में प्राप्त है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ४० श्लोकों में हुसेनशाह के मन्त्री भवनाथ का वंशपरिचय चिलित किया गया है जिनके आदेश से यह ग्रन्थ लिखा गया है। ग्रन्थकार कर्मधर के साथ भवनाथ का क्या संबंध है? स्पष्ट नहीं कहा जा सकता।

अपने ग्रन्थ की उपयोगिता के सन्दर्भ में ग्रन्थकार ने यह बताया है कि यद्यपि आचार्य त्रिलोचन की टीका से दुर्गासिंह की वृत्ति सुगम हो जाती है, तथापि उन्होंने जो कुछ आवश्यक तथ्य छोड़ दिए हैं उनकी योजना में यथास्थान कर दी है अतः लवनकर्म के अनन्तर क्षेत्र में शेष पड़े हुए 'शिल' तथा 'उच्छ' का भी जैसे महत्त्व होता है उस प्रकार मेरे भी प्रकृत ग्रन्थ का कुछ महत्त्व तो अवश्य ही है। ग्रन्थरचना के आदेष्टा भवनाथ का परिचय इस प्रकार दिया गया है—कायस्थ-वशीय श्रीमेघ के आत्मज त्रिलोचन, उनके आत्मज गदाधर, उनके पुत्र भूधर तथा उनके पुत्र भवनाथ हुए। इन्हे शाह हुसेन का मन्त्रीपद प्राप्त होने पर अपने प्रशसनीय कार्यकलापों के कारण देवनाथ की पदवी प्राप्त हुई थी। ग्रन्थकार ने आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण करते हुए लक्ष्मी का स्मरण किया है। इससे ऐसा लगता है कि ग्रन्थकार ने ग्रन्थवर्णित विषयों में तो शेषपूर्ति की ही है, मङ्गलाचरण में भी शेषपूर्ति की है। मङ्गलाचरण में शिव, सरस्वती, गणेश की तुलना में लक्ष्मी का स्मरण अत्यन्त ही विरल देखा जाता है। दुर्गासिंह तथा त्रिलोचनदास ने तो लक्ष्मी का स्मरण नहीं किया है। उक्त विवरण का ग्रन्थाश इस प्रकार है

“शेषाशेषफणामणिव्यतिकरे कान्ताकृति बिम्बिताम्,  
पश्यन्ती रहसि स्थिताऽपि परिपद्भ्रान्त्या यियामुर्मुहु ।

या प्रीढाऽपि नव समागमरस भावै समातन्वती,  
 श्लिष्टा गाढमुर स्थलेन हरिणा लक्ष्मी श्रिये साऽस्तु व ॥ १ ॥  
 त्रिलोचनख्यातमभिन्नदुर्गा सार्धं नमस्कृत्य विविक्तविद्यम् ।  
 कातन्त्रमन्त्रार्यविनिश्चयार्यमथ प्रयत्न क्रियते शिशूनाम् ॥ २ ॥  
 दुर्गात्वमुन्नीय सपञ्जकाया वृत्तेविवेके विजय प्रवृत्त ।  
 विवेचयस्तद्वचनानि वाग्मी स्वय पुनर्दुर्गतमो बभूव ॥ ३ ॥  
 ततस्तता युक्तिभिरुक्तिमुक्ताविविक्तपङ्क्तिं क्वचिदप्यमुख्याम् ।  
 सयोजयिष्ये निजगीर्णुणेन सता हृदि श्रीमति सश्रयाय ॥ ४ ॥  
 त्रिलोचनाचार्यवच प्रसादाद् दुर्गस्य वृत्ति सुगमायदीयम् ।

क्वचित् क्वचिन्मे वचसोऽवकाश शिलोच्छ्वृत्या घटते तथापि ॥ ५ ॥

इति करणकुलालङ्करणश्रीदेवनाथसमादिष्टपण्डितकर्मधरविरचिते कातन्त्र-  
 मन्त्रप्रकाशे प्रथमः पाद परिसमाप्त ।” आदि ।

ग्रन्थ के आंशिक अध्ययन से ही ग्रन्थनाम की सार्थकता के लिए अनेक प्रमाण  
 प्राप्त हो जाते हैं ।

#### ४. कातन्त्ररूपमाला

वादिपर्वतवज्री मुनीश्वर भावसेन ने प्रक्रियाक्रम से कातन्त्रसूत्रों की दो सदर्थों  
 में व्याख्या की है । प्रथम सन्दर्भ के सज्ञासन्धि, स्वरसन्धि, व्यञ्जनसन्धि, विसर्ज-  
 नीयसन्धि, स्वरान्त पुल्लिङ्ग, स्वरान्त स्त्रीलिङ्ग, स्वरान्त नपुंसकलिङ्ग,  
 व्यञ्जनान्त पुल्लिङ्ग, व्यञ्जनान्त स्त्रीलिङ्ग, व्यञ्जनान्त नपुंसकलिङ्ग, व्यञ्ज-  
 नान्त अलिङ्ग, कारक, समास एवं तद्धितप्रकरणों में ५७४ सूत्र व्याख्यात हैं । इनमें  
 वङ्गीय तथा कश्मीरी संस्करणों के कातन्त्रव्याकरण की अपेक्षा कुछ सूत्र बिलकुल  
 भिन्न हैं तथा कुछ की योजना भिन्न स्थानों में की गई है । जैसे “वा विरामे”  
 (२।३।६२) सूत्र अनेक हस्तलेखों तथा मुद्रित कातन्त्र ग्रन्थों में “अघोषे प्रथम”  
 (२।३।६१) के पश्चात् पठित है । तदनुसार इसका अर्थ है धुत्सञ्जक प्रथम वर्ण  
 के स्थान में तृतीय वर्णादेश विकल्प से होता है । अतः ‘वाक्, वाग्’ दो रूप निष्पन्न  
 होते हैं । परन्तु कातन्त्ररूपमाला में व्यञ्जनसन्धि के अन्तर्गत “मोऽनुस्वार व्यञ्जने”  
 (सू० ६१) सूत्र के पश्चात् पठकर पदान्त मकार के स्थान में वैकल्पिक अनुस्वारा-  
 देश किया जाता है, जिससे पदान्त में विद्यमान होने पर भी ‘देवानाम्, देवाना’ ये  
 दो रूप साधु माने जाएँगे । ऐसी प्रक्रिया अन्यत्र नहीं देखी जाती । फिर भी इतना  
 निश्चित है कि कातन्त्र व्याकरण का सम्यग् बोध इस ग्रन्थ द्वारा पर्याप्त सरल ढंग  
 से किया जा सकता है ।

द्वितीय सन्दर्भ के तिङन्त तथा कृदन्त प्रकरणों में ८०६ सूत्र व्याख्यात हैं । इस  
 प्रकार ५७४ + ८०६ = १३८० सूत्रों की व्याख्या इसमें की गई है । वररुचि

कात्यायन द्वारा रचित कृत्प्रकरण के ५४६ सूत्रों में यहाँ केवल ८०६—४६० = ३१६ ही सूत्र व्याख्यात हुए हैं। शेष को कठिनता या विस्तार के भय से अनावश्यक जैसा समझकर छोड़ दिया गया है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने इसकी रचना का प्रयोजन मन्दघी बालको को कातन्त्रव्याकरण का सरलतया अवबोधन कहा है, जिसकी चर्चा उन्होंने ग्रन्थ के अन्त में भी की है

वीर प्रणम्य सर्वज्ञ विनष्टाशेषदोषकम् ।

कातन्त्ररूपमालेय बालबोधाय कथ्यते ॥१॥ (ग्रन्थारम्भ)।

भावसेनत्रिविधेन वादिपर्वतवज्रिणा ।

कृताया रूपमालाया कृदन्त पर्यपूर्यते ।

मन्दबुद्धिप्रबोधार्थं भावसेनमुनीश्वर ।

कातन्त्ररूपमालाख्या वृत्ति व्यररचत् सुधी ॥

(ग्रन्थान्त)

तद्धित प्रकरण की समाप्ति पर भावसेन ने इस व्याकरण के 'कालापक' तथा 'कौमार' नामों की विलक्षण व्याख्या की है। कहा गया है कि जो स्त्रियों में ६४ तथा पुरुषों में ७४ कलाएँ होती हैं उन सभी के प्राप्तिकर्ता तीर्थङ्कर ऋषभदेव हैं, उनसे प्रोक्त होने के कारण इसे 'कालापक' एवं कुमारी के प्रति कहे जाने से इसे 'कौमार' नाम से अभिहित किया जाता है। उन्होंने इस मान्यता को अयुक्त बताया है कि जो यह कहा जाता है कि स्वामिकार्तिकेय के वाहन मयूर के पुच्छ से सूत्रों का निर्गमन होने के कारण इस व्याकरण का नाम कालापक है। भावसेन ने इस मान्यता को इसलिए अयुक्त बताया है कि मयूर के त्रिमासिक प्लुत का ही उच्चारण प्रसिद्ध है और कातन्त्रव्याकरण के वर्णसमाम्नाय में प्लुतवर्णों का पाठ नहीं किया गया है

चतुष्षष्टि कला स्त्रीणां ताश्चतुस्रसप्ततिर्नृणाम् ।

आपक प्रापकस्तासा श्रीभानृषभतीर्थकृत् ॥

तेन ब्राह्म्यै कुमार्यै च कथित पाठहेतवे ।

कालापक तत् कौमार नाम्ना शब्दानुशासनम् ॥

यद् वदन्त्यधिय केचित् शिखिन स्कन्दवाहिन ॥

पुच्छान्निर्गतसूत्र स्यात् कालापकमत परम् ॥

तन्न युक्त यत केकी वक्ति प्लुतस्वरानुगम् ।

त्रिमास च शिखी ब्रूयादिति प्रामाणिकोक्तिरत ॥

न चात्र मातृकाम्नाये स्वरेषु प्लुतसग्रह ।

तस्मात् श्रीऋषभादिष्टमित्येव प्रतिपद्यताम् ॥

(तद्धितप्रकरण के अन्त में)

ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने अपने वचनों को उन विद्वानों के गर्वकुहर के लिए वज्रवत् कहा है जो अपने बुद्धिवैभव के गर्व से उद्धृत होकर स्पर्धा करने का साहस करते हैं। यह वचन अभी अनुसन्धान द्वारा परीक्षणीय है।

अभी तक इसके दो संस्करण प्राप्त हैं

१ निर्णयसागर यन्त्र, वम्बई। स० १९५२।

२ वीर पुस्तक भण्डार, वीर प्रेस, जयपुर।

वीरनिर्वाण सवत् २४८१।

दोनों संस्करणों में प्रायः साम्य ही देखा जाता है।

## ५ कातन्त्रविभ्रभावचूर्णि

व्याकरण के लोकव्यवहाराधीन होने से काव्यशास्त्र आदि में प्रयुक्त कुछ सूत्रों की सिद्धि बताने के उद्देश्य से किसी आचार्य ने कुछ सूत्र बनाए थे। जिस ग्रन्थ को 'कातन्त्रविभ्रम' नाम दिया गया था, परन्तु वे सूत्र आज उपलब्ध नहीं हैं। उन सूत्रों का गौरव और अप्रसिद्धि टीकाकार गोपालाचार्य के एक वचन से ज्ञात होती है

कातन्त्रसूत्रविसर किल साम्प्रत यद्।

नातिप्रसिद्ध इह चातिखरो गरीयान्॥

प्रकृत ग्रन्थ के रचयिता चारित्रसिंह के वचनानुसार ऐसा प्रतीत होता है कि कातन्त्रविभ्रम-सूत्रों पर सर्वप्रथम क्षेमेन्द्र ने व्याख्या की। क्षेमेन्द्रकृत व्याख्या की टीका मण्डन नामक किसी विद्वान् ने की थी। सम्प्रति ये दोनों टीकाएँ प्राप्त नहीं होती हैं।

कातन्त्र सम्प्रदाय के किसी विद्वान् ने विभ्रमसूत्र तथा कातन्त्रशब्दानुशासन के सूत्रों से सिद्ध किए जा सकने वाले १५२ शब्दों को २१ श्लोकों में निबद्ध किया है। इन शब्दों के साधन की प्रक्रिया प्रश्नोत्तर के रूप में दर्शात हुई है। इनके अतिरिक्त ५४ शब्दों की योजना १० श्लोकों द्वारा बाद में की गई है। श्लोकनिर्दिष्ट शब्दों की अवचूरि नामक व्याख्या के कर्ता का परिचय प्राप्त नहीं होता। मुद्रित कातन्त्र-विभ्रम के प्रारम्भिक लेख 'कातन्त्र विभ्रम सूत्र सवृत्तिक लिख्यते' के अनुसार श्लोकों को भी सूत्र माना जा सकता है। अवचूरिकार ने प्रसङ्गत दो अन्य श्लोकों की योजना इसमें की थी। इसका उल्लेख चारित्रसिंहकृत टीका में प्राप्त होता है। प्राप्त टीकाओं के परिचय से पूर्व श्लोकबद्ध कातन्त्रविभ्रम का संक्षिप्त विषयपरिचय दिया जा रहा है

प्रारम्भ में ही प्रश्न किया गया है कि परस्पर विरुद्ध किस धातु के १३ रूप एक ही प्रत्यय होने पर निष्पन्न होते हैं। व्याख्याकारों ने 'अव' पूर्वक 'गु' धातु से अद्यतनी (लुङ्) के मध्यमपुरुष बहुवचन में 'ध्वम्' प्रत्यय करने पर (१) अवागारिध्वम्,

(२) अवागरीध्वम्, (३) अवागलिध्वम्, (४) अवागलीध्वम्, (५) अवागारिध्वम्, (६) अवागरीध्वम्, (७) अवागलिध्वम्, (८) अवागलीध्वम्, (९) अवागारिध्वम्, (१०) अवागरीध्वम्, (११) अवागलिध्वम्, (१२) अवागलीध्वम् तथा (१३) अवागरीध्वम् ये १३ रूप दिखाए गए हैं। ग्रन्थान्तरो में इसके १०४ रूप भी बताए जाते हैं।

इस प्रकार स्याद्यन्तप्रतिरूपक त्यादि, बहुवचनप्रतिरूपक एक वचन, त्यादि के विपरीत रूप, विभक्तिव्यत्यय के रूप, स्याद्यन्त की तरह प्रतीत होने वाले त्याद्यन्त रूप, अप्रमिद्ध त्याद्यन्त तथा दुर्लक्ष्य यङन्त शब्दों का पाण्डित्यपूर्ण निर्देश किया गया है। उदाहरणार्थ बहुवचनप्रतिरूपक एकवचन के शब्दों का निर्देश इस प्रकार किया गया है

एतेपा कयमेकत्व वनानि ब्राह्मणैरमी।

वृक्षा पचन्ति येपा यान् वायुभ्य पार्थिवा सुरा ॥८॥

पुराणि वर्षाणिमठान्यमीनां धनानि सर्वाणि विलान्यपाच ॥१०॥

कातन्त्रविभ्रम की प्राप्त टीकाओं में दो हस्तलिखित हैं तथा एक मुद्रित है। मुद्रित टीका चारित्रसिंहकृत 'अवचूर्णि' नामक है। जिसका परिचय इस प्रकार है

वि० स० १६२५ में साधु चारित्रसिंह ने यह टीका लिखी है। इन्होंने अपने को मतिभद्रगणि का शिष्य बताया है। टीका के नाम तथा उसके रचनाकाल आदि का परिचय इस प्रकार दिया है

वाणाश्विषडिन्दु (१६२५) मिति सव्वति धवलकपुरवरे समहे।

श्रीखरतरगणपुष्करसुदिवापुष्टप्रकाराणाम् ॥१॥

श्रीजिनमाणिक्याभिधसूरीणां सकलसार्वभौमानाम्।

पट्टे वरे विजयिषु श्रीमज्जनचन्द्रसूरिराज्येषु ॥२॥ गीति।

वाचकमतिभद्रगणे शिष्यस्तदुपास्त्यवाप्तपरमार्थ।

चारित्रसिंहसाधुर्व्यदधादवचूर्णिमिह सुगमाम् ॥३॥

उन्होंने अपनी उदारता का परिचय देते हुए यह भी कहा है कि मैंने इन प्रश्नोत्तरो की व्याख्या में यदि कुछ अनूत लिखा हो तो उसे अपने तथा दूसरों के उपकारार्थ विद्वान् स्वयं सशोधित कर लें। यह व्याख्या १६२७ ई० में इन्दौर से प्रकाशित भी हो चुकी है। इसमें सारस्वत व्याकरण के सूत्रों का उपयोग किया गया है लिखामि सारस्वतसूत्रयुक्त्या।

ग्रन्थरचना का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है कि कातन्त्रविभ्रम में दर्शित प्रयोग अत्यन्त दुर्ज्ञेय हैं, उनके विषय में श्रेष्ठ व्याकरण भी जडवत् हो जाते हैं, अतः अपने तथा दूसरों के ज्ञानवर्धन-हेतु इस टीका को लिखने का सफल प्रयास किया जा रहा है

स्वस्येतरस्य च सुबोधविवर्धनार्थं

रित्वत्थं ममात्रं सफलो लिखनप्रयासः ॥३॥

टीका में प्रासङ्गिक मूलातिरिक्त कुछ शब्दों की सिद्धि ग्रन्थकार ने स्वयं भी बताई। ग्रन्थ के अन्त में चार कारिकाओं द्वारा अप्रसिद्ध त्याद्यन्त रूपों को भी अपनी ओर से बताया गया है—‘इति रूपमनुक्तमपि प्रसगादिह लिखितम्’। ‘अन्येऽपिकेचिद् विभ्रमप्रयोगालिख्यन्ते’।

प्रमाण के लिए क्षेमेन्द्र, हेमचन्द्र, अभिधानकोश, एकाक्षरनिघण्टु आदि के वचनों को अनेकत्र उद्धृत किया गया है। इसके अनुशीलन से ऐसा कहा जा सकता है कि प्रतिज्ञानुसार ग्रन्थकार ने अपने बुद्धिकौशल का पर्याप्त परिचय दिया है।

## ६ कातन्त्रविभ्रमावचूर्णि

नागरनीलकण्ठ के पुत्र गोपालाचार्य ने स० १७६३ के दक्षिणायन-पौषमास में इसकी रचना की थी। बालको की हितकामना, अपने एवं दूसरों के ज्ञानसंवर्धन के लिए यह ग्रन्थ लिखा गया था। इसके हस्तलेख जोधपुर, बीकानेर, अहमदाबाद आदि स्थानों में संगृहीत हैं। हस्तलेखों के अवलोकन से ऐसा विदित होता है कि इन्होंने केवल मूल की २१ कारिकाओं पर ही अपनी व्याख्या रची है। प्रक्षिप्त १० कारिकाओं पर इनकी टीका नहीं देखी जाती। ग्रन्थकार ने स्वरचित टीका को विशुद्ध, रम्य तथा सुगम बताया है। ग्रन्थरचना के काल आदि का परिचय इस प्रकार है—

सवद्रामरसाद्रिभू (१७६३) परिमिते वर्षयने दक्षिणे,

पौषे मासि शुचौ तिथिप्रतिपदि प्राङ् भौमवारेऽकरोत्।

श्रीमन्नागरनीलकण्ठतनयो नाम्ना तु गोपालक

टीकामस्य विशुद्धरम्यसुगमा काव्यस्य दुर्गस्य वै ॥

इस कातन्त्रविभ्रम को यहाँ काव्य कहा गया है, सम्भवतः विशेष अर्थों में प्रयुक्त काव्यशास्त्रीय कुछ शब्दों की चर्चा होने से इसे काव्य की सजा टीकाकार ने दी हो। टीका की सुगमता के बोधक कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं

१ ‘अग्निभ्य’ पद को प्रथमाविभक्त्यन्त सिद्ध करने के सन्दर्भ में बताया है, कि भयार्थक ‘भ्यस्’ धातु का विवर्तन रूप ‘भ्य’ होता है, अतः ‘अग्नि से होने वाला भय’ इस अर्थ का वाचक प्रथमाविभक्त्यन्त पद ‘अग्निभ्य’ पञ्चमी तत्पुरुष समास से निष्पन्न होगा। विकल्प में भयार्थक ‘भी’ शब्द का प्रथमा बहुवचन ‘भ्य’ बताकर ‘अग्निभ्य’ पद की सावना दिखाई गई है। (कारिका २)।

२ ‘भवेताम्’ शब्द को षष्ठी बहुवचनान्त इस प्रकार सिद्ध किया गया है ‘इण् धातु का विवर्तन रूप ‘इत्’ होता है। भव मसार को प्राप्त करने वाले ‘भवत’ कहे जाएँगे, उससे षष्ठी बहुवचनान्त रूप ‘भवेताम्’ निष्पन्न होगा। (कारिका ३)।

३ यानि, शुभानि, रणानि' आदि स्याद्यन्त पद तो प्रसिद्ध है परन्तु त्याद्यन्त प्रसिद्ध नहीं। इने त्याद्यन्त पदों की सिद्धि 'या शुभ, रण' धातुओं से 'आनि' प्रत्यय होने पर बताई गई है।

इसी प्रकार अनेक शब्दों की साधनिका में प्रायः सरल भाषा तथा सरल शैली का व्यवहार किया गया है, जिसे सवद्ध स्थलों में ही देखा जा सकता है। सरलता के लिए इसमें अनेक ग्रन्थों व ग्रन्थकारों के मतों को नहीं दिखाया गया है। कदाचित् बृहत्-सिद्धान्तकौमुदी तथा अनेकाक्षर कोश का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है।

### ७. कातन्त्रविस्तर

वर्धमान-विरचित इस विस्तृत टीका का कारकभागीय कुछ अश मञ्जूषा पत्रिका (वर्ष १२ अड्क ६) में प्रकाशित है। इसके अनेक हस्तलेख उत्कलाक्षरी में भुवनेश्वर के अभिलेखागार में संगृहीत हैं। राजस्थान में संस्कृत साहित्य की खोज (पृ० ३२) के लेखक श्रीधर रामकृष्ण भण्डारकर के अनुसार जैसलमेर में भी इसकी हस्तलिखित प्रति है। जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ५२ पर आरा तथा चूरु में भी इसके हस्तलेख बताए गए हैं। ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा के अनुसार इसके सन्धि तथा नाम अध्यायों में उन सभी शब्दों की सिद्धि बताने का प्रयास किया गया है, जिनका प्रयोग शिष्टों ने लक्ष्यग्रन्थों में किया है

महेश्वर नमस्कृत्य कुमार तदनन्तरम् ।

सुगम क्रियतेऽस्माभिरय कातन्त्रविस्तर ॥

अभियोगपरा पूर्वं भाषाया यद् वभाषिरे ।

प्रायेण तदिहास्माभिः परित्यक्त न किञ्चन ॥

कृद्भागीय व्याख्यान में ग्रन्थकार ने कहा है कि सूत्रकार शर्ववर्मा द्वारा जिनकी सर्वथा उपेक्षा की गई तथा कात्यायन ने भी जिन पर विचार नहीं किया, उन सभी शब्दों को यहाँ उदाहरण के रूप में दिया गया है। अन्त में ग्रन्थकार ने यह भी बताया है कि यद्यपि अपने प्रशसनीय गुणों के कारण यह शास्त्र अनेकत्र प्रचलित है प्रचुर प्रचार है, तथापि पिताजी के मुख से सुने जाने के कारण या उनके या उनके आदेश से मैंने इस ग्रन्थ की रचना की है

उपेक्षित सूत्रकृता सुदूर कात्यायनेनापि न चिन्तित यत् ।

सक्षिप्तभाषागतमत्र लक्ष्यसमस्तमस्मामिषदाहृत तत् ॥

सुप्रचार शास्त्र यद्यपि सुगुणैरिह ।

पितृवक्त्रान् तथाप्येतल्लिखित विदुषा मया ॥

मञ्जूषा पत्रिका में कारकप्रकरणीय अपादन तथा सम्प्रदान-सजक जो सूत्र



व्याख्यात है उनमें पाणिनीय सूत्रों की भी विशद व्याख्या देखी जाती है। पाणिनीय अपादानसंज्ञक जिन सूत्रों की आवश्यकता महाभाष्यकार आदि ने नहीं मानी है उन सूत्रों पर भी व्याख्या करने का कारण बताते हुए कहा गया है कि

१ यहा प्रत्याख्यान करने के उद्देश्य से ही इन सूत्रों का उपादान किया है। अथवा।

२ उन्हें स्वीकार भी किया जा सकता है क्योंकि अन्य व्याकरण में उनकी मान्यता होने से यहा उनका खण्डन करना मेरा उद्देश्य नहीं है। अर्थात् कातन्त्रोक्त ही ग्राह्य है, अन्य व्याकरणोक्त ग्राह्य नहीं है इस प्रकार का मेरा कोई पक्षपात नहीं है। यह भी कहा जा सकता है कि व्याकरणान्तर में प्रबल आग्रहवश उन्हें समादृत किया गया है अतः उनका प्रत्याख्यान करने के लिए द्विगुणित यत्न की आवश्यकता होगी, अतः उन्हें स्वीकार कर लेना ही समीचीन है

प्रत्याख्यातुमिहाख्यातमिति तन्त्रान्तरोदितम्।

स्वीकर्तुमथवाऽस्माकं पक्षपातो न विद्यते॥

किञ्च,

तन्त्रान्तरप्रणीतानां सूत्राणां परमाग्रहात्।

प्रत्याख्यानेन यत्नस्य द्वैगुण्यमुपजायते॥

ऐसा प्रतीत होता है कि यदि इस विपुलकाय ग्रन्थ का प्रकाशन हो जाए तो कातन्त्र व्याकरण का एक विस्तृत रूप सामने आ जाए। कातन्त्रविस्तर की कुछ टीकाएँ भी प्राप्त होती हैं

(१) वामदेव विद्वान्-रचित मनोरमा, (२) श्रीकृष्णरचित वर्धमान-संग्रह, (३) अज्ञातनामा आचार्य रचित कातन्त्रप्रक्रिया, (४) गोविन्ददास-रचित वर्धमानानुसारिणी प्रक्रिया, तथा (५) रघुनाथदास-रचित वर्धमानप्रकाश।

८ कातन्त्रवृत्तिपञ्जिका

आचार्य त्रिलोचनदास द्वारा प्रणीत यह व्याख्या वङ्गाक्षरो में मुद्रित है और प्रायः सभी सूत्रों पर प्राप्त होती है। इसकी रचना को उद्देश्य ग्रन्थकार ने स्वयं ग्रन्थारम्भ में बताया है, तदनुसार कातन्त्रव्याकरण पर दुर्गासिंह द्वारा रचित एक प्रामाणिक वृत्ति में प्रयुक्त कठिन या अस्पष्टार्थक पदों को सरल या स्पष्ट करने के उद्देश्य से इसकी रचना की गई थी। कठिन या अस्पष्टार्थक पदों के व्याख्यान की आवश्यकता मन्दबुद्धि वालों को भी विषय के सम्यक् अवबोधार्थ होती है

प्रणम्य सर्वकारारि सर्वद सर्ववेदिनम्।

सर्वीय सर्वग सर्व सर्वदेवनमस्कृतम्॥

दुर्गासिंहोक्तकातन्त्रवृत्तिदुर्गापदान्यहम्।

विवृणोमि यथाप्रश्नमज्ञसंज्ञानहेतुना॥

व्याख्या के अध्ययन से ऐसा लगता है कि ग्रन्थकार ने न केवल दुर्गसिंहोक्त वृत्ति में ही कठिन या अस्पष्टार्थक शब्दों की ही व्याख्या की है, किन्तु उन्होंने सूत्रनिर्दिष्ट विषय को पूर्णतः समझाने के लिए अनुक्त विषयों का भी समावेश किया है और अनेकत्र अपने मत के समर्थन में अन्य ग्रन्थकारों के भी वचनों को उद्धृत किया है। इनके कुछ विशेष विचार इस प्रकार हैं—

१ नमस्कारविषयक। इसमें कहा गया है कि अभिप्रेत विषय की सिद्धि केवल नमस्कारमात्रसाध्य नहीं होती किन्तु कभी यागादिसाध्य तथा नमस्कार साध्य होती है।

(मङ्गलाचरण)

२ मङ्गलार्थक 'सिद्ध' शब्द का विवेचन। "सिद्धो वर्णसामान्याय" इस प्रथम सूत्र की व्याख्या में 'सिद्ध' शब्द के नित्य, निष्पन्न तथा प्रसिद्ध अर्थों के अतिरिक्त भी कुछ महत्त्वपूर्ण विचार किया गया है। कातन्त्रव्याकरण में आदि, मध्य तथा अन्त में किए गए मङ्गलार्थक पदों की योजना स्पष्ट की है (११११)।

३ 'आदि' शब्द के चार अर्थों की व्याख्या आपिशनीय मतानुसार की गई है

तथा चापिशलीया पठन्ति,

सामीप्येऽय व्यवस्थाया प्रकारेऽवयवे तथा।

चतुर्ष्वर्थेषु मेधावी आदि शब्दं तु लक्षयेत् ॥ (१११८)।

४ अनुनासिक में 'अनु' शब्द की योजना का तात्पर्य। इसकी व्याख्या में 'अनुनासिक' सज्ञा को पूर्वाचार्यप्रणीत तथा अन्वय कहा गया है (१११३)।

५ 'अनुस्वार, विसर्जनीय' सज्ञाओं के क्रम का औचित्य। इसमें बताया गया है कि स्वरसम्बद्ध होने के कारण यद्यपि इन सज्ञाओं का निर्देश सन्व्यक्षरसज्ञा के ही अनन्तर करना चाहिए था, तथापि अप्रवान एव स्वर-व्यञ्जनोभय से सम्बद्ध होने के कारण इनका पाठ अन्त में किया गया है। सूत्रनिर्दिष्ट होने के कारण अनुस्वार-विसर्जनीय को भी कातन्त्र व्याकरण में योगवाह माना जाता है, पाणिनीय व्याकरण की तरह अयोगवाह नहीं (१११२६)।

६ आपिशनीय मतानुसार आगम आदि की परिभाषा। तथा चापिशलीया पठन्ति,

आगमोऽनुपधातेन विकारश्चोपमर्दनात्।

आदेशस्तु प्रसङ्गेन लोप सर्वापकर्षणात् ॥ (२११६)।

७ औपचारिक आधार की अयुक्तता बताना 'अङ्गुल्यग्रे करिशतम्' आदि म्यलो में कुछ आचार्य औपचारिक आधार मानते हैं, परन्तु वस्तुतः अङ्गुलि के अग्रभाग का विषय ही करिशत है अतः यहाँ औपश्लेषिक आधार मानना ही सगत है (२१४११)।

८ निमित्त के पर्यायवाची 'कारक' शब्द को अव्युत्पन्न तथा स्वभावतः नपुसकलिङ् मानना। क्रिया के निमित्तमात्र प्रधान या अप्रधान को कारक कहते हैं। व्युत्पन्न तथा पुण्यप्रत्ययान्त कारकशब्द का अर्थ 'कर्ता' होता है तथा वह वाच्यलिङ् माना जाता है। (२।४।२३)।

९ वृत्तिकार दुर्गासिंह द्वारा समादृत चन्द्रगोमी के सूत्र की सूचना देना। "तादर्थ्ये चतुर्थी" सूत्र को सर्ववर्मकृत न मानकर चन्द्रगोमिकृत माना है। इसकी सूचना देते हुए कहा गया है कि वृत्तिकार ने मतान्तरप्रदर्शन के उद्देश्य से यह चन्द्रगोमिकृत इस सूत्र को पढ़ा है (२।४।२७)।

इस प्रकार अनेक विशेषताएँ देखी जाती हैं। दुर्गासिंह कृष्ण वृत्ति तथा टीका के विषयो का प्रौढ स्पष्टीकरण इस व्याख्या में देखा गया है। इस व्याख्या का स्तर कातन्त्र संप्रदाय में वही माना जा सकता है जो कि पाणिनीय सम्प्रदाय में काशिका वृत्ति पर जिनेन्द्रबुद्धि द्वारा प्रणीत काशिकाविवरणपञ्जिका (न्यास) का है। इसमें जयादित्य, जिनेन्द्रबुद्धि प्रभृति लगभग ४० ग्रन्थकारों तथा कुछ ग्रन्थों के मतवचनों को दिखाया गया है। बहुत से मत 'केचित्, अन्ये, इतरे' शब्दों से भी प्रस्तुत किए गए हैं। इन सभी मतों में कुछ मतों को युक्तिसंगत नहीं माना गया है।

इस पञ्जिका में दर्शित मतों के प्रति कुछ आचार्यों ने दोष भी दिखाए हैं, जिन दोषों का समाधान सुपेण विद्याभूषण ने अपने कलापचन्द्र नामक व्याख्यान में किया है। श्रीनिविक्रम ने उद्धोत, मणिकण्ठभट्टाचार्य ने त्रिलोचनचन्द्रिका सीतानाथ सिद्धान्तवागीश ने कुछ अंशों पर सञ्जीवनी तथा घातुसूत्रीय पञ्जिका पर पीताम्बर विद्याभूषण ने पन्निका नामक व्याख्या की रचना की है।

## ६ कातन्त्रवृत्तिपञ्जिका प्रदीप

पण्डित श्रीनन्दी के आत्मज पण्डित श्री देसल ने इसकी रचना की थी। २८३ पत्रों का इसका हस्तलेख जोधपुर राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान में विद्यमान है। पञ्जिका में जो कुछ विशेष रूप में कहा गया है उसी का विवरण प्रस्तुत करने की प्रतिज्ञा ग्रन्थारम्भ में लेखक ने की है। कृदभागीय व्याख्या का प्रारम्भ करने से पूर्व ही ग्रन्थकार के पिता दिवगत हो गए थे, अतः पितृवियोगरूपी अनल से दग्धमानस होने पर भी दुःखों की कमी की समाप्ति न समझकर श्रीदेसल ने अग्रिम ग्रन्थभाग की पूर्ति की है।

"अत्र चान्तरे दिवगते पितरि तद्वियोगानलदग्धमानसाना कीदृश हि ग्रन्थ दूषण समाधान बुद्धिकौशलमुपजायत इति जानद्भिन्नप्यस्माभिः प्रारब्धापरि-समाप्तिदुःखमवगम्य यथामति किञ्चिदुच्यते" (कृत् प्रकरण का प्रारम्भ)।

ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार ने अपने पिता द्वारा घातुपरायण के रचित होने की भी सूचना दी है। शङ्कर नामक शिष्य की प्रार्थना पर श्रीदेसल ने जैसा अपने

पिता से पढा था उसी के स्मरणार्थ इस ग्रन्थ का निबन्धन किया है, अतः अपना कोई दोष न बताकर युक्तायुक्त के विचार का भार विद्वानों पर छोड़ दिया है

कार्तिकेय समाराध्य कृत शास्त्रमनाकुलम् ।  
तस्मै नमोऽस्तु गुरवे श्रीमते शर्ववर्मणे ॥  
धातुपारायणकर्त्रे व्याकरणत्रितयवेदित्रे ।  
शब्दसरोजसवित्रे विद्यादात्रे नमः पित्रे ॥  
उक्तं मया यथाबोधं शङ्कराय सुबोधिने ।  
युक्तायुक्तविचारस्तु कर्तव्यं खलु सूरिभिः ॥  
याचितोऽहं चुरातेन प्रतिपन्नं मयाऽपि तत् ।  
स्मृत्यर्थं क्रियते यस्मात् तस्मान्नो नात्र द्वेषणम् ॥  
पितृभिर्यदुपन्यस्तं स्मरणाय कृतं मया ॥

स० १४६५ में श्रावणवदी ५ बुधवार को राणा श्रीउदयसिंह विजय के राज्य में इसे लिखा गया था ।

## १० कातन्त्रपञ्जिकोद्घोत.

वर्धमान के शिष्य त्रिविक्रम ने कातन्त्रपञ्जिका पर उद्घोत नामक टीका लिखी है । इसका हस्तलेख सङ्घभण्डार-पाटन में संगृहीत है । आख्यात के सम्प्रसारणपादपर्यन्त यह उपलब्ध है । इसका लेखनकाल स० १२२१, ज्येष्ठवदी तृतीया, शुक्रवार है । ग्रन्थकार ने कहा है कि कुछ पूर्वभावी आचार्यों ने अपने असारवचनों से पञ्जिका को प्रायः निरर्थक बताया था और इसी कारण वह पञ्जरस्थ शारिका की तरह पराधीन होकर अपने गुणों को प्रकाशित करने में असमर्थ हो गई थी । मैंने पूर्वाचार्यों के उन अक्षेपवचनों का खण्डन कर इसे पूर्ण उज्ज्वल कर दिया है

उक्तं यदालूनविशीर्णवाक्यैर्निरर्गलं किञ्जनफल्युपूर्वं ।  
उपेक्षितं सर्वमिदं मया तत् प्रायो विचारसहते न येन ॥  
आसीदियं पञ्जरचितसारिकेव हि पञ्जिका ।  
उद्घोतव्यपदेशेन मया पूर्णोऽज्ज्वलीकृता ॥

इस प्रकार टीकाकार का प्रयास तथा टीका का नाम सार्थक ही कहा जा सकता है ।

## ११ कातन्त्रोत्तरम्

इसकी रचना विजयानन्द ने की है, इसका दूसरा नाम विद्यानन्द भी है । ३६० पत्रों का एक हस्तलेख अहमदाबाद के लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर में सुरक्षित है, बीच का कुछ अंश इसमें लुप्त है । ग्रन्थकार

के वचनानुसार इसकी रचना महान् प्रयास से की गई है तथा समस्त प्रतिपक्षि-प्रदर्शित आक्षेपों का सहेतुक समाधान किया गया है। नाटक के भरतवाक्य की तरह विश्वकल्याण की भावना से प्रेरित होकर लेखक ने अन्त में यह भी कहा है कि इस सद्ग्रन्थ की रचना से मुझे प्राप्त होने वाला पुण्य तीनो दुखों का शमन करता हुआ मनुष्यों की प्रवृत्तिको मद्गलमयी भावना या शिव की ओर उन्मुख करे

सहेतुकमिहाशेष लिखित साधु सगतम् ॥  
कातन्त्रोत्तरनामाज्य विद्यानन्दापराऽऽह्वय ।  
मान चास्य सहस्राणि स्वर्वेद्यगुणिता रसा ॥  
निर्माय सद्ग्रन्थमिम प्रयासाद्,  
आसादित पुण्यलवो मया य ।  
तेन त्रिदुःखापहरो नराणाम्,  
कुर्याद् विवेक शिवभावनायाम् ॥

सूत्र-टीका-पञ्जिका-पूर्वाचार्यानुमोदित वचनों की चर्चा के अतिरिक्त महा-कवि आनन्दवर्धन द्वारा सामान्य विवक्षा में भी किए गए पुल्लिङ्ग प्रयोग का उल्लेख किया है। आनन्दवर्धन ने यह प्रयोग अपने ग्रन्थ देवीस्तवयमक में किया है। इस व्याकरण के चार नामों में हेतु दिखाए गए हैं शार्वर्मिक, कातन्त्र, कालापक, कौमार ।

## १२ कालापप्रक्रिया

नृपतिशिरोमणि रामसिंह की आज्ञा से क्षत्रिय बालको के बुद्धिवर्धनार्थ आचार्य बलदेव ने इसे बूंदी में स० १६०५ में लिखा था। १२४ पत्तों का एक हस्तलेख जोधपुर में प्राप्त है। ग्रन्थकार ने अपने गुरु का नाम आशानन्द बताया है

बाणखाड्केन्दुकमिते (१६०५) विक्रमादित्यतो गते ।  
वर्षेऽत्र रामसिंहाज्ञाप्रेरितेन द्विजेन वै ॥  
बलदेवेन रचिता कालापप्रक्रिया शुभा ।  
उपदेशाद् गुरोराशानन्दोत्थाद् भार्ययोगत ॥

सभी धातुओं पर पूर्णतया व्याख्यान करना सम्भव नहीं होता, क्योंकि धातुएं अनन्त तथा अनेकार्थक होती हैं, अतः ग्रन्थकार ने सभी धातुओं पर व्याख्यान नहीं किया है

धातूनामप्यनन्तत्वान्तानार्थत्वाच्च सर्वथा ।

अभिधातुमशक्यत्वादाख्यातरव्यापनैरनन्तम् ॥ १ ॥

आख्यात प्रकरण के अनन्तर कृतप्रकरण के लगभग २० ही सूत्रों की व्याख्या

की गई है, शेष को आवश्यकता से अधिक समझकर छोड़ दिया गया है।

### १३. बालशिक्षाव्याकरणम्

गुजराती भाषा के माध्यम से संस्कृत शिक्षण देने का प्रयास जिसमें किया गया हो उस रचना को 'औकितक' कहते हैं। बालशिक्षाव्याकरण एक ऐसी ही रचना है। इस औकितक ग्रन्थ के लेखक श्रीमालवशीय कूरमिह के पुत्र ठक्कुर सग्रामसिंह हैं। इसका रचनाकाल स० १३३६ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ का परिमाण १८५० श्लोक हैं। इसमें मज्ञा, सन्धि, स्यादि, कारक, समास, उक्तिविज्ञान, सस्कार तथा त्यादि नामक आठ प्रक्रम हैं। ग्रन्थकार ने प्रारम्भ में ही यह प्रतिज्ञा की है कि शर्ववर्मप्रणीत कातन्त्रव्याकरण के आधार पर सक्षेप में बालशिक्षा की रचना की जा रही है। अपनी निरमिमानीता तथा सरलता का परिचय देते हुए ग्रन्थकार ने यह भी कहा है कि जैसे सूर्य के अभाव में दीपक के भी प्रकाश का महत्त्व होता है, वैसे कातन्त्रव्याकरण के अभाव में सभी सज्जन इस बालशिक्षा को अपनाएँ

श्रीमन्तत्वा पर ब्रह्म बालशिक्षा यथाक्रमम् ।

सक्षेपाद् रचयिष्यामि कातन्त्रात् शार्वर्मिकात् ॥ १ ॥

आदौ मज्ञा तत सन्धि स्यादय कारकाणि च ।

समासाञ्चोक्तिविज्ञान सस्कारस्यादयस्तथा ॥ २ ॥

इत्यष्टप्रक्रमोपेतामेता कुर्वन्तु हृद्गृहे ।

कातन्त्रभास्कराभावे यथा दीपश्रिय जना ॥ ३ ॥

सप्तम सस्कार प्रक्रम में अनेक अव्यय तथा तत्कालीन क्रियापदों को उद्धृत कर उनके संस्कृत शब्द दिए हैं। 'रखड़, बोलड़, आवड़, धूमड़' आदि उद्धृत क्रियापदों को अवधी, ब्रज, राजस्थानी तथा गुजराती भाषा की सपत्ति माना जाता है। इस प्रकार यह ग्रन्थ भाषाविज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्त्व का हो गया है। राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से १९६८ ई० में प्रकाशित इस ग्रन्थ के प्रधान सम्पादक डॉ० फतर्हसिंह ने इस सस्कारप्रक्रम में उद्धृत अनेक क्रियापदों को लक्ष्यकर विश्वासपूर्वक यह कहने का प्रयास किया है कि ग्रन्थलेखन के समय तक संस्कृतभाषा केवल विद्वानों की ही सम्पर्कभाषा रह गई थी और जनसाधारण की भाषा संस्कृत से बहुत दूर चली गई थी अतः इस दूरी को दूर करने के लिए ही ग्रन्थकार ने सस्कार प्रक्रम में भाषाशब्दों का संस्कृत के साथ मेल विठाने का प्रयत्न किया।

अस्तु, यह तो निश्चित है कि ग्रन्थकार भारतभूमि का एक ऐसा पुनरुत्थान था जो जैन-अजैन आदि के भेदभाव से ऊपर उठकर राष्ट्रीय दृष्टि से सोच सकता था और वर्तमान भेदबुद्धिविधायिनी प्रवृत्ति के विपरीत एक मात्र राष्ट्रीय दृष्टि से

भाषाप्रश्न पर विचार करके तत्कालीन जनसाधारण की भाषाओं को सुसंस्कृत रूप प्रदान करने के लिए अपने व्याकरण में 'संस्कृतप्रक्रम' को लिख सकता था। ग्रन्थ में दर्शित प्रकरण, विषययोजना, उदाहरणों आदि से न केवल बालको के लिए ही उपयोगी है किन्तु प्रौढधी विद्वानों के लिए भी मननीय है।

ग्रन्थ के अन्त में लेखक ने कहा है कि यद्यपि अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर बड़े परिश्रम से सशोधित कर इस बालशिक्षा को बनाया है तथापि सज्जनों द्वारा यह शोधनीय ही है। इस प्रकार ग्रन्थ के दीर्घकालीन प्रचार की शुभकामना भी ग्रन्थकार द्वारा की गई है। सज्जनों के प्रसाद से ही इस ग्रन्थ की रचना बताकर लेखक ने महती उदारता का परिचय दिया है। प्रशस्ति, रचनाकाल, शुभकामनादिविषयक वचन इस प्रकार हैं

सदोपकार्यात् साध्योऽयं लक्षणद्रव्यसंग्रहः ।

साद्वर्द्धिष्टादशशतयुक्कोऽप्यक्षयं सन् तदर्थिनाम् ॥ १ ॥

मुञ्चन्ति मुक्ता जलजन्तवोऽपि

स्वात्यम्भसा तल्ललित न तेपाम् ।

यज्योपला अप्यमृत श्रवन्ते

तद् वलित चन्द्रमस करणाम् ॥ २ ॥

सता प्रसाद स हि यन्मयापि श्रीमालवश्येन कृति कृतेयम्

साढाकभू-ठक्कुरत्तूरसिहपुत्रेण पट्वित्तियुतैकवर्षे (१३३६) ॥ ३ ॥

बहूनि शास्त्राणि विलोक्य तावद् विनिर्मितेय महतोद्यमेन ।

मशोधिता सद्भिर्नृणां शोध्य सल्लक्षण क्षोदसह सहैव ॥ ४ ॥

यावद् धत्ते गगनसरसी राजहसप्रचारम्,

मेरुश्चाग्निर्वरदिनवधू शर्वरी मङ्गलानि ।

तावद् बोध भृति विदधती बालशिक्षा सदैवा,

जीयाद् योगादतिमतिमता वर्धमानाधिकश्री ॥ ५ ॥

## १४ कातन्त्रभूषणम्

आचार्य धर्मधोपसूरि ने कातन्त्रव्याकरण के आधार पर इसकी रचना की है। इसका परिणाम २४००० श्लोक है।

(द्र०—जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५) ।

## १५ कातन्त्रवाक्यविरार

कौशिक वशीय नागरजातीय सर्वदेव के पुत्र पण्डित राम ने इसकी रचना की है। रचना का प्रयोजन मन्दमति वालों को भी सुखपूर्वक वाक्यों की प्रयोगविधि का

परिज्ञान बताया गया है। इसका हस्तलेख अहमदाबाद में प्राप्त है। ग्रन्थ के अन्त में इस प्रकार परिचय दिया गया है

कोशिकान्वयसभूत सर्वदेवात्मजो भुवि ।

रामाख्यया प्रसिद्धो हि नगरो विप्रसेवकः ॥

जडाना मुखबोधार्थं कृतवान् वाक्यविस्तरम् ॥

इति श्रीनगरमहाम्थानवास्तव्यनागरजातीय-कोशिकान्वयव्याससर्वदेवसुतपण्डितराम विरचित शब्द-कारक-समास-तद्धितक्रियान्कृत्प्रयोगाणां लौकिकमापया विहित वाक्यविस्तर समाप्तमिति भद्र भूयात् ।

## १६ कातन्त्रविभ्रमटीका

स० १३५२ में जिनप्रभसूरि ने इस टीका की रचना की थी। यद्यपि इस टीका के अनेक हस्तलेख जयपुर, बीकानेर, अहमदाबाद आदि में देखने को मिले, परन्तु उनका अध्ययन न किए जा सकने से टीका का स्वरूप नहीं बताया जा सकता। ग्रन्थकार द्वारा रचनाकाल, रचनास्थान का निर्देश इस प्रकार किया गया है

पक्षेषु शक्तिशशिभृन्मितविक्रमाब्दे

धात्यङ्किते हरतियो पुरि योगिनीनाम् ।

कातन्त्रविभ्रम इह व्यतनिष्ट टीकाम्

अप्रौढवीरपि जिनप्रभसूरिररेताम् ॥

## १७ कातन्त्रवृत्तिपञ्जिका

आचार्य जिनेश्वर सूरि के शिष्य सोमकीर्ति ने कातन्त्रवृत्ति पर इस टीका की रचना की है, इसका हस्तलेख जैसलमेर में है। इस व्याकरणसम्प्रदाय में आचार्य तिलोचनदास द्वारा प्रणीत 'पञ्जिका' व्याख्या सुप्रसिद्ध है। दोनों आचार्यों का समय निश्चित न होने से यहाँ विशेष कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। (द्र० जैनसाहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ५) ।

## १८ क्रियाकलाप

धातुपाठ पर यह व्याख्या कायस्थवशीय विद्यानन्द ने लिखी थी। ग्रन्थकार ने इस व्याख्या के सवन्ध में कहा है कि जो व्युत्पन्न नहीं है उन्हें इसका व्यवहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि ग्रन्थ में दर्शित धातु, उनके अर्थों का निरूपण करने से ही उनकी वृद्धि मोहित हो सकती है। इसके हस्तलेख बीकानेर तथा अहमदाबाद में देखे गए हैं। ग्रन्थकार ने वर्णित विषय आदि के सम्बन्ध में कहा है



पूर्व पूर्वकविप्रणीतविविधग्रन्थेषु दृष्टास्ततः,  
निर्णीता हृदये निरूप्य निपुण ये धातुपारायणम् ।  
धातूनां तनुधीरपि व्यरचयत्तेषामिमं संग्रहम्,  
विद्यानन्दकविविशुद्धहृदयः कायस्थवशोद्भवः ॥  
व्युत्पत्तिवर्त्मन्यकृतप्रवेशे शास्त्रं जडैर्नैदमुदीरणीयम् ।  
धात्वर्थतन्मात्रनिरूपणेन यतो मतिर्मोहमुपैति तेषाम् ॥

## १६ क्रियाकलाप

जिनदेवसूरि ने भी यह ग्रन्थ लिखा था । स० १५२० का एक हस्तलेख श्री-जयप्रभसूरि के शिष्य मुनि पूर्णकलश द्वारा लिखा गया अहमदाबाद में प्राप्त है ।

## २० चतुष्कव्यवहारदुण्डिका

श्रीधनप्रभसूरि ने इसे लिखा था । इसका तद्धितप्रकरणान्त भाग ही हस्तलेखों में प्राप्त होता है । प्रारम्भ में देवी सरस्वती को नमस्कार कर उनसे यह मङ्गल-कामना की गई है कि मेरी इस व्याख्या का समादर विद्वज्जन करें । अन्य हस्तलेखों में गुरुप्रसाद से चतुष्कव्यवहाराख्य ग्रन्थ के विस्तार करने की बात कही गई है

नमः श्रीसरस्वत्यै भगवत्यै ।

प्रणम्य तां जगत्पूज्यां गुरुश्च देवी सरस्वतीम् ।

यस्याः प्रसादमात्रेण स्याद् यद्वोऽपि कवीश्वरः ॥

सुप्रसादं चतुष्कस्य लिखितां दुण्डिकामिमाम् ।

करोतु मे महायोगिध्याया गी परमेश्वरी ॥ इति ॥

ॐ नमो विघ्नराजाय ।

नत्वा जिन गुरो सत्प्रसादाद् ग्रन्थं प्रतन्यते ।

चतुष्को व्यवहाराख्य श्रीधनप्रभसूरिणा ॥ इति ॥

## २१ दुर्गापदप्रबोध

जिनेश्वरसूरि के शिष्य प्रबोधमूर्तिगणि ने १४ वीं शताब्दी में सम्पूर्ण कातन्त्र-सूत्रों पर इसकी रचना की थी । उनके प्रारम्भिक लेख के अनुसार इस ग्रन्थ में सभी मतों का सार सन्निहित होना चाहिए

ग्रन्थं सम्यगमु विभाव्य निखिला वृत्तिं प्रसगात् तथा,

क्वापि क्वापि च पञ्चकामति सभावार्थं विदित्वा जनात् ।

विज्ञाय क्रमशस्ततोऽखिलमतग्रन्थार्थसारं समा

लोच्यसेव्यं च मुक्तिमार्गमचिराज्ज्ञानं लभन्ता परम् ॥ इति ॥

## २२ दुर्गापदप्रबोध

इस नाम की एक टीका जिनप्रबोधसूरि ने भी वि० स० १३२८ में बनाई थी। इसका उल्लेख 'जैनसाहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ३' में डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी ने किया है। टीका का अन्य विवरण प्राप्त नहीं होता है।

## २३ दुर्गवृत्तिटिप्पणी

पण्डित गोलहण ने १६वीं शताब्दी में इसे लिखा था। १५४ पन्नों का एक हस्तलेख राजस्थानप्राच्यविद्याप्रतिष्ठान, जोधपुर में तथा ३४८ पन्नों का अहमदाबाद में संगृहीत है। इसमें त्रिलोचनदासकृत कातन्त्र वृत्तिपञ्जिका को भी उद्धृत किया गया है।

## २४ दौर्गसिही वृत्ति

दुर्गसिहरचित वृत्ति पर आचार्य प्रद्युम्नसूरि ने वि० स० १३६६ में इस वृत्ति को लिखा है, जिसका परिणाम ३००० श्लोक माना जाता है। वीकानेर के भण्डार में इसका हस्तलेख है (द्र०-जैनसाहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ५)।

## २५ धातुपारायणम्

कातन्त्रवृत्तिपञ्जिकाप्रदीप के लेखक पण्डित देसल के पिता पण्डित नन्दी ने कातन्त्रव्याकरण के धातुपाठ पर इसे लिखा था, इसकी सूचना कातन्त्रवृत्तिपञ्जिका-प्रदीप के अन्त में देसल ने दी है। 'राजस्थान में संस्कृत साहित्य की खोज' नामक सूचनापत्र में श्रीधर रामकृष्ण भाण्डारकर ने नन्दिकृत टीका के कठिन पदों पर धनेश्वर के शिष्य चन्द्रसूरिकृत एक व्याख्या का उल्लेख किया है (पृष्ठ ३१)। जैसलमेर के किसी हस्तलेख-भण्डार में यह व्याख्या श्रीभाण्डारकर को उपलब्ध हुई थी। पर्वतीय विश्वेश्वरसूरिरचित व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि में इस ग्रन्थ को उद्धृत किया गया है। धातुपारायण का अन्य विवरण अप्राप्त है।

## २६ वालावबोध.

अञ्चलगणेश्वर मेस्तुङ्गसूरि ने इसका प्रणयन किया था। इसके अनेक खण्डश हस्तलेख अहमदाबाद, जोधपुर तथा वीकानेर में उपलब्ध होते हैं। किसी किसी हस्तलेख में अवचूर्णि' टीका का भी उल्लेख हुआ है। सम्भवतः मेस्तुङ्गसूरि ने इसे भी बनाया हो। ग्रन्थ के प्रारम्भ में शारदा देवी को प्रणाम कर शर्ववर्म-प्रणीत सूत्रों पर व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की है।

प्रणम्य शारदा देवी ज्ञाननेत्रप्रबोधिनीम् ।

शार्वर्मिकसूत्राणां प्रक्रिया च क्रमाद् ब्रुवे ॥

## २७ बालावबोध

राजगच्छीय हरिकलश उपाध्याय ने बालको के ज्ञानार्थ इसे लिखा था । इसके हस्तलेख बीकानेर में प्राप्त है । पण्डित गोल्हणकृत सुगम टीका का अध्ययन करने के अनन्तर ग्रन्थकार ने टिप्पणी के रूप में इसकी रचना की है

दृष्ट्वा गोल्हणटीका सुगमा लिखति स्म राजगच्छीय ।

हरिकलशोपाध्यायष्टिप्पनक बालबोधार्थम् ॥

## २८. वृत्तितयनिबन्ध

आचार्य राजशेखर सूरि ने कातन्त्रव्याकरण के आधार पर इसका प्रणयन किया है । ग्रन्थ के नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि कातन्त्र की तीन वृत्तियों का इसमें विचार किया गया होगा, परन्तु ग्रन्थ के अप्राप्त होने से अधिक कहा नहीं जा सकता । (द्र०-जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५) ।

वर्णित ग्रन्थों के अतिरिक्त वर्धमानप्रकाश, वर्धमानसारव्याकरण, वर्धमान-प्रक्रिया, वर्धमानसग्रह आदि उपलब्ध अनेक ग्रन्थों के रचयिता भी जैनाचार्य जैसे प्रतीत होते हैं, परन्तु सन्देहवश उनका परिचय यहाँ नहीं दिया जा रहा है ।

## सारस्वत व्याकरण पर टीकाएँ

अनुभूति स्वरूपाचार्य द्वारा प्रोक्त सारस्वत व्याकरण में मूल सूत्र ७०० माने जाते हैं । इस व्याकरण की रचना विद्याधिष्ठात्री देवी सरस्वती की विशेष अनुकम्पा से की गई थी । इसके अनेक रूपान्तर भी किए गए हैं, जिनमें रामाश्रम-प्रणीत सिद्धान्तचन्द्रिका प्रमुख है । सारस्वत व्याकरण पर अनेक सम्प्रदाय के आचार्यों ने टीकाएँ लिखी हैं । इनमें जैनाचार्यों की भी २५ टीकाओं का उल्लेख प्राप्त होता है । यहाँ आचार्य चन्द्रकीर्ति-प्रणीत 'सुबोधिका' टीका का विस्तृत परिचय पहले दिया जायेगा, शेष २४ टीकाओं का सामान्य ही परिचय प्रस्तुत होगा । इन सभी टीकाओं में से २३ का उल्लेख अम्बालाल प्रेम शाह ने तथा शेष दो का युधिष्ठिर मीमांसक आदि ने किया है ।

## १ सुबोधिका

आचार्य चन्द्रकीर्तिसूरि ने सारस्वत व्याकरण की यह टीका लिखी है, जिसे ग्रन्थकार के नाम चन्द्रकीर्ति से भी अभिहित किया जाता है । सरल, सुबोध

होने में सुबोधिक्ता, तथा अपदिन अर्थात् महर्षि आदि द्वारा सुबोधि के नापसंका प्रकाशन करने में दीपिका नाम भी प्रसिद्ध है। आचार्य चन्द्रकोटि ने अपने ही नागपुरीय तथा गच्छाधिप राजा भट्टाशक कटा है। आचार्य प्रकरण के आरम्भ में राजरत्नसूरि को नमस्कार किया है। प्रतीत होता है कि राजरत्नसूरि उनके गुरु थे। युधिष्ठिर भीमार्क ने हर्षकीर्ति को चन्द्रकोटि का गुरु लिखा है। वस्तुतः हर्षकीर्ति नाम ग्रन्थकार के एक शिष्य का स, जिनके ग्रन्थ-प्रतिनिधि का नेपथ्य-कार्य किया था। जैसा कि निर्णयनामक में प्रकाशित (१६१६ ई० में) सामान्यतः व्याकरण की प्रथमावृत्ति की नमस्ति पर उल्लेख भी है -

सुबोधिक्ताया वृत्ताया सूरि-श्रीचन्द्रकीर्तिभिः ।

स्यादीना प्रक्रिया पूर्ण बभूवेतः मनोः ॥१॥

तेषामेव द्विजच्छिष्यो हर्षकीर्त्यात्पाठ्यः ।

निखनोपक्रमं चान्या पथेऽप्रीतिमानम् ॥२॥

जय नन्करण के जन्म में व्याख्यान्-प्रवृत्ति' दी गई है, जिनके अनुसार राजरत्नसूरि के अनन्तर चन्द्रकीर्ति को उनके पट्ट का गच्छाधिप बनाया गया है। यह भी कहा गया है कि चन्द्रकीर्ति ने यह टीका श्रीपञ्चनन्द उपाध्याय की अस्यर्थता पर की थी और उसे हर्षकीर्ति ने लिखा था -

तत्पट्टोदयशो नहेनिमलश्रीजयवानान्वया—

नकार कनिकाजदर्पदमन श्रीराजरत्नप्रभु ।

तत्पट्टे जिनविश्ववादिनिवहा गच्छाधिपा सम्प्रति

सूरि-श्रीप्रभुचन्द्रकीर्तिशुभो गम्भीर्यधैर्याश्रया ॥६॥

तैरिय पञ्चचन्द्राख्योपाध्यायस्यर्थनात्पूता ।

शुभा सुबोधिकानाम्नी श्रीगारस्वतदीपिका ॥७॥

श्रीचन्द्रकीर्तिसूरीन्द्रपादाभोजमधुव्रत ।

हर्षकीर्तिरिमा टीका प्रथमादर्शकेऽल्लिखत् ॥८॥

ग्रन्थरचना के प्रामाणिक समय का उल्लेख प्राप्त नहीं होता, फिर भी युधिष्ठिर भीमार्क द्वारा दर्शित समय १६वीं शती का अन्त या १७वीं शती का आरम्भ मान्य प्रतीत होता है।

यद्यपि सारस्वत व्याकरण के तीन विशेषण दिए गए हैं स्वल्प, सिद्ध तथा सुबोधक। अतः 'सुबोधक' व्याकरण पर 'सुबोधिका' जैसी टीकाओं के बनाने की कोई आवश्यकता सामान्यतया प्रतीत नहीं होती, फिर भी सूत्रों तथा टीकाओं की सुबोधकता में पर्याप्त भिन्नता होती है, इसलिए श्रीचन्द्रकीर्ति ने भी अपनी टीका द्वारा सुबोधक सूत्रों के भी विषय को सरलता से समझाने का प्रयास कर अपने ग्रन्थ की सार्थकता सिद्ध की है

स्वल्पस्य सिद्धस्य सुबोधकस्य सारस्वतव्याकरणस्य टीकाम् ।

सुबोधिकाख्या रचयाचकार सूरेश्वर श्रीप्रभुचन्द्रकीर्ति ॥

(व्याख्यातृ प्रशस्ति, श्लोक १०) ।

ग्रन्थ के अध्ययन से सुबोधिका' नाम अन्वर्थ ही प्रतीत होता है, क्योंकि इससे खण्डन-मण्डन के पक्ष प्रायः नहीं ही दिखाए गए हैं। कुछ ही स्थलों में पूर्वाचार्यों का भ्रम प्रदर्शित किया गया है। जैसे "भजा विष्णु" (कृत्० ४८) सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि कुछ आचार्य 'तत्त्व पृच्छतीति तत्त्वप्राट्' शब्द को भी विष्णुप्रत्ययान्त मानकर यहाँ उद्धृत करते हैं परन्तु वह इसलिए ठीक नहीं है कि उसे 'क्विप् प्रत्यय के अधिकार में भी सिद्ध किया ही जाता है अतः यहाँ उसे भ्रम वश पढ़ा जाता है।

"अत्र केचित् तत्त्व पृच्छतीति तत्त्वप्राट् इत्युदाहरण पठन्ति, तदत्र न युज्यते । अग्रे क्विप्प्रत्ययाधिकारे साधितत्वात् । इह तु भ्रमात् पठन्ति" (कृत्० ४८) ।

सामान्यतया आचार्य ने मन्दमतिवालों के अवबोधार्थ अनेक उपायों का अवलम्बन किया है। कही-कही पर कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति या समासादि को भी बालबोधार्थ ही दर्शित किया है। जैसे "वु से" सूत्रस्थ 'वु' पद की व्युत्पत्ति—  
"उश्च ऋ च वृ तस्मात् वु से । अयं समासो बालबोधनार्थं दर्शितः" (उत्तरार्ध २८।१-३) ।

यद्यपि खण्डन-मण्डन की चर्चा इसमें प्रायः नहीं की गई है तथापि किन्हीं पाठान्तर, शब्दों के प्रयोग आदि की प्रामाणिकता के लिए कुमारसम्भव, चन्द्रिका, प्रक्रियाकौमुदी, सरस्वतीकण्ठाभरण, भट्टि, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों तथा पाणिनीय, वृत्तिकार, ग्रन्थकार, माधव आदि आचार्यों का उल्लेख किया है। अनेक सरल उपायों के साथ ग्रन्थ में प्रायः सूत्रस्थ पदों की सख्या का भी स्पष्ट निर्देश किया गया है। व्याख्यात प्रकरण में धातुओं के रूप दिखाए गए हैं। अनुभूतिस्वरूप द्वारा दर्शित कुछ विशिष्ट रूपों की ही सिद्धि बताई गई है; मूलप्रोक्त सभी रूपों को नहीं बताया गया है। वे रूप जो पूर्वोक्त अन्य सूत्रों से सिद्ध होते हैं उन्हें भी सुगम कहकर प्रायः नहीं दिखाया गया है। अन्य व्याकरण के मतों या सूत्रों को व्याकरणान्तर कहकर ही दिखाया गया है। जैसे क्वचित् दो या तीन कारकों के युगपत् प्राप्त होने पर किसकी प्रवृत्ति होगी इसके निर्णय के लिए कातन्त्रसूत्र को उद्धृत किया गया है।

"व्याकरणान्तरे तु युगपद्वचने पर पुरुषाणाम्" (उत्तरार्ध १।१६) । 'प्, अ' आदि अनुबन्धों का प्रयोजन स्पष्ट किया है। किन्हीं धातुओं के उकारादि अनुबन्धों का प्रयोजन उच्चारणसौकर्य भी बताया गया है। उभयपदी धातुओं के प्रकरण में कुछ ऐसी भी धातुएँ पढ़ी गई हैं जिन्हें अन्य आचार्य केवल आत्मनेपदी या केवल परस्मैपदी ही मानते हैं टीकाकार ने ऐसे स्थलों में 'एके आचार्या'

आदि वचनो से मतान्तरों का संकेत किया है। कुछ ऐसे भी सूत्रों पर यह टीका देखी जाती है, जिन्हें कुछ आचार्य पढ़ते ही नहीं। वहाँ भी टीकाकार ने मतान्तर का संकेत अवश्य किया है।

## २ क्रियाचन्द्रिका

खरतरगच्छीय गुणरत्न ने वि० स० १६४१ में इसकी रचना की थी। इसकी हस्तलिखित प्रति वीकानेर में है।

## ३ चन्द्रिका

पजाव भण्डारसूची, भाग १ के अनुसार मेघविजय जी ने यह टीका लिखी थी। इसका समय निश्चित नहीं है।

## ४ दीपिका

विनयसुन्दर के शिष्य मेघरत्न ने वि० स० १५३६ में इसे बनाया था। इस टीका का नामान्तर मेघीवृत्ति भी है। १७वीं शताब्दी में लिखित ६८ पत्रों की तथा वि० स० १८८६ में लिखित १६२ पत्रों का हस्तलेख लालभाई दलपतभाई सस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद में सुरक्षित है। प्रारम्भिक श्लोक इस प्रकार है

नेत्वा पाश्वर्गं गुरुमपि तथा मेघरत्नाभिधोऽहम् ।

टीका कुर्वे विमलमनस भारतीप्रक्रिया ताम् ॥

युधिष्ठिर भीमासक ने इसका नामान्तर दुण्डिका बताया है और स० १६१४ के हस्तलेख को प्राप्त होने की सूचना दी है।

## ५ धातुतरङ्गिणी

इसकी रचना नागोरी तपागच्छीय आचार्य हर्षकीर्ति सूरि ने की है। इसमें १८६१ धातुओं के रूप बताए गए हैं। वि० स० १६६६ में लिखित ७६ पत्रों की प्रति तथा वि० स० १७६५ में लिखित ५७ पत्रों की प्रति लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद में विद्यमान है। टीकाकार का निर्देश-वचन इस प्रकार है—

धातुपाठस्य टीकेय नाम्ना धातुतरङ्गिणी ।

प्रक्षालयतु विज्ञानाभिज्ञानमलमान्तरम् ॥

डॉ० वेल्वाल्कर के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना स० १७१७ में की गई थी।

## ६ न्यायरत्नावली

खरतरगच्छीय आचार्य जिनचन्द्रसूरि के शिष्य व्यासरत्नमुनि ने स० १६२६ में सारस्वत व्याकरण के न्यायवचनों का एक विवरण इसमें प्रस्तुत किया है। वि० स० १७३७ में लिखित एक प्रति लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद में है।

## ७ पञ्चसन्धिटीका

मुनि सोमशील द्वारा यह प्रणीत है। रचनाकाल अज्ञात है। हस्तलिखित प्रति पाटन के भण्डार में प्राप्त है।

## ८ पञ्चसन्धिबालावबोध (सामान्य)

१८वीं शती में उपाध्याय राजसी ने इसकी रचना की थी। विषय का संकेत नामकरण से ही प्राप्त हो जाता है। बीकानेर के खरतर आचार्यशाखा के भण्डार में इसका हस्तलेख है।

## ९ प्रक्रियावृत्ति

खरतरगच्छीय मुनि विशालकीर्ति ने १७वीं शती में इसे बनाया था। बीकानेर में श्री अगरचन्द नाहटा के संग्रह में इसकी हस्तलिखित प्रति है।

## १० भाषाटीका

मुनि आनन्दनिधान ने १८वीं शताब्दी में इसकी रचना की थी। नामकरण से ऐसा लगता है कि सरल संस्कृत भाषा का इसमें प्रयोग किया गया होगा। इसका हस्तलेख भीनासर के वहादुरमल बाठिया-संग्रह में है।

## ११ यशोनन्दिनी

दिगम्बर मुनि धर्मभूषण के शिष्य यशोनन्दी ने इसे बनाया था। ग्रन्थकार का स्वविषयक निर्देश निम्नाङ्कित है

राजद्राजविराजमानचरणश्रीधर्मसद्भूषण  
स्तत्पट्टोदयभूधरद्युमणिना श्रीमद्यशोनन्दिना।

## १२ रूपरत्नमाला

तपागच्छीय भानुमेरू के शिष्य मुनि नयसुन्दर ने वि० स० १७७६ में इसे बनाया था। ग्रन्थ में प्रयोगों की साधनिका है। ग्रन्थ का परिमाण १४००० श्लोक

प्रति चतुर्भुज जी के भण्डार में सुरक्षित है। युधिष्ठिर भीमासक ने 'सस्कृतव्याकरण शास्त्र' का इतिहास, भाग १ में सहजकीर्ति द्वारा प्रणीत व्याख्या का नाम 'प्रक्रियावार्त्तिक' लिखा है। उनके लेखानुसार हेमनन्दगणि के शिष्य सहजकीर्ति थे। ग्रन्थकार ने रचनाकाल का निर्देश स्वयं किया है

वत्सरे भूमिसिद्धचङ्गकाश्यपीप्रमितिश्रिते ।

माघस्यशुक्लपञ्चम्या दिवसे पूर्णतामगात् ॥

## २४ सारस्वतवृत्ति

श्रीचतुरविजय जी के 'जैनतर साहित्य और जैन' लेख के सन्दर्भानुसार हर्षकीर्तिसूरि ने एक वृत्ति को लिखा था। सम्भवतः इस वृत्ति का नाम दीपिका था।

## २५ सिद्धान्तचन्द्रिका

युधिष्ठिर भीमासक ने सारस्वत के रूपान्तरकारों में जिनेन्द्र वा जिनरत्न का भी नाम गिनाया है। इसके अनुसार जिनरत्न ने यह टीका लिखी थी, जो बहुत अर्वाचीन मानी जाती है।

## सिद्धान्तचन्द्रिकाव्याकरण पर टीकाएँ

सारस्वत व्याकरण के रूपान्तरकर्ता रामाश्रम या रामचन्द्राश्रम ने "सिद्धान्तचन्द्रिका" नामक एक विशद वृत्ति लिखी है। इसमें लगभग २३०० सूत्र हैं। मङ्गलाचरण में दिए गए परिचय से इस वृत्ति को महाभाष्यकार पतञ्जलि के मत का पूर्ण अनुसरण करने वाली कहा जा सकता है। मत बुद्ध्वा पतञ्जले इस सिद्धान्तचन्द्रिका पर खरतरगच्छीय जिनभक्तिसूरिशाखा के सदानन्दगणि ने 'सुवोधिनी' नामक एक महती वृत्ति की रचना की है। इसके अतिरिक्त ७ अन्य टीकाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें सदानन्दगणिप्रणीत 'सुवोधिनी' टीका का विशेष परिचय प्रस्तुत कर ७ अन्य टीकाओं का सामान्य परिचय यहाँ दिया जाएगा।

## १ सुवोधिनी

कृदन्तवृत्ति के अन्त में रचनाकाल १८६६ वर्ष लिखा है, इससे ग्रन्थ का रचनाकाल निश्चित ही है। ग्रन्थरचना का प्रयोजन यद्यपि स्पष्टतया उल्लिखित नहीं है तथापि 'कृत्प्रकाशिका, सुधीमुदे' इन दो शब्दों के आधार पर अर्थ का स्पष्ट प्रकाशन एवं बुद्धजनानुरञ्जन को प्रयोजन माना जा सकता है।



प्रतोष्ट्रय्य जगन्नाथ सदानन्देन सन्मुदा ।

सिद्धान्तचन्द्रिकावृत्ति क्रियते कृत्प्रकाशिका ॥

(उत्तरार्ध २३।१) ।

निधिनन्दार्धभूषणे सदानन्द सुधीमुदे ।

सिद्धान्तचन्द्रिकावृत्ति कृदन्ते कृतवानृजुम् ॥

(उत्तरार्ध ३१।११६) ।

वृत्ति के प्रारम्भ में पुराणपुरुष अर्हन्तनायक को नमस्कार कर ग्रन्थकार ने वृत्तिरचना की प्रतिज्ञा की है और अपनी गुरु-शिष्यपरम्परा प्रस्तुत की है। उसके अनुसार जगत्पूज्य खरतर आम्नाय में भट्टारक श्रीजिनभक्तिसूरि हुए, जो अपने निर्मल यश से चन्द्रवत् तथा तेज से सूर्यवत् थे। उनसे यतीन्द्र श्रीकीर्तिरत्नसूरि हुए, उनके शिष्य पाठकप्रवर श्रीसुमतिरङ्ग, उनके शिष्य पाठक श्रीसुखलाभ, उनके शिष्यवर्य पाठकवारणेन्द्र श्रीभागचन्द्रगणि, उनके शिष्य श्रीभक्तिविनय हुए। इन्हीं के विनयप्रधान शिष्य थे सदानन्दगणि। द्विरुक्तप्रक्रिया एवं कृदन्त की समाप्ति पर भी अपने साक्षाद् गुरु भक्तिविनय की विशेषताओं का उल्लेख किया है।

ग्रन्थकार ने विषयविवेचन में किसी पूर्वाचार्य के मत का सामान्यतया खण्डन नहीं किया है। विरोध उपस्थित होने पर उसे लोकमान्यता या शिष्टसम्मत पक्ष प्रस्तुत करते हुए हेय या उपादेय कहने का प्रयास किया है। कही-कही समन्वयार्थ तृतीय मत को भी दिखाया है। जैसे 'अदस्' शब्दोत्तरवर्ती 'सि' प्रत्यय को औकारादेश होने पर 'असौ' रूप तथा इसी में 'अक' प्रत्यय होने पर 'असकौ असुक' ये दो रूप निष्पन्न होते हैं। दकार को मकारादेश करने पर अमुक 'रूप भी साधु माना जाता है। परन्तु वृत्तिकार ने पूर्वाचार्यों का अनुसरण कर इसे साधु नहीं माना है। तथापि अव्युत्पन्न नाम मानकर वृत्तिविषय (समास आदि) में ही इसका प्रयोग किया जा सकता है इसे भी दिखाया है (द्र०-पूर्वार्ध १०।६६, १७।१०६)।

प्रातिपदिक के १ से ५ तक अर्थ अन्यान्य आचार्यों द्वारा मान्य हैं स्वार्थ, द्रव्य, लिङ्ग, सख्या तथा कारक। ऐसे स्थलों में वृत्तिकार ने पृथक्-पृथक् आचार्यों के मतविशेष को स्पष्ट किया है। इससे यह सुनिश्चित है कि वृत्तिकार को पाणिनीय व्याकरण के भी मतों का परिज्ञान था (द्र०-पूर्वार्ध १६।१)।

प्रसङ्गत अनेक आवश्यक अवशिष्ट अशो की पूर्ति-हेतु विशेष वचन प्रस्तुत किए गए हैं, जिनमें सिद्धान्तचन्द्रिका का अर्थ सुबोध हो जाता है और इस प्रकार 'सुबोधिनी' टीका की अन्वर्थता भी सिद्ध हो जाती है। यथा परिभाषाप्रकरण में सूत्रज्ञापित पन्द्रह परिभाषाओं की तथा कर्मसज्ञा के प्रकरण में अकथित आदि कर्मसज्ञाविधायक पाणिनीय सूत्रों की व्याख्या करना। इसी प्रकार विभक्तिसज्ञा के प्रसङ्ग में "इदम इण् विभक्तौ" आदि तीस सूत्रों की भी व्याख्या की है।

कहा जाता है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वीकानेर के कृपाचन्द्रसूरि-ज्ञानभण्डार में, दूसरी प्रति अहमदावाद में है। सिद्ध हेमचन्द्र तथा पाणिनि के भी मतों का इसमें समादर किया गया है। अधोदशित परिचय के आधार पर नयसुन्दर ने सारस्वत व्याकरण पर वार्त्तिकों की भी रचना की थी

ग्रथिता नयसुन्दर इति नाम्ना वाचकवरेण च तस्याम् ।

सारस्वतस्थितानां सूत्राणां वार्त्तिकं त्वलिखत् ॥३७॥

श्रीसिद्धहेमपाणिनिसम्मतमाधाय सार्थका लिखिता ।

ये साधव प्रयोगास्ते शिशुहितहेतवे सन्तु ॥३८॥

### १३ विद्वज्जिन्तामणि

अञ्चलगच्छीय कल्याणसागर के शिष्य मुनि विनयसागर सूरि ने इसकी रचना पद्यों में की थी। ग्रन्थकार ने इसका परिचय स्वयं इस प्रकार दिया है

श्रीविधिपक्षगच्छेश। सूरिकल्याणसागरा ।

तेषां शिष्यैर्वराचार्यैः सूरिविनयसागरैः ॥२४॥

सारस्वतस्य सूत्राणां पद्यबन्धैर्विनिर्मित ।

विद्वज्जिन्तामणिग्रन्थ कण्ठपाठस्य हेतवे ॥२५॥

वि० स० १८३७ में लिखी गई ५ पत्तों की प्रति लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदावाद में सुरक्षित है।

### १४ शब्दप्रक्रियासाधनी

आचार्य विजयरजेन्द्रसूरि ने २०वीं शताब्दी में इसकी रचना की थी, इसका उल्लेख उनके जीवनचरितसम्बन्धी लेखों में किया गया है (जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५)।

### १५ शब्दार्थचन्द्रिका

विजयानन्द के शिष्य हंसविजयगणि ने अत्यन्त साधारण इस टीका को बनाया था। इसका अन्य परिचय प्राप्त नहीं है, केवल स० १७०८ में ग्रन्थकार के विद्यमान होने का उल्लेख युधिष्ठिर मीमांसक ने किया है सस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ५७५।

### १६ सारस्वतटीका

मुनि मत्स्यप्रबोध ने सारस्वतव्याकरण पर एक टीका लिखी थी, इसका रचनाकाल अज्ञात है। पाटन और लीवडी के भण्डारों में इसके हस्तलेख प्राप्त होते हैं।

### १७ सारस्वतटीका

श्रीचतुरविजय जी के "जैनेतर साहित्य और जैन" लेख के अनुसार यतीश विद्यान् ने एक टीका लिखी थी। सम्भवतः ग्रन्थकार का नाम सहजकीर्ति हो सकता है।

### १८ सारस्वतटीका

तपागच्छीय उपाध्याय भानुचन्द्र के शिष्य देवचन्द्र ने एक श्लोकवद्ध टीका की रचना की थी। इसकी हस्तलिखित प्रति बीकानेर में श्री अगरचन्द नाहटा के भण्ड में प्राप्त है।

### १९ सारस्वतटीका

इसे मुनि धनसागर की कृति कहा जाता है। धनसागरप्रणीत होने से यह टीका 'धनसागरी' नाम से भी अभिहित की जाती है। इसका उल्लेख जैनसाहित्य के संक्षिप्त इतिहास में किया गया है।

### २० सारस्वत (क्रिया) रूपमाला

पद्मसुन्दरगणि ने इसमें धातुरूप दिखाए हैं। ग्रन्थारम्भ में कहा गया है

सारस्वतक्रियारूपमाला श्रीपद्मसुन्दरै ।

सदृग्धाऽलकरोत्वेपा सुधिया कण्ठरुदली ॥

वि० सं० १७४० में लिखी गई ५ पत्रों की प्रति लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद में प्राप्त है।

### २१ सारस्वतमण्डनम्

श्रीमालज्ञातीय मन्त्री मण्डन ने १५वीं शताब्दी में इसकी रचना की थी।

### २२ सारस्वतवृत्ति

क्षेमेन्द्ररचित सारस्वत-टिप्पण पर तपागच्छीय उपाध्याय भानुचन्द्र ने १७वीं शताब्दी में एक वृत्ति रची थी। हस्तलेख की प्रतिया पाटन तथा छापी के ज्ञान-भण्डारों में प्राप्त हैं।

### २३ सारस्वतवृत्ति

खरतरगच्छीय मुनि सहजकीर्ति ने वि० सं० १६८१ में इसकी रचना की थी। इसकी हस्तलिखित एक प्रति बीकानेर के श्रीपूजा जी के भण्डार में तथा दूसरी

किमी एक ही अर्थ की प्रामाणिकता के लिए अनेक कोशवचनो को उद्धृत किया है। जैसे

१ भरतीति वभ्रुः । 'वभ्रुर्वैश्वानरे धूलपाणी च गरुणध्वजे । विशालेनकुले पुसि पिङ्गले त्वमिद्येयवत्' इति मेदिनी । वभ्रुर्मन्वन्तरे विष्णौ वभ्रुर्नकुलपिङ्गलौ' इति धरणि (उत्तरार्ध २७।१७) ।

२ मृग यातीति मृगयु । 'मृगयु पुसि गोमायौ व्याघ्रे च परमेष्ठिनि' इति मेदिनी । 'मृगयुर्ब्रह्माणि ध्यातो गोमायुव्याधयोरपि' इति विश्व (उत्तरार्ध २७।३२) ।

३ नभ । 'नभो व्योम्नि मेघे श्रावणे च पतद्गृहे । घ्राणे मृणालमूले च वर्षसि च नभा स्मृत' इति विश्व । 'नभ ख श्रावणो नभ' इत्यमर । नभ तु नभसा सार्धम् इति द्विरूपकोश (उत्तरार्ध २७।३१४) ।

यद्यपि वृत्तिकार ने व्याख्यात विषय के प्रमाण में रामायण, श्रीमद्भागवत, भारत, भाष्य, हरिटीका, भट्टि, सिद्धान्तकौमुदी आदि अनेक ग्रन्थों, भाष्यकार, कैयट, हरदत्त, यास्क, माधव, कालिदास, श्रीहर्ष, वोपदेव प्रभृति अनेक आचार्यों का उल्लेख किया है। इनमें भी अजयकोश, मसारावर्त, विक्रमादित्यकोश तथा वोपालित प्रभृति कुछ नाम अत्यन्त अप्रसिद्ध हैं तथापि किन्ही शब्दों के अकारान्तत्व आदि में प्रमाण के लिए पुराणवचन भी उद्धृत किए गए हैं। यथा

१ शिर शिर किञ्च । श्रिञ् सेवायामस्मादसु स्यात् स च कित् धातो गिरादेशश्च । शिर । 'उत्तमाङ्गं शिर शीर्षम्' इत्यमर । कप्रत्यये तु 'शिर' इत्यदन्तोऽपि । 'शिरोवाची शिरोऽदन्तो रजोवाची रजस्तथा' इति कोशान्तरम् । 'पिण्ड दद्याद् गयाशिरे' इति वायुपुराणे ।

कुण्डलोद्धृष्टगण्डानां कुमारानां तरस्विनाम् ।

निचकर्त शिरान् द्रौणिनलिभ्य इव पङ्कजान् ॥ इति महाभारते (उत्तरार्ध २७।३०५) ।

इस प्रकार यह वृत्ति सरल, प्रमाणयुक्त तथा पूर्ण है

सिद्धान्तचन्द्रिकावृत्ति कृदन्ते कृतवानृजुम् ।

पतञ्जलिमतानुसारिणी 'सिद्धान्तचन्द्रिका' के विषयो का स्पष्टीकरण भी पतञ्जलि के ही मतानुसार करना सगत प्रतीत होता है, वृत्तिकार ने इसका पूर्ण ध्यान रखा है, जिसमें यह कहा जा सकता है कि 'सुबोधिनी' टीका का मुख्य आधारग्रन्थ पतञ्जलि का महाभाष्य है। यद्यपि ग्रन्थकार ने कही इस प्रकार की कोई प्रतिज्ञा तो नहीं की है परन्तु ग्रन्थ के परिशीलन से ऐसा प्रतीत होता है। निम्नांकित कुछ वचन द्रष्टव्य हैं

१ प्रश्न । प्रच्छेत्तु सम्प्रसारण न भाष्येऽनुत्तत्वात् (पूर्वार्ध ५।७)

२ दम्य म । (इमम्, इमौ, इमान्) त्यदाद्यत्वे मत्वे औत्वे च इमौ । त्यदादे-

सर्वोन्नत नास्तीत्युत्सर्ग । प्रचुरप्रयोगादर्शनमेवात्र मूलम् । भाष्ये तु 'हे स' इत्युक्तम् (पूर्वार्ध १०।२०) ।

३ पिद्भिदामङ् (उत्तरार्ध ३०।५२) । मृजूप् शुद्धी मृजा । कथं तर्हि 'मधुमुरभिमुखाज्जगन्वलब्धे' (७।४१) इति माध । 'प्रेक्षोपलब्धिश्चित् सवित्' इत्यमरश्च । पित्वादिहाड्प्रत्यय उचित, सत्यम् । अनर्थकास्तु प्रतिवर्णमयानुलब्धे' इति भाष्यप्रयोगाद् बाहुलकात् क्तप्रत्ययोऽपि बोध्य ।

## २ अनिट्कारिकावचूरि

मुनि क्षमामाणिक्य ने इसे लिखा था । इसकी हस्तलिखित प्रति बीकानेर के श्रीपूज्य जी के भण्डार में है ।

## ३ अनिट्कारिका-रूपज्ञवृत्ति

नागपुरीय तपागच्छ के हर्षकीर्तिसूरि ने इसकी रचना की है । अनिट्कारिका का रचना काल स० १६६२ तथा स्वोपज्ञवृत्ति का स० १६६६ है । हस्तलिखित प्रति बीकानेर के दानसागर-भण्डार में है ।

## ४ भूधातुवृत्ति

खरतरगच्छीय क्षमाकल्याणमुनि ने इस वृत्ति की रचना वि० स० १८२८ में की है । इसका हस्तलेख राजनगर के महिमाभक्ति-भण्डार में है ।

## ५ मुग्धावबोध-औक्तिकम्

तपागच्छीय आचार्य देवसुन्दरसूरि के शिष्य कुलमण्डनसूरि ने १५ वीं शताब्दी में इसे बनाया है ।

## ६ सिद्धान्तचन्द्रिका-टीका

आचार्य जिनरत्नसूरि को इसका प्रणेता माना गया है । जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५ में प० अम्बालाल प्रेम शाह के अनुसार यह टीका प्रकाशित होनी चाहिए, परन्तु मैंने इसे नहीं देखा है ।

## ७ सिद्धान्तचन्द्रिकावृत्ति

खरतरगच्छीय मुनि विजयवर्धन के शिष्य ज्ञानतिलक ने १८ वीं शताब्दी में इसे लिखा है । इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ बीकानेर के महिमाभक्तिभण्डार और अबीर जी के भण्डार में हैं ।

## ८ सुवोचिनी

खरतरगच्छीय रूपचन्द्र ने भी १८ वीं शताब्दी में इसका प्रणयन किया था । ३४६४ श्लोक इसका परिमाण बताया गया है । बीकानेर के किसी भण्डार में इसकी प्रतियाँ हैं ।

## गणपाठ पर आधारित

यद्यपि प्रत्येक व्याकरण का एक निश्चित गणपाठ होता है, जिस पर अन्यान्य आचार्य विद्वानों की टीकाएँ भी प्राप्त होती हैं । तथापि कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं जिनका किसी व्याकरणविशेष से ही सम्बन्ध नहीं होता । किन्तु अनेक व्याकरणों के आवार पर उनकी रचना होती है । संस्कृत व्याकरण में एक ही आचार्य द्वारा लिखे गए गणपाठ-सम्बन्धी दो ग्रन्थ उक्त श्रेणी में माने जा सकते हैं, अतः उनका विशेष परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जाएगा ।

## १ गणरत्नमहोदधि

श्रीगोविन्दसूरि के शिष्य श्रीवर्धमान ने गणरत्नमहोदधि नामक ग्रन्थ की रचना वि० म० ११६७ में की थी । यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है और इसमें ४६० श्लोक देखे जाते हैं । ग्रन्थ के अन्त में स्वयं ग्रन्थकार ने रचनाकाल आदि का स्पष्ट उल्लेख किया है

किञ्चित् क्वचित् कथञ्चिद् रचित पद्यानुसारतोऽस्माभिः ।

सुन्दरमसुन्दर वा तल्लक्ष्य सहृदयैरेव ॥१॥

सप्ततन्त्रयधिकेष्वेकादशसु शतेष्वतीतेषु ।

वर्षाणां विक्रमतो गणरत्नमहोदधिविहित ॥२॥

किन्तु व्याकरण के अनुसार इसमें गणपाठ प्रस्तुत किया गया है । इस विषय पर विद्वानों द्वारा परस्पर कुछ भिन्न विचार किए गए हैं । युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने 'मन्त्रव्याकरण शास्त्र का इतिहास' (भाग १, पृ० ५६३) ग्रन्थ में वर्धमान के स्वरचित व्याकरण की सम्भावना की है, अतः तदनुसार ही गणरत्नमहोदधि में शब्दों का पाठ होना चाहिए । प० अम्बालाल प्रेम शाह ने 'जैनसाहित्य का वृहद् इतिहास' (भाग ५, पृ० २०-२१) में शाकटायन व्याकरण के अनुसार इसमें गण-शब्दों का पाठ माना है । परन्तु गणरत्नमहोदधि का अनुशीलन करने पर ये दोनों विचार प्रामाणिक प्रतीत नहीं होते । शिष्यों की प्रार्थना पूर्ण करने के लिए वर्धमान ने इस ग्रन्थ की रचना की है । उन्होंने ग्रन्थारम्भ में इस हेतु का उल्लेख करते हुए

यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि अनेक शब्दशास्त्रों तथा महाकाव्यों का परिशीलन करके ही प्रकृत ग्रन्थ की रचना में प्रवृत्त हो रहा हूँ

विदित्वा शब्दशास्त्राणि प्रयोगानुपलक्ष्य च ।

स्वशिष्यप्रार्थिता कुर्मो गणरत्नमहोदधिम् ॥३॥

इससे यही कहा जा सकता है कि उन्होंने किसी एक स्वरचित या शाकटायन-नादि प्रणीत व्याकरण के अनुसार प्रकृत ग्रन्थ की रचना नहीं की थी । इस विषय की सम्पुष्टि मङ्गलाचरण के श्लोक २ से भी की जा सकती है, जिसमें उन्होंने पाणिनि, शाकटायन, चन्द्रगोमिप्रभृति अनेक शाब्दिक आचार्यों की जो सुप्-तिङ लक्षण दो प्रकार के पद मानते हैं, स्तुति की है । यदि स्वरचित व्याकरण के अनुसार गणपाठ करना अभीष्ट होता तो स्वशिष्यप्रार्थना को ग्रन्थरचना में हेतु बताना सङ्गत नहीं होता । क्योंकि ग्रन्थकार को स्वयं ही अपने व्याकरण की सार्थकता के लिए गणपाठ करना आवश्यक हो जाता । इसी प्रकार यदि शाकटायन व्याकरण ही इसका आधार होता तो पाणिनि, चन्द्रगोमि, भर्तृहरि, वामन आदि आचार्यों की स्तुति का कोई महत्त्व नहीं होता । इस विषय पर सपादक जुलियस एकलिङ्ग ने भी कोई प्रकाश नहीं डाला है, केवल हेमचन्द्र के कुछ गणों से साम्य की चर्चा अवश्य की है । इसके लिए कुछ और भी प्रमाण हो सकते हैं जिनकी चर्चा गणरत्न-महोदधि की स्वोपज्ञवृत्ति के परिचय में की जाएगी । यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पाणिनीय और शाकटायन व्याकरण में जो गण या गणपठित शब्द हैं उनसे गणरत्नमहोदधि के गणनाम, उनकी सख्या तथा गणपठित शब्दों में अनेकत्र अन्तर दृष्ट है । गणरत्नमहोदधि के गणों की कुल सख्या २२१ है, जबकि पाणिनीय गणपाठ में २६१ गण देखे जाते हैं ।

इसके विषयों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है

अध्याय १ 'चादि' प्रभृति नाम गण ।

अध्याय २ 'अर्धचादि' प्रभृति समासप्रक्रिया सम्बन्धी गण ।

अध्याय ३ तद्धितप्रक्रियान्तर्गत स्वार्थिक-अपत्यप्रत्ययसम्बन्धी गण ।

अध्याय ४. तद्धितान्तर्गत समूह-विकार-अवयव-वेत्ति-अधीते अर्थ सम्बन्धी गण ।

अध्याय ५ तद्धितान्तर्गत शेष-साध्वर्थ-भव-आख्यान-आगत-अर्थ-कृत-अभिजने पाक-इदमर्थविहित प्रत्ययसम्बन्धी गण ।

अध्याय ६ करोति-आहत-गच्छति-प्राप्त-प्रभावित-कार्यम्-दीयते-प्रयोजन-चरति-उत्पात-सयोग-हरति-वहति-आवहति-पृच्छति-गच्छति-आह-तेन चरति-जीवति-हरति-निवृत्त-वसति-धर्म्य-प्रहरण-शील-पण्यलक्षणार्थ-विहितप्रत्ययसम्बन्धी गण ।

अध्याय ७ अस्य सजातम्, अस्य भाव कर्म वा, अनेनास्यात्त वाऽस्त्यर्थविहित-  
प्रत्ययसवन्धी गण ।

अध्याय ८ आख्यात-कृदाश्रितप्रत्ययसम्बन्धी गण ।

कुछ गणशब्दों का पाठ ग्रन्थकार ने किसी पूर्ववर्ती आचार्य विगेष के मतानुसार किया है, जैसे केदारादि गण में पठित शब्द वामनाचार्य के मतानुसार लिए गए हैं

केदारादी राजराजन्यवत्सा उष्ट्रोर्भौ वृद्धयुक्तो मनुष्य ।

उक्षा ज्ञेयो राजपुत्रस्तथेह केदारादी वामनाचार्यदृष्टे ॥ (४।२५८)

किन्ही गणों के सन्दर्भ में आचार्य विशेष का नाम न लेकर उन्हें बुध या विबुध मतानुसार माना गया है। जैसे कुण्डादि-पात्रादि, ज्योत्स्नादि गण द्रष्टव्य है

श्लेषद्रव्ये खलो लक्ष्यो विदारशठमोषधौ ।

दूत सदेशहारिण्या कुट्टिन्या शम्भलो बुधै ॥ (१।५७) ।

ज्योत्स्नाशब्दस्तमिस्रा च कुतुप स्याद् विपादिका ।

विसर्पो नखरश्चापि कुण्डलोऽपि मतो बुधै ॥ (७।४१६) ।

दण्डार्धमेधामुसलानि मेधो वधोदकेभा मधुपर्कयुक्ता ।

युग कशासौ पितृदेवता च दण्डादिरेव विबुधै प्रणीत ॥ (६।३७१) ।

लोम वस्तु मुनि कर्को गिरिवञ्चू हरि कपि ।

लोमादी विबुधैर्ज्ञेया रू रोम तथा भुर ॥ (७।४।२१) ।

ग्रन्थ में उपसर्गों के लिए न तो स्वतन्त्र 'प्रादि' गण पठित है तथा न उन शब्दों का पाठ 'चादि' या 'स्वरादि' गण में किया गया है। इसका कोई उचित समाधान प्राप्त नहीं होता। 'कर्कादि, लोहितादि, सुखादि' कुछ गण भिन्न-भिन्न प्रत्ययों के लिए दो-दो बार पढ़े गए हैं, जैसा कि पाणिनीय गणपाठ में भी देखा जाता है। गणपठित शब्दों का विवरण तथा औचित्यादि स्थिर करने के लिए ग्रन्थ पर स्वतन्त्र अनुसन्धानकार्य अपेक्षित है। सामान्यतया यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि सस्कृत-व्याकरण के क्षेत्र में गणरत्नमहोदधि ही एक ऐसा प्राचीन ग्रन्थ है जो गणसवन्धी प्रामाणिक सूचनाएँ प्रस्तुत करता है।

## २ गणरत्नमहोदधि स्वोपज्ञवृत्तिः

वि० स० ११६७ में स्वरचित गणरत्नमहोदधि के गणशब्दों का सुखपूर्वक बोध कराने के उद्देश्य से आचार्य वर्धमान ने स्वोपज्ञ वृत्ति की रचना की है। स्वयं ग्रन्थकार ने इसे कण्ठत स्वीकार किया है

सुखेनैव ग्रहीष्यन्ति गणरत्नानि या श्रिता ।

वृत्ति साऽऽरभ्यते स्वीयगणरत्नमहोदधे ॥१॥

यद्यपि ग्रन्थकार ने इसकी रचना का समय नहीं लिखा है तथापि वि० स० ११६७



के अनन्तर ही उस वृत्ति की रचना की होगी-ऐसा सामान्यतया कहा जा सकता है।

शब्दों के प्रयोगस्थलो तथा मतविशेषों को दिखाते हुए वृत्तिकार ने ५० से भी अधिक ग्रन्थकार तथा २५ से भी अधिक ग्रन्थों का नामोल्लेख किया है। जिनमें निर्वाणनारायण, वल्लभ, श्रीवसुक, छित्तप, परिमल, अरुणदत्त, भलूट तथा अजितदेव जैसे अप्रसिद्ध ग्रन्थकार भी उल्लिखित हुए हैं। इसी प्रकार अमरमाला, बृहत्तन्त्र, शाश्वतकोश, अजय तथा मानवी वृत्ति जैसे कुछ अप्रसिद्ध ग्रन्थ भी उद्धृत किए गए हैं। वर्धमान ने कुछ उदाहरण स्वरचित काव्यग्रन्थ सिद्धराज वर्णन से भी दिए हैं, जिनका निर्देश उन्होंने पाँच स्थानों में इस प्रकार किया है

१ प्रादु प्राकाश्ये । यथा ममैव

नि सीमाश्चर्यधाम त्रिभुवनविदित पत्तन यत् त्वदीयम्,  
तन्मध्ये वृद्धिभीयुः फलभरनमिता शाखिनेश्चूतमुख्या ।  
नैतन्पिन्न विचित्राद् विहितकृतयुग त्वत्प्रभावात् क्षितीश ।  
प्रादु पन्ति प्रभूता यदि सुरतरवश्चित्रमेतद् बुधानाम् ॥ (२।६७)।

२ यथा वा ममैव

दूरादपि रिपुलक्ष्म्यो मनीषित यन्त्रयन्ति सावेगा ।  
अव्विमिवेतरभूमृत्तिरुद्धगतयोऽपि कूलिन्य ॥ (२।१४६) ।

३ यथा ममैव सिद्धराजवर्णने-

प्रत्युप्तमुक्ताफलपद्मराग जगत्कारिकलौहितीकम् ॥ (३।१६२) ।

४ यथा ममैव सिद्धराजवर्णने

जाते यस्य प्रयाणे जातसध्याभिषङ्का ॥ (५।३३४) ।

५ यथा ममैव

नवे यौवनिकोद्भेदे मनीषिण ॥ (७।४०६) ।  
एक उदाहरण स्वरचित क्रियागुप्तक से भी दिया गया है

६ यथा ममैव क्रियागुप्तके

उद्यत्तीव्रानङ्गनाराचविद्धा स्वप्राणेष्वो वल्लभ त्वामदृष्ट्वा ।  
वेगादेवा चक्रवाकी वराकी तीरात्तीरे प्रातरेव प्रयाति ॥ (२।१५५)।

परन्तु इस एक उदाहरण से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि 'क्रियागुप्तक' नामक कोई

प्रकरणमात्र है या स्वतन्त्र ग्रन्थ । अस्तु किसी शब्द के अर्थ को बताने के लिए अपने ही किसी अन्य ग्रन्थ से यदि उदाहरण दिए जाते हैं तो सम्भवतः उन ग्रन्थों की भी प्रामाणिकता जापित करना होता है ।

‘गणरत्नमहोदधि’ किस व्याकरण के आधार पर बनाया गया । इसकी चर्चा ‘गणरत्नमहोदधि’ के परिचय-सन्दर्भ में की गई है । वृत्ति में कुछ ऐसे वचन प्राप्त होते हैं, जिनसे यह निश्चित है कि वर्धमान ने किसी व्याकरणविशेष के अनुसार उक्त ग्रन्थ नहीं बनाया है । ग्रन्थकार ने अनेकत्र यह स्पष्ट कहा है कि यह गणविशेष मैंने अमुक आचार्य के मतानुसार दिखाया है । यथा

१ अरुणदत्त के अभिप्राय से ‘अर्धर्चादि’ गण का पाठ

“अरुणदत्ताभिप्रायेणैते दर्शिता ” (२।७८) ।

२ भोजदेव के मतानुसार ‘किंशुकादि, वृन्दारकादि, मतल्लिकादि, खसूच्यादि’ गणों का पाठ

“अथ च गण श्रीभोजदेवाभिप्रायेण ” (२।१०७) ।

“एतच्च गणत्रय श्रीभोजदेवाभिप्रायेण द्रष्टव्यम् ” (२।११४) ।

‘शरदादि’ गण का पाठ वृद्धवैयाकरणों के मतानुरोध से किया गया है

“ऋक्पूरुषूपयादित्यनेनैव समासान्तस्य सिद्धत्वादस्य पाठो न सगत प्रतिभाति, पर वृद्धवैयाकरणमतानुरोधेन पठित ” (२।१३५)

चन्द्र तथा दुर्ग को अभीष्ट होने से ‘नाम्नाडादि’ गण पठित है “अथ च गणश्चन्द्रदुर्गाभिप्रायेण ” (२।१५५) ।

रत्नमति के अनुसार ‘हरितादि’ गण के शब्दों का सकलन किया गया है “चन्द्राचार्येण यजुर्वेदेष्वस्त्रियामित्यत्र सूत्रेऽपत्यमात्र इत्येव बाह्या उत्सा इत्युदाहृतम् । रत्नमतिना तु हरितादयो गणसमाप्तिं यावदिति व्याख्यातम् । तन्मतानुसारिणा मयाऽप्येते किल निबद्धा ” (३।२३८) ।

इस प्रकार विविध आचार्यों के मतानुसार कुछ गणों या गणशब्दों का पाठ किए जाने से यह सिद्ध हो जाता है कि वर्धमान ने किसी व्याकरण ग्रन्थ की रचना नहीं की थी तथा न उसके अनुसार गणपाठ का विवेचन ही प्रस्तुत किया था । यदि उन्होंने स्वरचित व्याकरण के खिलपाठ के रूप में गणों का प्रवचन किया होता तो उतने ही गणों पर विचार होना चाहिए था । जितने गणों का निर्देश शब्दानुशासन में किया गया होता । उस स्थिति में यह कहना सम्भव न होता कि ‘ऋक्पूरुषूपयात्’ सूत्र से ही समासान्त प्रत्यय की सिद्धि हो जाने पर भी ‘शरदादि’ गण का पाठ वृद्धवैयाकरणों के मतानुरोध से किया गया है (२।१३५) ।

उपरिदर्शित प्रकरण के अनुसार ग्रन्थकार ने अनेक प्रामाणिक आचार्यों के मतों का संग्रह किया है । इसके अतिरिक्त क्वचित् किन्हीं मतों को अनुचित बताने का अभिमत भी दिखाया है, जिससे ग्रन्थकार की समीक्षापरक बुद्धि का परिचय

प्राप्त होता है। इसके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं

१ 'पञ्चकृत्व' आदि विभक्त्यर्थप्रधान अव्ययो से कौन विभक्ति होती है इसके सम्बन्ध में सुधाकरप्रभृति आचार्यों का मत स्वीकार नहीं किया है जिसके अनुसार अव्ययो से पञ्चमी आदि विभक्तियों की उत्पत्ति तथा उनको लुक् माना जाता है। यहाँ ग्रन्थकार ने उत्सर्गत् प्राप्त प्रथमा-एकवचन को न्याय्य कहा है

“पञ्चकृत्व प्रभृतयस्तु विभक्त्यर्थप्रधाना । स च विभक्त्यर्थं प्रातिपदिकार्थं सपन्न इति प्रातिपदिकार्थे प्रथमैव भवति । साऽपि सख्या विशेषाभावान्न सर्वा किं तेहि एकवचनमेव, तस्योत्सर्गत्वात् । तथा चोक्तम् एकवचनमुत्सर्गत् करिष्यत इति । एतन्न समतम् ।

सुधाकरस्त्वाह । प्रथमैव नि सख्येभ्योऽपि न्याय्या” (१।१७) ।

२ भाष्य, वृत्ति के अनुसार 'परमसर्पि कुण्डिका' प्रत्युदाहरण को ही ठीक बताया है “परमसर्पि फलमित्येवमादिप्रत्युदाहरण पारायणिका आहु । भाष्ये, वृत्ती “नित्य समासेऽनुत्तरपदस्थस्य” (पा० दा३।४५) इत्येत परमसर्पि कुण्डिका इत्येतदेव प्रत्युदाहरणम् । अस्माकं चायमेव पक्ष समतः” (१।१६) ।

३ 'स्वस्त्राणि' गण में पाणिनि द्वारा युष्मद्, अस्मद् शब्दों का पाठ न करना सगत नहीं माना है (द्र०-१।४२) ।

४ गौरादिगण में पठित 'अनडुही' शब्दविषयक वामन आदि के मतों को अयुक्त सिद्ध किया है ।

५ कुण्डादिपात्रादिगणपठित 'शम्भली' शब्द को वामनाचार्य द्वारा निर्दिष्ट 'दूती' अर्थ को लक्ष्यहीन बताया है (१।५७) ।

६ सुन्दरशब्दविषयक किसी आचार्य के मत को समीचीन नहीं बताया है (१।५७) ।

७ 'उत्कर्षार्थिक 'सार' शब्द का प्रयोग केवल पुल्लिङ्ग में ही होता है' इस जयादित्य के मत की अयुक्तता अनेक उदाहरणों द्वारा सिद्ध की है (२।७२) ।

८ अन्नविकार तथा अपूपदि के विषय में अपना स्वतन्त्र मत प्रस्तुत किया है

“शाकटायनमतमाश्रित्यान्नविकाराश्चेति न पठितम् । अन्ये तु प्रदीपशब्दमपि पठन्ति । शाकटाङ्गज । अस्माकं त्वयमाशय शङ्कुलीमोदकप्रभृतयोऽन्नविकाराः पृथुकापूपोदयस्त्वन्नमेव विशिष्टावस्य नान्नविकार इति पृथगुपादानम्” (५।३५६) ।

इस प्रकार अनेक पूर्वाचार्यों के मतों की समीक्षापूर्वक लिखे गए वृत्तिग्रन्थ का संस्कृतव्याकरण के क्षेत्र में अद्वितीय स्थान है । यदि इस ग्रन्थ की सभी सूचनाओं का अन्वेषण कर उनकी समीक्षा की जाए तो उससे किसी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि की सम्भावना की जा सकती है । संक्षेप में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आचार्य

वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि तथा उसकी स्वोपज्ञवृत्ति बनाकर मन्त्र-वैयाकरणों का महान् उपकार किया है। उन्होंने जिन मतों को अयुक्त माना है उनमें प्रवल प्रमाण भी प्रस्तुत किए हैं और अपने निजी अस्मिन्मत को भी तर्कसम्मत होने के कारण ही दर्शाया है। जिन अनेक आचार्यों के मतानुसार गणो तथा गणशब्दों का समादर किया है उनका नामोल्लेख करने में सकोच नहीं किया गया है, जिसमें किसी मतविशेष का समादर करने या उपेक्षा करने के उद्देश्य से ग्रन्थ की रचना नहीं कही जा सकती है। गणरत्नमहोदधि के प्रारम्भ में जिन आचार्यों के प्रति अपनी विशेष श्रद्धा व्यक्त की गई है वे आचार्य विविध सम्प्रदायों के हैं, जिससे यह ग्रन्थ किसी संप्रदाय विशेष का भी अनुकरण करने वाला नहीं कहा जा सकता है।

### पाणिनीय आदि व्याकरणों पर जैन-आचार्यों की टीकाएँ

क्रम सं.	टीकाएँ	जैन-आचार्य	आधारभूत व्याकरण
१	अनिदकारिकावचूरि	मुनि क्षमामाणिक्य	सिद्धान्त चन्द्रिका (२)
२	अनिदकारिकास्वोपज्ञवृत्ति	हर्षकीर्तिसूरि	सिद्धान्तचन्द्रिका (३)
३	कलापदीपिका	गौतम पण्डित	कातन्त्र (१)
४	कातन्त्रदीपक	मुनिहर्ष	कातन्त्र (२)
५	कातन्त्रपञ्चिकोद्घोत	त्रिविक्रम	„ (१०)
६	कातन्त्रभूषणम्	धर्मधोपसूरि	„ (१४)
७	कातन्त्रमन्त्रप्रकाश	कर्मधर	„ (३)
८	कातन्त्ररूपमाला	मुनीश्वर भावसेन	„ (४)
९	कातन्त्रवाक्यविस्तर	पण्डित राम	„ (१५)
१०	कातन्त्रविभ्रमटीका	जिनप्रभसूरि	„ (१६)
११	कातन्त्रविभ्रमावचूर्णि	साधुचारित्रसिंह	„ (५)
१२	कातन्त्रविभ्रमावचूर्णि	गोपालाचार्य	„ (६)
१३	कातन्त्रविस्तर	वर्धमान	„ (७)
१४	कातन्त्रवृत्तिपञ्चिका	त्रिलोचनदास	„ (८)
१५	कातन्त्रवृत्तिपञ्चिका	सोमकीर्ति	„ (१७)
१६	कातन्त्रवृत्तिपञ्चिकाप्रदीप	पण्डित देसल	„ (९)
१७	कातन्त्रोत्तरम्	विजयानन्द	„ (११)
१८	कालापप्रक्रिया	आचार्य वलदेव	„ (१२)
१९	क्रियाकलाप	जिनदेवसूरि	पाणिनीय (४)
२०	क्रियाकलाप	जिनदेवसूरि	कातन्त्र (१९)
२१	क्रियाकलाप	विद्यानन्द (विजयानन्द)	„ (१८)

२२	क्रियाचन्द्रिका	गुणरत्न	सारस्वत (२)
२३	गणरत्नमहोदधि	श्रीवर्धमान	अनेक व्याकरण (१)
२४	गणरत्नमहोदधिस्वोपज्ञवृत्ति	श्रीवर्धमान	„ „ (२)
२५	चतुष्कव्यवहारदुण्डिका	धनप्रभसूरि	कातन्त्र (२०)
२६	चन्द्रिका	मेघविजय	सारस्वत (३)
२७	दीपिका	मेघरत्न	„ (४)
२८	दुर्गपदप्रबोध	जिनप्रबोधसूरि	कातन्त्र (२२)
२९	दुर्गपदप्रबोध	प्रबोधभूतिगणि	„ (२१)
३०	दुर्गवृत्तिटिप्पणी	पण्डित गोलहण	„ (२३)
३१	दीर्गसिहीवृत्ति	प्रद्युम्नसूरि	„ (२४)
३२	धातुतरङ्गिणी	हर्षकीर्तिसूरि	सारस्वत (५)
३३	धातुपारायणम्	पण्डित नन्दी	कातन्त्र (२५)
३४	न्यायरत्नावली	दयारत्नमुनि	सारस्वत (६)
३५	पञ्चसन्धिटीका	मुनि सोमशील	„ (७)
३६	पञ्चसन्धिवालावबोध	उपाध्याय राजसी	„ (८)
३७	प्रक्रियामञ्जरी	विद्यासागर मुनि	पाणिनीय (३)
३८	प्रक्रियावृत्ति	विशालकीर्ति	सारस्वत (९)
३९	वालशिक्षाव्याकरणम्	ठक्कुर सत्रामसिंह	कातन्त्र (१३)
४०	वालावबोध	हरिकलशोपाध्याय	„ (२७)
४१.	वालावबोध	मेरुतुङ्गसूरि	„ (२६)
४२	भाषाटीका	आनन्दनिधान	सारस्वत (१०)
४३	भूधातुवृत्ति	क्षमाकल्याण मुनि	सिद्धान्तचन्द्रिका (४)
४४	मुग्धावबोध-औक्तिकम्	कुलमण्डनसूरि	सिद्धान्तचन्द्रिका (५)
४५	यशोनन्दिनी	यशोनन्दी	सारस्वत (११)
४६	रूपरत्नमाला	नयसुन्दर	„ (१२)
४७	विद्वेज्विन्तामणि	विनयसागरसूरि	„ (१३)
४८	वृत्तित्रयनिबन्ध	राजशेखरसूरि	कातन्त्र (२८)
४९	व्याकरणसिद्धान्त सुधानिधि	विश्वेश्वरसूरि	पाणिनीय (१)
५०	शब्दप्रक्रिया साधनी	विजयराजेन्द्रसूरि	सारस्वत (१४)
५१	शब्दार्थचन्द्रिका	हंसविजयगणि	सारस्वत (१५)
५२	शब्दावतारन्यास	देवनन्दी	पाणिनीय (२)
५३	सारस्वतक्रियारूपमाला	पद्मसुन्दरगणि	सारस्वत (२०)
५४	सारस्वतटीका	मुनि सत्यप्रबोध	„ (१६)
५५	सारस्वतटीका	यतीश विद्वान् (सहजकीर्ति)	„ (१७)

५६ सारस्वतटीका	देवचन्द्र	„ (१८)
५७ सारस्वतटीका (धनसागरी)	धनसागर	„ (१८)
५८ सारस्वतमण्डनम्	मण्डन	„ (२१)
५९ सारस्वतवृत्ति	भानुचन्द्र	„ (२२)
६० सारस्वतवृत्ति	महजकीर्ति	„ (२३)
६१ सारस्वतवृत्ति	हर्षकीर्तिसूरि	„ (२४)
६२ सिद्धान्तचन्द्रिका टीका	जिनरत्नसूरि	सिद्धान्तचन्द्रिका (६)
६३ सिद्धान्तचन्द्रिकावृत्ति	ज्ञानतिलक	„ (७)
६४ सिद्धान्तचन्द्रिका	जिनरत्न	सारस्वत (२५)
६५ सुवोधिनी	चन्द्रकीर्ति	„ (१)
६६ सुवोधिनी	सदानन्दगणि	सिद्धान्तचन्द्रिका (१)
६७ सुवोधिनी	रूपचन्द्र	„ (८)

### व्याकरण विशेष पर टीकाओं की सख्या

व्याकरण	कुल टीकाएँ
पाणिनीय	०४
कातन्त्र	२८
सारस्वत	२५
सिद्धान्तचन्द्रिका	०८
गणपाठ व्याकरण	०२
योग	६७

### टिप्पणी

इस वातन्त्र-व्याकरण को जैन व्याकरण स्वीकार किया गया है।

डॉ० (स्व०) नेमिचन्द्र शास्त्री ने 'व्याकरणशास्त्र को जैन आचार्यों के योगदान' नामक लेख में इस बात को सप्रमाण पुष्ट किया है

द्रष्टव्य 'जैन विद्या का सांस्कृतिक अवदान'

आदर्श साहित्य सघ प्रकाशन, १९७५

## भिक्षुशब्दानुशासन : एक परिशीलन

### मुनि श्रीचंद्र 'कमल'

तेरापथ धर्मसंघ के अष्टमाचार्य कालूगणी का संस्कृत विद्या के प्रति विशेष लगाव था। वे अपने संघ में इस विद्या का विकास देखना चाहते थे। इस विद्या के विकास के लिए व्याकरण का अध्ययन आवश्यक था। उस समय सारस्वत और सिद्धान्त चंद्रिका ये व्याकरण उपलब्ध थे। सारस्वत का पूर्वार्द्ध और सिद्धान्त चंद्रिका का उत्तरार्द्ध पढ़ा जाता था। सार कौमुदी मिलने पर उसका अध्ययन चलने लगा। सिद्धान्त चंद्रिका के समास आदि अपूर्ण स्थलों की पूर्ति सार कौमुदी से की जाती थी। दोनों व्याकरणों को मिलाकर पढ़ना अपने आप में उलझन भरा था। उस स्थिति में आचार्यश्री कालूगणी की प्रबल भावना बनी कि तेरापथ संघ में एक ऐसा संस्कृत व्याकरण हो जो सरल, सुबोध और समयोपयोगी हो। उनकी इस भावना को आकार देने वाले विद्वद्वर्य मुनिश्री चोथमल जी हुए। उनका अध्ययन आचार्य कालूगणी की देख-रेख में संपन्न हुआ था। व्याकरण उनका सबसे प्रिय विषय रहा। इसी सदर्भ में उन्होंने पाणिनीय, शाकटायन, सारस्वत, सिद्धान्त चंद्रिका, मुगबोध, सारकौमुदी, जैनेन्द्र और सिद्धहेमशब्दानुशासन आदि व्याकरणों का गहरा अध्ययन व अनुशीलन किया। वर्षों के अध्ययन के बाद आपने एक सर्वाङ्गपूर्ण संस्कृत व्याकरण की रचना की जिसका नाम विशाल-शब्दानुशासन रखा। विशालशब्दानुशासन के सूत्रों में परिवर्तन और परिवर्धन कर इस व्याकरण का निर्माण हुआ था। इसलिए प्रारंभ में इसका नाम विशाल-शब्दानुशासन रखा। मुनिश्री गणेशमलजी की प्रेरणा रही कि इसका नाम भिक्षु-शब्दानुशासन रखा जाए। मुनिश्री चोथमलजी आचार्य कालूगणी के पास गए और नाम के लिए निवेदन किया। पास में विराजित मंत्री मुनि मंगनलालजी स्वामी ने कहा 'गैं तो प्रारंभ से कहता आ रहा हूँ कि इसका नाम भिक्षुशब्दानुशासन रखा जाए। मंत्री मुनि की बलवती प्रेरणा पर ध्यान देकर कालूगणी ने स्वीकृति दे दी। उदयपुर में विक्रमी संवत् १९६२ में उसका नाम भिक्षुशब्दानुशासन कर दिया गया।

भिक्षुशब्दानुशासन के सूत्रों की रचना मुनिश्री चोथमलजी ने की और

उसकी बृहद् वृत्ति की रचना सोना मई (अलीगढ़, उत्तरप्रदेश) निवासी आयुर्वेद-  
चार्य आशु कविरत्न पंडितश्री रघुनन्दन शर्मा ने की। पंडितजी व्याकरण के पार-  
गामी विद्वान् थे। पाणिनीय व्याकरण के अष्टाध्यायी सूत्र उनकी स्मृति में इतने  
जमे हुए थे कि कभी अनुलोम से, कभी विलोम से, उनका धाराप्रवाह पाठ करते  
थे। इन सूत्रों के पाठ करने का उनका समय होता था, जब प्रातः वे घूमने जाते  
थे। प्रतिदिन पूर्ण अष्टाध्यायी के सूत्रों का पाठ करना उनका क्रम बन गया था।  
उनका यह क्रम लंबे समय तक चला। मुनिश्री चोथमलजी और आशु कविरत्न  
प० रघुनन्दनजी— दोनों के संयोग से विशालकाय श्री भिक्षुशब्दानुशासन व्या-  
करण तैयार हुआ। यह व्याकरण अपने आप में पूर्ण है। इसमें शब्दों को अनु-  
शासन करने वाले केवल सूत्र ही नहीं हैं, उनकी व्याख्याएँ भी हैं, लघु और बृहद्  
वृत्ति भी हैं। यह व्याकरण घातुपाठ, गणपाठ, उणादि, लिङ्गानुशासन, न्याय दर्पण  
कारिका संग्रह वृत्ति आदि अवयवों से पूर्ण है। यह अभी अप्रकाशित है इसलिए  
सर्वजन भोग्य नहीं होकर केवल तेरापथ के साधु, साध्वियों के अव्ययन तक ही  
सीमित है। इसकी प्रक्रिया कालूकौमुदी के नाम से प्रकाशित है। कालूकौमुदी के  
माध्यम से श्री भिक्षुशब्दानुशासन का परिचय सहज ही मिल जाता है। श्री भिक्षु-  
शब्दानुशासन में सूत्रों की रचना सरल व स्पष्ट है, उच्चारण की क्लिष्टता नहीं  
है। जैसे प्रत्याहार सूत्र अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ ह य व र ल ञ  
न ङ म ञ ढ घ ष भ ज ड द ग व ख फ छ ठ थ च ट त क प श  
प स। इस सूत्र में सविक के अभाव में उच्चारण की स्पष्टता है।

### रचनाकाल

श्री भिक्षुशब्दानुशासन की रचना थली प्रदेश में छापरा (आचार्य कालूगणी  
की जन्मभूमि) में संपन्न हुई। इस व्याकरण का रचनाकाल विक्रम संवत् १९८०  
से १९८८ है। वि० सं० १९८८ के माघ शुक्ला त्रयोदशी शनिवार को पुण्य नक्षत्र  
में यह व्याकरण पूर्ण हुआ। यह उसकी प्रशस्ति से स्पष्ट है बृहद् वृत्तिकार द्वारा  
कृत प्रशस्ति इस प्रकार है

आभीत् कश्चिद् विपश्चिद् धृतपदकमलो भिक्षुनामा मुनीन्द्रो ।

य श्री जनोदिताना मनुभव विभवै भूरि भावान् विभाव्य ॥

मुग्धानुद्धर्तुं काम सपदि निपतितान् पापि पापण्डि जाले ।

तेरापन्थात्त्व मर्त्य व्यरचयत सता सपद सम्प्रदायम् ॥१॥

भारीमाल स्तदनुमुनिपो रायचन्द्र स्ततोऽभूत् ।

जात. पश्चादङ्गणितगुणो जीतमल्लो गणीश ॥

नन्यान्तेऽमूद् गणपमधवा नत्पदे चोत्तमोऽस्यात् ।

श्री माणिक्य स्तदनु च मतो डालचन्द्रो मुनीन्द्र ॥२॥



समुपगम्य ततोष्टमपट्टक, नियमिना यमिना घुरिकीर्तित ,  
 क्षितितले गणिकालुरय गुणैरति विभाति विभाकरवत् करै ॥३॥  
 शुभगुणगणारामे मेघ कुमारगंगाशति.,  
 दुरिततिमिरध्वसे भानुर्भवाब्धि-धटोद्भव. ।  
 शुभातिकमला दातु शक्तो जिनेन्द्रसमो भुवि,  
 स जयतु महाराज कालुश्चिर गुणमदिरम् ॥४॥  
 तच्छिष्यवर्यमुनिचौथमलाभिधेन,  
 सम्यक्तया मयितशब्दमहोर्णवेन ।  
 एक कलासु सकलास्वपि दिक्षु भिक्षु-  
 शब्दानुशासनमिद निरमाय्यमेयम् ॥५॥  
 सर्वं गुरोर्भवति यन्मम किञ्चन स्या-  
 देव विचार्य भतिमानिति शब्दशास्त्रे ।  
 ग्रन्थे स्वतो विरचितेऽपि गणिप्रधान-  
 श्रीभिक्षुनाम निजकर्तृपदे न्ययुङ्क्त ॥६॥  
 नोणादिघातुगणवद्धविधिः परेषा,  
 पुष्टे कृशाम्बरमिवेह सुजाघटीति ।  
 तत्रोक्त पाठमपि तत् परिवर्त्य सम्य-  
 गक्षुण्णधी परिचय. समदायि कर्त्रा ॥७॥  
 एतद् विवृण्वन्तमलीगढस्थित-  
 सुनामयीग्रामनिवासि भूसुरम् ।  
 स्थलीस्थले वैद्यकवृत्तिवर्तिन,  
 जानीत त मा रघुनन्दनाह्वयम् ॥८॥  
 श्री पूज्यसेवकपलाभिलाषिण ,  
 सत् साधुसङ्गे सुतरा विलासिनम् ।  
 प्राप्यावकाश निज वैद्यवृत्तित ,  
 प्रवर्तमान वृत्तवृत्तिवर्णने ॥९॥  
 सरससरलसूत्र निर्विवाद वरेण्य,  
 सद्यहृदयसेव्य स्वल्पकालाभिलभ्यम् ।  
 निजविषयविशेष भैक्षव शब्दशास्त्र,  
 जयतु जगति नित्य साधुसाव्य तदेतत् ॥१०॥  
 नगाङ्ग निष्यञ्जतपस्त्रयोदशी-  
 दिने सचन्द्रे शनिपुण्ययोजिते ।  
 निवेशने छापरनामके वरे,  
 वृत्ते समाप्ति सुखपूर्विकाऽभवत् ॥११॥

वृहद्वृत्तिकार का मगलाचार इस प्रकार है  
यत्पाणिपल्लवतलोपितवल्लवोपि,  
प्राप्नोति लोकविरल कविवल्लभत्वम् ।  
तस्या गुणीन्द्रगणवन्धपदोत्पलाया,  
वाण्या वरेण्यशरण प्रणिपद्यमानः ॥१॥  
श्रीचोयमल्लमुनिनिमित्तरम्यभिक्षु-  
शब्दानुशासनमिदं विवृणोमि वृत्त्या ।  
हृष्यन्तु यल्ललितमूत्ररम्य निपीय,  
भृङ्गा मरन्दमिव विजजनाग्रगण्या ॥२॥  
येषां नितान्तनिहितैः कण्ठाकटाक्षै-  
र्नव्योद्यमो भवति मस्कृतशब्दशास्त्रे ।  
तेषां गणाधिपतिकालुमुनीश्वराणां,  
जीयाञ्चिर रुचिरसञ्चरणाञ्जरोचि ॥३॥

श्रीमज्जनश्वेताम्बरतेरापथाभिधसप्रदायाद्यपुरुषभिक्षुगणिराज सवन्धि-  
शब्दानुशासनं भिक्षुशब्दानुशासनम् ।

ग्रन्थकर्त्री महामहिम्नामादिगुरुणा श्री भिक्षूणामेव तत्कृपयैव जायमान-  
त्वादभिवानेन प्रकाशयते ॥

भिक्षुशब्दानुशासन के ८ अध्याय हैं । प्रत्येक अध्याय में चार चरण हैं । आठ  
अध्यायों में ३७५१ सूत्र हैं । उनका संख्याक्रम इस प्रकार है

अध्याय	चरण	सूत्र	अध्याय	चरण	सूत्र
१	१	६७	५	१	८५
१	२	४४	५	२	१०५
१	३	६५	५	३	६०
१	४	८६	५	४	१२४
२	१	१२३	६	१	८५
२	२	१०५	६	२	१५३
२	३	११६	६	३	१४६
२	४	१२६	६	४	६४
३	१	२०१	७	१	१३२
३	२	१६०	७	२	१६१
३	३	१०३	७	३	१०८
३	४	१२०	७	४	११४

अध्याय	चरण	सूत्र	अध्याय	चरण	सूत्र
४	१	१४२	८	१	१४३
४	२	१३४	८	२	१०१
४	३	१२२	८	३	११७
४	४	११४	८	४	१३६

३७५१

३७५१ सूत्रो की टिप्पण सहित बृहद् वृत्ति की पहली प्रतिलिपि मुनिश्री चौथमलजी और सगतमलजी ने लिखी थी। फिर उसमे इतने काट-छाट हुए कि वह प्रति पढ़ने मे दुरूह हो गई। फिर स्पष्ट रूप मे प्रथम हस्त प्रतिलिपि मुनिश्री चौथमलजी ने स्वयं लिखी। विक्रम संवत् १९८९ कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी शनिवार को सरदारशहर मे वह प्रति पूर्ण हुई। वह प्रति २६१ पत्रो मे है। प्रत्येक पत्र दोनो ओर लिखा गया है। प्रत्येक पत्र मे ३८ पक्तियाँ हैं व प्रत्येक पक्ति मे ५६ से ६० तक अक्षर हैं। इस ग्रंथ का परिमाण लगभग १८ हजार श्लोक हैं।

इसकी दूसरी प्रति मुनिश्री केवलचन्द्रजी ने लिखी। तीसरी प्रतिलिपि मुनि सगतमलजी ने लिखी।

### भिक्षुशब्दानुशासन लघुवृत्ति

भिक्षुशब्दानुशासन की लघुवृत्ति लिखने का कार्य मुनि तुलसीरामजी ने प्रारम्भ किया था। कुछ ही समय बाद आचार्य पद का भार सभालने से अन्य कार्यों मे समय अधिक लगने लगा और वह वृत्ति लिखने का कार्य स्थगित हो गया। फिर इस कार्य को मुनि युगल श्री धनराजजी और श्री चन्दनमलजी दोनो ने प्रारम्भ कर विक्रम संवत् १९९५ मे पूर्ण किया। प्रशस्ति श्लोक

सच्छब्दवारानिधिपारदृश्वभि,  
श्रीचौथमलर्लिपिभिरात्तकौशली।  
सहोदरौ केवलचन्द्रनन्दनौ,  
नाम्ना प्रसिद्धौ धनराज-चन्दनौ ॥८॥  
ताभ्या निदेशाद् गणनायकाना,  
विनिर्मिता वृत्तिरिय सुखेन।  
अक्षाङ्क निध्यात्ममिते सुवर्षे,  
बोधाय भूयाल्लघु पाठकानाम् ॥९॥

यह लघुवृत्ति ७९ हस्तलिखित पत्रो मे पूर्ण हुई है। प्रत्येक पत्र के दोनो ओर

४० पक्तियाँ हैं। प्रत्येक पक्ति में ५७-५९ तक अक्षर हैं। यह ग्रन्थ ५७०० श्लोक-परिमाण है। इसकी हस्त-लिखित प्रतिलिपि मुनिश्री पूनमचदजी गगाधर वालो ने वि० स० १९८८ कार्तिक कृष्णा नवमी मंगलवार, सिद्धियोग में हासी नगर में लिखी।

### भिक्षु धातुपाठ

यह धातुपाठ ८ पत्रों में पूर्ण हुआ है। इसमें भ्वादिगण की १०८० धातुएँ, अदादिगण की ८७, दिवादिगण की १४१, स्वादिगण की २९, तुदादिगण की १६२, रुदादिगण की २६, तनादिगण की ९, क्र्यादिगण की ६१, चुरादिगण ४०७, कुल २००२ धातुएँ हैं। इसकी प्रतिलिपि मुनिश्री चदनमलजी (सिरना) ने वि० स० १९८९ फाल्गुन कृष्णा ३ को लिखकर पूर्ण की। आठ पत्रों में अकारादि अनुक्रम से धातुओं की अनुक्रमणिका है। इसके प्रतिलिपि कर्ता मुनिश्री हीरालालजी (वीदासर) बाने हैं।

### भिक्षु गणपाठ

गण पाठ की हस्तलिखित प्रति तैयार नहीं की गई है। बृहद् वृत्ति के अन्तर्गत गणपाठ पूर्णरूप से दिया गया है। केवल सकलन अवशेष है। जब आवश्यकता होगी तब उसका संकलन कर लिया जाएगा। इसी कारण अभी उसकी प्रतिलिपि नहीं है।

### उणादि वृत्ति

उणादि के चार चरण हैं। पहले चरण के २५० सूत्र, दूसरे चरण के २५० सूत्र, तीसरे चरण के २५० सूत्र और चौथे चरण के २५५ सूत्र हैं। कुल १००५ सूत्र हैं। इस ग्रन्थ में १००५ सूत्रों पर वृत्ति है। इस ग्रन्थ के वृत्तिकार मुनिश्री चौधमलजी हैं। विक्रम संवत् १९८३ वैशाख कृष्णपक्ष में चन्द्रवार को वृत्ति पूर्ण हुई। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति ३५ पत्रात्मक है। प्रत्येक पत्र में ३८ पक्तियाँ हैं और एक पक्ति में ७०-७३ तक अक्षर हैं। इसके प्रतिलिपि-कर्ता मुनिश्री मागीलालजी (पहुना) हैं। वि० स० १९८३ पौष कृष्णा ८ चन्द्रवार को प्रतिलिपि पूर्ण की।

### भिक्षुन्यायदर्पण लघुवृत्ति

इसके १५ पत्र हैं। एक पत्र में ३८ पक्तियाँ हैं। एक पक्ति में ६४ अक्षर हैं। इसमें भिक्षुशब्दानुशासन के १३५ सूत्रों की लघुवृत्ति है। इसकी हस्तलिखित प्रतिलिपि सर्वप्रथम मुनि तुलसीराम (वर्तमान नाम आचार्य तुलसी) ने विक्रम संवत् १९८९ मार्गशीर्ष शुक्ला द्वितीया को रतनगढ़ में पूर्ण की।

## भिक्षुन्यायदर्पण बृहद्वृत्ति

इसमें १३५ न्यायो पर विस्तृत वृत्ति है। वृत्तिकार मुनिश्री चौथमलजी स्वय है। उन्होंने वि० न० १६६४ के भाद्र शुक्ला ३ को इसकी बृहद्वृत्ति की रचना पूर्ण की।

वर्गखण्डरसात्माव्दे, भाद्रमासे सिते दले।

कर्मवाट्या तृतीयाया, श्रीभिक्षुन्यायदर्पणे ॥१॥

चौथमल्लाभिघ साधुर्वृहद्वृत्ति व्यधान् मुदा।

श्रीमता तुलसीराम-गणीन्द्राणा प्रसादत ॥२॥

यह न्यायदर्पण ३४ पत्रों में पूर्ण हुआ है। प्रत्येक पत्र में दोनो ओर ३८ पक्तियाँ हैं। प्रत्येक पक्ति में ६५-६७ अक्षर हैं। इसकी हस्तलिखित प्रतिलिपि मुनिश्री नयमलजी (टमकोर) ने वि० स० १६६५ में आषाढ कृष्णा १२ बुधवार को छाप में की।

## भिक्षुलिगानुशासन सवृत्तिक

१५७ श्लोकात्मक यह ग्रंथ विभिन्न छंदों में आवद्ध है। इसमें २२ वृत्तों का उपयोग हुआ है। वे ये हैं—अनुष्टुप्वृत्त, वसंततिलकावृत्त, उपजातिवृत्त, दोधकवृत्त, पञ्चमटिकावृत्त, विद्युन्मालावृत्त, शार्दूलविक्रीडितवृत्त, भुजङ्गप्रयातवृत्त, भृदङ्कक-वृत्त, इद्रवज्रावृत्त, मदाक्रान्तावृत्त, शिखरिणीवृत्त, द्रुतविलम्बिवृत्त, मालिनीवृत्त, प्रमाणिकावृत्त, त्रोटकवृत्त, आर्यावृत्त, सगरावृत्त, स्रग्विणीवृत्त, इद्रवशावृत्त, हरिणीवृत्त, पथ्योपगतिवृत्त। इसके १५८ श्लोको के रचनाकार हैं आशुकविरत्न प० रघुनन्दनजी शर्मा। इसमें पुल्लिग अधिकार के २१ श्लोक, स्त्रीलिङ्ग अधिकार के ३६ श्लोक, नपुंसक लिङ्ग अधिकार के ३० श्लोक, स्त्रीलिङ्ग। पुल्लिग अधिकार के १२ श्लोक, पुनपुंसक अधिकार के ३७ श्लोक, स्त्री नपुंसक अधिकार के ७ श्लोक, स्वयत्रिलिङ्गाधिकार के ६ श्लोक, परवल्लिङ्गाधिकार के ६ श्लोक हैं। इन श्लोको के वृत्तिकार हैं मुनिश्री चदनमलजी (सिरसा)। सवृत्तिक लिगानुशासन हस्तलिखित २३ पत्रों में पूर्ण हुआ है। प्रत्येक पत्र में ४० पक्तियाँ हैं और प्रत्येक पक्ति में ६३-६५ अक्षर हैं। वि० स० १६६७ ज्येष्ठ शुक्ला ६ को श्लोको की वृत्ति पूर्ण हुई। वृत्तिकार की प्रशस्ति के अंतिम तीन श्लोक इस प्रकार हैं

तत्पादसेवा समुपाश्रयद्भि, सुधीवरेण्यै रघुनन्दनाह्वयै।

आयुर्विदाचार्यवरैस्तदाशु-कवित्वकृद्-रत्नमुपादधद्भि ॥५॥

विनिर्मित तैर्ननुभिक्षुलिगानुशासन पद्यपरम्परासु।

तदीयवृत्तिर्मुनिचन्दनेन, व्यधायि बोधाय गुरो कृपात ॥६॥

सवत्यात्मनिधि द्वार द्वीपे अरदि शोभने ।

शुक्रमासे सिते पक्षे, नवम्या पूर्तिमासदत् ॥७॥

## कारिका-संग्रह वृत्ति

भिक्षुशब्दानुशासन के सूत्रों में जो कारिकाएँ आई हैं, उन श्लोको की वृत्ति इसमें की गई है। सेट अनिट निरूपण, धातु प्रत्यय अनुबंध निरूपण, वृद्धानुफल निरूपण, विशेषधातुफल निरूपण, धात्वर्थ विशेष निरूपण, धात्वर्थ उपसर्जन्यभेद प्रकाश निरूपण, द्विकर्मक गणना निरूपण, सकर्मक अकर्मक निरूपण, अनुस्वारादि निरूपण, णोपदेश निरूपण, सधि निरूपण, मान निरूपण, स्वाङ्ग निरूपण, जाति निरूपण, गुण निरूपण, इदमाद्यर्थ निरूपण, इनकी व्याख्या इस लघुकाय ग्रन्थ में है। यह ष पत्रात्मक है। प्रत्येक पत्र में ३८ पक्तियाँ और प्रत्येक पक्ति में ५६-६० अक्षर हैं। इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि मुनिश्री नथमलजी (टमकोर) ने वि० स० १९९७ श्रावण शुक्ल ६ शुक्रवार को लाहौर में पूर्ण की।

## कालुकौमुदी

यह भिक्षुशब्दानुशासन की लघुप्रक्रिया है। इस कालुकौमुदी के रचयिता मुनिश्री चौथमलजी हैं। वि० स० १९९१ आश्विन कृष्ण दशमी बुधवार को जोधपुर में उन्होंने यह प्रक्रिया परिसमाप्त की। प्रशस्ति श्लोक

तत्पादाब्जप्रसादेन, भिक्षुशब्दानुशासनी  
मुनिना चौथमल्लेन, कृतं कालुकौमुदी ॥६॥  
भूनिधिनितिचन्द्रेऽन्दे पुण्ये,  
जोधपुरे दशमीबुधदिवसे ।  
आश्विनमासे कृष्णे पक्षे  
पूर्णा कालुगणेश-समक्षे ॥७॥

यह कालुकौमुदी दो भागों में विभक्त है पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध में विषयानुक्रम इस प्रकार है सज्ञा प्रकरण, सधि प्रकरण में स्वर सधि, प्रकृति-भाव, हस सधि, विसर्ग सधि। स्यादिप्रकरण में स्वरान्त पुल्लिङ्ग, स्वरान्त स्त्रीलिङ्ग, स्वरान्त नपुंसकलिङ्ग, हसान्त पुल्लिङ्ग, हसान्त स्त्रीलिङ्ग, हसान्त नपुंसकलिङ्ग। अलिङ्गी युष्मद् अस्मद्, अव्यय प्रकरण, स्त्री-प्रत्यय प्रकरण, कारक प्रकरण, समास प्रकरण, और तद्धित प्रकरण। उत्तरार्द्ध में विषयानुक्रम इस प्रकार है

आख्यात प्रकरण में भ्वादिगण, अदादिगण, दिवादिगण, स्वादिगण, तुदादिगण, रुवादिगण, तनादिगण, क्वादिगण, चुरादिगण, कण्वादिगण है। निन्त-

प्रक्रिया, सन्नन्तप्रक्रिया, यङन्तप्रक्रिया, यङ्लुगन्तप्रक्रिया, नाम धातुप्रक्रिया, प्रत्ययमालाप्रक्रिया, पदव्यवस्थाप्रक्रिया, भावकर्मप्रक्रिया, कर्मकर्तृ प्रक्रिया, विभक्त्यर्थ-प्रक्रिया । कृदन्त प्रकरण मे पूर्वकृदन्त, उणादि, उत्तरकृदन्त ।

पूर्वाद्धि मे ७५१ सूत्र हैं और उत्तराद्धि मे ७२१ सूत्र । ८३३ धातुए हैं ।

## विशेषताएं

- १ भिक्षुशब्दानुशासन की अपनी विशेषताए हैं । क्योंकि आज तक उपलब्ध व्याकरणों मे यह अन्तिम व्याकरण है, अत अन्य व्याकरणों की अपेक्षा इसे सरल बनाने का प्रयत्न किया गया है । जैसे

पाणिनीय मे प्रत्याहार के लिए १४ सूत्र दिए गए हैं । इस व्याकरण मे केवल एक सूत्र मे सारे वर्णों का प्रत्याहार किया गया है, वर्ण अनुबन्ध रहित हैं, केवल उच्चारण की सुविधा के लिए सघि नहीं की गई है ।

२. इस व्याकरण मे धातुओं का ज्ञान प्रथम क्षण मे उच्चारण से ही हो जाता है कि यह आत्मनेपदी है, परस्मैपदी है या उभयपदी । आत्मनेपदी के लिए ङ् अनुबन्ध है और उभयपदी के लिए 'न्' अनुबन्ध स्वीकार किया गया है । परस्मैपदी के लिए कोई अनुबन्ध नहीं है । जैसे

गाङ् गाने=आत्मनेपदी

डुक्त् करणे=उभयपदी

हम् हसने=परस्मैपदी

हेमशब्दानुशासन को छोड़कर अन्य व्याकरणों मे ऐसी सरलता नहीं है कि उच्चारण के साथ ही आत्मनेपदी, परस्मैपदी आदि का बोध हो जाए । हेमशब्दानुशासन मे आत्मनेपदी और उभयपदी के लिए दो-दो अनुबन्ध स्वीकार किए हैं । आत्मनेपदी के लिए इ और ङ्, उभयपदी के लिए ई और ग् । जैसे

डुपचीस् पाके=उभयपदी

डुक्त् ग् करणे=उभयपदी

ईक्षि दर्शने=आत्मनेपदी

वदुङ् स्तुत्यभिवादनयो.=आत्मनेपदी

भू सत्तायाम्=परस्मैपदी

भिक्षुशब्दानुशासन मे केवल एक-एक अनुबन्ध स्वीकार किया गया है ।

३. धातुओं के अनुबन्ध से गणों का बोध सुगमता से हो जाता है । भ्वादि गण की धातुएं अनुबन्ध रहित हैं, शेष गणों के लिए एक-एक अनुबन्ध है । जैसे

अदादि गण के लिए क अनुबन्ध । जैसे डक् स्मरणे ।

दिवादिगण के लिए च अनुबन्ध । जैसे शोच् तनुकरणे ।

४. धातुओं के सेट्, वेट् और अनिट् की पहचान धातु के उच्चारण मात्र से हो जाती है । अनिट् धातु के लिए अनुस्वार का अनुबन्ध है और वेट् के लिए दीर्घ अकार । सेट् धातु के लिए कोई अनुबन्ध नहीं है ।
५. उट् । स्थानम् = उत्थानम् । भिक्षुशब्दानुशासन में इसकी सिद्धि केवल एक सूत्र 'उट् स्था स्तम्भो. स' १।३।६४ से हो जाती है, जबकि पाणिनीय में इसकी सिद्धि के अनेक सूत्र लगते हैं । वहाँ उट् के ट् को ट्, स को थ्, फिर थ् का लोप, ट् को ट् करके उत्थानम् रूप बनाया जाता है ।
६. शिल्पी, खनक, रजक. आदि शब्दों के लिए भिक्षुशब्दानुशासन में एक सूत्र है 'नृतिखनिरज्जिभ्य शिल्पिन्यकट्' ५।१।७६, जबकि पाणिनीय में शिल्पिनिष्पुक् ३।१।४५, सूत्र है और उसकी कात्यायन वार्तिक है 'नृति खनिरज्जिभ्य एव' और पतञ्जलि का भाष्य है 'नृति खनिभ्यामेव-प्वन्' उणादी क्वनि ।
७. लघु सिद्धान्त कौमुदी के हल् सधि प्रकरण में ४१ सूत्रों और कई वार्तिकों से जो कार्य किया जाता है, वह कार्य इस व्याकरण के केवल २३ सूत्रों से हो जाता है ।

इस व्याकरण में सरलता पर विशेष ध्यान दिया गया है । यदि 'युष्मदस्म-त्प्रकरण' के २२ सूत्रों को एक सूत्र में उनके रूपों को निपात कर देते तो और सुगमता हो जाती । वैसे ही इंगलिश और हिन्दी व्याकरण की तरह द्विवचन को स्वतंत्र स्थान नहीं देते तो और सुगमता हो सकती थी । 'गुरोवेकश्च' गुरु के लिए एक वचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग होता ही है ।

पाणिनीय और भिक्षुशब्दानुशासन में मुख्य अन्तर इस प्रकार है

१. लृदन्ता समाना १।१।६

अ से लेकर लृ तक के वर्ण ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत हो तो उनकी समान संज्ञा होती है ।

पाणिनीय में ह्रस्व और प्लुत लृकार होता है परन्तु दीर्घ लृकार नहीं होता ।

२. क समासेऽध्यर्ध १।१।५६

अव्यर्थ शब्द से क प्रत्यय या समास होने पर सख्यावद् होता है ।

अध्यर्ध 'क', अध्यर्ध सूर्यम् यह सूत्र पाणिनीय में नहीं है ।

३. अर्धपूर्वपद पूरण १।१।६०

यह सूत्र भी पाणिनीय में नहीं है ।



४. ऋणोप्रवसनकम्बलदधानवत्सरवत्सतरस्यार् १।२।२३। पाणिनीय में वत्सर शब्द नहीं है। इसलिए उससे 'वत्सराण' इस रूप की सिद्धि नहीं होती।

५. प्लुताच्च १।३।२४

पदान्त में दीर्घस्थानीय प्लुत से परे छकार को द्वित्व करता है। आगच्छ भो इन्द्रभूते इच्छन्मानय। पाणिनीय में प्लुतविधि नहीं है।

६. चपाना शसे खया वा १।३।३६

चप को शस परे हो तो खथ विकल्प सहोता है।

स्पीर, क्षीरं, अप्सरा अप्सरा

७. नेमाल्पप्रथमचरमतयड्यडर्धकतिपथानाम् १।४।२०

इस सूत्र में पाणिनीय से अयद् का ग्रहण अधिक हुआ है। इसलिए पाणिनीय व्याकरण में त्रया, यह एक रूप ही बनता है, जबकि इसमें त्रये और त्रया ये दो रूप बनते हैं।

८. नुमि वा १।४।६६

यह सूत्र अप् शब्द की उपधा को विकल्प से दीर्घ करता है। स्वाप्ति, स्वप्ति। पाणिनीय में यह सूत्र नहीं है।

९. जरसो वा २।१।२

जरस् अन्तवाले शब्द से नपुंसक में सि और अम् का लोप विकल्प से होता है। अजर, अजरस् कुल—ये रूप बनते हैं। पाणिनीय में यह सूत्र नहीं है, इसलिए ये रूप नहीं बनते।

१०. मासनिशासनस्य शसादौ वा लोपः २।१।२३

इस सूत्र से आसन शब्द के अत का लोप कर आसन् रूप बनाया जाता है। पाणिनीय में यह विधान नहीं है। वहा आस्य शब्द को आसन् आदेश किया जाता है।

११. सा राज भ्राज् यज् सृज् मृज् भ्रज् वृश्च परिव्राजा ष-२।१।११७

शकारान्त और राज् आदि के चज को ष आदेश होता है। लेप्ता, लिङ्। आदेश होने वाले शकार को भी ष आदेश करता है प्रष्टा, प्रष्टु। पाणिनीय में तो वृश्च भ्रज् दा२।३६ से छ कार को ष कार का विधान है। इस व्याकरण में छ्वो शूटी अमे च ४।३।३८ से छ कार को ष कार सिद्ध होता है।

१२. मातुलाचार्योपाध्यायाद् वा २।३।५६

उपाध्याय का स्त्रीलिंग में प्रयोग करने पर ईप् के साथ आनुक् का आगम विकल्प से होता है, इसलिए दो रूप बनते हैं उपाध्यायानी, और उपाध्यायी। पाणिनीय में, जो स्वयं ही अध्यापिका है उसके लिए दो रूप

वन्ते है उपान्यायी और उपाध्याया ।

भिक्षुशब्दानुशासन मे स्वयं अध्यापिका के लिए विशेष विधान नहीं है, इसलिए केवल एक ही रूप उपाध्याया ही बनता है ।

१३ ऊरुरूपमानसहितसहित सह शफ लक्ष्मण वामादे २।८।८५

लक्ष्मणोर । पाणिनीय मे इस सूत्र मे लक्ष्मण शब्द नहीं है इसलिए वहा लक्ष्मणोर शब्द सिद्ध नहीं होता ।

१४ कालावभावदेशमकर्म चाकर्मणाम् २।४।१८

अकर्म धातु के योग मे काल, अध्व, भाववाची शब्दों के आधार की कर्मसज्ञा विकल्प से होती है, और अकर्म होता है । मासे आस्ते, मास मास्ते ये दो रूप वन्ते हैं । पाणिनीय मे एक ही रूप बनता है मासमास्ते ।

१५ अविवक्षितकर्मणामविन् कर्ता ञौ वा २।४।२०

बिन्नन्त बनाने से पहले अविवक्षित कर्म का जो कर्ता हो उसका जब बिन्नन्त मे प्रयोग किया जाए तो उस कर्ता की कर्म सज्ञा विकल्प से होती है । जैसे पचति चैत्र । यहा कर्म की विवक्षा नहीं की गई है । बिन्नन्त मे इसका रूप बनेगा पाचयति चैत्र चैत्रेण मैत्र । यहा चैत्र कर्ता की कर्म सज्ञा विकल्प से हुई है । पाणिनीय बिन्नन्त कर्ता की कर्म सज्ञा विकल्प से नहीं करता, इसलिए वहा एक ही रूप बनेगा पाचयति चैत्रेण मैत्र ।

१६. निकषासमयाहाधिगन्तरान्तरेणातियेनतेनै २।४।४६

निकषा आदि युक्त नाम मे द्वितीया विभक्ति होती है । पाणिनीय मे 'येन तेन' शब्द नहीं है, इसलिए उनके वहा 'येन तेन' युक्त नाम मे द्वितीया विभक्ति नहीं होती । 'येन तेन वा पश्चिमा गत' ऐसा वाक्य नहीं बनता ।

१७ द्विद्रोणादिभ्यो वीप्साया वा २।४।६२

वीप्सा के अर्थ मे द्विद्रोण आदि गौण शब्दों से तृतीया विभक्ति विकल्प से होती है । 'द्विद्रोणेन धान्य क्रीणाति द्विद्रोण द्विद्रोण क्रीणाति' । पाणिनीय मे यह सूत्र नहीं है ।

१८ हितसुखाभ्या २।४।७२

हित और सुख के योग मे चतुर्थी और षष्ठी विभक्ति होती है । मैत्राय मैत्रस्य सुरवम् । पाणिनीय मे सुख के योग मे केवल चतुर्थी ही होती है, षष्ठी नहीं । मैत्राय सुखम्, एक रूप ही बनेगा ।

१९. भावे वा २।४।१०१

भाव मे क्त प्रत्यय हो तो कर्ता मे षष्ठी और तृतीया विभक्ति होती है । छात्रस्य हसित, छात्रेण हसितम् । पाणिनीय मे इस अर्थ मे षष्ठी

विभक्ति विधायक कोई सूत्र नहीं है लेकिन 'अधिकरणवाचिनश्च' २।३।६८ इस सूत्र से नित्य षष्ठी होती है, तृतीया विभक्ति नहीं होती। इसलिए छात्रेण हसितम् यह रूप पाणिनीय में नहीं बनेगा।

२० पारेमध्येन्त ५७५ वा ३।१।३०

पारे आदि नाम षष्ठी अन्त वाले नाम के साथ विकल्प से समास होता है। उसके योग में पारे, मध्ये, अग्रे इन तीन नामों में जो एकारान्त है, वह निपात रहता है, उसका लोप नहीं होता।

पार गङ्गा (या.) = पारेगङ्गा, मध्येगङ्गा,

अग्र वनस्य = अग्रेवण, अन्तर्वण।

पाणिनीय में इस सूत्र में अग्रे और अन्तर् इन दो शब्दों का ग्रहण नहीं किया गया है। इस सूत्र से उनके अग्रेवण और अन्तर्वण ये रूप नहीं बन सकते।

२१ द्वित्रिचतुष्पूरणोग्रादयः ३।१।३६

यह सूत्र द्वि, त्रि और चतुर् शब्द पूरण प्रत्ययान्त तथा अग्र आदि शब्दों से अश-अशि-समास मानता है। पाणिनीय अग्र आदि शब्दों से अग-अशि-समास नहीं मानता है।

२२ अर्धचतस्र ३।१।४६

अर्धचतस्र मात्रा। पाणिनीय में यह सूत्र नहीं है।

२३ परशत परसहस्र परोलक्षा ३।१।६२

इस सूत्र से परशत, परसहस्र, परोलक्षा। ये तीन रूप बनते हैं। पाणिनीय में यह सूत्र नहीं है अतः ये रूप नहीं बनते।

२४ सर्वपश्चादयः ३।१।६८

सर्वपश्चाद् सर्व चिर ये शब्द निपात हैं। पाणिनीय में यह सूत्र नहीं है।

२५. सिंहादिभि पूजायाम् ३।१।७६

पूजा के अर्थ में सिंह आदि शब्द उपमा के अर्थ में निपात हैं। समरे सिंह इव समरसिंहः। पाणिनीय में यह सूत्र नहीं है।

२६. अव्यय प्रवृद्धादिभि ३।१।८७

अव्यय नाम प्रवृद्ध आदि के नाम के साथ नित्य समास होता है। पुन प्रवृद्ध, पुनरुत्स्यूत वासः।

पाणिनीय में यह सूत्र नहीं है। इन शब्दों का अव्यय के साथ समास नहीं होता।

२७ कृतापकृतादयः ३।१।१०६

कृतापकृत आदि शब्द निपात हैं। पाणिनीय में यह सूत्र नहीं है।

२८. आसन्नङ्गाधिकाध्यर्धादिपूरण द्वितीयाधन्यायें ३।१।१२६

अध्यर्धं त्रिंशः, अर्धं पञ्चमं त्रिंशः । पाणिनीय में इस सूत्र में होने वाले शब्दों में अध्यर्ध और अर्ध ये दो शब्द नहीं हैं, इसलिए वहाँ इनके साथ समास नहीं होता ।

२९. मासर्तुभ्रातृनक्षत्राण्यानुपूर्व्येण ३।१।१२७

मास, ऋतु आदि शब्दों का द्वन्द्व समास में अनुपूर्व में निपात होता है । फाल्गुनचैत्री, वैशाखज्येष्ठी । पाणिनीय इनमें मास वाचि शब्दों में यह क्रम स्वीकार नहीं करता ।

३०. सख्या समासे ३।१।१२८

समास मात्र में सख्याओं को अनु पूर्व से प्राक् निपात करता है ।  
द्वित्रा, त्रिचतुरा ।

पाणिनीय में यह सूत्र नहीं है ।

३१. ओजोञ्जोम्भ महस्तपस्तमस्तृतीयाया ३।१।१२

इन शब्दों से आगे उत्तरपद हो तो उनकी तृतीया विभक्ति का लोप नहीं होता । ओजसा कृतम्, तपसा कृतम् । पाणिनीय तपसा कृतम् रूप को स्वीकार नहीं करता ।

३२. अपोयथोनिमतिचरेषु ३।२।२८

अप् शब्द से परे य, योनि, मति और चर शब्द हो तो सप्तमी विभक्ति का लुक् नहीं होता । पाणिनीय में मति और चर शब्द इस अर्थ में ग्रहण नहीं किए गए हैं । इसलिए अप्युमतिः, अप्युचर ये दो रूप पाणिनीय में नहीं बनते ।

३३. वर्षक्षरगरवराप्सरउरो मनसो जे ३।२।२९

ज उत्तर पद में हो तो इन शब्दों की सप्तमी विभक्ति का लोप विकल्प से होता है । वर्षेज वर्षज ।

पाणिनीय अप्, सरस्, उरस्, मनस् इतने शब्दों से सप्तमी का लोप विकल्प से नहीं मानता ।

३४. प्रावृड्वर्षागिरत्कालदिव ३।२।३०

प्रावृष्, वर्षा, शरत्, काल और दिव् शब्दों से परे ज शब्द उत्तर पद में हो तो इन शब्दों की सप्तमी विभक्ति का लोप नहीं होता । पाणिनीय में वर्षा शब्द ग्रहण नहीं किया गया है । उनके अनुसार वर्षासुज रूप नहीं बनता ।

३५. शुन गेपुच्छलाङ्गूलेषु सज्ञायाम् २।३।३५

श्वन् शब्द की षष्ठी विभक्ति का लुक् नहीं होता, यदि उत्तर पद में शेप आदि शब्द हो और यदि उससे सज्ञा का अर्थ निकलता हो ।

पाणिनीय सज्ञा अर्थ के बिना ही इस सूत्र को स्वीकार करता है।

३६. नस् नासिकायास्तस् क्षुद्रयो ३।२।११६

नासिका शब्द को नस् आदेश होता है, य प्रत्यय परे हो तो, वर्ण अर्थ को छोड़कर। नासिकायै हितं तत्र भव वा नस्यम्। पाणिनीय में यह सूत्र नहीं है।

३७ ये ऽ वर्ण ३।२।१२०

नासिका शब्द को नस् आदेश होता है, य प्रत्यय परे हो तो, वर्ण अर्थ को छोड़कर। नासिकायै हितं तत्र भव वा नस्यम्। पाणिनीय में यह सूत्र नहीं है।

३८ क्रिया व्यतिहारेऽगति हिंसाशब्दार्थहसोह्वहश्चाऽनन्योन्यार्थे ३।३।२०

क्रिया व्यतिहार में वर्तमान गति, हिंसा शब्दार्थ और हस धातु को छोड़कर ह तथा वह धातु से कर्ता में आत्मनेपद होता है। व्यतिहरन्ते भार स सविवहन्ते वर्ण। पाणिनीय इस विधान में वह धातु को स्वीकार नहीं करता।

३९ शके जिज्ञासायाम् ३।३।६२

शक् धातु को जिज्ञासा के अर्थ में प्रयुक्त करे तो कर्ता में आत्मनेपद होता है। विद्या शिक्षते, ज्ञातु शक्नुयामितीच्छतीत्यर्थ। पाणिनीय में यह सूत्र नहीं है। वह इसे स्वीकार नहीं करता।

४० चल्पाहारार्थबुधयुधनश्जनेड्प्रुद्रुष्म्य. ३।३।१०३

चल् और आहार अर्थ वाली वातुए तथा बुध आदि धातुओं से अत्रिन् कर्ता की जिनन्त में कर्म सज्ञा करता है। पाणिनीय इस सूत्र में आहार अर्थ वाली अद् धातु को स्वीकार नहीं करता है।

४१ नगृणाशुभश्च ४।१।१६

गृण, शुभ् और च् धातु के योग से भृशाभीक्ष्ण्यादि अर्थ में यङ् प्रत्यय नहीं होता है। गृहित गृणाति, भृग शोभते।

पाणिनीय गृण् धातु को यहा स्वीकार नहीं करता।

४२ नोतः ४।१।१२

उकारात से विहित यङ् प्रत्यय का लुक् नहीं होता। योयूय रोरूय। पाणिनीय में ये दोनो रूप नहीं बनेंगे, क्योंकि वहा यङ् का लोप होता है।

४३ वाष्पोष्मधूमफेनादुद्वमने ४।१।२८

वाष्प, ऊष्म, धूम और फेन शब्दों से उद्वमन अर्थ में क्यङ् प्रत्यय विकल्प से होता है। वाष्पायते, ऊष्मायते, धूमायते, फेनायते। पाणिनीय में धूमायते नहीं होता।

४४. पुनरेकेषाम् ४।१।८१

यह सूत्र पाणिनीय में नहीं है।

४५. इको वा ४।२।१६

इक स्मरणे, इस धातु को यकार आदेश विकल्प से होता है, पिद्-वर्जित स्वर आदि शित् प्रत्यय परे हो, अधियन्ति, अधीयन्ति। पाणिनीय नित्य स्वीकार करता है।

४६. जृ अम वम तस फण स्थम स्वन राज भ्राज भ्राश म्लाशा वा ४।१।१३०

इन धातुओं के अकार को एकार आदेश विकल्प से होता है। लेकिन द्वित्व नहीं होता, पिद् वर्जित णवादि और सेट् यप् प्रत्यय परे हो तो। जेरतु जजरतु। पाणिनीय वम धातु से विकल्प से स्वीकार नहीं करता।

४७. विश्रमेर्वा ४।२।२७

वि पूर्वक अम धातु को विकल्प से वृद्धि करता है, ञिगति, कृत्प्रत्यय और णि प्रत्यय परे हो तो विश्रामः, विश्रमः। पाणिनीय वृद्धि का निषेध करता है।

४८. नशे नैश वाडे ४।२।७०

नश् धातु को डे परे होने पर नेश् विकल्प से आदेश होता है। अनेशत्, अनशत्, ये दो रूप बनते हैं। पाणिनीय तो केवल 'अनशत्' यह एक रूप ही स्वीकार करता है।

४९. कृप ऋतलृदकृपणादीनाम् ४।२।७२

कृप धातु के ऋकार को लृकार आदेश होता है परन्तु कृपणादि शब्दों को नहीं। वलृप्तः। कृपणः। पाणिनीय कृपण आदि शब्दों का निषेध स्वीकार नहीं करता।

५०. णिब्वपिवोरनटि वा ४।३।३५

णिब्व और पिव् धातु को दीर्घ विकल्प से होता है, अनिद् प्रत्यय परे हो तो। निष्ठीवनम्, सीवन।

पाणिनीय इस विधान को स्वीकार नहीं करता।

५१. वेटो ऽपतः ४।३।६१

पत् धातु को विकल्प से इद् न होने से नित्य इद् होता है, पतित रूप बनता है।

पाणिनीय में 'तनि पति दरिद्रातिभ्यः सनो वा इङ् वाच्य' इति सद्भावात् यस्य विभाषा ७।२।१५ इति इण्निषेधवारणाय पतते-निषेधोन्वेषणीयः।

५२. वम जप त्वर ऋ मधुपा स्वनऽश्वसा म ४।३।१०३

वम आदि शब्दों से परे क्त प्रत्यय हो तो इद् विकल्प से होता है।

वान्तः, वमित । जप्त् जपित । पाणिनीय वम्, जप्, श्वस् इन तीन धातुओं से विकल्प से इट् स्वीकार नहीं करता, उनके अनुसार वमित, जपित. श्वसित. रूप ही बनेंगे ।

५३ सस्मे दिवादिश्च ४।४।१११

स्म शब्द सहित माङ् उपपद में हो तो धातु से दिवादि और द्यादि विभक्ति होती है । मास्म करोत्, मास्मकार्पीत् । पाणिनीय इस विधान को स्वीकार नहीं करता है ।

५४ श्लिष शीङ् स्यास वस जन रुह भज जृभ्य ५।१।१०

इन धातुओं से होने वाला व्त प्रत्यय कर्ता में विकल्प से होता है, विभक्ता भ्रातरो रिक्थम्, विभक्त भ्रातृभि रिक्थम् । पाणिनीय में भज् धातु से कर्ता में विकल्प से नहीं होता ।

५५ यजिभजिभ्या वा ५।१।२८

यज् और भज् धातु से य प्रत्यय विकल्प से होता है । पक्ष में घ्यण् भी होता है । यज्य, भज्य, याज्य भाज्यम् । पाणिनीय में विकल्प से दो रूप नहीं बनते ।

५६ ऋदुपधादऽकृपिचृदृच ५।१।३६

यह सूत्र कृप्, चृद् और ऋच् को छोड़कर ऋ कार उपधा वाली धातुओं से क्यप् प्रत्यय होता है ।

इस सूत्र से ऋच् का अर्च्य रूप नहीं बनता परन्तु पाणिनीय अर्च्य रूप स्वीकार करता है । वह ऋच् का निषेध नहीं करता ।

५७. कृ वृषि मृजि शसि दुहि गुहि जपेर्वा ५।१।४४

इन धातुओं से क्यप् प्रत्यय विकल्प से होता है । दुह्य, दोह्य, गुह्य गोह्य, जप्य जाप्य, ऐसे दो रूप बनते हैं । पाणिनीय में दुह्य, गुह्य, जप्य ये रूप ही बनते हैं ।

५८. तिष्यपुष्यसिद्ध्या नक्षत्रे ५।१।४७

नक्षत्र अर्थ में ये तीन निपात हैं । पाणिनीय में तिष्य शब्द निपात नहीं है ।

५९. नाम्युपधज्ञाप्रिकृगिर क. ५।१।६५

इन धातुओं से क प्रत्यय होता है । उत्किरः, गिल । पाणिनीय में गिर. शब्द स्वीकार नहीं किया गया है ।

६० धनुर्दण्डत्सरलाङ्गलाङ्कुशष्टिशक्तियष्टितोमरधटेषु ग्रहे र्वा ४।२।२४

इन शब्दों से अच् प्रत्यय विकल्प से होता है । पक्ष में अण् ।

धनुर्ग्रह, धनुर्ग्राह, दण्डग्रह, दण्डग्राह, त्सरग्रह, त्सरग्राह, ऋष्टिग्रह ऋष्टिग्राह । पाणिनीय में दण्ड, त्सर ऋष्टि शब्द नहीं है ।

६१. आद्यन्तानन्त कार वाह्वर्ह दिवा विभा निशा प्रभा भा धिञ्च कर्तृ नान्दी  
निवि निवि वलि भक्ति क्षेत्र गङ्गा क्षपा क्षणदा रजनी दीपा दिन दिवस  
धनु ररु. मस्यासु १।२-२८

इन शब्दों से करोति धातु में ट प्रत्यय होता है। आदिकर, अन्त-  
कर.। पाणिनीय में क्षपा, क्षणदा, रजनी, दीपा, दिन, दिवस ये शब्द  
नहीं हैं। उसके अनुसार क्षपाकर, क्षणदाकर, रजनीकर, दीपाकर,  
दिनकर, दिवसकर ये रूप नहीं बनते।

६२ फले रजो मलेषु ग्रहे १।२।३२

इस सूत्र में फलेग्रहिर्वृक्ष, रजोग्रहि वञ्चुक, मलग्रहि  
कम्बल.। पाणिनीय में रजोग्रहि: और मलग्रहि. ये दो शब्द नहीं बनते।

६३ देववातयोरापे १।२।३३

देवापि, वातापि। पाणिनीय में ये दोनों शब्द नहीं हैं।

६४ क्षेम प्रिय भद्र भद्रेष्वण् च १।२।४०

क्षेमकार, क्षेमकर, प्रियकार: प्रियंकर, भद्रकार, भद्रंकार.।  
पाणिनीय में भद्र शब्द नहीं है, उससे भद्रकार, भद्र कर नहीं बनते।

६५ बहु विद्वरु स्तिलेषु तुद १।२।५१

बहुतुद, अ० तुद। पाणिनीय में बहुतुद. ऐसा रूप नहीं बनता।

६६ शं स स्वयं विप्रेभ्यो भुवो डु. १।३।६३

शभु: सभु स्वयभु:, विभु, प्रभु।

पाणिनीय में सभु. और स्वयभु शब्द नहीं बनते।

६७ नीपा दाय् शसु यु युजस्तु तुद सि सिचमिह पतनहे स्त्रट् साधने १।२।६४

नेत्र, पात्रं, पात्री, दात्र, शस्त्रम्। पाणिनीय में पात्री नहीं बनता।

६८ अन्तर्घनान्तर्घणौ देशे १।४।७३

अन्तर्घन अन्तर्घण। पाणिनीय में अन्तर्घण नहीं बनता।

६९ सातिहेतियूतिजूतिश्रुतिकीर्तय १।४।९०

साति, श्रुति आदि शब्द निपात हैं। पाणिनीय में श्रुति शब्द नहीं  
है।

७० युव पौत्रादी कुत्साऽर्चयो ६।२।६

गार्ग्यस्य अपत्यं युवा कुत्सित गार्ग्य गार्ग्यायणो वा जाल्म.। तत्र  
भवान् गार्ग्यो, गार्ग्यायणो वा इति द्वयमपि भवति।

पाणिनीये यून कुत्साया गोत्रसज्ञा, वृद्धस्य पूजायां युवसज्ञा।  
तेन गार्ग्यो जाल्म, तत्रभवान् गार्ग्यायण इत्येव रूप भवति।

७१ एदोद्देश एवेयादौ ६।२।१२



७२. प्राग् देशे ६।२।१३

पाणिनीय में इन दो सूत्रों के स्थान पर एक ही सूत्र है एङ् प्राचा देशे १।१।७५

७३ अनिदम्यणपवादे च दित्यदित्यादित्ययमपत्युत्तरपदाब्जय. ६।२।१६

इदम् अर्थ को वर्ज कर अपत्यादि अर्थ में प्रत्यय करता है। पाणिनीय में अनिद शब्द नहीं है।

७४. णश्च विश्ववसो विश लोपश्च वा ६।२।५०

विश्ववसोऽपत्यं वैश्ववणः, विश् लोपे तु रावणः। पाणिनीय में ये रूप नहीं बनते।

७५ अग्निशर्मगोवृषगणे ६।२।७०

आग्निशर्मयिणो वृष गण । पाणिनीय में यह सूत्र नहीं है।

७६. कृष्णरणाद् ब्राह्मणवाशिष्ठे ६।२।७१

काष्णयिनो ब्राह्मणः राणायनो वाशिष्ठ । पाणिनीय में यह सूत्र नहीं है।

७७ दगु कोशल कर्मारच्छाग वृषेभ्यो युद् च ६।२।८२

दागव्यायनि । पाणिनीय में दगु शब्द नहीं है, इसलिए दागव्यायनि रूप नहीं बनता।

७८ दुष्टे गोघाया एरण् च ६।२।१०३

गोवा शब्द से दुष्ट अपत्य अर्थ में एरण् प्रत्यय होता है। गोधरे । पाणिनीय में दुष्ट शब्द नहीं है।

७९ उदितगुरोरब्जे ६।३।६

पुष्पेण उदित गुरुणा युक्त वर्षे पोष वर्षम् । पाणिनीय में यह सूत्र नहीं है।

८० धेनोरनञ. ६।३।१६

वेनु शब्द से समूह अर्थ में इकण् प्रत्यय होता है, यदि वह नञ् समास न हो तो। धैनुकम्। पाणिनीय में अनञ् शब्द नहीं है।

८१ पुरुषात् कृतहितवधविकारम्समूहेष्वेयम् ६।३।६४

पुरुषेण कृत पौरुषेयो ग्रन्थ, पौरुषेयमार्हत शासनम्। पाणिनीय में यह सूत्र नहीं है।

८२ रङ्को प्राणिनि वा ६।४।१२

रङ्कु शब्द से प्राणि अर्थ में पायनण् प्रत्यय विकल्प से होता है। राङ्कवायण । मनुष्य अर्थ में राङ्कवको मनुष्य । पाणिनीय में रङ्को-रमनुष्ये णच् -यह सूत्र है।

१६२ : सस्कृत-प्राकृत व्याकरण और कोश की परम्परा

८३ कुशले ७।१।१८

पाणिनीय मे 'तत्र कुशल पथ' ऐसा पाठ है।

८४ त्यदादेर्मयट् ७।१।७१

तन्मय, तन्मयी, भवन्मयम् । पाणिनीय मे यह सूत्र नहीं है।

८५ ज्योतिषम् ७।१।७७

पाणिनीय मे यह सूत्र नहीं है।

८६ वामाद्यादेरीन ७।३।४

वामाधूर्वा मधुरा, वामधुरीण । सर्वधुरीण ।

पाणिनीय मे सर्वधुर शब्द नहीं है। इसलिए वहा सर्वधुरीण रूप नहीं बनता।

८७ विध्यत्यऽनन्येन ७।३।८

विध्यति के अर्थ मे द्वितीयान्त नाम से य प्रत्यय होता है, यदि वह अन्य साधन से न हो। पादौ विध्यन्ति पद्या, अनन्येन इति किम् चौर विध्यति चैत्र । अत्र हि चैत्रश्वौर विध्यत् धनुषा पाषाणे वा विध्यति । पाणिनीय केवल धनुषा शब्द को छोड़ता है। विध्यत्यधनुषा इति ।

८८ सर्वजनाण्ये नभौ ७।३।१६

सार्वजन्यः, सार्वजनीन । पाणिनीय मे 'प्रति जनादिभ्य खब्' इससे केवल खब् प्रत्यय होने से 'सार्वजनीन', केवल यह एक रूप ही बनेगा, 'सार्वजन्य' रूप नहीं बनेगा, बनेगा।

८९ नब् सुदुर्भ्य सक्तिहलिसक्थर्वा ८।३।४७

नब् सुदुर् से परे सक्ति, हलि, सक्थि ये शब्द हो तो बहुव्रीहि समास मे अ प्रत्यय विकल्प से होता है। असक्त, असक्ति सुसक्त, सुसक्ति दुसक्त दुसक्ति । पाणिनीय मे सक्ति शब्द का ग्रहण नहीं किया गया है इसलिए उपरोक्त रूप वहा नहीं बनेंगे।

९० सर्वाश सख्यात पुण्य वर्षा दीर्घाच्च रात्रे ८।३।५५

इस सूत्र मे जो शब्द हैं, उनमे वर्षा और दीर्घ ये दो शब्द पाणिनीय मे नहीं है। इसलिए वर्षारात्र और दीर्घरात्र ये रूप पाणिनीय मे नहीं बनेंगे।

९१ सुप्रात सुश्वसु दिवशारि कुक्ष चतुर श्रेणी पदाज पद प्रोष्ठपद भद्र-पदा ८।३।७१

इस सूत्र मे उपर्युक्त शब्द बहुव्रीहि समास मे उ प्रत्ययान्त निपात हैं। पाणिनीय मे भद्रपद शब्द नहीं है। इसलिए भद्रपद शब्द निपात नहीं है।

६२ मन्दात्पाच्च मेधाया दा३।७३

मन्दमेधस् अल्पमेधम् । पाणिनीय में यह सूत्र नहीं है, इसलिए वहाँ ये दो रूप नहीं बनते ।

६३ भृगाभीक्ष्णसातत्यत्रीप्तासु द्वि प्राक् तमादे दा३।८५

पाणिनीय में प्राक् तमादे यह पाठ नहीं है ।

६४ नानावधारणे दा४।६७

अवधारण के अर्थ में वर्तमान शब्द द्वित्व होता है । माष माष देहि । पाणिनीय में यह सूत्र नहीं है ।

६५ पूर्वप्रथमान्व्यतोतिशये दा४।६८

प्रथम प्रथम पच्यन्ते । पाणिनीय में यह सूत्र नहीं है ।

६६ डतरडतमौ समाना स्त्रीभावप्रश्ने दा४।६९

कतरा कतरा एषा माढ्यता । कतमा कतमा एषा माढ्यता । पाणिनीय में यह सूत्र नहीं है ।

श्री भिक्षुशब्दानुशासन महाव्याकरण की कोटि में अब तक अंतिम है । इसलिए इसमें पूर्ववर्ती सभी व्याकरणों का सार-सौहन उपलब्ध है । अंतिम को पूर्ववर्ती रचनाओं का जो लाभ मिलता है, वह लाभ भिक्षुशब्दानुशासन को भी प्राप्त है । संस्कृत व्याकरण के अष्टाध्यायी पद्धति से होने वाले अध्ययन के सरलीकरण के उद्देश्य में यह सफल हुआ है । यह सफलता ही इसकी अपनी विशेषता है । विशाल-शब्दानुशासन, हेमशब्दानुशासन और पाणिनीय आदि पूर्ववर्ती महाव्याकरणों के अनुदान की उपेक्षा कर इसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता । संभव है, अगले वर्ष यह व्याकरण प्रकाशित होकर विद्वानों के हाथों में आ जाए ।



## दो प्रक्रिया-ग्रन्थ

### मुनि 'दिनकर'

भिक्षुशब्दानुशासन महाव्याकरण की प्रक्रिया है कालुकौमुदी । इसके प्रणेता है विद्वद्भ्यं मुनि श्री चौथमलजी । इसकी रचना वि० सं० १६८१ में हुई और तब से यह हमारे सघ के साधु-साध्वियों तथा पारमार्थिक शिक्षण-संस्था में संस्कृत का अध्ययन करनेवाले मुमुक्षुओं के लिए प्रयुक्त होती रही है । इसका अध्ययन कर अनेक व्यक्ति संस्कृत में निष्णात हुए हैं । मैं उसकी विशेषता के विषय में कुछ तथ्य प्रस्तुत कर रहा हूँ ।

प्राचीन व्याकरण लघुसिद्धान्त कौमुदी तथा मुनि श्री चौथमल जी द्वारा रचित कालुकौमुदी के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं । कितने कठिन व्याकरण के विषय को किस प्रकार सरलता और सुगमता से रखा है, यह निम्नांकित सूत्रों के द्वारा समझा जा सकता है । लघुसिद्धान्त कौमुदी के प्रत्याहारसूत्र हैं अ इ उ ण् १, ऋ लृ क् २, ए ओ ङ् ३, ऐ औ च् ४, ह य व र ट् ५, ल ण् ६, ञ म ङ ण न म् ७, झ भ ञ् ८, घ ढ ध स् ९, ज ब ग ङ द श् १०, ख फ छ ठ थ च ट त व् ११, क प य् १२, श ष स र् १३, ह ल् १४ । इस प्रकार प्रत्याहार बताने के लिए चौदह सूत्रों का निर्माण किया गया है । इन सूत्रों के अन्तिम अक्षरों की इत्-सज्ञा बताई गई है । यहाँ प्रत्याहार ग्रहण करने की विधि कुछ कठिन पड़ती सी नजर आई । क्योंकि अक्षरों की शृंखला टूट सी जाती है । जैसे—अ ङ् अ इ उ, अक्-अ इ उ ऋ लृ, इक्-इ उ ऋ लृ । उक्-उ ऋ लृ । इस प्रकार प्रत्याहार सूत्रों का सम्बन्ध अलग थलग सा ही प्रतीत होता है । अतः उसमें कोई सरलता दिखाई नहीं देती । इस स्थल में कालुकौमुदी का सूत्र बहुत सरल एवं उच्चारण करने में पूर्ण स्पष्ट है । जैसे अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ ह य व र ल ञ ण न ङ म झ ढ ध घ भ—ज ङ द ग ब ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स १।१।४। स्पष्टता के लिए सघि नहीं की गई है । यहाँ प्रत्याहार ग्रहण करने की विधि अत्यन्त सुगम है । जैसे किसी ने 'अलप्रत्याहार' का उल्लेख किया, वहाँ “अ इ उ ऋ लृ ए

ते ओ ओ इ य व र त" इस प्रकार शब्दों का अर्थ है कि यह शब्दों का अर्थ होता है। यह विधि मन्त्र तो है ही, ना ही मान इसमें शब्दों का अर्थ ही है। इसमें मन्त्र की मुदी के सूत्र उच्चारण करने में कुछ कठिन पड़ेगा। इसी लिए उच्चारणार्थ कुछ सूत्र प्रस्तुत हैं। जैसे सूत्र न० १५३ उच्चारण मोर्त्तु उच्चारणम् ते म्याभ्यम्नि म्याभ्यम् उच्चारणम् उच्चारणम् उच्चारणम् ६।१।२। इसी प्रकार सूत्र न० २१५ और सूत्र न० १३० भी उच्चारण करने में कम कठिन नहीं है, जैसे उच्चारणम् उच्चारणम् दीर्घान्मुत्तिग्य पृथक् एव लिखन् लिखन् नन् मिषम् मन्ना ता त ता ना थाम्ब मिट् ६।१।७। इस प्रकार मन्त्रों के उच्चारण में काफी कठिनता का अनुभव होता है।

उपर्युक्त सूत्रों के स्थान में तानुकीमुदी में तीन नये सूत्र दिए गए हैं जिन सूत्रों का निर्माण किम् प्रकार की शब्दावली में किया गया है, यह भी कहा जाता है अत्यावश्यक प्रतीत होता है। सूत्र न० १ के स्थान में मि ओ ङम्, अम् ओ ङम्, टा भ्या मिम्, डेभ्या भ्यम्, निभ्या भ्यन्, ङम् ओन् — जाम्, ङि जाम् गुषाम्। सूत्र न० २ के स्थान में हम्प ने लोप तथा सूत्र न० ३ के स्थान में अन्धमाने — तिप् तम् अन्ति, तिप् वम् य, मिप् वम् मम्, ते अन्ते अन्ते, मे आदे छ्वि, ए परे महे। इस प्रकार तानुकीमुदी को व्याकरण सम्बन्धी सभी प्रकार की कठिनायियों से मुक्त रखा गया है। इसके अतिरिक्त शब्द मिट्ति का भी उच्चारण अपना एक मन्त्र प्रकार है, जो अन्यत्र व्याकरणों में कम मात्रा में पाया जाता है। उच्चारण के तीर पर "रामान्" द्वितीया विभक्ति के बहुवचन का रूप है। यह "रामोता दीर्घ-असञ्चन पुसि" केवल इस एक सूत्र में ही सिद्ध हो जाता है। अर्थात् अम् के अकार सहित पूर्व के स्वर को दीर्घ एवं अन् के नकार को 'न्' हो जाता है। प्रथम शकार इसी सूत्र की विशेषता के लिए कहा गया है। किन्तु इसी शब्द को सिद्ध करने के लिए लघुमिद्वान्तकीमुदी में कितने सूत्रों को काम में लिया है, वह निम्नोक्त प्रकार से विदित होता है, जैसे "राम-अम्" सर्वप्रथम सूत्र न० १७१ लश्वततद्धिते १।१।८ से इस शकार की इत् सज्ञा की गई। सूत्र न० ६ अदर्शन लोप १।१।६० से लोप की परिभाषा। फिर सूत्र न० ७ तस्य लोप १।१।६ से इत् सञ्ज्ञा वर्ण का लोप और सूत्र न० १६२ प्रथम यो = पूर्वसवर्ण ६।१।१०२ से "राम" के अकार को दीर्घ किया गया। फिर सूत्र न० १७१ तस्माच्छमोन पुसि ६।१।१०३ से "सकार" को नकार हुआ अतः रूप बना "रामान्" किन्तु फिर भी यहाँ सूत्र न० १७३ अट् कुप्पाट् तुम्ब्यपायेऽपि ६।१।२ से नकार को णकार होने की प्राप्ति हुई। तब उसे निषिद्ध करने के लिए सूत्र न० १७४ पदान्तस्य ६।१।३७ सूत्र का निर्माण करना पड़ा।

इसी प्रकार का एक उदाहरण और प्रस्तुत है। सखि शब्द से प्रथमा विभक्ति का "सि" प्रत्यय लाया गया। इस अवस्था में तानुकीमुदी का सूत्र 'ऋदुशन-

स्पृसदशोऽने हसश्चसेरधेर्डा” से ‘सि’ को डा हुआ और डित्वात् टि का लोप होने से ‘सखा’ ऐसा रूप सिद्ध होता है। किन्तु लघुसिद्धान्तकौमुदी में एतदर्थं अनेक सूत्र और युक्तियाँ काम में लाई गई हैं। वे निम्नोक्त प्रकार से हैं—सखि सु यहा सूत्र न० २१ अनङ् सौ ७।१।१०३ से सखि शब्द को अनङ् आदेश होता है। यह आदेश सूत्र न० ७२ डि० १।१।१५३ के अनुसार अन्त के वर्ण को प्राप्त हुआ। सूत्र न० ५ हलन्त्यम् १।३।३ से ङ् का लोप तथा सूत्र न० ४१ ‘उपदेशोऽनुनासिक इत्’ १।३।२ से अकार का लोप सूत्र न० ४२ प्रतिज्ञानुनासिक्यापाणिनीया से अनुनासिक मानकर किया जाता है। सखान् सु ऐसा स्थित है। सूत्र न० २१२ “अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा” १।१।६५ से अकार की उपधा की सज्ञा की, तथा सूत्र न० २१३ सर्वनामस्थाने चाऽसबुद्धौ ६।४।१ से नकारान्त शब्द की उपधा को दीर्घ किया गया। अब हमारे सामने सखान्-सु ऐसा रूप प्रस्तुत है। सूत्र न० २१४ अपृक्त एकालप्रत्यय १।२।४१ से सकार की अपृक्त सज्ञा, तथा सूत्र न० २१५ ‘हल्ङ्याब्भयो दीर्घात् सुतिष्य पृक्त हल् से’ ६।१।६८ विभक्ति के सकार का लोप किया गया। “सखान्” ऐसा अवशिष्ट रहा। सूत्र न० २१६ “न लोप प्रातिपदिकान्तस्य” ८।१।७ से नकार का लोप करने पर सखा रूप सिद्ध हुआ। देखने की बात यह कि एक रूप की सिद्धि के लिए कितने सूत्रों का निर्माण किया गया है। प्रारम्भिक संस्कृत विद्यार्थी को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कालुकौमुदी में इस बात पर पूरा ध्यान रखा गया है। इसके निर्माणकर्ता ने किस प्रकार सरलता से शब्द-सिद्धि का यह लेखा जोखा किया, यह समझने जैसी बात है।

यहा यह बताना उचित होगा कि इसके रचनाकाल में पाणिनि हैम, सिद्धान्त कौमुदी, चन्द्रिका, सारस्वत आदि अनेक व्याकरणों का पारायण किया गया था। उनके जिस किसी भी स्थल की सरल पद्धति ध्यान में आई, उसे यहा स्वीकार किया गया है।

हमने लघुसिद्धान्तकौमुदी, सिद्धान्त चन्द्रिका तथा सारस्वत आदि कई प्रक्रियाएँ देखी परन्तु कालुकौमुदी जैसी स्पष्ट व सरल कोई भी हमारी दृष्टि में नहीं आई। यहा इतना अवकाश नहीं कि सबका निचोड़ यहा प्रस्तुत किया जा सके। किन्तु लघुसिद्धान्तकौमुदी के अनेक स्थल हमने पढ़े हैं। हमे वे स्थल बड़े दुरूह से नजर आए। स्थानाभाव के कारण इस लघुकाय निबन्ध में उन सभी स्थलों को उद्धृत नहीं किया जा सकता है। फिर भी विद्वान् इन दो-एक उदाहरणों से ही वस्तुस्थिति को आक सक्के, ऐसा हमारा अनुमान है।

## तुलसीप्रभा

आचार्य कालूगणी के समय कुछ सतों ने हैमशब्दानुशासन का अध्ययन किया।

था। किन्तु उस महाव्याकरण पर कोई उपयुक्त प्रक्रिया नहीं थी। जो थी वे या तो अधिक विस्तृत थी या अधिक संक्षिप्त थी। मुनि सोहनलालजी (चूरू) ने इस कमी को पूरा करना चाहा। उन्होंने कुछ श्रम किया और तीन हजार श्लोक परिमाण वाली एक प्रक्रिया का निर्माण कर डाला। उसका नाम वर्तमान आचार्य श्री तुलसी के नाम पर 'तुलसीप्रभा' रखा। वि० सं० १९९६ फाल्गुन शुक्ल ५ सोमवार को उसकी रचना प्रारम्भ हुई और सं० १९९९ की विजयदशमी को चूरू में उसकी पूर्ति की गई। उनकी अपनी विशेषता यह रही कि उसमें प्रयुक्त सभी उदाहरण ऐतिहासिक, आगमिक, तात्त्विक या सघीय परंपरा से अनुस्यूत हैं। इसका प्रयोजन यह था कि व्याकरण के अध्ययन के साथ साथ विद्यार्थी को जैन इतिहास, आगम, जैन तत्त्व और तेरापथ की परंपरा का भी बोध हो जाए। उदाहरण के रूप में आडावधी आड् प्रत्यय के योग में पचमी विभक्ति होती है। आड् अव्यय के दो अर्थ हैं मर्यादा और अभिविधि। दोनों के दो उदाहरण इस प्रकार हैं

१ मर्यादा आत्रयोदशगुणस्यानात् कर्मबन्ध ।

२ अभिविधि आसिद्धे ससार ।



# भिक्षुशब्दानुशासन का तुलनात्मक अध्ययन

पं० विश्वनाथ मिश्र

## व्याकरण स्वरूप और परम्परा

भाषा भावाभिव्यक्ति का साधन है और विद्या भावाभिव्यक्ति के साथ अमृतोपलब्धि का भी। सस्कृत मात्र भाषा ही नहीं अपितु वह विद्या भी है। व्यापकता, प्राचीनता, सर्वाङ्गीणता तथा ज्ञानगरिमा के कारण सस्कृत विश्व की सर्वातिशायिनी भाषा है। विश्व में वही भाषा सक्षम तथा सशक्त समझी जाती है, जिसके पास स्वयं का व्याकरण हो। व्याकरण वह निकषोपल है, जिसके द्वारा भाषा का विशुद्ध एवं परिमार्जित रूप सामने आता है। शब्द की व्याक्रिया करना ही व्याकरण का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। धातु और प्रत्ययों की आधारशिला पर शब्दों का निर्माण कर उनके अन्तराल में निहित स्वारसिक अर्थ की अभिव्यक्ति करना किसी भी भाषा के लिये गौरवपूर्ण स्थिति का सूचक होता है। व्याकरण वह निरापद राजमार्ग है, जिसपर अवाधिरूप से चलते हुए भाषा की समस्त विधाओं का आलोकन भली भाँति किया जा सकता है। भारत में व्याकरण के अध्ययन और अध्यापन की परम्परा बहुत पुरानी है। लगभग सहस्राब्दियों से भी अधिक समय से यह परम्परा अक्षुण्ण रूप से यहाँ चलती आ रही है। सस्कृत व्याकरण ने शब्द के जिस व्यापक, नित्य स्वरूप और इसके अर्थ-प्रकाशन के अपूर्व सामर्थ्य का जो चित्रण किया है, वह अपने में अनुपम है।

## व्याकरण की विविधता

सस्कृत वाङ्मय में महर्षि पाणिनि का शब्दानुशासन आज सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त व्याकरण के रूप में उपलब्ध होता है। इसमें वैदिक और लौकिक उभयविध शब्दों का निर्वचन किया गया है। इसकी अपूर्व विशिष्टता के फलस्वरूप इस पर कात्यायन ने वार्तिक तथा पतञ्जलि ने महाभाष्य लिख कर इसके गौरव को आगे बढ़ाया। इसके ऊपर वामन जयादित्य दीक्षित, नागेश प्रभृति विद्वानों ने वृत्ति,

कीमुदी तथा जेखरादि टीकाग्रन्थों का प्रणयन कर इसका काफी विकास किया है। फलस्वरूप इसका अध्ययन जटिल हो गया है और यह साधन न रह कर स्वयं साव्य बन गया। फिर भी इसका पठन पाठन आज व्यापक स्तर पर हो रहा है।

पाणिनि का शब्दानुशासन परवर्ती अनेक व्याकरणों का प्रेरणास्रोत रहा है। इन परवर्ती व्याकरणों में पाणिनि स्पष्ट रूप से प्रतिविम्बित है। व्याकरणों की संख्या आठ मुनी जाती है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध हैं

इन्द्रश्चन्द्र काशकृत्स्नापिशली शाकटायन ।

पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिका ॥

कही कही यह श्लोक इस रूपान्तर में भी उपलब्ध होता है

ऐन्द्र चान्द्र काशकृत्स्न कौमार शाकटायनम् ।

सारस्वत चापिशल शाकल पाणिनीयकम् ॥

इन श्लोकों से विदित होता है कि आठ वैयाकरणों ने आठ व्याकरणों की रचना की। इनमें पाणिनि का शब्दानुशासन सर्वप्राचीन है ऐसा कुछ लोगों का अभिमत है। पाणिनि के पहले ऐसा सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण नहीं था, ऐसी भी कुछ लोगों की मान्यता है। पहले श्लोक में “शाब्दिका” शब्द आया है। ‘शाब्दिक’ का अर्थ होता है शब्द-शास्त्र में प्रौढि प्राप्त करने वाले अथवा शब्द शास्त्र पारंगत विद्वान्, अथवा शब्दशास्त्र के प्रचारक। ‘शाब्दिक’ शब्द का ऐसा अर्थ करने पर उन सभी ने स्वतन्त्र रूप से व्याकरण का निर्माण किया था, यह कथन सर्वथा असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता।

पातञ्जल महाभाष्य के पस्पशाल्लिक में उल्लेख आता है कि इन्द्र वृहस्पति के पास व्याकरण के अध्ययन के लिये गये। वृहस्पति ने दिव्यवर्षसहस्रपर्यन्त शब्दों का पारायण किया, पर उनका अन्त नहीं पा सके। इससे निश्चि होना है कि इन्द्र जो कि प्रथम वैयाकरण के रूप में अनुश्रुत हैं, केवल शब्दकोष रूप व्याकरण के प्रणेता हो सकते हैं। धातु प्रकृति प्रत्ययादि का निर्वचन पुर मर किसी व्याकरण का निर्माण इन्द्र के द्वारा हुआ था, ऐसा निम्नान्ति रूप से नहीं कहा जा सकता। इन्द्र नामक किसी मनुष्य ने ऐन्द्र व्याकरण बनाया था, ऐसा कहना भी युक्ति मगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में शाकल्य, म्फोटायन, शाकटायन प्रभृति जिन आचार्यों का उल्लेख किया है, उनमें इन्द्र का उल्लेख नहीं किया है। इससे निश्चि होता है कि पाणिनि से पूर्व ऐन्द्र नामक कोई सर्वाङ्ग सम्पन्न व्याकरण नहीं था।

जैनेन्द्र महावृत्ति की भूमिका (पृष्ठ ७) में डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने स्पष्ट किया है कि चान्द्र व्याकरण बौद्ध विद्वान् आचार्य चन्द्रगोमी की रचना है,

जो गुप्त-काल में अस्तित्व में आयी। इस सम्बन्ध में राजतरंगिणी १।१७१ में एक श्लोक आता है

चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वा देश तस्मात्तदागमम् ।

प्रवर्तित महाभाष्य स्व च व्याकरण कृतम् ॥

इस श्लोक से विदित होता है कि चन्द्र प्रभृति जो प्राचीन वैयाकरण थे, उन्होंने महाभाष्य का प्रचार किया तथा स्वयं का व्याकरण भी बनाया। इससे सिद्ध होता है कि ये चन्द्राचार्य न केवल पाणिनि के परवर्ती हैं किन्तु महाभाष्यकार पतञ्जलि से भी परवर्ती हैं। इससे यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पाणिनि से पूर्व चन्द्र नाम का कोई व्याकरण नहीं था।

ये चन्द्राचार्य तथा बौद्ध विद्वान् चन्द्रगोमी दोनों एक ही हैं या अलग अलग यह भी ऐतिहासिक अनुसन्धान का विषय है। स्थूल दृष्टि से कहा जा सकता है कि बौद्ध विद्वान् के द्वारा पातञ्जल महाभाष्य का प्रचार सन्देहास्पद होने के कारण ये दोनों चन्द्र पृथक् पृथक् हैं तथा पाणिनि से परवर्ती भी हैं।

युधिष्ठिर भीमासक ने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' नामक अपनी पुस्तक में पाणिनि पूर्ववर्ती आपिशलि, काशकृत्स्न और भागुरि आदि अनेक शाब्दिक आचार्यों के सूत्र, धातु और गण के वचन उद्धृत करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पाणिनि से प्राचीन आचार्यों के भी पाणिनि के समान ही सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण ग्रन्थ थे।

अस्तु जो भी हो इन्द्र, शाकटायन, आपिशलि और काशकृत्स्न व्याकरण इस समय उपलब्ध नहीं हैं। आज प्रचलित जो शाकटायन व्याकरण दृष्टि गोचर हो रहा है, वह नवमी शती की रचना है जब कि पाणिनि लगभग पाचवी शती विक्रमपूर्व नन्द राजाओं के समय में हुए थे। इस शाकटायन व्याकरण में न केवल सूत्रकार पाणिनि का ही अनुकरण है अपितु वार्तिककार कात्यायन और भाष्यकार पतञ्जलि की भी अनुकृति इसमें स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। कतिपय उदाहरणों द्वारा इसे स्पष्ट करना आवश्यक है।

पाणिनि के वर्णसमाम्नाय में १४ सूत्र हैं, किन्तु शाकटायन के अक्षर सामान्याय में १३ सूत्र हैं। महाभाष्य के द्वितीय आह्निक में वार्तिककार ने "ऋलृक्" सूत्र में लृकार का प्रत्याख्यान किया है। तदनुसार शाकटायन ने ऋलृक् की जगह 'ऋक्' सूत्र लिखा है। पाणिनि ने "अइउण्" तथा लण्" इन दो सूत्रों में दो बार णकार अनुबन्ध लगाया है। इन दो णकारों का उपादान क्यों किया गया? इस पर "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति नहि सदेहादलक्षणम्" यह परिभाषा ज्ञापित की गई है। शाकटायन इस विवाद में नहीं पड़ना चाहते। इन्होंने "ह्यवरलब्" ऐसा सूत्र बनाकर णकार के दो बार आने की समस्या का सदा के लिए निराकरण कर दिया। इससे शाकटायन की पतञ्जलि से परवर्तिता स्पष्ट हो जाती है।

पाणिनि सूत्र “शश्छोऽटि” पर कात्यायन वार्तिक है “छत्वमभीति वाच्यम्” । शाकटायन ने इस आधार पर “शश्छोऽमि” सूत्र ही बना डाला । शाकटायन ने कतिपय सूत्र अपने व्याकरण में जैसे के तैसे गृहीत किये हैं ।

पाणिनि

शाकटायन

१ त्रैस्तय

त्रैस्तय

२ पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनव

पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराण

केवल समानाधिकर

नवकेवलम्

३ वृन्दारकनागकुञ्जरै पूज्यमानम्

वृन्दारकनागकुञ्जरै

४ कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने

कतरकतम जाति परिप्रश्ने

५ यावदवधारणे

यावदवधारणे

पाणिनि पूर्ववर्ती शाकटायन निश्चित ही एक प्रौढ वैयाकरण हैं, किन्तु उनकी कोई भी कृति पाणिनि के समय थी, यह अमदिग्धरूप से नहीं कहा जा सकता ।

पाणिनि ने अपनी सूक्ष्मेक्षिका द्वारा जिस अष्टाध्यायी का निर्माण किया, वह विश्ववाङ्मय में अनुपम है । ऐतिहासिक तथ्यों के साक्ष्य पर पाणिनि पाचवीं शती विक्रम पूर्व में हुए थे । इसके अनन्तर एक हजार वर्ष तक की अवधि में कात्यायन के वार्तिक तथा पतञ्जलि के महाभाष्य के अलावा कोई भी स्वतन्त्र व्याकरण ग्रन्थ नहीं लिखा गया । बौद्ध और जैन विद्वान्, क्रमशः पालि और प्राकृत जिनके धार्मिक वाङ्मय की, धर्म की भाषाएँ थीं उनका ध्यान जब संस्कृत की ओर गया और उसकी व्यापकता तथा अर्याभिव्यक्ति-क्षमता का उन्हें पता लगा तो उन्होंने इसे अपने व्यवहार के लिए अपनाया । कनिष्क के समय अश्वघोष ने अपने काव्य की रचना संस्कृत में की, यह बात ऐतिहासिकों से तिरोहित नहीं है । इसी पृष्ठभूमि में बौद्ध विद्वान् चन्द्रगोमी ने तथा जैन विद्वान् आचार्य देवनन्दि ने अपने अपने व्याकरणों की रचना की । चान्द्र व्याकरण तो आजकल उपलब्ध नहीं है पर जैनेन्द्र व्याकरण सर्वत्र उपलब्ध है । पाणिनि के बाद व्याकरण निर्माण-परम्परा में जैनेन्द्र व्याकरण सर्वप्रथम है । इसका समय ईसा की पाचवीं शती है । चान्द्र व्याकरण का भी समय यही है । प्रचलित शाकटायन व्याकरण नवमी शती तथा हेमशब्दानुशासन बारहवीं शती पूर्वार्द्ध की रचना है ।

इन सब ने स्वेच्छया तथा पूर्ण सौहार्द से पाणिनि व्याकरण की मूलसामग्री का आकलन अपने ग्रन्थों में किया है । जैनेन्द्र व्याकरण के अध्ययन से विदित होता है कि केवल स्वर और वैदिक प्रक्रिया को अपने लिये अनावश्यक समझ कर जैनेन्द्र व्याकरणकार ने इन्हें तो छोड़ अवश्य दिया । पर शेष पाणिनि सामग्री की अविकल रक्षा की । हेमशब्दानुशासन के बाद जैन सम्प्रदाय के आचार्य विशाल कीर्तिगणि का ‘विशालशब्दानुशासन’ तथा मलयगिरिकृत ‘मलयशब्दानुशासन’ का नाम आता है पर ये दोनों व्याकरण इस समय उपलब्ध नहीं हैं ।

आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि ने अपने शब्दानुशासन में निम्नलिखित ६ आचार्यों के नाम का उल्लेख किया है

१ गुणो श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् १।४।३४

२ कृवृषिमृजा यशोभद्रस्य २।१।६६

३ शब् भूतवले ३।४।८३

४ रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य ४।३।१८७

५ वेत्ते सिद्धसेनस्य ५।१।७

६ चतुष्टय समन्तभद्रस्य ५।४।१४०

इन नामोल्लेखों से विदित होता है कि जैनेन्द्र से पूर्ववर्ती ये ६ वैयाकरण थे। परन्तु इन्होंने किसी व्याकरणग्रन्थ की रचना की थी, उसका कोई पुष्ट प्रमाण इस समय उपलब्ध नहीं होता। फिर भी कहा जा सकता है कि ये विशिष्ट वैयाकरण थे, जिनका व्याकरण के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योग रहा होगा। पाणिनि-व्याकरण में भी आये हुए शाकल्य, गार्ग्य, गालव, स्फोटायन प्रभृति के सम्बन्ध में भी बहुतों की ऐसी ही धारणायें हैं।

जैन व्याकरण परम्परा में अग्रिम तथा अन्तिम कड़ी के रूप में “भिक्षुशब्दानुशासन” का नाम आता है। इसके रचयिता तेरापन्थ सम्प्रदाय के मुनि श्री चौयमल्ल हैं। इसकी रचना बीकानेर राज्यान्तर्गत छापरा ग्राम में की गई। विक्रम सम्वत् १६८८ माघ शुक्ल त्रयोदशी शनिवार को पुष्य नक्षत्र में यह ग्रन्थ पूर्ण किया गया, जैसा कि इसमें उल्लेख किया गया है।

**भिक्षुशब्दानुशासन का परिमाण** इसमें आठ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार चरण हैं। सूत्र सख्या कुल ३७५१ है। इन सूत्रों के ऊपर आयुर्वेदाचार्य आशुकि प० श्री रघुनन्दन शर्मा द्वारा रचित वृहद्वृत्ति है। इसमें सूत्रों की प्रौढ तथा विस्तृत व्याख्या की गई है। भिक्षुशब्दानुशासन की यह सूत्र सख्या जैनेन्द्र तथा शाकटायन के सूत्रों से अधिक है। निम्नलिखित तालिका से यह बात स्पष्ट है

**पाणिनि** अध्याय आठ, पाद वत्तीस, कुल सूत्र ३६८२। इसमें लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के सूत्र हैं।

**जैनेन्द्र** अध्याय पांच, पाद बीस, तथा सम्पूर्ण सूत्र २६६३ है।

**शाकटायन** अध्याय चार, पाद सोलह, सम्पूर्ण सूत्र ३२३६ हैं।

शब्दों की सिद्धि में पाणिनि के सूत्रों की अपेक्षा भिक्षुशब्दानुशासन के सूत्रों की अधिकता का कारण इसकी लाघव तथा सरलीकरण की प्रक्रिया है। मूलतः व्याकरण को सरलतया छात्रों को बोधगम्य कराना ही इसका उद्देश्य है। इसलिये पाणिनि के अधिकांश लम्बे सूत्रों को कई खण्डों में विभाजित करके छोटे छोटे सूत्र इसमें बनाये गये हैं। उदाहरण के लिये पाणिनि सूत्र “टाडमिटसामिनात्स्या” इस सूत्र को लिया जाय। यह सूत्र टा, डसि डस् प्रत्ययों के स्थान पर क्रमशः इन,

आत् और स्य आदेश करता है। भिक्षुशब्दानुशासन में इस सूत्र की जगह तीन सूत्र हैं

१ टेन १।४।१५ इससे टा के स्थान पर डन आदेश होता है।

२ डसिराद् १।४।१३ डसि को आत् का विधान करता है।

३ डस् स्य १।४।१४ डस् के स्थान स्य का विधायक सूत्र है।

इसके अतिरिक्त पाणिनि व्याकरण में आये हुए कतिपय वचनो एव वार्तिको को भी इसमें सूत्र का रूप दे दिया गया है। जैसे —

१ अ अनुस्वार १।१।११

२. अ विसर्ग १।१।१२

३ कु चु टु तु वर्गा १।१।१५

भट्टोजिदीक्षित कृत सिद्धान्त कौमुदी में इन सूत्रों के लिये निम्नलिखित वचन मिलते हैं

“अ अ इत्यच परानुस्वारविसर्गो”

“कु चु टु तु पु” इत्येते उदित ”

पाणिनि परम्परा में ऋकार और लृकार की परस्पर सवर्ण सज्ञा करने के लिए “ऋलृवर्णयो मिय सावर्ण्यं वाच्यम्” ऐसा वार्तिक आता है। भिक्षुशब्दानुशासन में इसे सूत्र का रूप दे दिया गया है ऋलृवर्णो वा १।१।१६

इसी प्रकार “शकन्च्वादिपु पररूप वाच्यम् ॥”

“शाकपायिवादीना सिद्धये उत्तरपदलोपस्थोपसंख्यानम् ॥”

इन दो वार्तिकों के स्थान पर भिक्षुशब्दानुशासन में निम्नलिखित सूत्र मिलते हैं

१ शकादीना टेरन्च्वादिपु १।२।११

२ शाकपायिवादीना मध्यमपदलोपश्च । ३।१।११०

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि पाणिनि के अनन्तर जितने व्याकरणों की रचना हुई है, उन सब पर पाणिनि का अविकल प्रभाव है। यह व्याकरण भी उस परम्परा से अछूता नहीं है, फिर भी इसकी निजी विशेषताये हैं, जिनका विवेचन आगे किया जायेगा।

### भिक्षुशब्दानुशासन में प्रत्याहार सूत्र

संक्षेपीकरण व्याकरणशास्त्र की अपनी विशेषता है। सारगर्भित छोटे छोटे सूत्रों के द्वारा महत्त्वपूर्ण तथा विस्तृत व्याख्या सापेक्ष तथ्यों का प्रस्तुतीकरण व्याकरणशास्त्र के अतिरिक्त अन्यत्र कम जगहों पर देखने को मिलता है। प्रत्याहार भी कुछ इसी प्रकार के कार्य करते हैं। अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ इन नौ अवरो को पाणिनि व्याकरण में “अच्” जैसे छोटे शब्द के द्वारा कहा गया है।

पाणिनि व्याकरण के मूलाधार चौदह माहेश्वर सूत्र हैं। इन्हे अक्षर समाम्नाय, वर्ण समाम्नाय तथा प्रत्याहार सूत्र इत्यादि विभिन्न नामों से जाना जाता है। ये चौदह सूत्र इस प्रकार हैं

अइउण् । १। ऋलृक् । २। एओङ् । ३। ऐऔच् । ४। ह्यवरट् । ५। लण् । ६। ञमडणनम् । ७। झभञ् । ८। घढधष् । ९। जवगडदश् । १०। खफछठयचटतव् । ११। कपय् । १२। शपसर् । १३। हल् । १४।

जैनेन्द्र व्याकरण में प्रत्याहार सूत्र नहीं है, किन्तु सूत्रपाठ में जहाँ अनेक वर्णों का निर्देश करना अभीष्ट है, वहाँ संक्षेपार्थ पाणिनि अनुशासन के प्रत्याहारों का ही प्रयोग किया गया है। जैसे

अच् १।१।५६      इक् १।१।१७      यण् १।१।४५      हल् ५।४।१३८

ऐच् १।१।१५      एङ् १।१।७०      अट् ५।४।१३७      झर् ५।४।१३६

इन प्रत्याहारों के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि ये सारे प्रत्याहार पाणिनि प्रत्याहार सूत्र पर आधारित हैं। प्रत्याहार सूत्रों के अभाव में भी प्रत्याहार बनाने के लिए “अन्त्येनेतादि” १।१।७३ यह सूत्र जैनेन्द्र में उपलब्ध होता है। इस सूत्र के द्वारा अजादि प्रत्याहारों का निर्माण तभी संभव है, जब इस ग्रन्थ में पाणिनि सम्मत प्रत्याहार सूत्र स्वीकृत हो। अन्यथा अन्त्येनेतादि सूत्र का अर्थ समझ में ही नहीं आयेगा।

शाकटायन व्याकरण में प्रत्याहार सूत्र उपलब्ध है। इनका मूलाधार भी पाणिनि सूत्र ही है। किन्तु पाणिनि सूत्रों में कुछ वर्ण-विपर्यय करके शाकटायन ने इस प्रकार से प्रत्याहार सूत्रों को बनाया

अइउण् । १। ऋक् । २। एओङ् । ३। ऐऔच् । ४। ह्यवरलञ् । ५। ञमडणनम् । ६। जवगडदश् । ७। झभघढधष् । ८। खफछठयट् । ९। चटतव् । १०। कपय् । ११। शपसअञ् । १२। क ष प र् । १३। हल् । १४।

भिक्षुशब्दानुशासन का अपना प्रत्याहार सूत्र है। यहाँ प्रत्याहार सूत्र की संख्या तेरह या चौदह न होकर एक ही है। अनुबन्ध रहित यह एक प्रत्याहार सूत्र निम्नलिखित प्रकार से है

अइउऋलृ-एऐओऔ - ह्यवरल - ञणनडम-झढधभ - जडदगव - खफछठय-चटतकप-शपस १।१।४

पूर्ववर्ती व्याकरणों में प्रत्याहार सूत्रों के अन्त में एक-एक वर्ण ऐसे लगे हुए हैं, जिनकी इत्सङ्गा का लोप करना पड़ता है। भिक्षुशब्दानुशासन गौरवग्रस्त इस पद्धति को छोड़कर अनुबन्ध विनिर्मुक्त प्रत्याहार सूत्र स्वीकार करता है। शाकटायन जहाँ लृ को अनावश्यक समझते हैं और प्रत्याहारसूत्रों में उसका उल्लेख नहीं करते, वही पर भिक्षुशब्दानुशासन लृवर्ण को आवश्यक समझता है और प्रत्याहारसूत्रों में उसका पाठ स्वीकार करता है। शाकटायन ने प्रत्याहार सूत्रों में

उन्ही अनुबन्धों को लगाया है, जिनका प्रयोग पाणिनि व्याकरण में किया गया है। इतना आवश्यक है कि शाकटायन विवाद से बचना चाहते हैं। पाणिनि के प्रत्याहार सूत्रों में णकार अनुबन्ध दो बार और आया है। जिज्ञासा स्वाभाविक है कि णकार का अनुबन्धरूप में द्विरूपचरण क्यों किया गया। समाधान में कहा गया है कि णकार के द्विरूपचरण से “व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति नहि मदेहादलक्षणम्।” इस परिभाषा का ज्ञापन किया जाता है। शाकटायन इस चक्कर में पड़ना नहीं चाहते। वे एक णकार को हटा देते हैं। इन्होंने अनुस्वारविसर्गजिह्वामूलीय और उपध्मानीय का पाठ शर प्रत्याहार के अन्तर्गत कर दिया है।

भिक्षुशब्दानुशासन का प्रत्याहार सूत्र अपने ढंग का अलग है। इसमें हवर्ण का द्विरूपादान पाणिनि और शाकटायन की भाँति नहीं किया गया है। शाकटायन लिखते हैं “हकारस्य द्विरूपदेशोऽपादौ वलादौ च ग्रहणार्थः। पाणिनि परम्परा में हकार का दो बार पाठ अट् और शल् प्रत्याहार में हकार के ग्रहण के लिये कहा जाता है, जिसका फल अर्हेण और अधुक्षत् प्रयोग की सिद्धि मानी गई है।

भिक्षुशब्दानुशासन के अनुसार

“अवकुप्वनुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीयैरन्तरेऽपि” २।२।७०

इस सूत्र से अव के व्यवधान में नकार को णकार करके उपर्युक्त दोनों प्रयोगों की सिद्धि कर दी गई है। इसलिये हकार का द्विरूपादान यहाँ अनावश्यक समझा गया।

भिक्षुशब्दानुशासन की सर्वाङ्गपूर्णता।

व्याकरणसम्प्रदाय में शब्दानुशासन शब्द केवल सूत्रपाठ के लिये आता है। धातुपाठ, गणपाठ, उणादि और लिङानुशासन किसी भी व्याकरण की पूर्णता के लिये आवश्यक होता है। सूत्रों के सहित इन चारों को मिलाकर पञ्चपाठी व्याकरण कहा जाता है। प्रचलित शाकटायन व्याकरण में प्रथम अध्याय के द्वितीयपाद के आरम्भ में ही श्लोकवद्ध लिङानुशासन का पाठ है। स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग तथा नपुंसक-लिङ्ग के सारे शब्द ६० श्लोकों में उल्लिखित हैं। इस व्याकरण में धातुज रूपों की सिद्धि के लिये प्रक्रिया की विस्तृत चर्चा होने पर भी धातुपाठ नहीं देखा जाता। संभवतः पाणिनि की धातुओं से ही तत्तद् रूपों को बनाना इन्हें अभीष्ट रहा हो। इसलिये रूपसिद्धि के लिये सूत्र तो बनाये गये पर धातुओं का निर्माण अलग से नहीं किया गया। इसमें गणपाठ की विस्तृत चर्चा है। व्याकरण में आये सारे गण के शब्दों का पाठ ग्रन्थ के परिशिष्ट में दिया गया है।

उणादि प्रकरण के सन्दर्भ में शाकटायन व्याकरण में केवल एक सूत्र उपलब्ध होता है “उणादयः” ४।३।२८०। यहाँ बहुल की अनुवृत्ति करके “उणादयो बहुलम्” ऐसा निर्देश मान लिया गया है। इससे यह बात निश्चित हो जाती है कि



पाणिनि परम्परा में प्रचलित उणादि सूत्रों के रचयिता ये शाकटायन नहीं हैं।

जैनेन्द्रव्याकरण में धातुपाठ मूल ग्रन्थ के परिशिष्ट में छपा हुआ है। इसमें धातुओं की घुसजा की गई है। इनकी कुल संख्या १४५८ है। सामान्य परिवर्तन के साथ यहाँ पर धातु वे ही हैं, जो पाणिनि व्याकरण में प्रचलित हैं। अभयनन्दी की महावृत्ति में जैनेन्द्र गणपाठ यथास्थान उल्लिखित है। जैनेन्द्र में उणादि के लिये एक मात्र मूल उपलब्ध है, उणादयोः बहुलम् २४।६२। इसके अतिरिक्त और कोई उणादिसूत्र जैनेन्द्रव्याकरण का उपलब्ध नहीं होता। लिङ्गानुशासन भी जैनेन्द्र का अनुपलब्ध ही है। इनके अतिरिक्त जैनेन्द्र में पाणिनि की अनुकृति के आधार पर ४८३ वार्तिक तथा ६७ परिभाषाओं का उल्लेख मिलता है। जैनेन्द्र के ऊपर अभयनन्दी की महावृत्ति का अवलोकन करने से विदित होता है कि अभयनन्दी केवल जैनेन्द्र व्याकरण के जानकार ही नहीं थे अपितु पाणिनि व्याकरण में उनकी अप्रतिहत गति थी। वार्तिक तथा परिभाषाओं की समानानुकृति से यह बात सम्पुष्ट होती है।

इस पञ्चपाठी व्याकरण के परिवेश में "भिक्षुशब्दानुशासन" का पर्यालोचन करने पर विदित होता है कि जैनेन्द्र तथा शाकटायन की अपेक्षा यह शब्दानुशासन कतिपय अपनी निजी विशेषताएँ रखता है। उदाहरणार्थ जैनेन्द्र जहाँ प्रत्याहारों के लिये पाणिनि के अक्षरसामान्य पर अवलम्बित है, वहाँ भिक्षुशब्दानुशासन के स्वयं का प्रत्याहार सूत्र है। उणादि सूत्र न तो जैनेन्द्र में हैं और न शाकटायन में हैं। किन्तु भिक्षुशब्दानुशासन में उणादि सूत्रों को चार पादों में विभक्त कर इनका विधिवत् विवेचन किया गया है।

भिक्षुशब्दानुशासन प्रवेशिका "कालुकौमुदी" में १११ उणादि सूत्रों का उल्लेख है। इससे संकेत मिलता है कि इस शब्दानुशासन के और भी उणादिसूत्र हैं।

गणपाठ — इस शब्दानुशासन की मूल पाण्डुलिपि में गणपाठ उपलब्ध नहीं है। संभवतः इसका उल्लेख अलग किया गया हो।

धातुपाठ — इसका धातुपाठ स्वयं का है। कालुकौमुदी में ८३३ धातुओं का उल्लेख है। इससे विदित होता है कि इसके धातुओं की संख्या इससे अधिक है। इस सम्बन्ध में भिक्षुशब्दानुशासन की निम्नलिखित पक्तियाँ ध्यातव्य हैं —

"भिक्षु धातुपाठे सन्तोऽपि ये धातव परैरपि स्वस्वधातुपाठेषु अन्यथा पठिता सन्ति, ये च परैरधिका एव पठितास्तेऽपि परपठितत्वेन विवक्षिता इहोच्यन्ते"

तात्पर्य यह है कि इस धातुपाठ में कुछ धातु स्वनिमित्त और कुछ अन्य व्याकरण से गृहीत हैं। अन्य व्याकरण से तात्पर्य पाणिनि व्याकरण से है। क्योंकि पाणिनि के धातु अर्थ सहित यहाँ गृहीत किये गये हैं।

कुछ धातु जो भिक्षुशब्दानुशासन के स्वयं के हैं

- १ तन्द्रा आलस्ये तन्द्राति
२. निद्रा अयने निद्राति
- ३ कक्व कर्कहासे कक्वति
- ४ मर्कस् पृच्छने मर्कति
- ५ लत् आदाने लतति

इस प्रकार अनेक धातु हैं, जो भिक्षुशब्दानुशासन के अपूर्व धातु हैं।

लिगानुशासन इस शब्दानुशासन के मूल हस्तलेख में लिगानुशासन नहीं हैं। किन्तु श्लोकवद्ध इसका लिगानुशासन बना हुआ है। ऐसा विदित हुआ है। इन सभी वातों के अतिरिक्त यहाँ का न्यायदर्पण एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है। इन न्यायों के द्वारा सदिग्ध अर्थ को एक निश्चित रूप दिया जाता है। पाणिनि परम्परा में इस प्रकार के कार्य परिभाषाओं के द्वारा सम्पन्न किये गये हैं। “अनियमे नियम कारिणी परिभाषा” इस व्युत्पत्ति के आधार पर परिभाषाओं से भी वे ही कार्य किये जाते हैं, जो न्यायों से किये जाते हैं। पाणिनि व्याकरण में दो प्रकार की परिभाषाये उपलब्ध होती हैं। एक तो सूत्र रूप में पढ़ी गई परिभाषायें, जैसे “इको गुणवृद्धी” “स्यानेऽन्तरतम” इत्यादि। दूसरे प्रकार की परिभाषाये वे हैं, जो सूत्रकार के द्वारा पढ़ी तो नहीं गई हैं, पर उनसे अभिमत हैं। ऐसी परिभाषायें सूत्रों से अथवा सूत्रों के अंशों से जापित की जाती हैं। ऐसी परिभाषाओं के आधार पर निर्मित पाणिनि सम्प्रदाय में परिभाषेन्द्रशेखर नामक एक विशिष्ट ग्रन्थ है।

भिक्षुशब्दानुशासन में भी दो प्रकार की परिभाषाये उपलब्ध होती हैं। एक तो सूत्रकार के द्वारा सूत्र रूप में पढ़ी गई है, जैसे “शिक्षनेकवर्ण सर्वस्य” दा० १२४ जो कार्य शित् रूप हो या अनेक वर्णों वाला हो, वह सम्पूर्ण के स्थान पर होता है।

पष्ठ्यान्त्यस्य दा० १२३ पढ़ी निर्दिष्ट कार्य अन्तिम वर्ण के स्थान पर होता है। यद्यपि इन्हे सूत्रकार ने परिभाषा नाम नहीं दिया है तथापि इनके द्वारा वे ही कार्य होते हैं, जो परिभाषाओं से किये जाते हैं।

भिक्षुशब्दानुशासन में दूसरे प्रकार की परिभाषाओं के लिए न्याय शब्द का प्रयोग किया गया है।

“अथ ये तु शास्त्रे सूचिता लोक प्रसिद्धाश्च न्यायास्तदर्थं यत्न क्रियते”

यद्यपि न्याय शब्द से “सूचीकटाहन्याय”, “काकाक्षिगोलकन्याय” “जल तुम्बिकान्याय” इत्यादि लोकप्रसिद्ध न्याय गृहीत किये जाते हैं किन्तु इस शब्दानुशासन में “नीयते सदिग्धार्थो निर्णयमेभिरितिन्याय” इस व्युत्पत्ति के आधार पर सदिग्धार्थ का निर्णय जिसके द्वारा किया जाय वह न्याय कहा गया है।

भिक्षुशब्दानुशासन में तीन प्रकार के न्याय उपलब्ध होते हैं

- १ कुछ पाणिनीय सूत्र यहाँ न्याय रूप में स्वीकार हैं

- (I) स्व रूप शब्दस्याशब्दसज्ञा
- (II) आद्यन्तवदेकस्मिन्
- (III) यथासख्यमनुदेश समानाम् ।

२ पाणिनिसम्प्रदाय की अनेक उपयोगी परिभाषाये मूलरूप में या रूपान्तरित होकर यहाँ न्याय रूप में स्वीकृत हैं

- (I) सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्त तद्विधातस्य ।
- (II) एकदेशविकृतमनन्यवत् ।
- (III) उपपदविभक्ते कारकविभक्तिर्वैलीयसी ।
- (IV) अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम् ।
- (V) लक्षणप्रतिपदोक्तयो प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् ।

३ कुछ ऐसे न्याय भी यहाँ स्वीकृत हैं, जो लोकसिद्ध हैं

- (I) द्विर्वद्ध सुवद्ध भवति ।
- (II) यस्य येनाभिसम्बन्धो दूरस्यस्यापि तेन स ।
- (III) अपेक्षातोऽधिकार ।

भिक्षुन्यायदर्पण में कुल १३५ न्याय हैं। इन न्यायों पर शब्दानुशासन के श्लोककार भुनि चोथमल की वृहद्वृत्ति है, जो बहुत ही उपयोगी है। इस शब्दानुशासन को सर्वाङ्गसम्पन्न बनाने में इन न्यायों का महत्वपूर्ण स्थान है।

लाघव और सरलता भिक्षुशब्दानुशासन का प्रधान लक्ष्य है। व्याकरण सम्बन्धी सारे तथ्यों का सागोपाग विवेचन करने वाले इस शब्दानुशासन की निजी विशेषताये इस प्रकार हैं

१ पाणिनि शब्दानुशासन लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों का अनुशासन करता है। भिक्षुशब्दानुशासन के अनुसार वैदिक शब्दों की सिद्धि तथा तत्सम्बन्धी स्वरविधान की प्रक्रिया मान्य नहीं थी, अतः यह वैदिक शब्दों का अनुशासन नहीं करता।

२ पाणिनि सूत्रों पर आधारित वैयाकरणसिद्धान्त कौमुदी में पक्तियों की परम्परा, जिसके कारण व्याकरण को कठिन मानने की एक धारा चल पड़ी, उस परम्परा को यहाँ स्थान नहीं दिया गया है। इसका उद्देश्य सरल प्रक्रिया द्वारा व्याकरण का ज्ञान कराना है। पक्तियों की शास्त्रार्थी प्रणाली शब्द व्याक्रिया से जिज्ञासु को दूर कर देती है।

३ पाणिनि व्याकरण एक शेष का विधिवत् विवेचन करता है। जैनेन्द्र ने एक शेष को आवश्यक नहीं समझा। वे लिखते हैं “स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैक शेषानारम्भः ।” अर्थात् लोक व्यवहार के आधार पर प्रयोगों की अवधारणा के कारण एक शेषविधायक सूत्र आवश्यक नहीं है। यह बात कहाँ तक उचित है, इस पर गंभीर विचार की आवश्यकता है। जैनेन्द्र के परवर्ती शाकटायन ने एक शेष

को आवश्यक समझा और इस कार्य के लिये उन्होंने वारह सूत्रों का प्रणयन किया। पाणिनि व्याकरण में एक शेष के लिये नौ सूत्र हैं। शाकटायन ने पाणिनि के वार्तिकों को सूत्र का रूप देकर यह संख्या वारह कर दी है।

भिक्षुशब्दानुशासन एक शेष की आवश्यकता का अनुभव करता है। इसका पहला एक शेष विधायक सूत्र “स्यादावसंख्येय” ३।१।१३५ है।

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि किसी भी व्याकरण की सर्वाङ्ग-पूर्णता के लिये उसका धातुपाठ, गणपाठ, लिगानुशासन, शिक्षा तथा उणादि सूत्र आवश्यक समझे जाते हैं। पाणिनि व्याकरण में ये सारी बातें उपलब्ध हैं। इनमें लिगानुशासन, धातुपाठ तथा गणपाठ के पाणिनि कर्तृत्व में किसी की विप्रतिपत्ति नहीं है किन्तु पाणिनि शिक्षा और उणादि सूत्रों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। शिक्षा का पाणिनि द्वारा रचित न होने का कारण यह प्रतीत होता है कि इसका पहला श्लोक

अथ शिक्षा प्रवक्ष्यामि पाणिनीय मतं यथा ।

शास्त्रानुपूर्व तद् विधात् यथोक्त लोकवेदयो ।

है। इसमें पाणिनीय मतानुसार शिक्षा का निरूपण करने का कहा गया है। पाणिनि स्वयं के लिए ऐसा प्रयोग नहीं करते। साथ ही शिक्षा के अन्त में दो बार पाणिनि को नमस्कार भी किया गया है, जो पाणिनि के द्वारा संभव नहीं है। इसलिए बहुत संभव है कि पाणिनि परम्परा के किसी विद्वान् ने शिक्षा को पीछे से इसमें जोड़ दिया है।

उणादिसूत्र जो पञ्चपादों में विभक्त है तथा जिनकी सख्या ७५५ है, के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। पाणिनि ने “उणादयो बहुलम्” सूत्र का उल्लेख किया है। जैनेन्द्र ने उसे उसी प्रकार उद्धृत किया है। शाकटायन ने “उणादय” सूत्र बनाया तथा इसमें बहुलम् की अनुवृत्ति स्वीकार की। इन दोनों व्याकरणों में सिद्धान्तकौमुदी के उणादि प्रकरण के प्रथम सूत्र “कृवायाजिमि स्वदिसाध्यशून्य उण्” सूत्र के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

भिक्षुशब्दानुशासन उणादि के सम्बन्ध में जैनेन्द्र और शाकटायन से आगे है। भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी में जिस प्रकार पूर्व और उत्तर कृदन्त के मध्य में उणादि प्रकरण है, उसी प्रकार भिक्षुशब्दानुशासन की प्रवेशिका “कालु कौमुदी” में पूर्व और उत्तर कृदन्त के मध्य में उणादि प्रकरण को रखा गया है। कौमुदी वाले उणादि सूत्रों में पाँच पाद हैं किन्तु भिक्षुशब्दानुशासन में उणादि के चार पाद हैं। उसे देखने में विदित होता है कि जिस नरलीकरण की पद्धति का अवनमन करने के भिक्षुशब्दानुशासन के अन्य सूत्रों की रचना हुई है, वही पद्धति उणादि सूत्रों के लिए भी अपनाई गई है। दो उदाहरणों में इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है,

‘येनागविकार’ यह पाणिनि सूत्र है। दीक्षित ने इसकी वृत्ति में लिखा है :  
 “येन विकृतेनागेनागिनो विकारो लक्ष्यते तत्र तृतीया स्यात्” अर्थात् जिस विकृत  
 अग से अगी का विकार परिलक्षित हो, उस अगवाचक शब्द में तृतीया विभक्ति  
 होती है। यहाँ अग शब्द से अच् प्रत्यय करके अग शब्द बनाया गया है जिसका  
 अर्थ होता है ‘अगी’। अगम् अस्ति यस्य स अग अर्थात् अगी” इस प्रकार की  
 व्युत्पत्ति के द्वारा वाञ्छित अर्थ की प्रतीति की जाती है। भिक्षुशब्दानुशासन इस  
 प्रकार के क्लिष्ट व्याख्यान में न उलझकर सीधा सूत्र बनाता है ‘येनागविकार’  
 १।४।६०। अर्थ और उदाहरण तो वही है, जो दीक्षित ने दिये हैं परासूत्रार्थ में वह  
 कठिन नहीं है जो दीक्षित के आगे है।

इसी प्रकार “चन्द्रमस्” शब्द बनाने के लिए “चन्द्रे मो डित्” यह सूत्र  
 वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी में उपलब्ध होता है। इसके द्वारा चन्द्रपूर्वकमा धातु  
 से असि प्रत्यय तथा उसे डित् की प्रतिज्ञा की गई है। डित् के कारण धातु के  
 आकार का लोप होकर “चन्द्रमस्” शब्द बनता है। इस चन्द्रमस् शब्द की सिद्धि  
 भिक्षुशब्दानुशासन में “चन्द्रे रमस्”। इस सूत्र से चन्द्र धातु से रमस् प्रत्यय करके  
 किया गया है। स्पष्ट है कि भिक्षुशब्दानुशासन में प्राकिया को सरल करने का  
 प्रयत्न जिस प्रकार अन्य प्रकरणों में किया गया है उसी प्रकार उणादिसूत्रों के  
 सम्बन्ध में भी यहाँ का प्रयत्न प्रशंसनीय है।

भिक्षुशब्दानुशासन में पाणिनि की गंगा, कात्यायन की कालिन्दी और  
 पतञ्जलि की सरस्वती का एकत्र दर्शन होता है। उदाहरण के लिए पाणिनि के  
 सूत्र “शिल्पिनिष्पुन्” ३।१।१४५ को ले, जो शिल्पवाचक शब्दों से णुन् प्रत्यय  
 करता है। इस पर कात्यायन का वार्तिक है “नृतिखनिरञ्जिभ्य एव”। पतञ्जलि  
 को कहना है यह णुन् प्रत्यय “नृतिखनिभ्यामेव”। णुन् प्रत्यय से  
 अनुबन्ध को हटा कर वु को अक करके नर्तक इत्यादि रूपों की सिद्धि की जाती है।  
 इस प्रक्रिया को लाभपूर्ण बनाते हुए भिक्षुशब्दानुशासन कहता है

“नृतिखनिरञ्जिभ्य शिल्पिन्यकेट्”

स्पष्ट है कि इस प्रक्रिया में वु को अक करने की आवश्यकता नहीं है।

पाणिनि परम्परा की वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी के हल् सन्धि प्रकरण में  
 ३८ सूत्रों तथा कुछ वार्तिकों के द्वारा जितने कार्य किये गये हैं वे सब कार्य  
 भिक्षुशब्दानुशासन पर आधारित कालुकौमुदी के हल् सन्धि प्रकरण में केवल  
 २३ सूत्रों से कर लिया गया है। सूत्रों को कम करने की यह प्रक्रिया प्रयोगसिद्धि  
 की सरल प्रणाली पर आधारित है। उदाहरण के लिए “उत्त्यातम्” प्रयोग को  
 लिया जा सकता है।

‘उत्त्यातस्थानम्’ इस स्थिति में पाणिनि ने “उद स्थास्तम्भो पूर्वस्य” इस  
 सूत्र द्वारा स्थानम् के सकार के स्थान पर पूर्वसवर्ण करके अकार का विधान

किया है। उसके बाद “अरोझरि सवर्णो” सूत्र से थकार का लोप तथा “श्वरि च” सूत्र से दकार को तकार करके “उत्थानम्” प्रयोग की सिद्धि की गई है। भिक्षुशब्दानुशासन इस प्रयोग की सिद्धि के लिये इतनी लम्बी प्रक्रिया को जगह सरल प्रक्रिया को अपनाता है। उसका सूत्र है “उद स्यास्तम्भो स।” उसके द्वारा उद् शब्द के आगे रहने वाले स्था और स्तम्भ के सकार का लोप कर दिया जाता है। फलस्वरूप सकार का पूर्वसवर्ण तथा थकार का लोप जैसी प्रक्रिया नहीं करनी पड़ती। यह एक लाघव है। भिक्षुशब्दानुशासन के पूर्ववर्ती जैनेन्द्र ने तो उत्थानम् की सिद्धि के लिये पाणिनि की सरणि को ही अपनाया। इनका सूत्र “स्यास्तम्भो पूर्वस्योद” १।१।१३५ उद् से पर में रहने वाले स्था और स्तम्भ को पूर्व का रूप करता है। इससे स्पष्ट है कि ये पाणिनि की परम्परा का अनुसरण कर रहे हैं। शाकटायन यहाँ पाणिनि से भिन्न सरणि को अपनाते हैं। इन्होंने “उद स्यास्तम्भ १।१।१३४ सूत्र बनाया और इसके द्वारा स्था के सकार का लोप कर दिया गया। इतना अवश्य है कि सकार के लोप के लिये “जर्” प्रत्याहार का अवलम्बन किया गया। अर्थात् उद् से पर में रहने वाले जर् का लोप हो जाता है यदि उसके आगे भी जर् रहे तो। इस प्रकार सकार का लोप करके शाकटायन ने प्रक्रिया लाघव का प्रदर्शन किया। भिक्षुशब्दानुशासन यहाँ शाकटायन से प्रभावित है। किन्तु शाकटायन यहाँ जर् प्रत्याहार के द्वारा सकार लोप विधान करते हैं, वहाँ भिक्षुशब्दानुशासन “उद स्यास्तम्भो स” सूत्र के द्वारा सीधे सकार का लोप विधान कर सरलीकरण की प्रक्रिया को और आगे बढ़ाता है।

पाणिनि परम्परा में जो रूप पूर्वरूप या पररूप करके बनाये जाते हैं, भिक्षुशब्दानुशासन वहाँ लोप करके उसको बनाता है। उदाहरण के लिए,

१ राम् + अम् “अमिपूर्व” सूत्रसे पूर्वरूप करके रामम् बना (पाणिनि)।

राम् | अम् = “समानादम्” सूत्र से अम् के अकार का लोप करके रामम् बना, (भिक्षुशब्दानु०)।

२ प्र + एजते = “एडि पररूपम्” सूत्र से पररूप करके प्रेजते रूप बनता है (पाणिनि)।

प्र + एजते = “एदेतोरुपसर्गस्यलोप” सूत्र से उपसर्ग के अकार का लोप करके प्रेजते रूप की सिद्धि होती है (भिक्षु०)।

३. शक | अन्धु = शकन्ध्वादिपु पररूप वाच्यम् इस वार्तिक से ककारोत्तरवर्ती अकार का पररूप करके “शकन्धु” रूप बनता है (पाणिनि)।

शक + अन्धु = “शकादीना ढेरन्धादिपु” इस सूत्र से टिलोप (अकारलोप) करके शकन्धु बना। (भिक्षु०)।

गुण और वृद्धि सज्ञाए भिक्षुशब्दानुशासन में नहीं है। साथ ही अकार के आगे जहाँ ऋ और लृ रहता है वहाँ क्रमशः गुण रूप में अर् और अल् तथा वृद्धिरूप में आर् और आल् होता है जैसे

उप + इद्र = उपेन्द्र (गुण)

देव + ऐश्वर्यम् = देवैश्वर्यम् (वृद्धि)

कृष्ण | ऋद्धि = कृष्णद्धि (गुण)

तव | लृकार = तवल्कार (गुण)

प्र | ऋच्छति = प्रार्च्छति (वृद्धि)

प्र + लृकारीयति = प्राल्लकारीयति (वृद्धि)

(पाणिनि)

भिक्षुशब्दानुशासन मे

“अवर्णस्येवर्णादावेदोदरल” १।७।२३

इस सूत्र के द्वारा अवर्ण के आगे इ, उ, ऋ और लृ के रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर क्रमशः ए, ओ, अर् और अल् आदेश होता है। इस पद्धति से भी उपर्युक्त रूपों की सिद्धि की जाती है। इतना अवश्य है कि पाणिनि में जहाँ गुण संकेत से कार्य किया जाता है, वहाँ भिक्षुशब्दानुशासन विधियों का साक्षात् उल्लेख करके कार्य कर रहा है। यहाँ कुछ गौरव तो अवश्य है, पर प्रक्रिया ज्ञान में लाभ भी है। इसी प्रकार वृद्धि विधान के द्वारा पाणिनि ने जिन रूपों की सिद्धि की है, उनके लिए भिक्षुशब्दानुशासन में

एदैतोरैत् १।२।१६

ओदौतोरौत् १।२।२२

अवर्ण के आगे ए रहने पर ऐ तथा ओ रहने पर औ होता है। रूप सिद्धि तो वही होगी, जो पाणिनि में हुई है किन्तु जैसी जैसी वृद्धि करनी होगी, वैसे वैसे नाना सूत्र यहाँ बनाने पड़ेंगे। यह यहाँ का एक गौरव है। वृद्धि कही तो पूर्व पर के स्थान पर होती है यथा “तवैषा”। कही आदि अच् के स्थान पर होती है जैसे सौमित्रि ।

इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे विभिन्न स्थलों के लिये भिक्षुशब्दानुशासन में विभिन्न सूत्र अपेक्षित होंगे। फिर भी अलग अलग विधियों का विधान प्रक्रिया सारल्य में उपयोगी तो होगा ही।

गुण वृद्धि सत्ता न करके लक्ष्य में सीधे आदेश का विधान जैनेन्द्र और शाकटायन की देन है। जैनेन्द्र ने गुण करने के लिये “अदेप्” ४।३।७५ सूत्र बनाया है। इसका अर्थ है ‘अवर्ण के आगे अच् रहे तो एच् आदेश होता है। उदाहरण के रूप में यहाँ ‘देवेन्द्र’ तथा ‘गन्धोदकम्’ ये प्रयोग प्रस्तुत किये गये हैं। जैनेन्द्र ने एच्यैप् ४।३।७६ सूत्र बनाया है। अवर्णान्त से एच् पर मे रहने पर दोनों के स्थान पर एक ऐप् होता है। महा + औपवम् = महावपम् ॥ यह उदाहरण रूप में दिया गया है। शाकटायन ने भी जैनेन्द्र की प्रणाली का अनुसरण कर गुण विधान के लिये इक्येडर १।१।८२ तथा वृद्धि करने के लिए ‘एजूच्यैच् ॥१।१।८३ सूत्र

बनाया। इस प्रकार सज्ञा के बिना सीधे आदेश विधान की परम्परा को भिक्षुशब्दानुशासन ने अपनाया और उसे ऐसा परिष्कृत रूप दिया, जो अव्याप्ति आदि दोषों से विनिर्मुक्त है।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त भिक्षुशब्दानुशासन में लगभग एक सौ के करीब ऐसे स्थल हैं, जिनकी तुलना पाणिनिशब्दानुशासन से करने पर दोनों की अपनी-२ विशेषता स्पष्ट परिलक्षित होती है। उनमें से कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत हैं।

१। एकद्विनिमात्रा लृत्वदीर्घप्लुता ॥१११६ के उदाहरण में दीर्घ लृ का पाठ है। इससे दीर्घ लृ की सत्ता भिक्षुशब्दानुशासन में स्वीकृत है।

भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी में “लृवर्णस्य द्वादश तस्य दीर्घाभावात्” यह पाठ देखकर समझा जाता है कि पाणिनि परम्परा में दीर्घ लृकार नहीं है। किन्तु बात कुछ और ही है। “लृति लृ वा” इस वार्तिक से विधेय जो लृ होता है वह द्विमात्रिक अर्थात् दीर्घ होता है और इसका प्रयत्न विवृत न होकर ईषत्स्पृष्ट होता है। इसीलिये ऐसा नहीं समझना चाहिये कि पाणिनि परम्परा में दीर्घ लृकार नहीं होता।

२। ऋणे प्रवसन कम्बलदशार्णवत्सरवत्सतरस्यार् ॥१२१४ (भिक्षु०)

प्रवत्सतर कम्बलवसनार्णदशानामृणे (वै० सि० कौमुदी)

भिक्षुशब्दानुशासन का उपर्युक्त सूत्र तथा सिद्धान्तकौमुदी का वार्तिक दोनों के द्वारा कार्य एक ही किया जाता है पर भिक्षुशब्दानुशासन आर् का विधान करता है जब कि वार्तिक के द्वारा वृद्धि करके आर् किया जाता है। यहाँ पाणिनि की अपेक्षा वत्सर शब्द भिक्षुशब्दानुशासन में अधिक है। इससे “वत्सरार्णम्” की सिद्धि होगी॥

३। नेमाल्प प्रथम चरमतयड्यडर्धकतिपयाना वा ॥११४२० (भिक्षु०)

प्रथम चरमतयाल्पाध्वकतिपयनेमाश्च ॥११४३३ (पाणिनि)

भिक्षुशब्दानुशासन सूत्र पठित शब्दों के आगे जश् विभक्ति को इश् आदेश विकल्प से करता है और पाणिनि शब्दानुशासन जश् विभक्ति के पर में रहने पर सर्वनाम सज्ञा विकल्प से करता है, जिससे जश् को शी विकल्प से होता है। बात एक ही है भेद केवल प्रक्रिया का है।

पाणिनि सूत्र की अपेक्षा भिक्षुशब्दानुशासन में “अयङ्” पाठ अधिक है। इसलिये त्रय शब्द का रूप प्रथमा के बहुवचन में ‘त्रये, त्रया’ भिक्षुशब्दानुशासन के द्वारा बनेगा और पाणिनि के अनुसार केवल ‘त्रया’ बनेगा। किन्तु पाणिनि परम्परा के विवेचकों का कहना है कि यहाँ पर “त्रय” शब्द में मूल प्रत्यय तयप् है जिसे “द्विनिमित्ता तयस्यायज् वा” सूत्र से अयच् आदेश कर दिया गया है। अतः स्थानिवद्भाव के द्वारा यहाँ तयप् वृद्धि करके वैकल्पिक सर्वनाम सज्ञा के द्वारा “त्रये त्रया” प्रयोग बनाने में कोई बाधा नहीं है।



॥४॥निकषा समयाहाधिगन्तरान्तरेणतियेन तेन ॥४॥४६ ॥

(भिक्षु शब्दानुशासन)

अभित परित समयानिकषा हाप्रतियोगेऽपि (पाणिनीय वार्तिक)

अन्तरावन्तरेणयुक्ते ॥४॥४७ (पाणिनि)

अतिरक्तिक्रमणेच ॥४॥४८ ॥

उपर्युक्त सूत्र और वार्तिक द्वितीया विभक्ति का विधान करते हैं। विवेचन करने से स्पष्ट होता है कि पाणिनि परम्परा के दो सूत्र और एक वार्तिक में जितने शब्दों का उल्लेख किया गया है, वे सारे शब्द भिक्षुशब्दानुशासन के एक ही सूत्र में समाहित हैं। इसके अतिरिक्त “येन और तेन” ये दो पद पाणिनि से यहाँ अधिक हैं। “येन तेन वा पश्चिमागत” इस प्रयोग में द्वितीया विधायक सूत्र पाणिनि में नहीं है।

अभित और परित के योग में द्वितीया करने के लिये

सर्वोभयाभिपरिभिस्तसन्तै ॥४॥४९० यह भिक्षुशब्दानुशासन का सूत्र है।

५ कालभावाध्वदेशमकर्मचाकर्मणाम् ॥४॥१७ (भिक्षुशब्दानु०)

अकर्मक धातुओं के योग रहने पर कालादि आधार की कर्म सज्ञा विकल्प से होती है। विकल्प से करने का तात्पर्य यह है कि कर्म सज्ञा के अभाव पक्ष में वह अधिकरण सज्ञक हो जाता है। एक बात यह विशेष रूप से ध्यान देने का है कि जिस पक्ष में आधार की कर्म सज्ञा होती है, उसी पक्ष में उसे अकर्म सज्ञा भी विकल्प से की गई है।

पाणिनि परम्परा में इस कार्य के लिये निम्नलिखित वार्तिक पाया जाता है

अकर्मकधातुभिर्योगः देश कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च । कर्मसज्ञक इतिवाच्यम् ॥

इस वार्तिक के द्वारा कालादिकों की कर्मसज्ञा नित्य ही की गई है। इसलिये प्राणिनिमतानुसार मासमास्ते प्रयोग बनेगा और भिक्षुशब्दानुशासन को द्वारा “मासमास्ते” के साथ “मासे आस्ते” यह प्रयोग भी बनेगा। किन्तु भिक्षुशब्दानुशासन में कालादिकों की कर्मसज्ञा के साथ “अकर्म” सज्ञा करने का क्या फल है, यह बात अन्वेषणीय है।

अविवक्षित कर्मणामजिन् कर्ता जौ वा ॥४॥२० (भिक्षु०)

जिन धातुओं के कर्म की अविवक्षा कर दी जाती है, उन धातुओं की अभित अवस्था का जो कर्ता होता है, वह भित् प्रत्यय करने पर कर्मसज्ञक विकल्प से होता है। उदाहरणार्थ

चैत्र पचति, मैत्र प्रेरयति “इस अर्थ में जिच् प्रत्यय करने पर “पाचयति” यह क्रियारूप बनता है। चैत्र जो जिच् प्रत्यय से पूर्व प्रेरणाश विहीन धात्वर्थ का कर्ता है, उसे इस अवस्था में वैकल्पिक कर्मसज्ञा होकर “चैत्र चैत्रेण वा पाचयति”

मैत्र ” यह प्रयोग भिक्षुशब्दानुशासन के अनुसार वनेगा । पाणिनि ने ऐसे स्थल पर कर्मसज्ञा करने के लिये

“गतिवुद्धिप्रत्ययवसानार्थशब्दकर्मकर्मकाणामणिकर्ता स णी” १।४।५२ सूत्र बनाया है । इसमें अकर्मकपद आया हुआ है । व्याख्याकारों का कहना है कि अकर्मकपद से यहाँ वे ही धातु लिये जायेंगे, जिनका कर्म पहले से ही नहीं है । यदि कर्म के रहते हुए भी धातु को अकर्मक कहना वाञ्छित है तो वे कर्म देश, काल, भावादि से अतिरिक्त नहीं होने चाहिये । कर्म की अविवक्षा करके धातु की अकर्मकता पाणिनि को वाञ्छित नहीं है । इसलिये पच् धातु के कर्म की अविवक्षा करके लिच् (पाणिनि में णिच्) प्रत्यय होने पर शुद्ध धातु के कर्ता को कर्म सज्ञा नहीं की जा सकती । फलस्वरूप पाणिनि मतानुसार उपर्युक्त उदाहरण का “पाचयति मैत्र चैत्रेण” यही रूप होगा ।

७ भावे वा २।४।१०१ (भिक्षुशब्दानुशासन)

भाव अर्थ में जो क्त प्रत्यय होता है उसके कर्ता में पठ्ठी विभक्ति विकल्प से होती है । “छात्रस्य हसितम्” “छात्रेण हसितम्” ।

पाणिनि में इस प्रकार के प्रयोगों में पठ्ठी करने के लिये कोई सूत्र नहीं है, किन्तु महाभाष्य में “नपुसके भावेक्तस्य योगे पठ्ठया उपसख्यानम्” यह वार्तिक उपलब्ध होता है । इससे नित्य ही पठ्ठी होकर “छात्रस्यहसितम्” यही प्रयोग पाणिनि में वनेगा “छात्रेण हसितम्” नहीं वनेगा ।

८ पारे मध्येऽग्रेऽन्त पठ्ठया वा ३।१।३० (भिक्षु०)

पारे मध्ये पठ्ठया वा २।१।१८ (पाणिनि)

पाणिनि की अपेक्षा भिक्षुशब्दानुशासन में अग्रे और अन्त शब्द अधिक हैं । इसलिये “अग्रेवनम्”, “अन्तर्गङ्गम्” ये दोनों प्रयोग भिक्षुशब्दानुशासन के द्वारा वनेंगे । पाणिनि के यहाँ उक्त सूत्र में यद्यपि अग्रे और अन्त शब्द नहीं हैं तथापि वनस्याग्रे इस विग्रह में पठ्ठी समास और राजदन्तादि गणपाठ के प्रभाव से अग्रे शब्द का पूर्व प्रयोग सप्तमी का अलुक् और नकार को णकार करके “अग्रेवणम्” प्रयोग बनाया जाता है ।

९ मातुलाचार्योपाध्यायाद् वा २।३।५६ (भिक्षुशब्दानुशासन)

इन शब्दों से स्त्रीलिंग बनाने पर ईप् प्रत्यय, आनुक् का आगम ये दोनों कार्य होते हैं । इनमें आनुक् का आगम विकल्प से होता है । इस प्रकार उपाध्यायस्यस्त्री “उपाध्यायानी” और “उपाध्यायी” ये दो रूप बनते हैं ।

पाणिनि में इस सन्दर्भ में “मातुलोपाध्याययोरानुग् वा” यह वार्तिक मिलता है । इसके अनुसार उपाध्याय की स्त्री इस अर्थ में “उपाध्यायानी और उपाध्यायी” ये ही रूप यहाँ भी वनेंगे किन्तु “या तु स्वय अध्यापिका” इस अर्थ की विवक्षा कर

दी जायेगी तो वहाँ पाणिनि के अनुसार वैकल्पिक डीष् होकर “उपाध्यायी और उपाध्याया” ये रूप बनेंगे ।

भिक्षुशब्दानुशासन में स्वयं अध्यापिका अर्थ में डीष् का विधान नहीं है । इसलिये उक्त अर्थ में यहाँ केवल “उपाध्याया” यह प्रयोग बनेगा ।

१०. नोत ४।१।१२ (भिक्षुशब्दानुशासन)

उकारान्त धातु से विहित जो यङ् प्रत्यय होता है, उसका लोप नहीं होता यदि अच् प्रत्यय पर में रहे । उदाहरण के लिये रोरूप , लोलूप ’ इत्यादि प्रयोगों को लिया जा सकता है ।

पाणिनि में अच् प्रत्यय पर में रहने पर यङ् का लोप होता ही है । “नोत ” जैसा सूत्र पाणिनि में नहीं है । इसलिये इस मत के अनुसार “लोलुव और पोपुव ” रूप बनेंगे ।

११ हितसुखाभ्याम् २।४।७२ (भिक्षुशब्दानुशासन)

हित और सुख के योग में चतुर्थी विभक्ति विकल्प से होती है । ग्रामस्य ग्रामाय वा हितम् ।

पाणिनि में “हितयोगे च” इस वार्तिक से केवल हित के योग में चतुर्थी विहित है और वह भी नित्य ही विहित है । सुख का इसमें उल्लेख नहीं है ।

इन कतिपय उदाहरणों के द्वारा पाणिनि और भिक्षुशब्दानुशासन का पारस्परिक महत्वपूर्ण पार्यक्य दिखलाया गया । इस प्रकार के पार्यक्यों की संख्या बहुत है, जिनका विवेचन स्वयं में एक पुस्तक हो सकता है । अतः विस्तार के भय से इस प्रकरण को यही स्थगित किया जाता है ।

आचार्य देवनन्दी ने पाणिनि अष्टाध्यायी को आधार माना और उसे पञ्चाध्यायी में परिवर्तित कर दिया । धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय, समास और विभिन्न सन्नायें यत्किञ्चित् परिवर्तन के साथ स्वीकार कर ली गईं । जैसे

पाणिनि	जैनेन्द्र
धातु	धु
अधिकरण	अधिकरण
करण	करण
अपादान	अपादान
विभक्ति	विभक्ती

इस प्रकार सारी समानताओं के साथ जैनेन्द्र व्याकरण में बाध्यवाधक भाव की प्रणाली भी वही अपनाई गयी जो पाणिनि व्याकरण में प्रचलित है । पाणिनि का “पूर्वज्ञासिद्धम्” ८।२।१ सूत्र तथा तत्सम्बद्ध असिद्ध प्रकरण “जैनेन्द्र में यथावत् स्वीकृत है । बिना किसी परिवर्तन के पूर्वज्ञासिद्धम्” १।३।२७ सूत्र यहाँ स्वीकार

किया गया है। उसके अनुसार गान्धे चार अध्याय के प्रति ढाई पाद के सूत्रों को अमिद किया गया है।

भिक्षुशब्दानुशासन के रचयिता के सामने पाणिनीय, शाकटायन जैनेन्द्र, हेम, सारस्वत, कातन्त्र आदि विभिन्न व्याकरण थे। इन सूत्रों के गभीर मन्थन और आलोडन के बाद बड़ी मूढमेक्षिका से इस शब्दानुशासन का निर्माण किया गया। इसके पूर्ववर्ती व्याकरणों की जटिलता तथा काठिन्य सर्वानुभूत है। इसे दूर करने का इसमें नफल प्रयास किया गया है। बाध्य बाधक भाव जो व्याकरणशास्त्र का महत्वपूर्ण अंग है उसका समावेश बड़ी कुशलता से न्याय के भीतर किया गया है। यहाँ का न्याय दर्पण विषयवाह्य की दृष्टि से बहुत ही व्यापक है। इसके भीतर सारे बाध्य बाधकभाव 'अनियमे नियमकारित्व' इत्यादि सारे विषयों का एकत्र समावेश कर दिया गया है।

प्रयोगों की सिद्धि में भिक्षुशब्दानुशासन शाकटायन के निकट पड़ता है। एक उदाहरण द्वारा इस बात को स्पष्ट किया जाता है

“युष्माकम्” प्रयोग की सिद्धि के लिये ‘पाणिनि’ का “साम आकम्” सूत्र है। युष्मद् । आम्” इस स्थिति में अवर्ण से पर में न होने के कारण आम् प्रत्यय को सुद्ध नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि दकार का लोप करके आम् को अवर्ण से पर में किया जा सकता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि आकम् आदेश के पहले अनादेश अजादि प्रत्यय होने के कारण दकार का लोप नहीं हो सकता। इसलिये पाणिनि परम्परा में ‘आम्’ को ही ‘साम्’ मान कर आकम् कर दिया जाता है। इस प्रकार आकम् करने का प्रभाव यह होता है कि स्थानिवद्भाव से आकम् को आम् नहीं माना गया। अन्यथा आकम् में आम् वुद्धि करके पीछे से सुद्ध होने लग जाता। अतः “भाविन सुटो निवृत्यर्यससुद्धनिर्देश” ऐसा कहा गया। पाणिनि की इस बात का जैनेन्द्र पर पूर्ण प्रभाव है। यहाँ भी “साम आकम्” सूत्र यथावत् गृहीत है। इस सूत्र की वृत्ति में अभयनन्दी लिखते हैं “भाविन सुट भूतवदुपादाय साम इति निर्देश कृत। आकमि कृते सुद्ध निवृत्यर्य”। इससे स्पष्ट है कि जैनेन्द्र अपेक्षा कृत सरल अवश्य है पर पाणिनि द्वारा प्रदर्शित पथ ही इनका गन्तव्य है।

शाकटायन ने यहाँ कुछ नवीनता अवश्य की है। युष्माकम् बनाने के लिये इनका सूत्र है “युष्मदस्मदभ्यामाकम्” १।२।१७७। इस सूत्र से युष्मद् के आगे रहने वाले ‘आम्’ को सीधे ‘आकम्’ आदेश कर दिया गया है। आकम् आदेश करने के बाद “दो लुक्” १।२।१८१ सूत्र से दकार का लोप हो जाने पर “सामाम” १।२।१७६ सूत्र से आकम् को आम् समझकर साम् आदेश क्यों नहीं होता? इसका उत्तर शाकटायन के यहाँ अन्वेषणीय है।

आम् को आकम् करने की प्रेरणा भिक्षुशब्दानुशासन को शाकटायन से मिली है। इसका सूत्र “आम आकम्” २।१।५३ है। इससे आकम् करने के उपरान्त या

पहले "युष्मदस्यदोर्लोप स्यादौ" २।१।४१ सूत्र से ढकार का लोप हो जाने पर "अवर्णस्याम सुद्" १।३।२३ सूत्र से सुद् क्यों नहीं होता यह प्रश्न यहाँ भी समाधान की अपेक्षा रखता है। किन्तु इतना अवश्य है कि पाणिनि के बाद सरलीकरण की प्रक्रिया जो व्याकरण के नवनिर्माताओं के द्वारा अपनायी गई थी, उसकी चरम और विकसित परिणति 'भिक्षुशब्दानुशासन' में देखने को मिलती है।

पाणिनि जहाँ "टाडसिडसामिनात्स्या" सूत्र से टा, डसि, डस् को क्रमशः इत्, आत् और स्य आदेश करते हैं, और शाकटायन "ड सोस्येस्स्येनाद्यम्" १।२।१६५ से वही कार्य करते हैं वहाँ भिक्षुशब्दानुशासन में

१ टेन १।४।१५ टा को इनादेश → रामेण जिनेन इत्यादि उदाहरण।

२ डेर्य १।४।१६ डे० को यादेश → जिनाय देवाय इत्यादि उदाहरण।

३ डसिषद् १।४।१३ डसि को आत् → देवात् इत्यादि उदाहरण।

४ डसस्य १।४।१४ डस् को स्य → देवस्य, जिनस्य इत्यादि उदाहरण।

इस प्रकार के सूत्र निर्माण द्वारा प्रक्रिया को अत्यन्त सरल एवं सुबोध बनाया गया है। व्याकरणशास्त्र के जिज्ञासु के लिये निश्चय ही यह प्रणाली सर्वाधिक उपादेय सिद्ध हो सकती है।

इस निबन्ध में उणादि सूत्र भी बहुचर्चित हैं, इसलिये इनके ऊपर थोड़ा विचार करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'उणादयो बहुलम्' सूत्र आता है। इसी प्रकार का सूत्र जैनेन्द्र और शाकटायन ने भी स्वीकृत किया है। भट्टोजिदीक्षित की वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी में उणादि पाँच पादों में विभक्त है। जैनेन्द्र और शाकटायन में केवल एक एक सूत्र हैं। भिक्षुशब्दानुशासन में उणादि चारपादों में विभक्त है तथा इसमें सैकड़ों सूत्र हैं। प्रश्न होता है कि ये उणादि सूत्र सर्वप्रथम किसके द्वारा बनाये गये। इस पर कुछ विद्वानों की राय है कि उणादि सूत्र शाकटायन के बनाये हुए हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में विशेष ध्यातव्य है कि जैन सम्प्रदाय के आचार्य शाकटायन का सम्बन्ध इन उणादि सूत्रों से नहीं है। इसके निम्नलिखित कारण हैं—

१ ये प्रसिद्ध जैन आचार्य शाकटायन केवल लौकिक शब्दों का अन्वाख्यान करते हैं। वैदिक शब्दों का अन्वाख्यान इन्हें अभिप्रेत नहीं था। इसीलिये वैदिक शब्दों में अक्षीष्टस्वरो की सिद्धि के लिये पाणिनि ने जो अनुबन्ध प्रत्ययों तथा आगमों में लगाया है उस शाकटायन ने उन सभी अनुबन्धों का परित्याग कर दिया है। उदाहरण के लिये स्त्री प्रत्यय में डीप् और डीप् का भेद पाणिनि ने केवल स्वर सिद्धि के लिये ही किया है। शाकटायन ने दोनों प्रत्ययों के लिये केवल डी प्रत्यय का ही उल्लेख किया है।

२ पाणिनि दिवादिभ्यश्च्यन् करते हैं और शाकटायन यहाँ पर केवल श्य का विधान अनुबन्ध विनिर्मुक्त का कर रहे हैं।

३ पाणिनि जहाँ चिण् प्रत्यय करते हैं, वहाँ शाकटायन जि प्रत्यय करते हैं।

४ अणु शब्द की सिद्धि के लिये “घान्ये नित्” यह सूत्र है। यहाँ नित् करण केवल स्वर के विधान के लिये है।

५ शाकटायन ने सम्प्रसारण सज्ञा नहीं की है किन्तु उणादि सूत्र में सम्प्रसारण सज्ञा की गई है जैसे “रहे वृद्धिश्च, “स्पन्दे सम्प्रसारण धश्च” सिन्धु।

६ शाकटायन ने टि सज्ञा नहीं की है किन्तु उणादि में टि सज्ञा का उल्लेख आता है। यथा “मृजेष्टिलोपश्च” मलम्।

७ पित् प्रत्यय का पित्व प्रयुक्त डीप् करना शाकटायन में नहीं देखा जाता किन्तु उणादि में “कृशृवृश्चतिभ्य ञ्वरच्” प्रत्यय करके डीप् की सभावना स्पष्ट की गई है।

इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान देने की है कि यदि जैनाचार्य शाकटायन उणादि सूत्रों के रचयिता होते तो अपने व्याकरण में केवल मात्र एक सूत्र ‘उणादय’ का उल्लेख क्यों करते ? इसके अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि पाणिनि सूत्र “अप्नृन् तृच्स्वसृन्पृ” इत्यादि में पठित नप्तृ आदि के ग्रहण से यह ज्ञापन किया जाता है उणादि निष्पन्न तृन् तृच् प्रत्ययान्त शब्दों की उपधा को दीर्घ हो तो केवल नप्तृ आदि शब्दों की उपधा को हो, अन्य की उपधा को न हो। उणादि सूत्र “नप्तृनेष्टृत्वष्टृ इत्यादि” (२५२) से नप्तृ आदि शब्दों की सिद्धि की जाती है।

यदि ईसा की नवमी या दशमी शताब्दी में होने वाले शाकटायन उणादि सूत्रों के रचयिता होते तो पाणिनि के सूत्र घटक शब्द अपनी उणादि निष्पन्नता के आधार पर ज्ञापन किस प्रकार करते ? क्या परवर्ती सूत्रों को ध्यानस्थ करके पाणिनि ने सूत्रों का निर्माण किया था ?

इसलिये प्रचलित शाकटायन व्याकरण पाणिनि पूर्ववर्ती शाकटायन की रचना है और वे ही उणादि सूत्रों के रचयिता हैं यह बात बुद्धिगम्य नहीं होती। पूर्वप्रदर्शित अनुबन्ध सम्बन्धी सात बिन्दुओं के आधार पर यह निश्चय किया जा चुका है कि प्रचलित शाकटायन व्याकरण का उणादि सूत्रों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

सिद्धान्तकौमुदी वालमनोरमा टीकाकार वासुदेव दीक्षित का कहना है कि उणादिसूत्र शाकटायन प्रणीत है न कि पाणिनि प्रणीत। “उणादयो बहुलम्” इस सूत्र के भास्य में कहा गया है “नाम च धातुजमाह निस्क्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्” अर्थात् निस्क्ताकार और शाकटायन ने कहा है कि सारे शब्द धातु से ही बनते हैं। यहाँ शाकटायन का नामोल्लेख तथा उनके द्वारा सारे शब्दों को धातुज कहने से स्पष्ट हो जाता है कि उणादि सूत्र शाकटायन प्रणीत है। उणादि सूत्रों का

प्रणयन पाणिनि के द्वारा न होकर शाकटायन के द्वारा होने का एक प्रमुख कारण “वायु” शब्द की निष्पत्ति भी है। “अजेर्व्यञ्जयो” इस सूत्र के भाष्य में “अज्” धातु से यु प्रत्यय करके प्रकृति को वी भाव निपातन के द्वारा वायु शब्द को सिद्ध किया गया है। यदि उणादि सूत्र पाणिनिकृत होते तो उणादि के पहले सूत्र “कृवायाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्” के द्वारा वातीति वायु इस विग्रह में वा धातु से उण् प्रत्यय और युगागम के द्वारा वायु शब्द बनाया गया होता।

इससे सिद्ध होता है कि पाणिनि पूर्ववर्ती कोई शाकटायन नामक ऋषि हो चुके हैं, जिन्होंने न केवल उणादि सूत्र ही बनाये किन्तु उनका कोई स्वतन्त्र व्याकरण ग्रन्थ भी रहा होगा, जो आज अनुपलब्ध है। पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी में शाकटायन का स्मरण बड़े सम्मान के साथ किया है “लड शाकटायनस्य”।

भिक्षुशब्दानुशासन जिस सरलीकरण की प्रक्रिया को लक्ष्य करके प्रवृत्त हुआ है, उसमें इसे पूर्ण सफलता मिली है। इसकी इस प्रवृत्ति से उणादि सूत्र अछूते नहीं हैं

पलेराश ३।३४	= पलाश
कलेर्मष ३।६३	कल्मषम्
समेर्डखि ३।१२४	= सखा
सारेरथि ३।१६६	= सारथि
अतेरिथि ३।१७२	= अतिथि
तडेराग १।६७	= तडाग
क्रमेरेलक १।६६	= क्रमेलक

इन कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट है कि भिक्षुशब्दानुशासन औणादिक विचार में जैनेन्द्र और शाकटायन से बहुत आगे है। सूत्रों के पढ़ते ही अर्थ की अभिव्यक्ति और प्रयोगों पर उनका तात्कालिक प्रभाव यह इस शब्दानुशासन की अनुपम देन है।

इन सारे विवेचनों से सिद्ध होता है कि भिक्षुशब्दानुशासन एक सर्वाङ्गसम्पन्न व्याकरण है। इसमें नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात तथा सन्धियों का प्रौढ किन्तु सरल प्रणाली से विवेचन किया गया है। नवीन सूत्रों की रचना, धातुओं की नयी परिकल्पना तथा उनके अर्थों की व्यवहारोपयोगिता ये सारी चीजें इसके रचयिता की अपूर्व प्रतिभा का अभिव्यञ्जन करती हैं। यह शब्दानुशासन प्रकाशित होकर संस्कृत वाङ्मय को गौरवान्वित करेगा और इसकी उपयोगिता निर्विचिकित्स होगी।

संदर्भ

१ देखिये भिक्षुशब्दानुशासन का न्यायदर्पण





## प्राकृत व्याकरणशास्त्र का उद्भव एवं विकास

डॉ० प्रेम सुमन जैन

प्राचीन समय से ही भारत में शिष्ट और जन-सामान्य की भाषा का समानान्तर प्रयोग होता रहा है। भगवान् महावीर और बुद्ध के समय भी यही स्थिति थी। इन दोनों महापुरुषों ने भाषा की इसी महत्ता को समझते हुए जनभाषा को ही अपने उपदेशों का माध्यम बनाया था। तत्कालीन वह जनभाषा इतिहास में मागधी (पालि) व अर्धमागधी (प्राकृत) के नाम से जानी गयी है। प्राकृत भाषा का सम्बन्ध भारतीय आर्य शाखा परिवार से है। अतः प्राकृत का विकास भी भारतीय आर्य भाषा के साथ साथ हुआ है।

### प्राकृत भाषा

वैदिक युग में भी लोक भाषाओं का अस्तित्व था। भाषाविदों ने उन्हें तीन भागों में विभक्त किया है (१) उदीच्य या उत्तरीय विभाषा (२) मध्यदेशीय विभाषा तथा (३) प्राच्या या पूर्वीय विभाषा। इनमें से प्राच्या देश्य भाषा उन लोगों के द्वारा प्रयुक्त होती थी जो वैदिक सस्कृति से भिन्न विचार वाले थे। वैदिक साहित्य में छान्दस भाषा का प्रयोग हुआ है। अतः छान्दस भाषा से जो भाषा विकसित हुई उसे सस्कृत या लौकिक सस्कृत के नाम से जाना गया तथा प्राच्या विभाषा से जो भाषा विकसित हुई उसे भगवान् महावीर के समय में मागधी के नाम से जाना गया है। इस प्रकार विकास की दृष्टि से प्राकृत और सस्कृत दोनों सहोदर हैं। जनभाषा से दोनों उद्भूत हैं। क्रमशः इन भाषाओं का साहित्य धार्मिक एवं विद्या की दृष्टि से भिन्न होता गया अतः इनके स्वरूप में भी स्पष्ट भेद हो गये। सस्कृत व्याकरण के नियमों से शासित हो जाने से निश्चित स्वरूप को प्राप्त हो गयी तथा उसका 'सस्कृत' नाम रूढ़ हो गया। यह देवभाषा हो गयी। जबकि प्राकृत में निरन्तर लोकभाषा के शब्दों का समावेश होता रहता था। अतः वह रही तो प्राकृत, किन्तु नाम नये-नये धारण करती रही। मागधी,

अर्धमागधी, महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची, अपभ्रंश आदि नाम प्राकृत भाषा के विकास के परिचायक हैं।

प्राकृत भाषा के अनेक तत्त्व वैदिक मस्कृत में उपलब्ध होते हैं। लौकिक मस्कृत भी यत्न-तत्त उससे प्रभावित है। उसी प्रकार प्राकृत में भी मस्कृत भाषा के शब्दों को तत्सम और तद्भव रूप में ग्रहण किया है। प्राकृत वैयाकरणों ने इस प्रकार के शब्दों का शासन किया है। प्राकृत में कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, जिनका अर्थ रूढ़ हो गया है तथा जिनकी कोई व्युत्पत्ति नहीं हो सकती। ऐसे शब्द देश्य या देशी कहे गये हैं,<sup>१</sup> जो जनसाधारण की बोलचाल की भाषा में सम्मिलित होते रहते हैं। इस तरह प्राकृत भाषा का व्याकरण प्रस्तुत करना उतना सरल नहीं था, जितना मस्कृत का। अतः मस्कृत को आधार मानकर प्राकृत व्याकरण का प्रारम्भ किया गया है।

प्राकृत भाषा के वैयाकरणों ने इस भाषा की प्रकृति मस्कृत को माना तथा उससे उत्पन्न होने वाली भाषा को उन्होंने प्राकृत कहा है 'प्रकृति मस्कृतम् तत्तभव प्राकृत उच्यते' इत्यादि। मस्कृत के कुछ अलंकारिकों ने भी यही मत प्रगट किया है। किन्तु इन सबने 'प्रकृति' का अर्थ मस्कृत भाषा करके भ्रान्ति की है। प्राकृत को 'प्रकृति' शब्द से उत्पन्न मानना और उसे मस्कृत से जोड़ना ठीक नहीं है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी यह सही नहीं है। इस विषय पर पर्याप्त लिखा जा चुका है। अतः अब विद्वान् इस मत से सहमत होने लगे हैं कि प्राकृत स्वतन्त्र रूप से विकसित भाषा है, मस्कृत का विगडा हुआ रूप नहीं।

प्राचीन ग्रन्थों में प्राकृत (पाइय, पागय) शब्द का कई बार प्रयोग हुआ है।<sup>२</sup> किन्तु रूद्रटकृत काव्यालंकार के टीकाकार नमि साधु ने प्राकृत शब्द की सुन्दर और सटीक व्याख्या की है। उनके अनुसार 'प्राकृत' शब्द का अर्थ है व्याकरण आदि संस्कारों से रहित लोगों का स्वाभाविक वचन-व्यापार। उससे उत्पन्न अथवा वही वचन-व्यापार प्राकृत है। 'प्राक् + कृत' पद से प्राकृत शब्द बना है, जिसका अर्थ है पहले किया गया। जैन धर्म के द्वादशांग ग्रन्थों में ग्यारह अंग ग्रन्थ पहले किये गये हैं अतः उनकी भाषा प्राकृत है। यह भाषा बालक, महिला आदि सभी को सुबोध है।<sup>३</sup> इसी प्राकृत के देश भेद एवं क्रमशः संस्कारित होने से अवान्तर विभेद हुए हैं। प्राकृत वैयाकरणों ने विभिन्न प्रकार की प्राकृतों का अनुशासन किया है। किन्तु सामान्य रूप से प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति करते समय 'प्रकृत्या स्वभावेन सिद्ध प्राकृतम्' अथवा 'प्रकृतीना साधारण जनानामिदं प्राकृतम्' अर्थ को स्वीकार करना चाहिए।<sup>४</sup> इस तरह जन-सामान्य की स्वाभाविक भाषा प्राकृत है।

प्राकृत भाषा में केवल जैन-आगम ही नहीं लिखे गये, अपितु ईसा की प्रथम शताब्दी में स्वतन्त्र काव्य ग्रन्थों की रचना भी प्राकृत में होने लगी थी। आगमों की भाषा जहाँ अर्धमागधी है, वहाँ दिगम्बर आगम शौरसेनी प्राकृत में लिखे गये

हैं। गाहासत्तसई, तरगवती, पउमचरिय, वसुदेवहिण्डी आदि प्राचीन काव्यों की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। गुणादय की बृहत्कथा पैशाची में निबद्ध थी। इस तरह ईसा की तृतीय शताब्दी तक प्राकृत भाषा के कई रूप प्रचलित थे। उनमें कुछ सामान्य नियम भी व्याकरण की दृष्टि से निश्चित हो चुके थे, जैसा कि इन ग्रन्थों की भाषा को देखने से पता चलता है। भले ही लिखित रूप में प्राकृत का कोई व्याकरण ग्रन्थ उस समय प्रचलित न रहा हो, किन्तु सामान्य व्याकरणशास्त्र के अनुसार विभिन्न प्राकृते अनुशासित होकर साहित्य में प्रयुक्त होती रही होगी। यद्यपि कुछ अपवाद भी उपलब्ध होते हैं, जो प्राकृत के लोक भाषा होने के कारण हैं।<sup>१५</sup> संभवतः लोकभाषा की विश्रुति के कारण ही बहुत समय तक प्राकृत का व्याकरण लिखने की आवश्यकता अनुभव न की गयी होगी। किन्तु ईसा की द्वितीय या तृतीय शताब्दी तक प्राकृत का व्याकरण अवश्य अस्तित्व में आ गया होगा। अन्यथा इस समय के प्राकृत साहित्य की भाषा इतनी व्यवस्थित न होती।

## प्राकृत व्याकरण के सिद्धान्त

प्राकृत के जितने व्याकरण आज उपलब्ध हैं वे सब संस्कृत में लिखे गये हैं। हो सकता है कि प्रारम्भ में कोई व्याकरण प्राकृत भाषा में भी लिखा गया हो, किन्तु आज उपलब्ध नहीं है। आगम ग्रन्थों में अवश्य प्राकृत भाषा में व्याकरण के कुछ नियमों का उल्लेख है। कुल सन्दर्भ इस प्रकार है

आचारागसूत्र में एकवचन, द्विवचन एवं बहुवचन, स्त्रीलिंग, पुल्लिंग एवं नपुंसकलिंग तथा वर्तमानकाल, भूतकाल एवं भविष्यत्काल के वचनों का उल्लेख है। यथा

समियाए सजए भास भोसेज्जा, त जहा एगवयण, दुवयण, बहुवयण, इत्थीवयण, पुरिसवयण, णपुसगवयण अणागयवयण, पच्चक्खवयण, परोक्खवयण ॥

आयारचूला, ४ १ सूत्र ३

स्यानागसूत्र में आठ कारकों का सोदाहरण निरूपण है। यथा

अट्ठविधा वयणविभत्ती पण्णत्ता, तजहा  
णिद्देसे पढमा होती, वित्तिया उयएसणे ।  
तत्तिया करणम्मि कत्ता, चउन्थी सपदावणे ॥१॥  
पचमी य अवादाणे, छट्ठी सस्सामिवादाणे ।  
सत्तमी सण्णिहाणत्थे, अट्ठमी आमत्तणी भवे ॥२॥  
तत्थ पढमा विभत्ती, णिद्देसे-सो इमो अह वत्ति ।  
वित्तिया उण उवएमे भण कुण व इम व त वत्ति ॥३॥

ततिया करणम्मि कयाणीत व कत व तेण व मए वा ।  
हृदि णमो साहाए, हवति चउत्थी पदाणमि ॥४॥  
अवणे गिण्हेमु तत्तो, इत्तोत्ति वा पचमी अवादाने ।  
छट्ठी तस्म इमस्स व, गतम्म वा मामि-मवघे ॥५॥  
हवइ पुण मत्तमी तमिमम्मि आहारकाल भावे य ।  
आमतणी भवे अट्ठमी उ जह हे जुवाण । ति ॥६॥

स्थानागमूव, अष्टम स्थान, सूत्र २४

इस प्रकार इसमें बताया गया है कि निर्देश में प्रथमा विभक्ति होती है। यथा—सो, इमो, अह आदि। उपदेश में द्वितीया विभक्ति होती है। यथा—इम, त आदि। करण में तृतीया होती है। यथा—तेण णीत, मए कत आदि। सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति और अपादान में पचमी होती है। स्वामित्व भाव अथवा सम्बन्ध में षष्ठी होती है। जैसे—तस्स, इमस्स आदि। अधिकरण में सप्तमी और आभ्यन्तरण-सम्बोधन में आठवा कारक होता है। यथा—हे जुवाण । आदि।

इसके अतिरिक्त अनुयोगद्वारसूत्र में शब्दानुशासन सम्बन्धी पर्याप्त विवेचन हुआ है। ममस्त शब्दराशि को नामिक, नैपातिक, आख्यातिक, औपसर्गिक और मिश्र के अन्तर्गत विभक्त किया गया है।<sup>१</sup> नाम शब्दों की चार प्रकार की निष्पत्ति होती है—आगम, लोप, प्रकृतिभाव एवं विकार।<sup>२</sup> इन चारों के उदाहरण स्वरूप प्राकृत शब्द दिये गये हैं।

पदों को तीन लिंगों में विभक्त किया गया है तथा अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त और ओकारान्त शब्दों को पुल्लिंग कहा गया है। स्त्रीलिंग शब्द ओकारान्त से रहित होते हैं। तथा नपुंसकलिंग में अकारान्त और उकारान्त शब्दों के उदाहरण दिये गये हैं। यथा—

त पुण णाम तिविहि इत्थी पुरिस णपुसग चेव ।  
एएसि तिण्ह पि अतम्मि अ पस्वण वोच्छ ॥१॥  
तत्थ पुरिसस्स अता आ ड उ ओ हवति चत्तारि ।  
ते चेव इत्थिआओ हवति ओकार परिहीणा ॥२॥  
अतिम-इत्थिअ-उत्तिअ अताउ णपुसगस्स वोद्धवा ।  
एतेसि तिण्ह पि अ वोच्छगामि निदसणे एत्तो ॥३॥  
आगारतो राया ईगारतो गिरि अ सिंहरी अ ।  
उगारतो विण्हू दुमो अ अताउ पुरिसाण ॥४॥  
आगारता माला ईगारता सिरी अ लच्छी अ ।  
ऊगारता अन्नू वहू अ अताउ इत्थीण ॥५॥

अकरत धन्न इकरत नपुमग 'अत्थि' ।

उकारत पीलु महु च अता णपुसाण ॥६॥

अणुओगदारसुत्त (व्यावरसस्करण), सूत्र १२३

समास, तद्धित, धातु और निरुक्त का विवेचन भी इस ग्रन्थ में है। समास के सात भेद बतलाये गये हैं। यथा —

ददे अ बहुव्रीहि कम्मधारय दिग्गु अ ।

तत्पुरिस अव्वइभावे एक्क सेसे अ सत्तमे ॥१॥

द्वन्द्व, बहुव्रीहि, कर्मधारय, द्विगु, तत्पुरुष, कर्मधारय और एकशेष ये सात समास हैं। इनमें प्रत्येक के उदाहरण भी इस ग्रन्थ में दिये गये हैं। तद्धित के आठ भेद बतलाए गये हैं<sup>६</sup>, यथा कर्मनाम, शिल्प, सिलोक, सयोग, समीप, समूह, ईश्वरीय एवं अपत्य नाम

कम्मे सिप्पसिलाए सजोग समीअवो अ सजूहो ।

इस्सरिअ अवच्चेण य तद्धितणाम तु अट्टविह ॥

इसी ग्रन्थ में आठो विभक्तियों का उल्लेख है तथा किस-किस अर्थ में ये विभक्तियाँ होती हैं इसका भी सोदाहरण उल्लेख किया गया है।<sup>७</sup>

इस तरह अन्य आगम ग्रन्थों व उनकी टीकाओं में शब्दानुशासन सम्बन्धी कुछ सामग्री उपलब्ध हो सकती है। यह इस बात की द्योतक है कि प्राकृत भाषा के साहित्यकार भी व्याकरण के नियमों से परिचित थे तथा उनका प्रयोग अपने ग्रन्थों की भाषा में करते थे। इससे एक यह भी संभावना होती है कि प्राचीन समय में प्राकृत का व्याकरण अवश्य लिखा गया होगा, जिसकी परम्परा में प्रसिद्धि थी, किन्तु आज वह उपलब्ध नहीं है।

## अनुपलब्ध प्राकृत व्याकरण

प्राकृत व्याकरण शास्त्र के इतिहास में ऐसे कई वैयाकरणों और उनके ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, जो आज उपलब्ध नहीं हैं। उनका यहाँ विवरण दे देना आवश्यक है, क्योंकि पता नहीं कब शास्त्रभण्डारों से उनके व्याकरण ग्रन्थ प्राप्त हो जाय।

### ऐन्द्र-व्याकरण

जैन ग्रन्थों में परम्परागत से यह उल्लेख है कि भगवान् महावीर ने इन्द्र के लिए एक शब्दानुशासन कहा था, उसे उपाध्याय (लेखाचार्य) ने सुनकर लोक में ऐन्द्र नाम से प्रगट किया

सक्को अ तस्ममवख भगवत आगणे निवेसिता ।

महस्स लक्खण पुच्छे वागरण अवयवा उद ॥

हारिभद्रोय आवश्यकवृत्ति, भाग १, पृ० १८२

इस उल्लेख से इतना तो ज्ञात होता है कि महावीर के समय में कोई व्याकरण-ग्रन्थ अवश्य था, जिसमें मन्त्र-प्राकृत के अतिरिक्त हो सकता है कि प्राकृत का भी अनुशासन सम्मिलित रहा हो । उस 'ऐन्द्र व्याकरण' का अन्यपरवर्ती लेखको ने भी उल्लेख किया है ।<sup>१८</sup> किन्तु मूल रूप में यह व्याकरण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है । डा० ए० सी० वर्नेल ने इस ग्रन्थ विषयक पर्याप्त शोध की है ।<sup>१९</sup>

## सदपाहुण

आवश्यक चूर्णि, अनुयोगद्वारचूर्णि एव सिद्धसेनगणिकृत 'तत्त्वार्थनूत-भाष्य-टीका' (पृ ५०) में 'सदपाहुण' ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है । यह ग्रन्थ किस भाषा में था तथा उसमें मन्त्र-प्राकृत व्याकरण का क्या स्वरूप वर्णित था, इसका कुछ संकेत नहीं मिलता । किन्तु यह व्याकरण का ही ग्रन्थ रहा होगा । क्योंकि सिद्धसेनगणि ने कहा है कि पूर्वो में जो 'शब्दप्राभृत' है, उसमें से व्याकरण का उद्भव हुआ है ।<sup>२०</sup>

## समन्तभद्र-व्याकरण

देवनादि पूज्यप्राकृत जैनेन्द्र व्याकरण में समन्तभद्र के किसी व्याकरण ग्रन्थ का उल्लेख है । डा० हिरालाल जैन का मत है कि सम्भवतः इस ग्रन्थ में मन्त्र-प्राकृत दोनों भाषाओं का व्याकरण रहा होगा ।<sup>२१</sup> किन्तु यह ग्रन्थ अभी उपलब्ध नहीं है । डा० ए० एन० उपाध्ये ने इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में अनेक तथ्यों को संकलित कर उन पर विचार किया है तथा इस ग्रन्थ के अस्तित्व की संभावना व्यक्त की है ।<sup>२२</sup>

## पद्यात्मक प्राकृत व्याकरण

धवला टीकाकार वीरमेन ने किसी अज्ञानकर्तृक पद्यात्मक व्याकरण के सूत्रों का उल्लेख किया है । किन्तु यह व्याकरण अभी तक अनुपलब्ध है । इस व्याकरण के सम्बन्ध में अन्य सूचनाएँ देते हुए डा० जैन ने इसका रचनाकाल द्वावी शताब्दी के लगभग माना है ।<sup>२३</sup>

## पाणिनि का प्राकृत व्याकरण .

केदारभट्ट ने 'कविकण्ठपाश' में और मलयगिरि ने भी बताया है कि पाणिनि ने 'प्राकृत लक्षण' नामक ग्रन्थ लिखा था । डा० पिशल का कथन है कि पाणिनि

प्राकृत के व्याकरण पर भी बहुत कुछ लिख सकता था। सम्भवतः उसने अपने संस्कृत व्याकरण के परिशिष्ट के रूप में प्राकृत व्याकरण लिखा हो। किन्तु पाणिनि का प्राकृत व्याकरण न तो मिलता है, न उसके उद्धरण ही कही पाये जाते हैं।<sup>१४</sup> किन्तु पाणिनि के संस्कृत व्याकरण में ही कई प्राकृत धातुओं का उल्लेख है<sup>१५</sup> और पाणिनि के समय में प्राकृत का प्रयोग भी होने लगा था अतः पाणिनि के प्राकृत व्याकरण के उपलब्ध होने की अभी भी संभावना की जा सकती है।

### स्वयम्भू-व्याकरण

अपभ्रंश के प्रसिद्ध एवं प्राचीन कवि स्वयम्भू की अनुपलब्ध रचनाओं में एक स्वयम्भू व्याकरण भी है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में कहा गया है कि अपभ्रंश का भस्त गज तभी तक स्वच्छन्द धूमता है जब तक स्वयम्भू का व्याकरण रूपी अकुश उसे नहीं लगा।<sup>१६</sup> यद्यपि इस उल्लेख में स्वयम्भू व्याकरण की विषय-वस्तु स्पष्ट नहीं होती, किन्तु वह महत्त्वपूर्ण व्याकरण रहा होगा। प्राकृत और अपभ्रंश के संधिकाल का यह व्याकरण होने से उससे प्राकृत के व्याकरण पर भी प्रकाश पड़ सकता है। किन्तु अभी तक यह स्वयम्भू-व्याकरण उपलब्ध नहीं हुआ है।

### अन्य प्राकृत व्याकरण

जैनग्रन्थावलि (पृ० ३०७) पर उल्लेख है कि देवसुन्दरसूरि ने 'प्राकृतयुवित' नाम का व्याकरण लिखा था। अभी यह उपलब्ध नहीं हुआ। हैमशब्दानुशासन के आठवें अध्याय पर १५०० श्लोक-प्रमाण 'हैमदीपिका' अथवा 'प्राकृतवृत्ति-दीपिका' की रचना द्वितीय हरिभद्र ने की है। किन्तु यह अनुपलब्ध है।<sup>१७</sup> पिशाल द्वारा सम्पादित शाकुन्तलम् की चन्द्रशेखरवृत्त टीका में 'प्राकृत साहित्यरत्नाकर' नामक ग्रन्थ का उल्लेख है, यह भी आज तक अनुपलब्ध है। 'प्राकृत कौमुदी' नामक ग्रन्थ की भी उपलब्धि अभी नहीं हुई है, जिसका उल्लेख पिशाल ने किया है।<sup>१८</sup> अभी जैसे-जैसे जैन साहित्य प्रकाश में आयेगा वह सूची और घट-बढ़ सकती है।

## प्राकृत वैयाकरण एवं उनके ग्रन्थ

उपलब्ध प्राकृत व्याकरण ग्रन्थ सभी संस्कृत में लिखे गये हैं। प्राकृत वैयाकरणों एवं उनके ग्रन्थों का परिचय डा० पिशाल ने अपने ग्रन्थ में दिया है। डौल्बी नित्ति ने अपनी जर्मन पुस्तक 'ले ग्रामैरिया प्राकृत' (प्राकृत के वैयाकरण) में आलोचनात्मक शैली में प्राकृत के वैयाकरणों पर विचार किया है।<sup>१९</sup> इधर प्राकृत व्याकरण के बहुत से ग्रन्थ छपकर प्रकाश में भी आये हैं। उनके सम्पादकों ने भी प्राकृत वैयाकरणों पर कुछ प्रकाश डाला है। इस सब सामग्री के आधार पर

प्राकृत वैयाकरणों एवं उनके उपलब्ध प्राकृत व्याकरणों का परिचयात्मक मूल्यांकन यहाँ प्रस्तुत है, जिसमें ग्रन्थकार का परिचय, ग्रन्थ की विषयवस्तु, वैशिष्ट्य एवं प्रकाशन सम्बन्धी जानकारी को प्रमुखता दी गयी है।

## आचार्य भरत

प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में जिन मस्कृत आचार्यों ने अपने मत प्रकट किये हैं, इनमें भरत सर्व प्रथम है। प्राकृत वैयाकरण मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृत-सर्वस्व' के प्रारम्भ में अन्य प्राचीन प्राकृत वैयाकरणों के साथ भरत को स्मरण किया है।<sup>१</sup> भरत का कोई अलग प्राकृत व्याकरण नहीं मिलता है। भरतनाट्यशास्त्र के १७वें अध्याय में ६ से २३ श्लोको में प्राकृत व्याकरण पर कुछ कहा गया है। इसके अतिरिक्त ३२वें अध्याय में प्राकृत के बहुत से उदाहरण उपलब्ध हैं, किन्तु श्रोतों का पता नहीं चलता है।

डा० पी० एल० वैद्य ने त्रिविक्रम के प्राकृतशब्दानुशासन सम्करण के १७वें परिशिष्ट में भरत के श्लोको को सशोधित रूप में प्रकाशित किया है, जिनमें प्राकृत के कुछ नियम वर्णित हैं। डा० वैद्य ने उन नियमों को भी स्पष्ट किया है। भरत ने कहा है कि प्राकृत में कौन से स्वर एवं कितने व्यंजन नहीं पाये जाते। कुछ व्यंजनों का लोप होकर उनके केवल स्वर बचते हैं। ख, घ, थ, ध एवं भ का परिवर्तन हमें हो जाता है। यथा

वच्चति कगतदयवा लोप, अत्य च से वहति सरा।

खथघभा उण हत्त उवेति अत्य अमुचता ॥८॥

प्राकृत की सामान्य प्रवृत्ति का भरत ने संकेत किया है कि शकार का सकार एवं नकार का सर्वत्र णकार होता है। यथा—विष—विस, शङ्का—सका आदि। इसी तरह ट=ड, ठ=ढ, प=व, ड=ल, च=य, य=ध, फ=प आदि परिवर्तनों के सम्बन्ध में संकेत करते हुए भरत ने उनके उदाहरण भी दिये हैं तथा श्लोक १८ से २४ तक में उन्होंने संयुक्त वर्णों के परिवर्तनों को सोदाहरण सूचित किया है और अन्त में कह दिया है कि प्राकृत के ये कुछ सामान्य लक्षण मैंने कहे हैं। वाकी प्रसिद्ध ही है, जिन्हें विद्वानों को प्रयोग द्वारा जानना चाहिए—

एवमेतन्मया प्रोक्त किंचित्प्राकृतलक्षणम्।

शेष देशीप्रसिद्ध च ज्ञेय विप्रा प्रयोगता ॥

प्राकृत व्याकरण सम्बन्धी भरत का यह शब्दानुशासन यद्यपि संक्षिप्त है, किन्तु महत्वपूर्ण इस दृष्टि में है कि भरत के समय में भी प्राकृत व्याकरण की आवश्यकता अनुभव की गयी थी। हो सकता है, उस समय प्राकृत का कोई प्रसिद्ध व्याकरण रहा हो अतः भरत ने केवल सामान्य नियमों का ही संकेत करना आवश्यक समझा है। इसी १७वें अध्याय के ५६-६३ श्लोको में भरत ने कुछ देशी



भाषाओं की विशेषताएँ कही हैं, जो अपभ्रंश व्याकरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।<sup>११</sup> पैशाची और शौरसेनी की विशेषताएँ भी उसमें उद्धृताएँ होती हैं।<sup>१२</sup>

### चण्ड प्राकृतलक्षण

प्राकृत के उपलब्ध व्याकरणों में चण्डकृत प्राकृतलक्षण सर्वप्राचीन सिद्ध होता है। भूमिका आदि के साथ डा० रुडोल्फ होएर्नले ने सन् १८८० में विन्डिओयिका डिडिका में कलकत्ता से इसे प्रकाशित किया था।<sup>१३</sup> सन् १९२९ में सत्यविजय जैन ग्रन्थमाला की ओर से यह अहमदाबाद से भी प्रकाशित हुआ है। इसके पहले १९२३ में भी देवकीकान्त ने इसको कलकत्ता से प्रकाशित किया था।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में वीर (महावीर) को नमस्कार किया गया है तथा वृत्ति के उदाहरणों में अर्हन्त (सू० ४६ व २४) एवं जिनवर (सू० ४८) का उल्लेख है। इससे यह जैनकृति सिद्ध होती है। ग्रन्थकार ने वृद्धमत के आधार पर इस ग्रन्थ के निर्माण की सूचना दी है, जिसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि चण्ड के सम्मुख कोई प्राकृत व्याकरण अथवा व्याकरणात्मक मतमतान्तर थे। यद्यपि इस ग्रन्थ में रचना काल सम्बन्धी कोई सूकेत नहीं है, तथापि अन्त साक्ष्य के आधार पर डा० हीरालाल जैन ने उसे ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी की रचना स्वीकार किया है।<sup>१४</sup>

प्राकृत लक्षण में चार पाद पाये जाते हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में चण्ड ने प्राकृत शब्दों के तीन रूपों तद्भव, तत्सम एवं देश्य—को सूचित किया है तथा संस्कृतवत् तीनो लिंगों और विभक्तियों का विधान किया है। तदनन्तर चौथे सूत्र में व्यत्यय का निर्देश करके प्रथमपाद के १५ सूत्रों से ३५ सूत्रों तक मज्ञाओं और सर्वनामों के विभक्ति रूपों को बताया गया है। द्वितीय पाद के २९ सूत्रों में स्वर परिवर्तन, शब्दादेश और अव्ययों का विधान है। तीसरे पाद के ३५ सूत्रों में व्यञ्जनो के परिवर्तनों का विधान है। प्रथम वर्ण के स्थान पर तृतीय का आदेश किया गया है। यथा—एक = एग, पिशाची = विसाजी, कृत = कद आदि।

इन तीन पादों में कुल ९९ सूत्र हैं, जिनमें प्राकृत व्याकरण समाप्त किया गया है। हाएर्नले ने इतने भाग को ही प्रामाणिक माना है। किन्तु इस ग्रन्थ की अन्य चार प्रतियों में चतुर्थपाद भी मिलता है, जिसमें केवल ४ सूत्र हैं। इनमें क्रमशः कहा गया है १ अपभ्रंश में अधोरेफ का लोप नहीं होता, २ पैशाची में र् और स् के स्थान पर ल् और न् का आदेश होता है, ३ भागधी में र् और स् के स्थान पर ल् और ण् का आदेश होता है तथा ४ शौरसेनी में त् के स्थान पर विकल्प से द् आदेश होता है। इस तरह ग्रन्थ के विस्तार, रचना और भाषा स्वरूप की दृष्टि से चण्ड का यह व्याकरण प्राचीनतम सिद्ध होता है। परवर्ती प्राकृत व्याकरणों पर इसके प्रभाव स्पष्ट रूप से देखे जाते हैं। हेमचन्द्र ने भी चण्ड से बहुत कुछ ग्रहण किया है।<sup>१५</sup>

‘प्राकृत लक्षण’ पर सूत्रकार चण्ड ने स्वयं वृत्ति की रचना की है। इस वृत्ति में उन्होंने सूत्रों को सक्षेप में स्पष्ट किया है। इस वृत्ति का प्रकाशन सन् १८८० में कलकत्ता से त्रिविजयोर्येका इण्डिका में हुआ। उसके बाद १९२३ में वही से श्री देवकीकान्त भट्टाचार्य ने इसे प्रकाशित किया और बाद में मुनि दर्शनविजय त्रिपुटी द्वारा संपादित होकर यह वृत्ति चारित्रग्रन्थमाला अहमदाबाद से प्रकाशित हुई है।<sup>२६</sup>

### वररुचि-प्राकृत प्रकाश .

प्राकृत वैयाकरणों में चण्ड के बाद वररुचि प्रमुख वैयाकरण हैं। प्राकृतप्रकाश में वर्णित अनुशासन पर्याप्त प्राचीन है। अतः विद्वानों ने वररुचि को ईसा की चौथी शताब्दी के लगभग का विद्वान् माना है। विक्रमादित्य के नवरत्नों में भी एक वररुचि थे। वे सम्भवतः प्राकृतप्रकाश के ही लेखक थे। छठी शताब्दी से तो प्राकृतप्रकाश पर अन्य विद्वानों ने टीकाएँ लिखना प्रारम्भ कर दी थी। अतः वररुचि ने ४-५वीं शताब्दी में अपना यह व्याकरण ग्रन्थ लिखा होगा।

प्राकृतप्रकाश विषय और शैली की दृष्टि से प्राकृत का महत्वपूर्ण व्याकरण है। प्राचीन प्राकृतों के अनुशासन की दृष्टि से इसमें अनेक तथ्य उपलब्ध होते हैं। अतः न केवल प्राचीन आचार्यों ने इस पर कई टीकाएँ लिखी हैं, अपितु आधुनिक युग में भी इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं। यथा

१ कोवेल	१८५४	द प्राकृत प्रकाश, प्र० सं०	हार्टफोर्ड
२ „	१८६८,	भामह की टीका सहित, द्वि० सं०	लन्दन
३ रामशास्त्री तैलग, १८९९		मूल पाठ,	बनारस
४ वसन्तकुमार शर्मा १९१४		कात्यायन और भामह की वृत्तियों	कलकत्ता
चट्टोपाध्याय		तथा बंगाली अनुवाद सहित	
५ „	१९२७	वसन्तराज और सदानन्द	बनारस
		की टीकाओं सहित	
६ पी० एल० वैद्य १९३१		भूमिका, पाठभेद सहित मूलपाठ,	पूना
		अंग्रेजी अनुवाद	
७ उद्योतन शास्त्री १९४०		मनोरमा टीका सहित	वाराणसी
८ उदयराम डवराल १९७७		मनोरमा व्याख्या सहित	वाराणसी
वि० सं०			
९ डी०सी० सरकार १९४३		मूलपाठ एवं अंग्रेजी अनुवाद	कलकत्ता
			युनिवर्सिटी

१०. डी० सी० सरकार १९७० सशोधित एवं परिवर्धित संस्करण, बनारस  
मोतीलाल बनारसीदास
- ११ कुनहन राजा १९४६ भूमिका एवं रामपाणिपाद मद्रास  
वृत्ति सहित
- १२ के० वी० त्रिवेदी १९५७ गुजराती अनुवाद सहित नवसारी  
(गुजरात)

१३ जगन्नाथ शास्त्री १९५९ हिन्दी अनुवाद सहित वाराणसी

प्राकृतप्रकाश में कुल बारह परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद के ४४ सूत्रों में स्वरविकार एवं स्वरपरिवर्तनों का निरूपण है। दूसरे परिच्छेद के ४७ सूत्रों में मध्यवर्ती व्यंजनो के लोप का विधान है तथा इसमें यह भी बताया गया है कि शब्दों के असंयुक्त व्यंजनों के स्थान पर किन विशेष व्यंजनों का आदेश होता है। यथा (१) प के स्थान पर व शाप = सावो, (२) न के स्थान पर ण वचन = वअण, (३) श, प के स्थान पर स शब्द = सहो, वृषभ — वसहो आदि। तीसरे परिच्छेद के ६६ सूत्रों में संयुक्त व्यंजनों के लोप, विकार एवं परिवर्तनों का अनुशासन है। अनुकारी, विकारी और देशज इन तीन प्रकार के शब्दों का नियमन चौथे परिच्छेद के ३३ सूत्रों में हुआ है। यथा १२वें सूत्र **मोविन्दु** में कहा गया है कि अंतिम हलन्त म् को अनुस्वार होता है वृक्षम् = वच्छ, भद्रम् = भद् आदि। पाचवें परिच्छेद के ४७ सूत्रों में लिंग और विभक्ति का अनुशासन दिया गया है। सर्वनाम शब्दों के रूप और उनके विभक्ति प्रत्यय छठे परिच्छेद के ६४ सूत्रों में वर्णित हैं। आगे सप्तम परिच्छेद में तिङन्तविधि तथा अष्टम में धात्वादेश का वर्णन है। प्राकृत का धात्वादेश सम्बन्धी प्रकरण तुलनात्मक दृष्टि से विशेष महत्व का है। नवें परिच्छेद में अव्ययो के अर्थ एवं प्रयोग दिये गये हैं। यथा णवरः केवले ॥७॥ केवल अथवा एकमात्र के अर्थ में णवर शब्द का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ **एसो णवर कन्दप्पो, एसा णवर सा रई**। इत्यादि

यहां तक वररुचि ने सामान्य प्राकृत महाराष्ट्री का अनुशासन किया है। इसके अनन्तर दसवें परिच्छेद के १४ सूत्रों में पैंशाची भाषा का विधान है। १७ सूत्र वाले ग्यारहवें परिच्छेद में मागधी प्राकृत का तथा बारहवें परिच्छेद के ३२ सूत्रों में शौरसेनी प्राकृत का अनुशासन है।

प्राकृतप्रकाश पर एक टीका नारायण विद्याविनोद की भी मानी जाती है, जिसका नाम 'प्राकृतपाद' है। राजेन्द्र लाल मिश्र ने सर्व प्रथम इसका परिचय दिया था। प्रारम्भ में विद्वान् इस टीका को क्रमदीश्वर के 'मक्षिप्तसार' की टीका मानते थे। किन्तु अब 'प्राकृतपाद' वररुचि के ग्रन्थ की ही टीका स्वीकार की

जाती है। क्योंकि उसके यह परिच्छेद प्राकृतप्रकाश के प्रथम सात परिच्छेदों में ठीक-ठाक मिलते हैं।<sup>३०</sup> वररुचि के ग्रन्थ पर चौथी टीका वसन्तराजकृत 'प्राकृत-सजीविनी' है।<sup>३१</sup> १४-१५वीं शताब्दी में यह टीका लिखी गयी थी। कर्पूरमजरी में इस ग्रन्थ का नाम आता है—'तदुक्तम् प्राकृतसजीविन्याम्।' डा० पिशेल इस टीका को वसन्तराज का स्वतन्त्र प्राकृत व्याकरण ग्रन्थ मानते हैं।<sup>३२</sup> किन्तु प्राकृत प्रकाश से इस ग्रन्थ की इतनी समानता है कि इसे उसकी टीका ही मानना उचित है। क्योंकि वसन्तराज ने कोई स्वतन्त्र मूल नहीं कहे हैं। प्राकृतप्रकाश पर सदानन्दकृत 'प्राकृत सुबोधिनी' नाम की भी टीका है, जिसका प्रकाशन बनारस से हुआ है। १७वीं शताब्दी में रामपाणिपाद ने प्राकृत प्रकाश पर एक संस्कृत वृत्ति लिखी है। इसमें सेतुबन्ध, गाहासत्तसई आदि से उदाहरण दिये गये हैं। यह वृत्ति १६४६ में मद्रास से कुनहन राजा द्वारा प्रकाशित हुई है।<sup>३३</sup>

इस तरह प्राकृत व्याकरण के गहन अध्ययन के लिए वररुचिकृत प्राकृतप्रकाश एव उसकी टीकाओं का अध्ययन नितान्त अपेक्षित है। महाराष्ट्री के साथ मागधी, पेशाची एव शौरसेनी का इसमें विवेक विवेचन किया गया है।

प्राकृत प्रकाश की इस विषयवस्तु से स्पष्ट है कि वररुचि ने विस्तार से प्राकृत भाषा के रूपों को अनुशासित किया है। चड के प्राकृत लक्षण का प्रभाव वररुचि पर होते हुए भी कई बातों में उनमें नवीनता और मौलिकता है।

### प्राकृतप्रकाश पर टीकाएँ

वररुचि का प्राकृत व्याकरण प्राचीन होते हुए पूर्ण भी है। अतः उस पर कई विद्वानों ने टीकाएँ लिखी हैं। डा० पिशेल ने इसका सबसे प्राचीन टीकाकार भामह को माना है, जिसकी टीका का नाम 'मनोरमा' है। किन्तु पिशेल जिस अज्ञातनामा टीका 'प्राकृतमजरी' का उल्लेख करते हैं और जिसे विशेष महत्व की नहीं मानते<sup>३४</sup> उसके टीकाकार का नाम विद्वान् कात्यायन निश्चित करते हैं। अतः कात्यायन भामह से पूर्ववर्ती है। लगभग छठी-सातवीं शताब्दी में कात्यायन ने प्राकृतमजरी नामक टीका पद्य में लिखी थी। इसका प्रकाशन १९१३ में निर्णय सागर प्रेस से हुआ। १९१४ में कलकत्ता से बी० के० चटर्जी ने मूल ग्रन्थ के साथ इसे प्रकाशित किया। यह टीका पूरे प्राकृतप्रकाश पर नहीं है।

भामहकृत मनोरमा टीका का कई स्थानों से प्रकाशन हुआ है।<sup>३५</sup> यह टीका प्राकृतप्रकाश के १२वें परिच्छेद पर नहीं है। इस टीका में वररुचि के कई सूत्रों को यथावत् नहीं समझा गया है। स्वयं भामह ने कई स्थानों से उद्धरण ग्रहण कर दिये हैं। डा० पिशेल ने उनमें से कुछ की खोज-बीन की है।

## सिद्धहेमशब्दानुशासन

प्राकृत व्याकरणशास्त्र को पूर्णता आचार्य हेमचन्द्र के सिद्धहेमशब्दानुशासन से प्राप्त हुई है। प्राकृत वैयाकरणों की पूर्वी और पश्चिमी दो शाखाएँ विकसित हुई हैं। पश्चिमी शाखा के प्रतिनिधि प्राकृत वैयाकरण हेमचन्द्र हैं (सन् १०८८ से ११७२)।<sup>१३</sup> इन्होंने विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इनकी विद्वत्ता की छाप इनके इस व्याकरण ग्रन्थ पर भी है। इस व्याकरण का अनेक स्थानों से प्रकाशन हुआ है। डा० पिशेल द्वारा सम्पादित होकर यह ग्रन्थ सन् १८७७-८० के बीच दो बार प्रकाशित हुआ है। डा० पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित होकर १९३६ में यह प्राकृत व्याकरण छपा तथा सशोधित होकर १९५८ में इसका पुनः प्रकाशन हुआ। इसके गुजराती, अंग्रेजी और हिन्दी अनुवाद भी निकल चुके हैं। व्यावर से प्रकाशित हिन्दी संस्करण में अनेक परिशिष्ट सलग्न हैं अतः उसकी विशेष उपयोगिता सिद्ध होती है।

हेमचन्द्र के अपने इस व्याकरण ग्रन्थ में आठ अध्याय हैं। प्रथम सात अध्यायों में उन्होंने संस्कृत व्याकरण का अनुशासन किया है, जिसकी संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में अलग महत्ता है।<sup>१४</sup> आठवें अध्याय में प्राकृत व्याकरण का निरूपण है। उसकी संक्षिप्त विषयवस्तु द्रष्टव्य है।

आठवें अध्याय के प्रथम पाद में २७१ सूत्र हैं। इनमें सधि, व्यञ्जनान्तशब्द, अनुस्वार, लिंग, विसर्ग, स्वर-व्यत्यय और व्यजन-व्यत्यय का विवेचन किया गया है। इस पाद का प्रथम सूत्र प्राकृत शब्द को स्पष्ट करते हुए यह निश्चित करता है कि प्राकृत व्याकरण संस्कृत के आधार पर सीखनी चाहिये। द्वितीय सूत्र द्वारा हेमचन्द्र ने प्राकृत के समस्त अनुशासनों को वैकल्पिक स्वीकार किया है। इससे स्पष्ट है कि हेमचन्द्र ने न केवल साहित्यिक प्राकृतों को, अपितु व्यवहार की प्राकृत के रूपों को ध्यान में रखकर भी अपना व्याकरण लिखा है। इस पाद के तीसरे सूत्र आर्षम् ८।१।३ द्वारा ग्रन्थकार ने आर्षप्राकृत और सामान्य प्राकृत में भेद स्पष्ट किया है। इसके आगे के सूत्र स्वर आदि का अनुशासन करते हैं। जिस बात को प्राचीन वैयाकरण चद्र, वररुचि आदि ने संक्षेप में कह दिया था, हेमचन्द्र ने उसे न केवल विस्तार से कहा है, अपितु अनेक नये उदाहरण भी दिये हैं। इस तरह प्राकृत भाषा के विभिन्न स्वरूपों का सागोपाग अनुशासन हेमव्याकरण में हो सका है।<sup>१५</sup>

द्वितीयपाद के २१८ सूत्रों में मयुक्त व्यंजनो के परिवर्तन, समीकरण, स्वर भक्ति, वर्णविपर्यय, शब्दादेश, तद्धित, निपात और अव्ययो का निरूपण है। यह प्रकरण आधुनिक भाषाविज्ञान की दृष्टि में बहुत उपयोगी है। हेमचन्द्र ने संस्कृत के कई द्वयार्थ वाले शब्दों को प्राकृत में अलग-अलग किया है, ताकि भ्रान्तियां न

हो। सन्कृत के लण शब्द का अर्थ समय भी है और उत्पन्न भी। हेमचन्द्र ने उत्पन्न अर्थ में छणो (क्षण) और समय अर्थ में लणो (लण) रूप निश्चित दिये हैं। उसी तरह हेम ने अवयवों की भी विस्तृत सूची उन पाद में दी है।<sup>११</sup>

तृतीयपाद में १८२ सूत्रों में जिनमें कारक विभक्तियों, क्रियात्मकता आदि सम्बन्धी नियमों का कथन किया गया है। जटारम्प, क्रियाध्य और शृन् प्रत्ययों का वर्णन विशेष रूप में छायातन्त्र है। वेने प्राकृतप्रकाश के समान ही उसका विवेचन हेम ने किया है। कानक व्यञ्जना पर अन्ता प्रकाश आता है।

हेमप्राकृत व्याकरण का चतुर्थ पाद विशेष महत्वपूर्ण है। इसके ४४८ सूत्रों में शीरमेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश प्राकृतों का शब्दानुशासन ग्रन्थकार ने किया है। उन पाद में आत्वादेश की प्रमुखता है। सन्कृत धातुओं पर देशी अपभ्रंश धातुओं का आदेश किया है। यथा - ग०-गन्, प्रा०-गह को वील्ल, चव, जप आदि आदेश।

मागधी, शीरमेनी एवं पैशाची का अनुशासन तो प्राचीन वैयाकरणों ने भी संक्षेप में किया था। हेम ने उनको विस्तार में समझाया है। किन्तु इनके साथ ही चूलिका पैशाची की विशेषताएँ भी स्पष्ट की हैं। उन पाद के ३२६ सूत्र में ४४८ सूत्र तक उन्होंने अपभ्रंश व्याकरण पर पहली बार प्रकाश डाला है।<sup>१२</sup> उदाहरणों के लिए जो अपभ्रंश के दोहे दिये हैं, वे अपभ्रंश साहित्य की अमूल्य निधि हैं। आचार्य हेम के समय तक प्राकृत भाषा का बहुत अधिक विकास हो गया था। उस भाषा का विशाल साहित्य भी था। अपभ्रंश के भी विभिन्न रूप प्रचलित थे। अतः हेमचन्द्र ने प्राचीन वैयाकरणों के ग्रन्थों का उपयोग करते हुए भी अपने व्याकरण में बहुत सी बातें नयी और विशिष्ट शैली में प्रस्तुत की हैं।

हेम एवं अन्य प्राकृत वैयाकरण .

आचार्य हेमचन्द्र के पूर्व कई प्राकृत वैयाकरण हो चुके थे। हेमचन्द्र ने यह स्वयं स्वीकार किया है कि उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों का पर्याप्त उपयोग किया है। यद्यपि किसी का नाम नहीं लिया है। कश्चित्, केचित्, अन्य आदि शब्दों द्वारा इसकी सूचना दी है। प्राकृत व्याकरण के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि चड एवं वररुचि का उन पर पर्याप्त प्रभाव है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि हेमचन्द्र में कोई मौलिकता नहीं है। डा० डीएचजी नित्ति के इस कथन को समर्थन नहीं दिया जा सकता है कि हेमचन्द्र ने प्राकृत व्याकरण की पूर्णता और प्रौढ़ता प्राप्त नहीं की है या उसमें कोई विवेक प्रतिभा नहीं है।<sup>१३</sup>

वस्तुतः हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में उस समय तक प्रचलित सभी अनुशासनों को सम्मिलित किया है तथा जहाँ नये नियमों व उदाहरणों की आवश्यकता थी उनको अपने ढंग में प्रस्तुत किया है। चड के प्राकृत लक्षण सूत्र

१७, १८, १९, २३, २४ हेमव्याकरण में ८३ २४, ८३ ७, ८३ ९, ८१ ८, ८१ १६ में उपलब्ध है। हेम ने आर्ष प्राकृत के उदाहरण वे ही दिये हैं, जो चड ने। किन्तु स्वर और व्यंजन परिवर्तन के सिद्धान्त प्राकृत लक्षण में बहुत संक्षिप्त है, जिनका हेमचन्द्र ने बहुत विस्तार किया है। तद्धित, वृत्प्रत्यय, धात्वादेश और अपभ्रंश व्याकरण का अनुशासन चड की अपेक्षा हेमव्याकरण में नवीनता और विस्तार लिये हुए है।

विषयक्रम और वर्णनशैली दोनों में हेमचन्द्र ने वररुचि का अनुकरण किया है। कुछ सिद्धान्त ज्यों के त्यों प्राकृतप्रकाश के उन्होंने स्वीकार किये हैं। किन्तु अनेक बातों में हेमचन्द्र वररुचि से अपनी विशेषता रखते हैं। वररुचि ने धातुओं के अर्थान्तरो का कोई संकेत नहीं दिया है, जबकि हेम ने धातवोऽर्थान्तरेऽपि ८४ २५९ द्वारा धातुओं के बदलते हुए अर्थों का निर्देश किया है। जैसे

बलि धातु प्राणन अर्थ में पठित है, किन्तु खादन अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है। कलि धातु गणना के अर्थ में पठित है पर पहिचानने के अर्थ में भी वह प्रयुक्त होता है कलइ जानाति सख्यान करोति वा। इत्यादि।

हेमचन्द्र ने यश्चुति का विधान किया है, जिसका वररुचि में अभाव है। सेतुबन्ध, गडबहो आदि काव्यों में यश्चुति का प्रयोग है, जिसका हेम ने नियमन किया है। वररुचि ने जहाँ तीन-चार तद्धित प्रत्ययों का उल्लेख किया है, वहाँ हेम ने सैकड़ों प्रत्ययों का नियमन किया है। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने हेम और वररुचि के सूत्रों की तुलनाकर भी यह निष्कर्ष निकाला है कि हेमचन्द्र का व्याकरण अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों की अपेक्षा अधिक पूर्ण और वैज्ञानिक है।<sup>३९</sup> यही कारण है कि हेमव्याकरण से परवर्ती वैयाकरण भी प्रभावित होते रहे हैं।<sup>४०</sup> यद्यपि उनकी अपनी मौलिक उद्भावनाएँ भी हैं, जो उनके व्याकरण ग्रन्थों के मूल्यांकन से स्पष्ट हो सकेंगी।

## हेमप्राकृत व्याकरण पर टीकाएँ

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृतव्याकरण पर 'तत्त्वप्रकाशिका' नामक सुबोध-वृत्ति (बृहत्वृत्ति) भी लिखी है। मूलग्रन्थ को समझने के लिए यह वृत्ति बहुत उपयोगी है। इसमें अनेक ग्रन्थों से उदाहरण दिये गये हैं। एक लघुवृत्ति भी हेमचन्द्र ने लिखी है, जिसको 'प्रकाशिका' भी कहा गया है। यह स० १९२९ में बम्बई से प्रकाशित हुई है।<sup>४१</sup>

हेमप्राकृतव्याकरण पर अन्य विद्वानों द्वारा लिखित टीकाओं में निम्न प्रमुख हैं

१ द्वितीय हरिभद्रसूरि ने १५०० श्लोक प्रमाण 'हेमदीपिका' नाम की टीका

लिखी है, जिसे 'प्राकृतवृत्तिदीपिका' भी कहा गया है। यह टीका अभी तक उपलब्ध है।

२ जिनसागरसूरि ने ६७५० श्लोकात्मक 'दीपिका' नामक वृत्ति की रचना की है।

३ आचार्य हरिप्रभसूरि ने हैमप्राकृत व्याकरण के अष्टम अध्याय में आगत उदाहरणों की व्युत्पत्ति सूत्रों के निर्देश-पूर्वक की है। २७ पत्रों की यह प्रति एल० डी० इन्स्टीट्यूट अहमदाबाद में उपलब्ध है। हरिप्रभसूरि का समय अज्ञात है।<sup>२२</sup>

४ वि० स० १५६१ में उदयसीभाग्यगणि ने 'हैमप्राकृतढुडिका' नामक वृत्ति की रचना की है। इसे 'व्युत्पत्तिदीपिका' भी कहते हैं। यह वृत्ति भीर्मिह माणिक, बम्बई से प्रकाशित हुई है।

५ मलवारी उपाध्याय नरचन्द्रसूरि ने हैमप्राकृत व्याकरण पर एक अवचूरि रूप ग्रन्थ की रचना की है। इसका नाम 'प्राकृतप्रबोध' है। 'न्यायकन्दली' की टीका में राजशेखरसूरि ने इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। प्राकृतप्रबोध की पाण्डुलिपियाँ ला० द० भारतीय मस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबाद में उपलब्ध हैं।

६ आचार्य विजयरাজेन्द्रसूरि ने हैमचन्द्र निर्मित वृत्ति को पद्य में निर्मित किया है। इसका नाम 'प्राकृतव्याकृति' है, जो 'अभिधानराजेन्द्र' कोश के प्रथम भाग के प्रारम्भ में रत्नाम से वि० स० १६७० में छपी है।

७ हैमचन्द्र द्वारा जो अपभ्रंश व्याकरण के प्रसंग में दोगे दिये गये हैं उन पर 'दोधकवृत्ति' लिखी गयी है, जो हैमचन्द्राचार्य जैन सभा, पाटन से प्रकाशित हुई है।

८ 'हैमदोवकार्य' नामक एक टीका की सूचना 'जैनग्रन्थावली' से प्राप्त होती है। उसमें (पृ० ३०१) यह भी कहा गया है कि १३ पत्रों की इस टीका की एक पाण्डुलिपि भी उपलब्ध है।

हैमशब्दानुशासन पर ढुडिका लिखी गई है। उसके दो चरण ही अब तक उपलब्ध और प्रकाशित थे। किन्तु चारों चरणवाली एक प्रति श्वेताम्बर तेरापथ श्रमण ग्रन्थ सडार, लाडनू में उपलब्ध है। मुनि श्री नथमल ने स्वरचित 'तुलसीमञ्जरी' नामक प्राकृत-व्याकरण में इस (ढुडिका वृत्ति) का विशेष रूप से उपयोग किया है। तुलसीमञ्जरी अपनी सुबोध शैली एवं विशद विवेचन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह प्राकृत व्याकरण शीघ्र प्रकाशनाधीन है।

इन तरह प्राकृत व्याकरणशास्त्र के इतिहास में हैमप्राकृतव्याकरण का कई दृष्टियों से महत्त्व है। आर्यप्राकृत का सर्वप्रथम उसमें उल्लेख हुआ है।<sup>२३</sup> प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा के प्रायः सभी रूपों का उसमें अनुशासन हुआ है। न केवल नाहित्य में प्रयुक्त शब्द अपितु व्यवहार में प्रयुक्त प्राकृत, अपभ्रंश एवं देशी शब्दों



का नियमन हेमचन्द्र ने किया है। इस तरह की आदर्श प्राकृत व्याकरण की रचना कर हेमचन्द्र ने परवर्ती प्राकृत वैयाकरणों को भी इस क्षेत्र में कार्य करने के लिए प्रेरित किया है। परवर्ती प्राकृत व्याकरणग्रन्थों के मूल्यांकन से यह स्पष्ट होता है कि हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण ने उन्हें कितना आधार प्रदान किया है।

### पुरुषोत्तम-प्राकृतानुशासन

हेमचन्द्र के समकालीन एक और प्राकृत वैयाकरण हुए हैं पुरुषोत्तम। ये बगाल के निवासी थे। अतः इन्होंने प्राकृत व्याकरणशास्त्र की पूर्वीय शाखा का प्रतिनिधित्व किया है। पुरुषोत्तम १२ वीं शताब्दी के वैयाकरण हैं। उन्होंने प्राकृतानुशासन नाम का प्राकृत व्याकरण लिखा है। यह ग्रन्थ १६३८ में पेरिस से प्रकाशित हुआ है। एल० नित्सी डौल्वी ने महत्त्वपूर्ण फ्रैन्च भूमिका के साथ इसका सम्पादन किया है।<sup>१४</sup> १६५४ में डा० मनमोहन घोष ने अंग्रेजी अनुवाद के साथ मूल प्राकृतानुशासन को 'प्राकृतकल्पतरु' के साथ (पृ० १५६-१६६) परिशिष्ट १ में प्रकाशित किया है।

प्राकृतानुशासन में तीन से लेकर बीस अध्याय हैं। तीसरा अध्याय अपूर्ण है। प्रारम्भिक अध्यायों में सामान्य प्राकृत का निरूपण है। नौवें अध्याय में शौरसेनी तथा दसवें में प्राच्या भाषा के नियम दिये गये हैं। प्राच्या को लोकोक्ति-बहुल बनाया गया है। ग्यारहवें अध्याय में अवन्ती और वारहवें में मागधी प्राकृत का विवेचन है। इसके बाद विभाषाओं में शाकारी, चाडाली, शावरी और टक्कदेशी का अनुशासन किया गया है। उससे पता चलता है कि शाकारी में 'क' और टक्की में उद् की बहुलता पाई जाती है। इसके बाद अपभ्रंश में नागर, ब्राह्म, उपनागर आदि का नियमन है। अन्त में कैंकय, पैशाचिक और शौरसेनी पैशाचिक भाषा के लक्षण कहे गये हैं।<sup>१५</sup>

### त्रिविक्रम-प्राकृतशब्दानुशासन

त्रिविक्रम १३ वीं शताब्दी के वैयाकरण थे। उन्होंने जैनशास्त्रों का अध्ययन किया था तथा वे कवि भी थे। यद्यपि उनका कोई काव्यग्रन्थ अभी उपलब्ध नहीं है। त्रिविक्रम ने 'प्राकृतशब्दानुशासन' में प्राकृत सूत्रों का निर्माण किया है तथा स्वयं उनकी वृत्ति भी लिखी है

प्राकृतपदार्थसार्थप्राप्त्यै निजसूत्रमार्गमनुजिगमिषताम् ।

वृत्तिर्यथार्थसिद्ध्यै त्रिविक्रममेणागमक्रमात्क्रियते ॥ ६ ॥

इन दोनों का विद्वत्तापूर्ण सम्पादन व प्रकाशन डा० पी० एल० वैद्य ने सोलापुर से १९५४ में किया है। यद्यपि इससे पूर्व भी मूलग्रन्थ का कुछ अंश १८६६ एवं १९१२ में प्रकाशित हुआ था। किन्तु वह ग्रन्थ को पूरी तरह प्रकाश में नहीं लाता

था।<sup>१६</sup> अतः डा० वैद्य ने कई पाण्डुलिपियों के आधार पर ग्रन्थ का वैज्ञानिक संस्करण प्रकाशित किया है। इसके पूर्व वि० स० २००७ में जगन्नाथशास्त्री होशिंग ने भी मूलग्रन्थ और स्वोपज्ञवृत्ति को प्रकाशित किया था।<sup>१७</sup> इसमें भूमिका संक्षिप्त है, किन्तु परिशिष्ट में अच्छी सामग्री दी गई है।

प्राकृतशब्दानुशासन में कुल तीन अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में ४-४ पाद हैं। पूरे ग्रन्थ में कुल १०३६ सूत्र हैं। यद्यपि त्रिविक्रम ने इस ग्रन्थ के निर्माण में हेमचन्द्र का ही अनुकरण किया है, किन्तु कई बातों में नयी उद्भावनाएँ भी हैं। प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में प्राकृत का विवेचन है। तीसरे अध्याय के दूसरे पाद में गौरसेनी (१-२६), मागधी (२७-४२), पैंशाची (४३-६३) तथा चूलिका पैंशाची (६४-६७) का अनुशासन किया गया है। ग्रन्थ के इस तीसरे अध्याय के तृतीय और चतुर्थ पादों में अपभ्रंश का विवेचन है।

त्रिविक्रम ने अपने प्राकृत व्याकरण में ह, दि, स और ग आदि नयी सज्ञाओं का निरूपण किया है। तथा हेमचन्द्र की अपेक्षा देशी शब्दों का सकलन अधिक किया है। हेमचन्द्र ने एक ही सूत्र में देशी शब्दों की बात कही थी, क्योंकि उन्होंने 'देशीनाममाला' अलग से लिखी है। जबकि त्रिविक्रम ने ४ सूत्रों में देशी शब्दों का नियमन किया है। प्राकृतशब्दानुशासन में अनेकार्थ शब्द भी दिये गये हैं। यह प्रकरण हेम की अपेक्षा विशिष्ट है। इससे तत्कालीन भाषा की अन्य प्रवृत्तियों का भी पता चलता है। कुछ अनेकार्थक शब्द इस प्रकार त्रिविक्रम ने दिये हैं

अमार = टापू, कछुआ

ओहम = नीवी, अवगुण्ठन

करोड = कोआ, नारियल, बैल गोपी = सम्पत्ति, वाला आदि।

इसी प्रकार त्रिविक्रम का अपभ्रंश का अनुशासन भी महत्वपूर्ण है। क्योंकि उन्होंने हेम द्वारा उदाहृत अपभ्रंश उदाहरणों की संस्कृत छाया भी दे दी है। यथा सूत्र ३३३८ का उदाहरण

सावसलोणी गोरडी नवखी कवि विसगठि।

भड्डु पञ्चलिउ सो मरइ जासु न लगइ कठि ॥ ५७ ॥

(हेम० ४२० ३)

[सर्वसलावण्या गौरी नवीना कापि विपन्नस्थि।

भट्ट प्रत्युत सन्निवृत्ते यस्य न लगति कण्ठे ॥] इत्यादि।

इस तरह संस्कृत छाया द्वारा अपभ्रंश पद्यों को समझने में उन्होंने सौकर्य उपस्थित किया है। त्रिविक्रम ने हेमचन्द्र के सूत्रों की सध्या घटाकर लाघवप्रवृत्ति का परिचय दिया है। अतः कई दृष्टियों में त्रिविक्रम का प्राकृत व्याकरणशास्त्र के विकास में योगदान है। इसमें यह भी पता चलता है कि प्राकृत वैयाकरणों ने अपने समय की भाषागत प्रवृत्तियों को अनुशासित करने का पूरा प्रयत्न किया है।

## प्राकृतशब्दानुशासन पर टीकाएँ

त्रिविक्रम के इस ग्रन्थ पर स्वयं लेखक की वृत्ति के अतिरिक्त अन्य दो टीकाएँ भी लिखी गयी हैं। लक्ष्मीधर की 'षड्भाषाचन्द्रिका' एवं सिंहराज का 'प्राकृतरूपावसार' त्रिविक्रम के ग्रन्थ को सुबोध बनाते हैं।

### (१) षड्भाषाचन्द्रिका

लक्ष्मीधर ने अपनी व्याख्या लिखते हुए कहा है कि त्रिविक्रम के ग्रन्थ को सरल करने के लिये यह व्याख्या लिख रहा हूँ। जो विद्वान् मूलग्रन्थ की गूढ़ वृत्ति को समझना चाहते हैं वे उसकी व्याख्यारूप 'षड्भाषाचन्द्रिका' को देखें

वृत्ति त्रैविक्रमीगूढा व्याचिख्या सन्ति ये बुधा ।

षड्भाषाचन्द्रिका तैस्तद् व्याख्यारूपा विलोक्यताम् ॥

वस्तुतः लक्ष्मीधर ने त्रिविक्रम के ग्रन्थ को सिद्धान्त कौमुदी के ढंग से तैयार किया है तथा उदाहरण प्राकृत के अन्य काव्यों से दिये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राकृत (महाराष्ट्री), शौरसेनी, मागधी, पेशाची, चूलिकापेशाची और अपभ्रंश इन छह भाषाओं का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। आगे चलकर इन छह भाषाओं के विवेचन के लिए अन्य कई ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। उनमें भामकवि 'षड्भाषाचन्द्रिका', दुर्गणाचार्य 'षड्भाषारूपमालिका', तथा 'षड्भाषामञ्जरी', 'षड्भाषासुवन्तादर्श', 'षड्भाषाविचार' आदि प्रमुख हैं।<sup>१८</sup>

### (२) प्राकृतरूपावतार

सिंहराज (१५ वीं शताब्दी) ने त्रिविक्रम प्राकृतव्याकरण को कौमुदी के ढंग से 'प्राकृतरूपावतार' में तैयार किया है। इसमें सक्षेप में सज्ञा, सन्धि, समास, धातुरूप, तद्धित आदि का विवेचन किया गया है।<sup>१९</sup> सज्ञा और क्रियापदों की रूपावली के ज्ञान के लिए 'प्राकृतरूपावतार' कम महत्वपूर्ण नहीं है। कहीं-कहीं सिंहराज ने हेम और त्रिविक्रम से भी अधिक रूप दिये हैं।<sup>२०</sup> रूप गठने में उनकी मौलिकता और सरसता है।

### क्रमदीश्वर-सक्षिप्तसार

हेमचन्द्र के बाद के व्याकरणों में क्रमदीश्वर का प्रमुख स्थान है। उन्होंने 'सक्षिप्तसार' नामक अपने व्याकरण ग्रन्थ को आठ भागों में विभक्त किया है। प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत एवं आठवें अध्याय 'प्राकृतवाद' में प्राकृत व्याकरण का अनुशासन किया है। ग्रन्थ के इस स्वरूप में ही क्रमदीश्वर हेमचन्द्र का अनुकरण करता है। अन्यथा प्रस्तुतीकरण और सामग्री की दृष्टि से उनमें पर्याप्त

भिन्नता है। वस्तुतः वररुचि के 'प्राकृतप्रकाश' और 'सखिप्तसार' में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध दिखायी देता है।<sup>१५</sup> किन्तु कई स्थलों पर क्रमदीश्वर ने अन्य लेखकों की सामग्री का भी उपयोग किया है।<sup>१६</sup> लास्सन ने क्रमदीश्वर के इस ग्रन्थ पर अच्छा प्रकाश डाला है। 'प्राकृतपाद' का सम्पूर्ण सस्करण राजेन्द्रलाल मित्र ने प्रकाशित कराया था। तथा १८८६ में कलकत्ता से इसका एक नया सस्करण भी प्रकाशित हुआ था।

### मार्कण्डेय-प्राकृतसर्वस्व .

प्राकृत व्याकरणशास्त्र का 'प्राकृतसर्वस्व' एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके ग्रन्थकार मार्कण्डेय प्राच्य शाखा के प्रसिद्ध प्राकृतवैयाकरण थे। मार्कण्डेय का यह प्राकृत व्याकरण प्रारम्भ में भट्टनाथ स्वामी द्वारा सम्पादित होकर १६२७ में ग्रन्थप्रदर्शिनी, विजयापट्टम् से प्रकाशित हुआ था। किन्तु बाद में अन्य पाण्डुलिपियों के आधार पर विद्वत्तापूर्ण वैज्ञानिक सस्करण डा० के० सी० आचार्य ने १९६८ में प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी अहमदाबाद से प्रकाशित किया है। इस सस्करण में मार्कण्डेय की तिथि १४६०-१५६५ ई० स्वीकार की गयी है तथा ग्रन्थकार और उनकी कृतियों के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया गया है।<sup>१७</sup>

मार्कण्डेय ने प्राकृत भाषा के चार भेद किये हैं — भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाची। भाषा के पाँच भेद हैं — महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती और मागधी। विभाषा के शकारी, चाण्डाली, शवरी, आभीरी और ढक्की ये पाँच भेद हैं। अपभ्रंश के तीन भेद हैं — नागर, ब्राह्म और उपनागर तथा पैशाची के कैकई, पाचाली आदि भेद हैं।<sup>१८</sup> इन्हीं भेदोपभेदों के कारण डा० पिशल ने कहा है कि महाराष्ट्री, जैनमहाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनशौरसेनी के अतिरिक्त अन्य प्राकृत बोलियों के नियमों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मार्कण्डेय कवीन्द्र का 'प्राकृतसर्वस्व' बहुत मूल्यवान है।<sup>१९</sup>

प्राकृत सर्वस्व के प्रारम्भ के आठ पादों में महाराष्ट्री प्राकृत के नियम बतलाये गये हैं। इनमें प्रायः वररुचि का अनुसरण किया गया है। नौवें पाद में शौरसेनी और दसवें पाद में प्राच्या का नियमन है। विदूषक आदि हास्य पात्रों की भाषा को प्राच्या कहा गया है। ग्यारहवें पाद में अवन्ती वाल्हीकी का वर्णन है। बारहवें में मागधी के नियम बताये गये हैं। अर्धमागधी का उल्लेख इसी पाद में आया है। इस प्रकार ६ से १२ पादों को भाषाविवेचन का खण्ड कहा जा सकता है। १३वें से १६वें पाद तक विभाषा का अनुशासन किया गया है। शकारी, चाण्डाली, शवरी आदि विभाषाओं के नियम एवं उदाहरण यहाँ दिये गये हैं। एक सूत्र में ओड़ी (उडिया) विभाषा का कथन है तथा एक में आभीरी का। ग्रन्थ के १७वें एवं १८वें पाद में अपभ्रंश भाषा का तथा १९वें और २०वें पाद में पैशाची भाषा

का नियमन हुआ है। अपभ्रंश के उदाहरण स्वरूप कुछ दोहे भी दिये गये हैं। इस तरह मार्कण्डेय ने अपने समय तक विकसित प्रायः सभी लोक भाषाओं को, जिनका प्राकृत से घनिष्ठ सम्बन्ध था, अपने व्याकरण में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया है।

मार्कण्डेय केवल वैयाकरण ही नहीं था, अपितु प्राकृत का कवि भी था। उसने अपने प्राकृत सर्वस्व में अनेक ऐसे उदाहरण दिये हैं, जिनके स्रोतों का पता नहीं चलता। और वे सम्भवतः स्वयं ग्रन्थकार के ही किसी काव्यग्रन्थ के होने चाहिए। डा० आचार्य ने 'विलासवतीसदृक' को मार्कण्डेय की रचना होने की सम्भावना व्यक्त की है।<sup>१५</sup> इस ग्रन्थ की एक सम्भावित गाथा इस प्रकार है

पठुम जीविअसरिच्छा ततो सुह्वी तदो पुणो धरिणी ।

चडि ति भणसि एण्हि ण मुणमि काहे हुवेज्ज चामुडा ॥

[प्रथम मुझे जीवन-सदृश (प्राणप्रिय) कहा, फिर सुखदातृ तथा वाद में गृहणि। और अब तुम मुझे चडी (क्रोध करने वाली) कह रहे हो। मैं नहीं जानती कि मैं कब चामुडा कही जाने लगूंगी ?]

इसी प्रकार मार्कण्डेय ने प्राचीन वैयाकरणों के सम्बन्ध में भी कई तथ्य प्रस्तुत किये हैं।<sup>१७</sup> उनमें से शाकल्य एवं कौहल निश्चित रूप से प्राकृत के प्राचीन वैयाकरण रहे होंगे, जिनके प्राकृत सम्बन्धी नियमन से प्राकृत व्याकरणशास्त्र समय-समय पर प्रभावित होता रहा है। यद्यपि अभी तक इनके मूल ग्रन्थों का पता नहीं चला है। इस तरह मार्कण्डेय का 'प्राकृतसर्वस्व' कई दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। पश्चिमीय प्राकृत भाषाओं की प्रवृत्तियों के अनुशासन के लिए जहाँ हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण प्रतिनिधि ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध है, वहाँ पूर्विय प्राकृत की प्रवृत्तियों का नियमन मार्कण्डेय के इस व्याकरण से पूर्णतया जाना जा सकता है। पूर्विय प्राकृत वैयाकरणों के सम्बन्ध में डा० सत्यरजन बनर्जी ने अपनी थीसिस में पर्याप्त प्रकाश डाला है।<sup>१८</sup>

## अन्य प्राकृत व्याकरण

प्राकृत व्याकरणशास्त्र के इतिहास में लगभग २-३वीं शताब्दी से १५-१६वीं शताब्दी तक में हुए इन प्रमुख प्राकृत वैयाकरणों के ग्रन्थों से स्पष्ट है कि प्राकृत भाषा के विभिन्न पक्षों पर विधिवत् प्रकाश डाला गया है। प्राकृत भाषा के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से १६वीं से २०वीं शताब्दी तक अनेक प्राकृत के व्याकरण ग्रन्थ लिखे गये हैं। इन्हे दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। (१) १६वीं से १८वीं शताब्दी तक के परम्परागत प्राकृत व्याकरण तथा (२) १९वीं-२०वीं शताब्दी के

आधुनिक सम्पादन से युक्त प्राकृत-व्याकरण। यहाँ प्रथम कोटि के कुछ प्रमुख प्राकृत व्याकरण-ग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत है।

## १ अप्यदीक्षित-प्राकृतमणिदीप :

ईसवी सन् १५५३-१६३६ के शैव विद्वान् अप्यदीक्षित ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। उन्होंने 'प्राकृतमणिदीप' नामका प्राकृत व्याकरण लिखा है। यह १६५४ में मैसूर से छपा है।<sup>१९</sup> अप्यदीक्षित ने कहा है कि पुष्पवननाथ, वररुचि और अप्यज्वन् ने जो व्याकरण ग्रन्थ लिखे हैं वे बहुत विस्तृत हैं। अतः संक्षेप रुचिवाले पाठकों के लिए मणिदीपिका लिखी गयी है। उन्होंने त्रिविक्रम, हेमचन्द्र और लक्ष्मीधर का भी उल्लेख किया है। अतः इनका यह व्याकरण इन्हीं प्राचीन व्याकरणों के ग्रन्थों पर आधारित है। इस प्राकृतमणिदीप के सम्पादक श्रीनिवास गोपालाचार्य ने इस व्याकरण पर सस्कृत में टिप्पणी लिखी है।

## २ श्रुतसागर-औदार्यचिन्तामणि

दिगम्बर जैन मुनि श्रुतसागर ने वि० स० १५७५ में औदार्यचिन्तामणि व्याकरण की रचना की थी। इसमें प्राकृतभाषा के सम्बन्ध में छह अध्याय हैं। यह ग्रन्थ हेमचन्द्र और त्रिविक्रम के व्याकरणों से बड़ा है। किन्तु इस व्याकरण की अपूर्ण प्रति ही प्राप्त हुई है।<sup>२०</sup> भट्टनायस्वामिन् ने इस ग्रन्थ के तीन अध्याय विजागापट्टम् से प्रकाशित किये हैं। श्रुतसागर ने प्रायः हेमचन्द्र का ही अनुसरण किया है।

## ३. शुभचन्द्र-चिन्तामणि व्याकरण .

पद्मभाषाचक्रवर्ती शुभचन्द्रसूरि ने वि० स० १६०५ में 'चिन्तामणिव्याकरण' की रचना की है।<sup>२१</sup> पाण्डवपुराण की प्रशस्ति में इस व्याकरण का उल्लेख इस प्रकार हुआ है

योऽकृत सद्वाकरण चिन्तामणिनामधेयम् ।

इस प्राकृत व्याकरण में तीन अध्याय हैं। प्रत्येक में चार पाद हैं। कुल मिलाकर १२२४ सूत्र हैं। इसमें हेमचन्द्र के व्याकरण के अनुसार ही प्राकृत का नियमन किया गया है।<sup>२२</sup> 'चिन्तामणिव्याकरण' पर आचार्य शुभचन्द्र ने स्वोपज्ञवृत्ति भी लिखी है।

## ४ रामशर्मा तर्कवागीश-प्राकृतकल्पतरु

रामशर्मा तर्कवागीश भट्टाचार्य बंगाल के निवासी थे। इनका समय १७वीं शताब्दी माना गया है। उन्होंने 'प्राकृतकल्पतरु' नाम का प्राकृत व्याकरण लिखा

है। इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम प्रकाशन १९३६ में श्रीमती लुडगा निति डोल्ची ने पेरिस से किया।<sup>१३</sup> उसके बाद यह ग्रन्थ प्राकृत के विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता रहा है। १९५४ में डा० मनमोहन घोष ने इसे कलकत्ता से प्रकाशित किया है।<sup>१४</sup>

‘प्राकृतकल्पतरु’ में तीन शाखाएँ हैं। प्रथम शाखा में दस स्तवक हैं, जिनमें महाराष्ट्री के नियमों का प्रतिपादन किया गया है। दूसरी शाखा में तीन स्तवक हैं। इनमें शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती, वाल्हीकी, मागधी, अर्धमागधी और दाक्षिणात्या भाषा का विवेचन है। दाक्षिणात्या के सम्बन्ध में कहा गया है कि पदों से मिश्रित, संस्कृत आदि भाषाओं से युक्त इस भाषा का काव्य अमृत से भी अधिक सरस होता है। इस दूसरी शाखा में अन्य सभी विभाषाओं के स्वरूप का विवेचन है।<sup>१५</sup> तीसरी शाखा में नागर और ब्राह्म अपभ्रंश तथा पैशाचिक का विवेचन है।

## ५ लकेश्वर-प्राकृतकामधेनु

लकेश्वर अथवा प्राकृत लकेश्वर रावण ने ‘प्राकृतकामधेनु’ की रचना की है। ग्रन्थ के मंगलाचरण से ज्ञात होता है कि लकेश्वर ने प्राकृत व्याकरण पर प्रारम्भ में कोई बड़ा ग्रन्थ लिखा था, जिसे संक्षिप्त कर ‘प्राकृतकामधेनु’ लिखा गया है। डा० मनमोहन घोष एवं डा० जी० सी० वसु आदि ने इस ग्रन्थ पर प्रारम्भ में कुछ लेख लिखे थे।<sup>१६</sup> बाद में डा० घोष ने इस ग्रन्थ को ‘प्राकृतकल्पतरु’ के साथ परिशिष्ट २ में पृष्ठ १७०-१७३ पर प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ में ३४ सूत्रों में प्राकृत के नियमों का विवेचन है। कुछ सूत्र अस्पष्ट हैं। अपभ्रंश की उकार प्रवृत्ति का भी इसमें संकेत है।

अभी हाल में ही वृन्दावन के एक ग्रन्थ भण्डार से ‘प्राकृतकामधेनु’ की एक पाण्डुलिपि प्राप्त हुई है, जिसका परिचय डा० एस० आर० वनर्जी ने अ० भा० प्राच्यविद्या सम्मेलन के २८वें अधिवेशन धारवाड में प्राकृत के विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया था। संभव है, इसके विधिवत् सम्पादन से इस ग्रन्थ व ग्रन्थकार पर कुछ विशेष प्रकाश पड़े।

## ६ शेषकृष्ण-प्राकृतचन्द्रिका

शेषकृष्ण की ‘प्राकृतचन्द्रिका’ श्लोकबद्ध प्राकृत व्याकरण है। इसके कुछ उद्धरण पीटर्सन ने अपनी तृतीय रिपोर्ट (पृ० ३४२-४८) में दिये थे। उसके बाद कुछ अन्य विद्वानों ने भी इस पर ध्यान दिया। इधर १९६६ ई० में श्री सुभद्र उपाध्याय ने पांच कोशों की सहायता से ‘प्राकृतचन्द्रिका’ का प्रकाशन

किया है।<sup>१०</sup> इस ग्रन्थ में नौ प्रकाश हैं। श्री नृसिंह गुरु को प्रणाम कर ज्येष्ठकृष्ण ने प्रारम्भिक पाठको के लिए यह 'प्राकृतचन्द्रिका' लिखी है

श्रीनृसिंहगुरोर्नत्वा पदपङ्कजतल्लजम् ।

विशदार्थ्यं शिशुहिता कुर्वे प्राकृतचन्द्रिकाम् ॥३॥

इस ग्रन्थ के प्रथम प्रकाश में सामान्य नियम, द्वितीय में अमयुक्त आदेश, तृतीय में मयुक्त आदेश तथा चतुर्थ में अव्ययो का वर्णन है। पचम प्रकाश में सुवन्त और छठे में मल्या आदि पर विचार है। तिगन्त का विवेचन सातवें प्रकाश में एवं कृदन्त का आठवें प्रकाश में है। नवा प्रकाश विविध भाषाओं का अनुशासन करता है। इस 'प्राकृतचन्द्रिका' में हेमचन्द्र एवं त्रिविक्रम के ग्रन्थों को आधार बनाया गया है।

### ७. रघुनाथकवि प्राकृतानन्द

प० रघुनाथ कवि १६वीं शताब्दी के विद्वान् थे। इनके 'प्राकृतानन्द' में ४१६ सूत्र हैं। ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में शब्द और दूसरे परिच्छेद में धातु-विचार किया गया है। प० रघुनाथ ने वररुचि के 'प्राकृतप्रकाश' के सूत्रों का यह सक्षिप्त संस्करण निकाला है।<sup>११</sup> यह ग्रन्थ सिध्दी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई में प्रकाशित हुआ है।

### ८. अज्ञातकर्तृक प्राकृतपद्यव्याकरण

लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर अहमदाबाद में ६ पत्रों की एक अपूर्ण प्रति उपलब्ध है, जो लगभग १७वीं शताब्दी में लिखी गयी है। यह एक प्राकृत पद्य व्याकरण है। उसका कर्ता अज्ञात है। ग्रन्थ के नाम का भी पता नहीं चलता। इस प्रति में कुल ४२७ श्लोक हैं। ग्रन्थ का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है

संस्कृतस्य विपर्यस्त संस्कारगुणवर्जितम् ।

विज्ञेयं प्राकृतं तत् तु (यद्) नानावस्थान्तरम् ॥१॥

समानशब्द विभ्रष्ट देशीगतमिति त्रिधा ।

सौरसेन्य च मागध्य पैशाच्य चापञ्च शिकम् ॥२॥

देशीगतं चतुर्वेति तदग्रे कथयिष्यते ।<sup>१२</sup> ।

इस ग्रन्थ के सम्पादन व प्रकाशन में इसकी पूरी विषय वस्तु का पता चल सकेगा। जात होता है कि इन शताब्दियों में पद्यवद्ध प्राकृत व्याकरण लिखने की प्रवृत्ति चल पड़ी थी।

इन उल्लिखित प्राकृत व्याकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्राकृत व्याकरणों के भी ग्रन्थों में उल्लेख मिलते हैं। कुछ उपलब्ध भी हुए हैं।



विष्णुधर्मोत्तर का 'प्राकृतलक्षण' डा० घोष ने 'प्राकृतकल्पतरु' के परिशिष्ट में प्रकाशित किया है। डा० विशाल ने अपने ग्रन्थ में 'प्राकृतदीपिका' (चडीदेवशर्मन्)<sup>१०</sup>, 'षड्भाषासुवन्तरूपादर्श' (नागोवा), 'प्राकृतकौमुदी', 'प्राकृत-साहित्यरत्नोकर', भाषार्णव (चन्द्रशेखर) आदि प्राकृत व्याकरण ग्रन्थों का मात्र उल्लेख किया है।<sup>११</sup> नरसिंहकृत 'प्राकृतशब्दप्रदीपिका' तथा ऋषिकेश शास्त्री के 'प्राकृतकल्पलतिका' नामक प्राकृत व्याकरणों का भी पता चला है। इन सबके प्रकाश में आने पर आधुनिक युग के प्राकृत व्याकरणशास्त्र की प्रवृत्तियों का ठीक-ठीक पता चल सकेगा। वैसे आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास के उपरान्त प्राकृत-अपभ्रंश व्याकरणों के मूल ग्रन्थों के प्रणयन में कमी आना स्वाभाविक है। इस युग में तुलनात्मक ग्रन्थ अवश्य इस विषय के लिखे गये हैं।

### प्रमुख प्राकृत भाषाओं का स्वरूप

प्राकृत भाषा के वैयाकरणों एवं उनके ग्रन्थों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्रायः सभी वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को सामान्य प्राकृत के नाम से कहकर उसका स्वरूप विवेचित किया है एवं उससे भिन्न लक्षण वाली अन्य शौरसेनी, मागधी, पैंशाची, अपभ्रंश आदि का वाद में अनुशासन किया है। यद्यपि चड, वररुचि एवं हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरणों में 'महाराष्ट्री' प्राकृत का कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु काव्य की भाषा प्राकृत महाराष्ट्री ही मानी जाती थी। अतः उसी को सामान्य प्राकृत स्वीकार किया है।<sup>१२</sup> वररुचि के १०वें एवं ११वें परिच्छेदों में शौरसेनी की प्रधानता है। किन्तु १२वें परिच्छेद में 'महाराष्ट्री' शब्द का प्रयोग कर उसे सामान्य प्राकृत कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि वररुचि के इस १२वें परिच्छेद की रचना के समय महाराष्ट्री शौरसेनी से भिन्न प्राकृत भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। वाद के वैयाकरणों ने उसे ही आधार मानकर अपने ग्रन्थ लिखे हैं। अतः यहाँ महाराष्ट्री या सामान्य प्राकृत के कुछ प्रमुख नियमों का उल्लेख कर वाद में अन्य प्राकृतों के स्वरूप को स्पष्ट किया जावेगा।

### सामान्य प्राकृत (महाराष्ट्री)

प्राचीन प्राकृत वैयाकरण चड ने अपने व्याकरण में जिन नियमों की मात्र सूचना दी थी वररुचि ने उन नियमों को स्थिर और समृद्ध किया है। हेमचन्द्र ने सूक्ष्मता से साहित्य और लोक में प्रचलित रूपों के आदार पर अपने नियम प्रस्तुत किये हैं। वाद के वैयाकरणों ने प्राकृत के इन सामान्य नियमों को अपने ग्रन्थों द्वारा प्रचारित किया है।

१ भारतीय आर्य भाषा के ऋ, ऋ, लृ एवं लृ का सर्वथा अभाव।

२ ऋवर्ण के स्थान पर अ, इ, उ और रि का प्रयोग । यथा नृत्य > णच्चो, तूण > तिणो, मृषा > मुसा, ऋपि > रिसि आदि ।

३ ऐ और औ के स्थान पर ए, ओ का प्रयोग पाया जाता है । यथा शैल > सेलो, कौमुदी > कोमुई आदि । कहीं-कहीं अइ और अउ रूप भी मिलते हैं—दैव > दइवे, पौर > पउरो आदि ।

४ प्राय ह्रस्व स्वर सुरक्षित है । यथा अक्षि > अक्खि, अग्नि > अग्गि आदि ।

५ सयुक्त व्यंजनो के पूर्ववर्ती दीर्घस्वर ह्रस्व हो गये हैं । यथा शान्त > सतो, शान्ध > सक्को आदि ।

६ सानुनासिक स्वर बदलकर दीर्घस्वर हो जाते हैं । यथा सिंह > सीहो आदि ।

७ प्राकृत में विसर्ग का प्रयोग नहीं होता । उसके स्थान पर ए या ओ हो जाता है । यथा—राम > रामो, देव > देवे ।

८ पदान्त व्यंजनो का लोप हो जाता है । यथा पश्चात् > पच्छो, यावत् > जाव आदि ।

९ श, ष और स के स्थान पर केवल स का प्रयोग । यथा—अश्व > अस्सो, मनुष्य > माणुसो आदि ।

१० दो स्वरों के बीच में आने वाले क ग च ज त द व का प्राय लोप हो जाता है । यथा मुकुल > मुजलो, नगरम् > णयर, शची > सई, प्रजापति > पयावई, यत्ति > जई, मदन्त > मयणो, रिपु > रिउ, जीव > जीओ आदि ।

११ सयुक्त व्यंजनान्त ध्वनियों का समीकरण हो गया है । यथा चक्र > चक्को, लक्ष्मी > लच्छी, वृक्ष > वच्छो आदि ।

१२ द्विवचन का लोप हो गया है ।

१३ हलन्त प्रतिपादिक समाप्त हो गये हैं ।

१४ षष्ठी का प्रयोग चतुर्थी के स्थान पर और चतुर्थी का प्रयोग षष्ठी के स्थान पर होने लगा है ।

१५ न के स्थान पर प्राय ण का प्रयोग होता है । इत्यादि ।

## अर्धमागधी (आर्ष प्राकृत)

जैन आगमों की भाषा को अर्धमागधी कहा गया है । वैयाकरणों ने अर्धमागधी को आर्ष भाषा मानकर उसके नियमों का विधान नहीं किया है । क्योंकि अर्धमागधी का रूपगठन मागधी और शौरसेनी की विशेषताओं से मिलकर हुआ है ।<sup>१</sup> भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में अर्धमागधी का उल्लेख किया है (१८ ३५-३६) । किन्तु वररुचि ने अपने ग्रन्थ में इसका नाम नहीं लिया है । क्योंकि उनका उद्देश्य

जैन सूत्रों की भाषा का नियमन करना नहीं था। हेमचन्द्र ने आर्ष प्राकृत के अन्तर्गत इसे ग्रहण किया है और कुछ उदाहरण भी दिये हैं। टीकाकारों में अभयदेव ने भी अर्धमागधी को मागधी के पूर्ण लक्षणों से युक्त नहीं माना।<sup>१४</sup> अतः अर्धमागधी मागधी और शौरसेनी के कुछ लक्षणों से मिलकर बनी है। कुछ उसकी अपनी विशेषताएँ भी हैं। यथा

१ दो स्वरो के मध्यवर्ती असंयुक्त क के स्थान में सर्वत्र ग और अनेक स्थलों पर त् या य् पाये जाते हैं। यथा—श्रावक > सावगो, आराधक > आराहत, लोक > लोय आदि।

२ ग् का प्रायः लोप नहीं होता। यथा आगम > आगम, भगवान् > भगव।

३ च् और ज् के स्थान पर त् और य् का प्रयोग। यथा कदाचित् > कयाती, पूजा > पूता आदि।

४ शब्द के आदि, मध्य और सयोग में सर्वत्र ण् की तरह न् भी स्थित रहता है। यथा नदी > नई, सातपुत्र > नामपुत्र।

५ गृह शब्द के स्थान पर गह, घर, हर, गिह आदि आदेश।

६. अकारान्त पुलिङ्ग शब्दों के प्रथमा एकवचन में प्रायः सर्वत्र ए और वचित् ओ का प्रयोग।

७ धातुओं के भूतकाल के बहुवचन में इसु प्रत्यय का प्रयोग। यथा गच्छिसु, पुच्छिसु इत्यादि।<sup>१५</sup>

## शौरसेनी

हेमचन्द्र ने ६ सूत्रों में शौरसेनी भाषा का अनुशासन किया है। अन्य विशेषताओं को महाराष्ट्री के समान मान लिया है। अशोक के अभिलेखों और पण्डित-आदि प्राचीन ग्रन्थों की भाषा में शौरसेनी के रूप पाये जाते हैं। कृत्रिमरूपों की अधिकता नाटकों की शौरसेनी में पायी जाती है। इस भाषा की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं

१ त् के स्थान पर द और थ के स्थान पर ध् या ह् होता है। यथा महन्त > महन्तो, यथा > जधा, नाथ > नाध, गाह आदि।

२ र्य के स्थान पर व्य अथवा ज्ज होता है। यथा सूर्य > सूर्य्य, सुज्ज।

३ क्त्वा के स्थान पर इय, दूण, ता, अहुअ आदि आदेश होते हैं। यथा भविय, भोदूण, भोत्ता, कृत्वा > कडुअ आदि।

४ यश्चुति एवं वश्चुति का प्रयोग मिलता है। यथा पदार्थ > पयत्थो, वालुका > वालुवा आदि।

५ अन्य पुरुष एकवचन में ति को दि। यथा भवति > भोदि, होदि आदि।

६ इदानीयम् > दाणि, तस्मात् > ता आदि प्रयोग होते हैं।

## मागधी

१ पुलिग मे सि प्रत्यय के परे अकार के स्थान पर एकार । यथा— एष > एशे, पुरुष > पुलिशे, कर' > कले आदि ।

२ प एव स के स्यात पर ण का प्रयोग । यथा सारस > शालशे, मेप > मेगे आदि ।

३ र्का ल् मे परिवर्तन । यथा नर > नले आदि ।

४ ज् को य् । यथा जानासि > याणासि, जानपदे > यणपदे ।

५ छ के स्थान पर श्च । यथा— गच्छ > गश्च आदि ।

६ ट्ट तथा ठठ के स्थान पर स्ट आदेश । यथा भट्टारिका > भस्टालिका, सुष्ठु > शुस्टु आदि ।

७ क्त्वा को दाणि आदेश । यथा कृत्वा > करदाणि ।

## पैशाची

वररुचि एव हेमचन्द्र ने पैशाची भाषा की विशेषताओं का उल्लेख किया है । आगे के वैयाकरणों ने पैशाची के भेद-प्रभेद बतलाए हैं । कुछ विशेष उदाहरण भी दिये हैं । मार्कण्डेय ने इसे शूरसेन और पाचाल की भाषा कहा है । वस्तुतः यह भ्रमणशील किसी जाति विशेष की भाषा थी । इसलिए इसमें कई प्रदेशों की बोलियों के तत्त्व सम्मिलित हैं । यथा

१ ज्ञ के स्थान पर ञ्च होता है । प्रज्ञा > पञ्चा आदि ।

२ वर्ग के तृतीय व चतुर्थ वर्ण का प्रथम व द्वितीय वर्ण में परिवर्तन । यथा मेघ > मेखो, राजा > राचा, मदन > मतन आदि ।

३ ष्ट के स्थान पर सट और स्तान के स्थान पर सन आदेश । यथा कष्ट > कसट, स्नान > सनान आदि ।

४ मध्यवर्ती क, ग, च आदि वर्णों का लोप नहीं होता । यथा शाखा > साखा, प्रतिभास > पतिभास आदि ।

हेमचन्द्र, त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर आदि प्राकृत वैयाकरणों ने चूलिका पैशाची का भी उल्लेख किया है । पैशाची से इसमें थोड़ा-सा अन्तर है । यथा

१ र के स्थान पर विकल्प से ल । यथा गोरी > गोली, चरण > चलन, राजा > लाचा आदि ।

२ भ् को फ् आदेश । यथा— भवति > फोति आदि ।<sup>७६</sup>

इस प्रकार प्राकृत वैयाकरणों ने साहित्य में प्रयुक्त होने वाली विभिन्न प्राकृतों का नियमन अपने ग्रन्थों में किया है । तथा उन शब्दों का भी अनुशासन किया है जो लोक में प्रचलित थे । मस्कृत नाटकों व प्रकरणों में वाद में कई प्रकार की

भाषाओं का प्रयोग होने लगा था। अतः मध्ययुग के प्राकृत वैयाकरणों ने शाकरी, डक्की, चाण्डाली, आभीरी आदि वोलियों का भी नियमन किया है। किन्तु ये सभी भाषाएँ थोड़े-सी भिन्नता के उपरान्त उपर्युक्त प्रमुख प्राकृतों के अन्तर्गत आ जाती हैं।

### अपभ्रंश

प्राकृत भाषाओं के अन्तर्गत वैयाकरणों ने अपभ्रंश भाषा का भी नियमन किया है। उनमें हेमचन्द्र प्रमुख है। अपभ्रंश भाषा में छठी शताब्दी के लगभग से साहित्य रचना होने लगी थी और १२वीं शताब्दी तक यह साहित्यिक भाषा बन चुकी थी।<sup>१०</sup> हेमचन्द्र ने अपभ्रंश को व्याकरण के नियमों से बाधने का प्रयत्न भी इसी युग में किया था। अपभ्रंश में प्राकृत व्याकरण से भिन्न कई विशेषताएँ पायी जाती हैं।<sup>११</sup> यथा —

१ यह अपभ्रंश उकार बहुला होती है।

२ स्वर आपस में बदल जाते हैं। यथा— सीता > सीय, माता > मेत, मूल्य > मोल आदि।

३ आदि व्यंजन में भी अपवादस्वरूप परिवर्तन हो जाते हैं। यथा— दुहिता > धीय, यमुना > जमुना आदि।

४ कुछ व्यंजन ही बदल जाते हैं। यथा क्रीड > छेल, कर्पर > खप्पर, दहति > डहड़।

५ शब्दरूप तथा क्रियारूप अधिक सरल है।

६ सर्वनामों में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। यथा अहम् > हउ, वय > अम्हे, त्वम् > तुहु पइ आदि।

७. अनुकरणमूलक धातुओं का सर्वाधिक प्रयोग।

८ ह्रस्व स्वर को अनुस्वार। यथा दर्शन > दसण, स्पर्श > फस, अश्रु > असु आदि।

९ मकार को विकल्प से अनुनासिक। यथा— कमल > कवँलु, अमर > भवँर आदि।

इसी तरह की अनेक विशेषताएँ हैं जो समय-समय पर अपभ्रंश भाषा साहित्य में सम्मिलित होती रही हैं, जिनका अनुशासन वैयाकरणों ने किया है।<sup>१२</sup>

इस प्रकार प्राकृत व्याकरणशास्त्र के इतिहास में अनेक प्राकृत भाषाओं के स्वरूप का नियमन प्राकृत वैयाकरणों द्वारा हुआ है। किन्तु उनमें अनुकरण की प्रवृत्ति अधिक है। कुछ ही ग्रन्थकारों में मौलिकता है। कभी-कभी तो इन प्राकृत वैयाकरणों के निष्कर्ष एक-दूसरे के विरुद्ध भी पड़ते हैं। यथा भरतमुनि ने मध्य और सयुक्त व्यंजन में 'न' को 'ण' में परिवर्तित माना है। जबकि हेमचन्द्र देश्यभाषा

मे नकारादि शब्द को असम्भव मानते हैं। इसके विपरीत त्रिविक्रम देशी भाषा में 'न' को बनाये रखने के पक्ष में थे। यथा---'निरूप्यद्', 'अनल' आदि। अतः यह आवश्यक है कि इन सब प्राकृत वैयाकरणों के अनुशासन को उपलब्ध प्राकृत भाषाओं के साहित्य के परिप्रेक्ष्य में पुनः जाचा-परखा जाय। डा० पिशेल ने जो परिश्रमपूर्वक 'प्राकृतभाषाओं का व्याकरण' लिखा है उस पद्धति पर अब पुनः एक ऐसा प्राकृत व्याकरण भाष्य तैयार होना चाहिए, जिसमें पिशेल के अतिरिक्त एवं अन्य प्राकृत कोशों के बाहर के प्राकृत शब्दों पर व्याकरण की दृष्टि से अनुसंधान सम्मिलित हो। पिछले दशक में पर्याप्त प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य प्रकाश में आया है। उस सबका उपयोग करते हुए एक बृहत् प्राकृत व्याकरण के निर्माण की नितान्त आवश्यकता है।

## संदर्भ

- १ द्रष्टव्य, रत्नायेयान्, 'ए फ्रीटीबल स्टडी आफ महापुराण आफ पुष्पदन्त', अहमदाबाद १९६६, पृ० ६-४८।
- २ स्यानागसूत्र, स्थान ७, सूत्र ५५३, विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १४६६ की टीका।
- ३ प्राक् पूर्वं कृत प्राकृत, बालमहिलादिसुबोध सकलभाषानिवन्धमूत वचनमुच्यते।— काव्यालकार २/१२ की टीका।
- ४ द्रष्टव्य, पाश्यमदमहण्णवो, उपोद्घात, पृ० २३ आदि।
- ५ मुनि नगराज, 'प्राकृतभाषा उद्गम विकास और भेद प्रभेद', आनन्दकृति अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३-३१।
- ६ अणुयोगदारमुत्त, सूत्र १३०।
- ७ वही, सूत्र १२८।
- ८ दुर्गाचार्य की निश्कतवृत्ति, पृ० १०, शाकटायन-व्याकरण (सूत्र १ २ ३७), यशस्तिलक-चम्पू (अ० १, पृ० ६०) आदि।
- ९ द्रष्टव्य, डा० वर्नेल 'ऑन दी ऐन्ड स्कूल आफ ग्रामेरियन्स'।
- १० शाह, प० अम्बालाल, जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग ५, पृ० ६।
- ११ जैन, हीरालाल, भारतीय सस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० १८३।
- १२ Upadhye, A N, A Prakrit Grammar attributed to Samantabhadra Indian Historical Quarterly Vol XVII 1942, PP 511-516
- १३ जैन, हीरालाल, 'ट्रेसेज ओफ एन ओल्ड मीट्रिकल ग्रामर'  
— भारतकौमुदी (पृ० ३१५-२२)।
१४. पिशेल, 'प्राकृतभाषाओं का व्याकरण' (हिन्दी अनुवाद-जोशी), पृ० ६५-६६।
- १५ वही, अनुवादक डा० हेमचन्द्र जोशी का फुटनोट द्रष्टव्य।
- १६ भाषाणी, एच सी, पञ्चमचरित, भूमिका, पृ० १२१। तथा  
तावच्चिद्य सच्छदो भमद् अववभम-मच्च-मायगो।  
जाव ण सयमु-वायरण-अकुसो पड्ड ॥ पञ्चमचरित, गाथा, ३-४।

- १७ शाह, वही, पृ० ७० ।  
 १८ वही, पृ० ८६ ।  
 १९ द्रष्टव्य, ई०वी० कावेल का मूल लेख तथा उसका अनुवाद 'प्राकृत व्याकरण सक्षिप्त परिचय', भारतीय साहित्य, १०, अंक-३-४, जुलाई-अक्टूबर १९६५ ।  
 २० शाकल्यभरतकोहलवरश्चिभामहवसन्तराजार्च्य ।  
 प्रोक्तान् ग्रन्थान्नालक्ष्याणि च निपुणमालोक्य ॥  
 आव्याकीर्णं विशदसारं स्वल्पाक्षरग्रथितपद्यम् ।  
 मार्कण्डेयकवीन्द्र प्राकृतसर्वस्वमारमते ॥  
 २१ हिमवत्सिन्धुसौवीरान् ये जनाः समुपाश्रिताः ।  
 उकारवहुला तज्जस्तेषु भाषा प्रयोजयेत् ॥६२॥  
 २२ द्रष्टव्य, वैद्य, पी०एल०, 'प्राकृत ग्रामर आफ त्रिविक्रम,' परिशिष्ट ।  
 २३ द्रष्टव्य 'द प्राकृतलक्षणम् एण्ड चडाज् ग्रैमर आफ द एशिएन्ट प्राकृत'—डा० होएनले ।  
 २४ जैन, भा० स० में जैन धर्म, पृ० १८२ ।  
 २५ पिशाल, वही, पृ० ७३ द्रष्टव्य ।  
 २६ शाह, वही, पृ० ६७ ।  
 २७ कने, 'प्राकृतभाषाए और भारतीय संस्कृति में उनका अवदान' पृ० २५-२६ ।  
 २८ कोवेल—वरश्चि की भूमिका पृ० १० आदि, ओकरेष्ट—का० का० १, पृ० ३६० ।  
 २९ पिशाल, वही, पृ० ८७ ।  
 ३० कापडिया, पाइय भाषाओ अने साहित्य, पृ० ५५ ।  
 ३१ पिशाल, वही, पृ० ७१ ।  
 ३२ द्रष्टव्य, डवराल द्वारा सम्पादित प्राकृतप्रकाश (मनोरमासहित), चौखम्बा प्रकाशन,  
 वि० सं० १९६६ (द्वि. सं०)  
 ३३ बनर्जी, एस० आर०, 'प्राकृत, वैयाकरणों की पाश्चात्य शाखा का विहंगमावलोकन',  
 अनेकान्त १९, १-२, १९६६ (अप्रैल-जून)  
 ३४ द्रष्टव्य, नेमिचन्द्र शास्त्री, आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन एक अध्ययन ।  
 ३५ भाषाणी, एच० सी०, 'प्राकृतव्याकरणकारो' (गुजराती), भारतीयविद्या, २, ४, जुलाई  
 १९४३, पृ० ४०१-१६ ।  
 ३६ द्रष्टव्य, शास्त्री, वही, पृ० १५७-५८ ।  
 ३७ द्रष्टव्य, उपाध्याय, शालिग्राम, 'अपभ्रंश व्याकरण' तथा श्रीवास्तव, वीरेन्द्र, अपभ्रंशभाषा  
 का अध्ययन ।  
 ३८ डील्ची नित्ति ले ग्रामेरिया प्राकृत (प्राकृत के व्याकरणकार), पृ० १४७-५० ।  
 ३९ द्रष्टव्य, शास्त्री, वही, पृ० १८०-८४  
 ४० पंडित, प्रबोध, 'हेमचन्द्र एण्ड द लिन्विस्टिक ट्रेडिशन, महावीर जैन विद्यालय सुवर्ण-  
 महोत्सवग्रन्थ, बम्बई, भाग-१  
 ४१ व्यूलर, 'इयूवर डास लेविन डेस जैन मोएन्शेस हेमचन्द्रा'  
 (वियना १८८६), पृ० ७२, फुटनोट ३४ ।  
 ४२ शाह, वही, पृ० ७४-७१ ।  
 ४३ वर्मा, जगन्नाथ, 'आर्य प्राकृत व्याकरण', काशी नागरी प्रचारिणी सभा, १९०६ ।

- ४४ डील्ची, 'लै प्राकृतानुशामन डे पुरुपोत्तम केह्लिअस', पेरिस ।
- ४५ जैन, जगदीशचन्द्र, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६४० ।
- ४६ द्रष्टव्य, वैद्य, पी० एल०, 'प्राकृत ग्रामर आफ त्रिविक्रम', जीवराजग्रन्थमाला, सोलापुर, १९५४ ।
- ४७ शास्त्री, जगन्नाथ, 'प्राकृतव्याकरणवृत्ति', चौखम्बा सीरिज, वाराणसी ।
- ४८ त्रिवेदी, के०पी०, 'पड्भाषाचन्द्रिका (लक्ष्मीधर)' की भूमिका पृ० ४, बम्बई, १९१६ ।
- ४९ हुल्थ द्वारा सम्पादित, रायल एशियाटिक सोसायटी की ओर से सन् १९०९ में प्रकाशित ।
- ५० पिशल, वही, पृ० ८७ ।
- ५१ वही, पृ० ८२ ।
- ५२ लास्मन, 'इन्स्टीट्यून्सीओनेस' परिशिष्ट, पृ० ४० आदि ।
- ५३ द्रष्टव्य, आचार्य, के सी 'प्राकृतसर्वस्व' भूमिका ।
- ५४ प्राकृतसर्वस्व, २-५ श्लोक ।
- ५५ पिशल, वही, पृ० ८६ ।
- ५६ प्राकृतसर्वस्व, भूमिका, पृ० १३१ ।
- ५७ वही, पृ० १२४ ।
- ५८ वनर्जी, एम० आर०, 'द ईस्टर्न स्कूल आफ प्राकृत ग्रेमिरियन्स', कलकत्ता, १९६४ ।
- ५९ गोपालाचार्य, श्रीनिवास, 'प्राकृतमणिदीप आफ अप्ययदोक्षित', ओरियन्टलरिसर्च इन्स्टीट्यूट पब्लिकेशन, मैसूर यूनिवर्सिटी, १९५४ ।
- ६० द्रष्टव्य—एलन्स आफ मडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, जिल्द १३, पृ० ५२-५३ ।
- ६१ उपाध्ये, ए० एन०, 'शुभचन्द्र एण्ड हिज प्राकृत ग्रामर', वही, भाग-१ पृ० ३७-५८, पूना, १९३२ ।
- ६२ उपाध्ये, ए० एन०, 'शुभचन्द्र का प्राकृत व्याकरण', अनेकान्त, २२, १, अप्रैल १९६६, पृ० ३२ ।
- ६३ डील्ची निस्ति, डू प्राकृत कल्पतरु डेस रामशर्मन् विव्लियोथिक 'डि ले आल हेट्स इट्यूड्स', पेरिस, १९३६ ।
- ६४ धोष, मनमोहन, 'रामशर्मन्स प्राकृतकल्पतरु', एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, वि० ई० २७८ ।
- ६५ जैन, जगदीशचन्द्र, प्रा० सा० इ०, पृ० ६४१ ।
- ६६ न्यू इंडियन एटिक्वेरी, जिल्द ८, पृ० ३७-३९, १९४६ ।
- ६७ प्रभाकर झा, सम्पादक—'शेपकृष्णकृत प्राकृतचन्द्रिका', प्रकाशक—अमर पब्लिकेशन, वाराणसी, १९६६ ।
- ६८ द्रष्टव्य, 'प्राकृतानन्द पर होएर्नले का लेख'—प्रोसीडिंग्स आफ द एशियाटिक सोसायटी, बंगाल १८८०, पृ० ११० पिशल, (पृ० ८६) पर उद्धृत ।
- ६९ जाह्न, जैन ना० वृ० इ०, भाग ५, पृ० ७३ पर उद्धृत ।



- ७० द्रष्टव्य, वनर्जी, एम० आर०, 'चण्डीदेवाज् प्राकृतदीपिका, ए कमेन्टरी आफ क्रमदीश्वराज प्राकृत ग्रामर आइडेन्टीकल विद द वृत्ति आफ जुमरनन्दि', अ० भा० प्रान्चविद्या सम्मेलन, १९६८ ।
- ७१ पिशल, वही, पृ० ८६-९२ ।
- ७२ द्रष्टव्य — शास्त्री, प्रा० भा० सा० का इ०, पृ० ७९-८० ।
- ७३ द्रष्टव्य, मार्कण्डेय — 'प्राकृतसर्वस्व' १२-३८ एवं क्रमदीश्वर — 'संक्षिप्तसार' आदि ।
- ७४ द्रष्टव्य, उपासगदमाओ की टीका ।
- ७५ शास्त्री, नैमिचन्द्र, प्रा० भा० सा० इ०, पृ० ९०-९५ ।
- ७६ विस्तार के लिए द्रष्टव्य, पिशल, 'प्राकृतभाषाओ का व्याकरण'
- ७७ द्रष्टव्य, शास्त्री, देवेन्द्रकुमार, 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध-प्रवृत्तियाँ'
- ७८ श्रीवास्तव, वीरेन्द्र, 'अपभ्रंश भाषा का अध्ययन'
- ७९ जैन, देवेन्द्र कुमार, 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य'



## आर्ष प्राकृत : स्वरूप एव विश्लेषण

### मुनि श्री नथमल

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में आर्ष-विधियों को वैकल्पिक बताया है।<sup>१</sup> इस नियम के अनुसार उन्होंने आगम-सूत्रों के उन स्थलों का निर्देश किया है, जो उनकी दृष्टि में व्याकरण-सिद्ध नहीं थे। उदाहरणरूप में कुछ प्रयोग प्रस्तुत हैं

‘पच्छेकम्म’, ‘असहेज्ज’ ये दोनों आर्ष-प्रयोग हैं। इनमें जो ‘एकार’ है, वह व्याकरण-सिद्ध नहीं है।<sup>२</sup>

‘आउटण’ इस प्रयोग में जो ‘चकार’ को ‘टकार’ वणदिश है, वह व्याकरण-सिद्ध नहीं है।<sup>३</sup>

‘अहक्खाय’, ‘अहाजाय’ प्राकृत व्याकरण के अनुसार आदि के ‘यकार’ को ‘जकार’ वणदिश होता है। किन्तु आर्ष-प्रयोग में ‘य’ का लोप भी हो जाता है। ये दोनों प्रयोग उसके उदाहरण हैं।<sup>४</sup>

‘दुवालसगे’ प्राकृत व्याकरण के अनुसार इस प्रयोग में ‘लकार’ वणदिश प्राप्त नहीं है, किन्तु आर्ष में ऐसा प्रयोग मिलता है।<sup>५</sup>

‘इक्खू, खीर, सारिक्ख’ ये आर्ष-प्रयोग हैं। प्राकृत व्याकरण के अनुसार अक्ष्यादि गण के संयुक्त ‘क्ष’ को ‘छकार’ आदेश होता है। जैसे उच्छू, छीर, सारिच्छ।<sup>६</sup>

प्राकृत भाषा में सामान्यतः ‘क्ष’ को ‘ख’ का आदेश होता है।<sup>७</sup> आर्ष-प्रयोगों में प्रायः वही मिलता है।

आर्ष-प्रयोग में ‘थ्य’ को ‘चकार’ आदेश होता है।<sup>८</sup> जबकि प्राकृत व्याकरण में उसे ‘छकार’ आदेश दिया गया है।

प्राकृत व्याकरण में ‘श्मशान’ का ‘मसाण’ रूप बनता है। आर्ष-प्रयोग में इसके दो रूप मिलते हैं सीआण, सुसाण।<sup>९</sup>

प्राकृत में 'स्रोत' शब्द का 'सोत्त' रूप बनता है किन्तु आर्ष में 'पडिसोओ' 'विस्सोअसिआ' रूप भी मिलते हैं।<sup>१०</sup>

आर्ष-प्रयोग में सयुक्त वर्ण के अन्त्य व्यञ्जन से पूर्व 'अकार' होता है<sup>११</sup> तथा 'उकार' भी होता है।<sup>१२</sup>

आर्ष-प्रयोग में 'किरिया' पद का 'किया' रूप भी मिलता है।<sup>१३</sup>

आर्ष-प्रयोग में द्रह् शब्द का 'हरए' रूप मिलता है।<sup>१४</sup>

'कट्टु' यह आर्ष-प्रयोग है।<sup>१५</sup>

निपात प्रकरण में आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि आर्ष प्रकरण में जो प्रयोग उपलब्ध हैं, वे सब अविच्छेद हैं।<sup>१६</sup>

आर्ष-प्रयोगानुसार सप्तमी के स्थान में तृतीया तथा प्रथमा के स्थान में द्वितीया विभक्ति भी होती है।

आर्ष-प्रयोग में सस्कृत-सिद्ध रूपों के प्रतिरूप भी मिलते हैं।<sup>१७</sup>

गौरसेनी में 'ण' ननु के अर्थ में निपात है, किन्तु आर्ष-प्रयोगों में वह वाक्यालंकार में भी प्रयुक्त होता है।<sup>१८</sup>

आगम सूत्रों के व्याख्याकार व्याकरण से सिद्ध न होने वाले आर्ष-प्रयोगों को अलाक्षणिक और सामयिक कहते हैं। 'वत्यगघ-मलकार' (दसवैआलिय २।२) इस पद में 'मलकार' का 'म' अलाक्षणिक है। हरिभद्रसूरी ने लिखा है अनुस्वार अलाक्षणिक है। मुख-सुखोच्चारण के लिए इसका प्रयोग किया गया है।<sup>१९</sup> प्राकृत व्याकरण में सुखोच्चारण और श्रुतिसुख दोनों को महत्त्व दिया गया है। प्राकृत व्याकरण में पकार के लुक् का विधान है<sup>२०</sup> और पकार को वकारवर्णदेश भी होता है।<sup>२१</sup> इन दोनों की प्राप्ति होने पर क्या करना चाहिए, इस जिज्ञासा के उत्तर में आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है जिससे श्रुतिसुख उत्पन्न हो, वही करना चाहिए।<sup>२२</sup>

'दतसोहणमाइस्स' (उत्तर १।१२७)—इस पद में भी सकार अलाक्षणिक माना जाता है। किन्तु इन सबके पीछे सुखोच्चारण तथा छदोबद्धता का दृष्टिकोण है। 'वत्यगघालकार' तथा 'दतसोहणमाइस्स' इन प्रयोगों में उच्चारण की मृदुता भी नष्ट होती है और छदोभंग भी हो जाता है।

हरिभद्र सूरि ने 'गोचर' शब्द को सामयिक (समय या आगमसिद्ध) बतलाया है। प्राकृत व्याकरण के नियमानुसार 'गोचार' होना चाहिए था।<sup>२३</sup>

आगमिक प्रयोगों में विभक्तिरहित पद भी मिलते हैं। 'गिण्हाहि साहूणु' मुचइसाहू (दश० ६।३।११) यहां 'गुण' शब्द द्वितीया विभक्ति का बहुवचन है। पर यहां इसकी विभक्ति का निर्देश नहीं है।

'डगालधूमकारण' इस पद में विभक्ति नहीं है। आचार्य मलयगिरि ने इस प्रकार के विभक्ति-लोप का हेतु आर्ष-प्रयोग बतलाया है।<sup>२४</sup>

आर्ष या सामयिक प्रयोग के प्रतिपादन का हेतु काल का अन्तराल है। आगम सूत्रों के कुछ प्रयोग व्याकरणसिद्ध नहीं हैं, इस धारणा के पीछे दो हेतु थे

१ प्राकृत व्याकरणकारों के समय जो व्याकरण उपलब्ध थे या उन्हें जो नियम ज्ञात थे, उनसे वे प्रयोग सिद्ध नहीं होते थे।

२ प्राकृत व्याकरणकार प्राकृत की प्रकृति संस्कृत मानकर चले। आगमसूत्रों में बहुत सारे देशी भाषा के प्रयोग हैं, जिनका संस्कृत से कोई संबंध नहीं है।

इन धारणाओं से उन्होंने उन प्रयोगों को अलाक्षणिक, आर्ष या सामयिक कहा। यदि हम काल के अन्तराल पर ध्यान दें तो कुछ नए तथ्य उद्घाटित होंगे। निशीथ भाष्य में आगमसूत्रों को 'पुराण' कहा गया है। उनका विषय भगवान् महावीर के द्वारा प्रतिपादित है और उनका सकलन गणधरो द्वारा कृत है, इसलिए वे पुराण—प्राचीन हैं। उनकी भाषा 'प्राकृत अर्द्धमागधी' है और उसमें अठारह देशी भाषाओं का समिश्रण है।<sup>१५</sup>

अनेक वैयाकरण आर्ष और देश्य भाषाओं को व्याकरण के नियमों से नियन्त्रित नहीं मानते। डॉ० पिशल ने इस विषय पर एक समीक्षात्मक टिप्पणी की है

“भारतीय वैयाकरण पुराने जैन-सूत्रों की भाषा को आर्षम् अर्थात् 'ऋषियों की भाषा' का नाम देते हैं। हेमचन्द्र ने १,३ में बताया है कि उसके व्याकरण के सब नियम आर्ष-भाषा में लागू नहीं होते, क्योंकि आर्ष-भाषा में इसके बहुत से अपवाद हैं और वह २, १७४ में बताता है कि ऊपर लिखे गये नियम और अपवाद आर्ष-भाषा में लागू नहीं होते, उसमें मनमाने नियम काम में लाये जाते हैं। त्रिविक्रम अपने व्याकरण में आर्ष और देश्य भाषाओं को व्याकरण के बाहर ही रखता है, क्योंकि इनकी उत्पत्ति स्वतन्त्र है जो जनता में रूढ़ि बन गई थी (रूढत्वात्)। इसका अर्थ यह है कि आर्ष-भाषा की प्रकृति या मूल संस्कृत नहीं है और यह बहुधा अपने स्वतन्त्र नियमों का पालन करती है (स्वतन्त्रत्वात् भूयसा)। प्रेमचन्द्र तर्कवागीश ने दण्डिन् के काव्यादर्श १,३३ की टीका करते हुए एक उद्धरण दिया है, जिसमें प्राकृत का दो प्रकारों में भेद किया गया है। एक प्रकार की प्राकृत वह बताई गई है, जो आर्ष भाषा से निकली है और दूसरी प्राकृत वह है जो आर्ष के समान है अपूर्णतया आर्षतुल्यम् च द्विविधम् प्राकृतम् विदुः। 'रुद्रट' के काव्यालंकार २, १२ पर टीका करते हुए 'नमिसाधु' ने प्राकृत नाम की व्युत्पत्ति यों बताई है कि प्राकृत भाषा की प्रकृति अर्थात् आधारभूत भाषा वह है जो प्राकृतिक है, और जो सब प्राणियों की बोलचाल की भाषा है तथा जिसे व्याकरण आदि के नियम नियन्त्रित नहीं करते, चूँकि वह प्राकृत से पैदा हुई है अथवा प्राकृतजन की बोली है, इसलिए इसे प्राकृत भाषा कहते हैं। अथवा इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि प्राकृत प्राकृत शब्दों से बनी हो। इसका तात्पर्य हुआ कि वह भाषा जो बहुत पुराने समय से चली आई

हो। साथ ही यह भी कहा जाता है कि वह प्राकृत जो आर्य शास्त्रों में पाई जाती है अर्थात् अर्धमागध वह भाषा है, जिसे देवता बोलते हैं 'आरिसवयणे सिद्ध देवाण अर्धमागहा वाणी'। इस लेखक के अनुसार प्राकृत वह भाषा है जिसे स्त्रियाँ, वच्चे आदि बिना कष्ट के समझ लेते हैं, इसलिए मध्यभाषा सब भाषाओं की जड़ है। बरसाती पानी की तरह प्रारम्भ में इसका एक ही रूप था, किन्तु नाना देशों में और नाना जातियों में बोली जाने के कारण (उनके व्याकरण के नियमों में भिन्नता आ जाने के कारण) तथा नियमों में समय-समय पर सुधार चलते रहने से भाषा के रूप में भिन्नता आ गई। इसका फल यह हुआ कि संस्कृत और अन्य भाषाओं के अपभ्रंश रूप बन गये, जो 'रुद्रट' ने २१२ में गिनाये हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'नमिसाधु' के मतानुसार संस्कृत की आधारभूत भाषा अथवा कहिए कि संस्कृत की व्युत्पत्ति प्राकृत से है। यह बात इस तरह स्पष्ट हो जाती है कि बौद्धों ने जिस प्रकार मागधी को सब भाषाओं के मूल में माना है, उसी प्रकार जैनो ने अर्धमागधी को अथवा वैयाकरणों द्वारा वर्णित आर्यभाषा को वह मूल भाषा माना है जिससे अन्य बोलियाँ और भाषाएँ निकली हैं।<sup>१२६</sup>

अर्धमागधी में मागधी और शौरसेनी का सम्मिश्रण माना है। डा० पिशल के अनुसार आर्य और मागधी भाषा एक ही है। किन्तु निशीथ चूणिकार के अनुसार अर्धमागधी में केवल शौरसेनी की ही नहीं किन्तु अठारह देशी भाषागत विशेषताएँ उपलब्ध हैं। इसलिए जिसे उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने आर्य कहा है, वह व्याकरण के नियमों से सर्वथा अनियत भी नहीं है और लौकिक संस्कृत की भाँति बहुत नियत भी नहीं है। आर्य-प्रयोग प्राचीन व्याकरण से नियत है। उन नियमों की जानकारी वैदिक व्याकरण के नियमों के सदर्भ में की जा सकती है।

अनुयोगद्वार के चूणिकार ने शब्द-प्राभृत या पूर्वशास्त्रों के अन्तर्गत व्याकरणों का निर्देश किया है।<sup>१२७</sup> इससे सात होता है कि आगमसूत्रों की रचना के समय जो व्याकरण थे, उनके आधार पर आगमसूत्रों के प्रयोग किए गए। भाषा का प्रवाह और उसके प्रयोग काल-परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होते रहते हैं। पन्द्रह सौ वर्ष बाद बनने वाले व्याकरणों में उन पूर्ववर्ती व्याकरणों के नियमों का अनुवर्तन संभव नहीं होता। इसीलिए प्राचीन प्रयोगों को 'आर्य' कहने की मनोवृत्ति निमित्त हुई। आगमसूत्रों में प्राचीन व्याकरणों के कुछेक सकेत सौभाग्य से आज भी उपलब्ध हैं। उनके आधार पर हम अलाक्षणीक प्रयोगों को कसौटी पर कस सकते हैं।

न्यानाग सूत्र में शुद्धवचन अनुयोग के दस प्रकार बतलाए हैं<sup>१२८</sup>

१ चकार अनुयोग

चकार शब्द के अनेक अर्थ हैं

(क) समाहार संहति, एक ही तरह हो जाना ।

(ख) इतरेतरयोग मिलित व्यक्तियों या वस्तुओं का सवध ।

(ग) समुच्चय शब्दों या वाक्यों का प्रयोग ।

(घ) अन्वाचय 'मुख्य काम या विषय साथ में गौण काम का विषय जोड़कर ।

(ङ) अवधारण—निश्चय ।

(च) पादपूरण ।

२ मकार अनुयोग इस अनुयोग के द्वारा मकार का विधान किया गया है। यह समस्त और असमस्त पदों में होता है।

जेणा + एव = जेणामेव, तेणा + एव = तेणामेव । प्राकृत व्याकरण के अनुसार इनके 'जेणेव' 'तेणेव' रूप बनते हैं। 'छदनिरोहेण उवेइ मोक्ख' (उत्त० ४।८) यहाँ समस्त पद में अनुस्वार किया गया है। 'अन्नमन्नेण' (उत्त० १३।७) यहाँ भी मकार विहित है।

३ पिकार अनुयोग - 'अपि' शब्द के अनेक अर्थ हैं, जैसे सभावना, निवृत्ति, अपेक्षा, समुच्चय, गहरी, शिष्यामर्षण, विचार, अलकार तथा प्रश्न। 'एवपि एगे आसासे' यहाँ अपि का प्रयोग 'ऐसे भी' और 'अन्यथा भी' इन दो प्रकारान्तों का समुच्चय करता है।

४ सेयकार अनुयोग 'से' शब्द के अनेक अर्थ हैं— अथ, वह, उसका आदि। 'से भिक्खू'— यहाँ 'से' का अर्थ 'अथ' है। 'न से चाइत्ति पुण्णइ' यहाँ से का अर्थ वह (वे) है। अथवा 'सेय' शब्द के अनेक अर्थ हैं श्रेयस्, भविष्यत्काल आदि। 'सेय मे अहिज्जिउ अज्झयण' यहाँ 'सेय' शब्द श्रेयस् के अर्थ में प्रयुक्त है। 'सेयकाले अकम्म यावि भवइ' यहाँ 'सेय' भविष्यत्काल का द्योतक है। डॉ० पिशल ने 'सकार' की विशद मीमांसा की है। देखें— प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पृ० ६२२-२५।

५ सायकार अनुयोग साय शब्द के अनेक अर्थ हैं सत्य, सद्भाव, प्रश्न आदि।

६ एकत्व अनुयोग बहुवचन के स्थान पर एक वचन का प्रयोग। 'एस मग्गुत्ति पन्नतो' (उत्त० २८।२) यहाँ 'मग्ग' शब्द एकवचन का प्रयोग है, जबकि यहाँ बहुवचन होना चाहिए था।

७ पृथक्त्व अनुयोग जैसे धम्मत्थिकाये, धम्मत्थिकायदेसे, धम्मत्थिकायपदेसा । यहाँ 'धम्मत्थिकायपदेसा'— इनमें दो के लिए बहुवचन नहीं है किन्तु धर्मास्तिकाय के प्रदेशों का असंख्यत्व बतलाने के लिए है।

८ सम्यग् अनुयोग 'सम्मत्तदसणसुद्ध' इस समस्त पद का विग्रह अनेक प्रकार से किया जा सकता है, जैसे

(क) सम्यग्दर्शन के द्वारा शुद्ध (तृतीया)

(ख) सम्यग्दर्शन के लिए शुद्ध (चतुर्थी)

(ग) „ से शुद्ध (पचमी)

६ सक्रामित अनुयोग इसके अनुसार विभक्ति और वचन का संक्रमण होता है।

### विभक्ति संक्रमण

- इप्पेसि छप्प जीविकायाण (दस० ४। २)  
यहाँ सप्तमी के अर्थ में पठ्ठी विभक्ति है।
- वीएसु हरिएसु (दस० ५। १। ५७)  
यहाँ तृतीया के अर्थ में सप्तमी विभक्ति है।
- भोगेसु (दस० ८। ३४)  
यहाँ पचमी के अर्थ में सप्तमी विभक्ति है।
- अदीण मणसो (उ० २। ३)  
यहाँ प्रथमा के अर्थ में पठ्ठी विभक्ति है।
- कडाण कम्माण (वत्त० १३। १०)  
यहाँ पचमी के अर्थ में पठ्ठी विभक्ति है।

### वचन संक्रमण

- मन्ने (दस ६। १८)  
यहाँ बहुवचन के स्थान पर एक वचन है।
- से दसगेऽभिजायई (उत्त० ३। १६)  
यहाँ बहुवचन के स्थान पर एकवचन है।
- उच्चचार समिईसु (उत्त० १२। २)  
यहाँ एकवचन के स्थान पर बहुवचन है।<sup>१९</sup>

१० भिन्न अनुयोग जैसे 'तिविह तिविहेण' यह सग्रह-वाक्य है। इसमें (१) मणेण वायाए कायेण तथा (२) न करेमि, न कारवेमि, करतपि अन्नं न भण्णुज्जाणामि इन दो खंडों का सग्रह किया गया है। द्वितीय खंड 'न करेमि' आदि तीन वाक्यों में 'तिविह' का स्पष्टीकरण है और प्रथम खंड 'मणेण' आदि तीन वाक्यांशों में 'तिविहेण' का स्पष्टीकरण है। यहाँ 'न करेमि' आदि वाद में हैं और 'मणेण' आदि पहले। यह क्रम भेद है। कालभेद — 'सक्के देविदे देवराया वदन्ति नममन्ति' — यहाँ अतीत के अर्थ में वर्तमान की क्रिया का प्रयोग है।

अनुयोगद्वारा में आठ विभक्तियाँ चतुर्थाई गई हैं। उनमें आठवी का नाम आमन्त्रणी है। वृत्तिकार ने ऊपर टिप्पणी करते हुए लिखा है इस आठवी विभक्ति का आधार प्राचीन वैयाकरण है। आधुनिक वैयाकरण ने प्रथमा विभक्ति



ही मानते हैं।<sup>१०</sup> अनुयोगद्वार के चूणिकार ने उसी के लिए शब्दप्राभृत और पूर्व के अन्तर्गत व्याकरण का निर्देश किया है।

आर्ष-प्राकृत का वैदिक व्याकरण से साम्य पाया जाता है।<sup>११</sup> इससे भी यह प्रमाणित होता है कि उसके नियम प्राचीन व्याकरणों से सबद्ध हैं।

अनुयोगद्वार में लिंगानुशासन के नियम भी मिलते हैं

पुल्लिंग राया, गिरि, सिंहरी, विण्णू, दुमो।

स्त्रीलिंग —माला, सिरी, लच्छी, जयू, वहु।

नपुंसकलिंग धन्न, अत्थि, पीलु, महु।

प्रज्ञापना में लिंग-विषयक निर्देश अनुयोगद्वार से अधिक विशद मिलते हैं—<sup>१२</sup>

पुल्लिंग मणुस्से, महिसे, आसे, हत्थी, सीहे, वग्घे, वगे, दीविए, अच्छे, तरच्छे, परम्सरे, सियाले, विराले, सुणए, कोलसुणए, कोक्कतिए, ससए, चित्तए, चिल्लए।<sup>१३</sup>

स्त्रीलिंग मणुस्सी, महिसी, वलवा, हत्थिणिया, सीही, वग्घी, वगी, दीविया, अच्छी, तरच्छी, परस्सरा, सियाली, विराली, सुणिया, कोलसुणिया, कोक्कतिया, ससिया, चितिया, चिल्ललिया।<sup>१४</sup>

नपुंसकलिंग—कम, कनोय, परिमडल, सेल, थूम, जाल, थाल, तार, रुव, अच्छि, पव्व, कुड, पउम, दुद्ध, दहि, णवणीय, आसण, सयण, भवण, विमाण, छत्त, चामर, भिंगार, अगण, निरणण आभरण, रयण।<sup>१५</sup>

‘पुढ्वी’ यह स्त्रीलिंग है। ‘आउ’ यह पुल्लिंग है। ‘धण्ण’ यह नपुंसकलिंग है।<sup>१६</sup>

प्राकृत में लिंग का विधान इतना नियन्त्रित नहीं है जितना संस्कृत में है। ‘आउ’ का संस्कृत रूप ‘अप्’ होता है। संस्कृत में यह स्त्रीलिंगवाची शब्द है और प्राकृत में पुल्लिंगवाची। प्राकृत का प्रसिद्ध सूत्र है लिंगमतन्त्रम्।<sup>१</sup>

प्रज्ञापना में सोलह प्रकार के वचनों में एकवचन द्विवचन और बहुवचन—इन तीनों का निर्देश है।<sup>१७</sup> यह निर्देश संस्कृत-व्याकरणानुसारी प्रतीत होता है। प्राकृत व्याकरण के सदर्भ में एक वचन और बहुवचन ये दो ही निर्देश मिलते हैं मणुस्से, महिसे यह एकवचन है।<sup>१८</sup> मणुस्सा महिसा यह बहुवचन है।<sup>१९</sup> इस प्रसंग में द्विवचन का उल्लेख नहीं है। द्विवचन को बहुवचन का आदेश<sup>२०</sup> इसलिए करना पड़ा कि उन्होंने संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति मान लिया।<sup>२१</sup> किन्तु जो आचार्य जनभापा को प्राकृत की प्रकृति मानते हैं<sup>२२</sup>, उनके सामने द्विवचन को बहुवचन का आदेश करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

वर्णमाला।

प्राकृत भाषा के साथ ब्राह्मी लिपि का घनिष्ठ संबंध रहा है। समवाय सूत्र में उसकी वर्णमाला के ४६ अक्षर बतलाए गए हैं।<sup>२३</sup> उनका स्पष्टीकरण वहा

प्राप्त नहीं है। वृत्तिकार अमरदेवसूरि ने सभावित रूप से छियालीस मातृकाक्षरों की जानकारी इस प्रकार दी है<sup>१५</sup>

ऋ ऋ लृ लृ इनका वर्जन कर शेष १२ स्वर।

क से म तक व्यंजन (५ × ५) = २५

अन्तस्थ य र ल व - ४

ऊ ऋ श प स ह = ४

अ = १

४६

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार प्राकृत वर्णमाला के अक्षर ३८ होते हैं। उनके अनुसार प्राकृत में ऋ, ॠ, लृ, लृ, ऐ, औ, अ ये स्वर तथा ड, ञ, श, प व्यंजन नहीं होते।<sup>१६</sup>

स्ववर्ग्य सयुक्त ड और ञ को मान्य किया है।

ऐ और औ को भी मतान्तर के रूप में मान्य किया है।<sup>१७</sup> मागधी में दन्त्य मकार के स्थान पर तालव्य शकार होता है।<sup>१८</sup> इस प्रकार पाँच वर्णों के वृद्धि जाने पर वर्णमाला के अक्षर ४३ हो जाते हैं। तीन वर्णों के प्रयोग आधुनिक प्राकृतों में नहीं मिलते।

पालि व्याकरण में ४१ अक्षर निर्दिष्ट हैं अ आ इ ई उ ऊ ए ओ। क ख ग घ ङ। च छ ज झ ञ। ट ठ ड ढ ण। त थ द ध न। प फ ब भ म। य र ल व। स प ह ळ अ।<sup>१९</sup> आचार्य हेमचन्द्र ने प्राकृत व्याकरण में ड और ञ इन दोनों वर्णों को वर्जित माना है, किन्तु पालि व्याकरण में ये दोनों मान्य हैं।

सत्यवचन के साथ व्याकरण का संबंध माना गया है। सत्यभाषी को नाम, आख्यात, निपात, उपसर्ग, तद्धित, समास, सन्धि, पद, हेतु, यौगिक, उणादि, क्रिया-विधान, धातु, स्वर, विभक्ति और वर्ण का बोध होना चाहिए। सत्यवचन इनके बोध से युक्त होता है।<sup>२०</sup>

इस प्रतिपादन में ज्ञात होता है कि व्याकरण-बोध की अनिवार्यता प्राचीन-काल में मानी गई है।

दशवैकालिक के आचार, प्रज्ञप्ति और दृष्टिवाद इन तीनों शब्दों का अर्थ चूर्णि और टीकाकाल तक व्याकरण से संबंधित था।

अगस्त्यमिहस्वविर ने आचारधर और प्रज्ञप्तिधर का अर्थ भाषा के विनयोनियमों को धारण करने वाला किया है।<sup>२१</sup> जिनदास महतर के अनुसार 'आचारधर' शब्दों के निगम को जानता है।<sup>२२</sup>

टीकाकार ने भी यही अर्थ दिया है। प्रज्ञप्तिधर का अर्थ लिंग का विशेष जानकारी और दृष्टिवाद के अध्येता का अर्थ प्रकृति, प्रत्यय, लोप, आगम, वर्णाधिकार, कान्त, कारक आदि व्याकरण के अंगों को जानने वाला किया है।<sup>२३</sup>

उक्त उद्धरण आर्षप्राकृत के प्राचीन व्याकरण की ओर इंगित करते हैं। आर्षप्राकृत के वर्णदेश और शब्द भी आधुनिक प्राकृत व्याकरण से भिन्न हैं। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार दकार को तकार आदेश होता है। गदन = मतन, सदन = सतन, प्रदेश = प्रतेश।<sup>५४</sup> किन्तु आर्षप्राकृत में अनेक स्वरो तथा व्यंजन के स्थान में तकार आदेश मिलता है।

एरावण	तेरावण	(सूत्र कृताग १।६।२१)
मुसावाय	मुसावात	( " " १।६।१० )
साहुक	साहुत	( " " १।११।३३ )
विसएसण	विसतेसण	( " " १।११।२८ )
ओरब्भिए	तोरब्भिए	( " " २।२।१६ )
काय	कात	( " " २।२।४ )
समए	समते	( " " २।२।१६ )
रुईण	रुतीण	( " " २।२।१८ )

द्वित्वादेश

आर्ष-प्रयोगों में कुछ द्वित्वादेश ऐसे हैं, जो प्राकृत व्याकरणों से सिद्ध नहीं होते। सज्जित = सचित्त, अज्जित = अचित्त, सगडब्भ = स्वकृतभिद्, तहक्कार = तयाकार, कायगिरा = कायगिरा, पुरिसक्कार = पुरुषकार, अनुव्वस = अनुवश, अल्लीण = अलीन।

ह्रस्वादेश

प्राकृत व्याकरण के अनुसार सयुक्त वर्ण से पूर्व दीर्घ वर्ण ह्रस्व हो जाता है। किन्तु आर्ष प्राकृत में यह नियम लागू नहीं होता। प्राचीन आदर्शों में कुछ रूप आज भी सुरक्षित हैं, जिनमें सयुक्त वर्ण से पूर्व दीर्घ वर्ण उपलब्ध है।

ओग्गह → उग्गह → अवग्रह

पोग्गल → पुग्गल → पुद्गल

एक्क → इक्क → एक

एत्तो → इत्तो → इत

आगम सूत्रों की मूलभाषा अर्धमागधी रही है। 'देवद्विगणी' ने आगमों का नया संस्करण वल्लभी में किया था। महाराष्ट्र में जैन श्रमणों का विहार होने लगा। उस स्थिति में आगमसूत्रों की अर्धमागधी भाषा महाराष्ट्री से प्रभावित हो गई। आचार्य हेमचन्द्र का विहार-स्थल भी मुख्यतः गुजरात था। वह महाराष्ट्र का समीपवर्ती प्रदेश है। उन्होंने महाराष्ट्री के प्रचलित प्रयोगों को अपने प्राकृत व्याकरण में प्रमुख स्थान दिया। अर्धमागधी के उन प्राचीन रूपों, जो उस समय तक आगमों में सुरक्षित थे, को आर्ष प्रयोग के रूप में उल्लिखित किया। मूलतः प्राचीन आगम-सूत्रों ('आयारो', 'सूयगड', 'उत्तरज्झयिणाणि' आदि) की भाषा

महाराष्ट्रीय नहीं थी, किन्तु उत्तरकालीन आगमों तथा उनके व्याख्याग्रन्थों की भाषा महाराष्ट्री हो गई। सभी जैन आगमों की भाषा न अर्धभाषा थी है और न महाराष्ट्री और आर्य प्राकृत का अध्ययन करते समय यह तथ्य विस्मृत नहीं होना चाहिए।

## संदर्भ

- १ हेमशब्दानुशासन, ८।१।३ आर्षे हि सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते।
- २ " " ८।१।७६ आर्षे अन्यत्रापि। पच्छेत्तम्। असहेज्ज देवापुरी।
- ३ " " ८।१।७७ आर्षे अन्यदपि दृश्यते। आकु-वन आउण्टण। अत्त चस्य टत्वम्।
- ४ " " ८।१।२४५ आर्षे लोपोपि। यथाख्यातम्—अहक्खाय। यथाजातम् अहाजाय॥
- ५ " " ८।१।२५४ आर्षे दुवालसगे इत्याद्यपि।
- ६ " " ८।२।१७ आर्षे इक्खू, खीर, सारिक्खमित्याद्यपि दृश्यते।
- ७ " " ८।२।३ क्ष ख क्वचित्तु छसो।
- ८ " " ८-२।२१ आर्षे तथ्ये चोपि तच्च।
- ९ " " ८।२।६६ आर्षे श्मशानशब्दस्य सीवाण सुसाणमित्यपि भवति।
- १० " " ८।२।६८ आर्षे पडिसोओ विस्सोअसिआ।
- ११ " " ८।२।१०१ आर्षे सूक्ष्मेऽपि, सुहम।
- १२ " " ८।२।११३ आर्षे सूक्ष्मम्, सुहुम।
- १३ " " ८।२।१०४ किरिआ, आर्षे तु ह्य नाण कियाहीण।
- १४ " " ८।२।१२० आर्षे हरए महपुण्डरिए।
- १५ " " ८।२।१४६ कट्टु इति तु आर्षे।
- १६ " " ८।२।१७४ आर्षे तु यथादर्शनं सर्वमविच्छेदम्।
- १७ (क) " " ८।३।१३७ आर्षे तृतीयापि दृश्यते। प्रथमाया अपि द्वितीया दृश्यते।
- (ख) " " ८।३।१६२ आर्षे देविन्दो इणमब्बवी इत्यादौ सिद्धावस्याश्रयणात् ह्यस्तन्मा प्रयोग।
- १८ हेमशब्दानुशासन, ८।४।२८३ आर्षे वाक्यालकारेपि दृश्यते।
- १९ दशवैकालिक, हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र ८६ अनुस्वारोऽलाक्षणिक। मुखसुखोच्चारणार्थं।
- २० हेमशब्दानुशासन, ८।१।७७ क-ग च-ज-त-द-प-य वा प्रायो लुक्।
- २१ " " ८।१।२३१ पोव।
- २२ " " ८।१।२३१ वृत्ति—एतेन प्रकारस्य प्राप्तयोर्लोपविकारयोर्थस्मिन् कृते श्रुतिसुखमुत्पद्यते स तत्र कार्य।
- २३ दशवैकालिक, हारिभद्रीया वृत्ति पत्र १६ सामयिकत्वात् गोरिव चरण गोचर अन्यथा गोचर।
- २४ पिण्डनिर्मुक्ति, गायत्रि १, वृत्ति—सूत्रे च विभक्तिलोप आर्षत्वात्।

२५ निशीथभाष्य, गाथा ३६१८

पोराणमद्धमागहभासाणियय हवति सुत ।।

चूणि—तित्थयरभासितो जस्सज्जयोगघो य गणघरणिबद्धो त पोराण ।

अह्वा-पाययवद्ध पोराण, मगहुद्धविसयभासणिबद्ध अद्धमगह ।

अधवा-अट्टारसदेसीभाखाणियत अद्धमागध भवति सुत ।

२६ डा० पिशाल- प्राकृत भाषाओ का व्याकरण पृ० २५, २६ ।

२७ अनुयोगद्वार चूणि पृ० ४७ वित्थरो सि सद्पाहुडातो पायव्वो पुव्वणिगतेसु वागारणादिसु ।

२८ ठाण, १०।६६

२९ विशेष विवरण के लिए देखें

(१) दशवैकालिक एक समीक्षात्मक अध्ययन, व्याकरण-विमर्श ।

(२) उत्तराध्ययन एक समीक्षात्मक अध्ययन, व्याकरण-विमर्श ।

३० अनुयोगद्वार, मलयघारीया वृत्ति पत्र १२३ वृद्धवैयाकरण दशनेन चेषमष्टमी गण्यते एदयुगीनाना त्वसो प्रथमैवेति मन्तव्यमिति ।

३१ देखें— डा० पिशाल, प्राकृत भाषाओ का व्याकरण, पृ० ८, ९ टिप्पण ।

३२ अनुयोगद्वाराद्ध, सूत्र २६४ ।

३३ पण्णवणा पद ११ ।

३४ पण्णवणा पद ११, सूत्र २१ ।

३५ " " " सूत्र २३ ।

३६ " " " सूत्र २४ ।

३७ " " " सूत्र २६ ।

३८ पण्णवणा ११।८६ ।

३९. " ११।२१ ।

४० " ११।२२ ।

४१ हेम० श० ८।३।१३० द्विवचनस्य बहुवचनम् ।

४२ " ८।१।१ प्रकृति संस्कृतम् । तत्र भव तत् आगत वा प्राकृतम् ।

४३ वृहत्कल्प भाष्य १।२, मलयगिरि वृत्ति प्रकृतो भव प्राकृत स्वभावसिद्धमित्यर्थ ।

४४ समवाय, ४६।२

४५ समवायागवृत्ति, पत्र ६५

४६ हेम० श० ८।१।१

४६ हेम० श० ८।१।१ ऊओ स्ववर्गसंयुक्तो भवत एव । एदीतो च केषाचित् कंतवम् कंअव सोन्दर्यम्, सोअरिअ, कौरवा ।

४८ " " ८।४।२८८ मागध्या रेफस्य दन्त्यसकारस्य च स्थाने यथासक्य लकारस्तालव्य शकारश्च भवति ।।

४९ कच्चायन व्याकरण १।१।२ अवखरापादयो एकचत्तालीस ।

५० पण्णवागारणाद्ध ७।१४ नामक्खाय-निवाओवसग-त्तद्धिय-समास-सधि-पद-हेउ-ओणिय उणादि-किरियाविहाण-घातु-सर-विभक्तिवण्णजुत्त ।

- ५१ दशवैकालिक दा४६, अगस्त्यसिंह स्यविर चूर्णि वयणनियमणमायागे । " आयास्धरो भासेज्जा तेसु विणीतभामाविणओ, विसेसेण पन्तत्तिधरो एत वयणलिगवण्णविवज्जासे ण अवधसे ।
- ५२ दशवैकालिक दा४६, जिनदाममहत्तर चूर्णि, पृ० २८६—आयास्धरो क्षयोपुरिगणपुसग-लिगाणि जाणइ ।
- ५३ दशवैकालिक, हारिमद्रीय टीका पत्र २३६ आचारधर स्त्रीलिगादीनि जानाति, प्रज्ञप्तिवर स्तान्येव मविशेषाणीत्येव भूतम् । तथा दृष्टिवादमवीयान प्रकृतिप्रत्यय रीपागमवर्णविकार-कालकारकादिवेदिनम् ।
- ५४ हेम० श० दा४।३८७ तदोस्त ।
- ५५ " , दा१।८४ ह्रस्व सयोगे ।

## आधुनिक युग में

### प्राकृत व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन-अनुसन्धान

डॉ० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

प्राकृत भारोपीय भाषा परिवार की भारतीय आर्यशाखा की प्राचीनतम और अन्यतम भाषा मानी जाती है। वैदिककाल में वह एक जनबोली थी, जो क्रमशः विकसित होती गई और पालि-प्राकृत तथा अपभ्रंश के सोपानों को पार करती हुई आधुनिक आर्यभाषाओं के विविध रूपों में प्रतिष्ठित हुई। अतः भाषा-विज्ञान के आधार पर यह तथ्य प्रस्तुत किया जा सकता है कि वर्तमान जनबोलियों का सीधा सम्बन्ध पालि-प्राकृत भाषाओं से अधिक है। उनका परिनिष्ठित रूप भले ही संस्कृत के परिसर में उपलब्ध हो सकता है।

सदियों से प्राकृत भाषा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में विवाद के स्वर गूँजते रहे हैं। प्राकृत और संस्कृत इन दोनों भाषाओं में प्राचीनतर, तथा मूल भाषा कौन-सी है? इस प्रश्न के समाधान में दो पक्ष प्रस्तुत किए गए हैं। प्रथम पक्ष का कथन है कि प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से हुई है तथा दूसरा पक्ष उसका सम्बन्ध किसी प्राचीन जनभाषा से स्थापित करता है। प्राकृत व्याकरण-शास्त्र में दोनों पक्षों का विश्लेषण इस प्रकार मिलता है —

#### १ प्रथम पक्ष

- (I) प्रकृति संस्कृतम् । तत्र भव तत आगत वा प्राकृतम् — हेमचन्द्र ।
- (II) प्रकृति संस्कृतम्, तत्र भव प्राकृतम् उच्यते मार्कण्डेय ।
- (III) प्रकृते संस्कृताया तु विकृति प्राकृती मता नरसिंह ।
- (IV) प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिं वासुदेव ।
- (V) प्राकृते आगतम् प्राकृतम् । प्रकृति संस्कृतम् धनिक ।
- (VI) संस्कृतात् प्राकृतं श्रेष्ठं ततोऽपभ्रंशभाषणम् शंकर ।
- (VII) प्रकृते संस्कृताद् आगतं प्राकृतम् — सिंहदेवगणिन् ।

(VIII) प्रकृति मस्कृतम्, तत्र भवत्वात् प्राकृतम् स्मृतम् पिटसन  
(प्राकृतचन्द्रिका)

## २ द्वितीय पक्ष

- (1) 'प्राकृतेति' सकलजगज्जन्तूना व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कार सहजो वचनव्यापार प्रकृति, तत्र भव सैव वा प्राकृतम् । 'आरिन-वयवो सिद्ध देवाण अष्टमागहा वाणी' इत्यादि — वचनात् वा प्राक् पूर्व कृत प्राकृत वालमहिनादिनुबोध सकलभाषानिवन्धभूत वचनमुच्यते । मेधनिर्मुक्तजलमिवैक स्वरूप नदेव च देशविशेषात् मस्कारकरणाच्च नमासादितविशेष सन् संस्कृताद्युत्तरविभेदाना-प्नोति । अतएव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्ट तदनु संस्कृतादीनि । पाणिन्यादिव्याकरणोदितशब्दलक्षणेन संस्करणात् संस्कृतमुच्यते नमिसाद्यु ।
- (II) सयलाओ इम वाया विसति एतो य णेति वायाओ । एति समुद् चिय णेति सायराओ च्चिय जलाइ ॥ वाक्पतिराज ।
- (III) याद् योनि किल संस्कृतस्य सुदृशा जित्वा मु यन्मोदते ।

राजशेखर

उपर्युक्त दोनों पक्षों का विश्लेषण हम इस प्रकार कर सकते हैं कि प्राकृत वस्तुतः जनबोली थी, जिसे उत्तरकाल में संस्कृत के माध्यम से समझने-समझाने का प्रयत्न किया गया । प्राकृत भाषा के समानान्तर वैदिक संस्कृत अथवा छान्दस भाषा थी, जिसका साहित्यिक रूप ऋग्वेद और अथर्ववेद में विशेष रूप से दृष्टव्य है । यास्क ने इसी पर निरुक्त लिखा और पाणिनि ने इसी को परिष्कृत किया । विद्वान्ना यह है कि प्राकृत के प्राथमिक रूप को दिग्दर्शित कराने वाला कोई साहित्य उपलब्ध नहीं, जिसके आधार पर उसकी वास्तविक स्थिति समझी जा सके । हा, यह अवश्य है कि प्राकृत के कुछ मूल शब्दों को वैदिक संस्कृत में प्रयुक्त शब्दों के माध्यम से समझा जा सकता है । वैदिक रूप विकृत, किकृत, निकृत, दन्द्र, अन्द्र, प्रथ्, ग्रथ्, क्षुद्र क्रमशः प्राकृत के विकट, कीकट, निकट, दण्ड, अण्ड, पठ, घट, क्षुल्ल, रूप थे जो धीरे-धीरे जनभाषा से वैदिक साहित्य में पहुँच गए । इन शब्दों और ध्वनियों से यह कथन अतार्किक नहीं होगा कि प्राकृत जनबोली थी, जिसे परिष्कृतकर छान्दस भाषा का निर्माण किया । जनबोली का ही विकास उत्तरकाल में पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाओं के रूप में हुआ । तथा छान्दस भाषा को पाणिनि ने परिष्कृत कर लौकिक संस्कृत का रूप दिया । साधारणतः लौकिक संस्कृत में तो परिवर्तन नहीं हो पाया पर प्राकृत जनबोली सदैव परिवर्तित अथवा विकसित होती रही । संस्कृत भाषा को शिक्षित और



उच्चवर्ग ने अपनाया तथा प्राकृत सामान्य समाज की अभिव्यक्ति का साधन बना रही। यही कारण है कि संस्कृत नाटको में सामान्य जनो से प्राकृत में ही वार्तालाप कराया गया।

डा० पिशल ने होइफर, लास्सन, याकोबी, भडारकर आदि विद्वानों के इस मत का सयुक्तिक खण्डन किया है कि प्राकृत का मूल केवल संस्कृत है। उन्होंने सेनार से सहमति व्यक्त करते हुए कहा कि प्राकृत भाषाओं की जड़ें जनता की बोलियों के भीतर जमी हुई हैं और उनके मुख्य तत्त्व आदि काल में जीती-जागती और बोली जाने वाली भाषा से लिए गए हैं, किन्तु बोलचाल की वे भाषायें, जो बाद को साहित्यिक भाषाओं के पद पर चढ़ गईं, संस्कृत की भाँति ही बहुत ठोकी-पीटी गईं, ताकि उनका एक सुगठित रूप बन जाय।<sup>१</sup> अपने मत को सिद्ध करने के लिए उन्होंने सर्वप्रथम वैदिक शब्दों का प्राकृत शब्दों से साम्य बताया और बाद में मध्यकालीन और आधुनिक भारतीय बोलियों में सनिहित प्राकृत भाषागत विशेषताओं को स्पष्ट किया।<sup>४</sup>

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस प्रकार वैदिक भाषा उस समय की जनभाषा का परिष्कृत रूप है, उसी प्रकार साहित्यिक प्राकृत भी प्राकृत बोलियों का परिष्कृत रूप है। उत्तरकाल में तो वह संस्कृत व्याकरण, भाषा और शैली से भी प्रभावित होती रही। फलतः लम्बे-लम्बे समास और संस्कृत से परिवर्तित प्राकृत रूपों का प्रयोग होने लगा। प्राकृत व्याकरणों की रचना की आधारशिला में भी इस प्रवृत्ति ने काम किया।

प्राकृत भाषा पर देशी-विदेशी विद्वानों ने काफी अध्ययन-अनुसन्धान किया है, फिर भी उसे हम संपूर्ण नहीं कह सकते। अध्ययन कभी संपूर्ण होता भी नहीं। यहाँ हम प्राकृत भाषा और व्याकरण-शास्त्र पर जो भी पश्चात्य विद्वानों ने कार्य किया है, उसका संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत कर रहे हैं। हम अपने इस सर्वेक्षण को स्थूलतः पाँच भागों में विभाजित कर सकते हैं।

१. भाषाविज्ञान के आधार पर प्राकृत भाषाओं का अध्ययन।

२. प्राकृत व्याकरणों का अध्ययन।

३. प्राकृत भाषाओं पर आधुनिक भाषाओं में लिखे गए व्याकरण।

४. प्राकृत भाषाओं का आलोचनात्मक अध्ययन।

५. संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त बोलियों का अध्ययन।

## १ प्राकृत भाषाओं का भाषावैज्ञानिक अध्ययन

प्राकृत भाषाओं ने पश्चात्य विद्वानों को अपनी विशेषताओं की ओर १९वीं शताब्दी के मध्यकाल में आकर्षित किया। A Hoefler सम्भवतः प्रथम विद्वान् रहे होंगे जिन्होंने १८३६ में Berotini से De Prakrita Dialecto Libri duo

प्रकाशित किया। इसमें उन्होंने प्राकृत भाषाओं का भाषाविज्ञान की दृष्टि से विशेष अध्ययन किया और सस्कृत को उसका मूल उद्गम सिद्ध करने का प्रयत्न किया। J Beames ने भी *Outlines of Indian Philology* (द्वितीय संस्करण, १८६८) में गोरसेनी से कुछ उदाहरण देकर यही निष्कर्ष निकाला। इसके बाद G Goldschmidt ने *Bildungen aus Passive Stammen in Prakrit* (*Zeitschrift, der deutschen morgenlandischen Gesellschaft* Vol. XXIX, PP. 491-495, Vol XXX, P. 779 Leipzig, 1875-1876) तथा *Der infinitive des passive in Prakrit*, ZDMG, Vol XXVIII, P, 491-493, Leipzig, 1874) में प्राकृत के कर्म-वाच्य पर विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया।

E Muller ने आर्य भाषाओं के विकास में प्राकृत भाषाओं का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए प्राकृत की रूपिम विशेषताओं को उपरिस्थित किया। (*Beitrage, Zur Grammatik des Jaina Prakrit*, Berlin, 1876) A. F Rudolf, Hoernle का *A Sketch of the History of Prakrit Philology* (CR. LXXI, Art. 7, 1880) नामक ग्रन्थ भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। इसी बीच Wilson ने बम्बई विश्वविद्यालय में भाषाविज्ञान पर कुछ भाषण दिए, जिनमें उन्होंने सस्कृत भाषा के विकास को स्पष्ट करते हुए प्राकृत और आधुनिक भाषाओं की मरचना पर प्रकाश डाला। John Beames ने १८७२ से १८७६ के बीच कुछ भाग प्रकाशित किए, जिनमें उन्होंने आर्य भाषाओं की विकासात्मक स्थिति को स्पष्ट करते हुए उन पर प्राकृत भाषाओं के प्रभाव को परिलक्षित किया।

H Jacobi के *Über Unregelmässige Passive in Prakrit*, (*Kuhne's Zeitschrift für deutschen morgenlandischen Gesellschaft*, Vol XXXIII, P 249-259, Gutersloh, 1887) तथा *Über das Prakrit in der Erzählungs—Literatur der Jainas* (*Rivista degli studi Orientali*, Vol II PP 231-236, Roma, 1908-1909) भी यहाँ उल्लेखनीय हैं, जिनमें उन्होंने प्राकृत की विभिन्न विशेषताओं को भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में अध्ययन का विषय बनाया। हरिभद्रसूरि की समराज्यकथा तथा विमलसूरि के पञ्चमचरिय के अध्ययन के आधार पर यह निश्चित करने का प्रयत्न किया कि जैन महाराष्ट्री प्राकृत के गद्य और पद्य साहित्य की विशेषताएँ पृथक्-पृथक् हैं।

R Pischel ने 1900 में Strassburg से *Grammatik der Prakrit sprachen* (*Grundriss der indo-arischen Philologie und Altertums Kunde*, Band I, Heft 8) प्रकाशित कर भाषावैज्ञानिकों को प्राकृत

का अध्ययन करने के लिए और भी प्रेरित कर दिया। यहाँ लेखक ने यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्राकृत जैन आगमों की भाषा को अर्धमागधी नाम दिया जाना चाहिए, जैन प्राकृत नहीं। इसी प्रकार महाराष्ट्री जैन प्राकृत के स्थान पर सौराष्ट्री जैन प्राकृत तथा दिगम्बर सम्प्रदाय के प्राकृत आगम ग्रन्थों की भाषा को शौरसेनी जैन प्राकृत कहा जाना चाहिए।

Sten Konow (I R A S 1901) ने भी प्राकृत भाषाओं का भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन किया। T Burrow का Sanskrit Language (London) तथा J Bloch का फ्रेञ्च में लिखित 'ल' ऑर्डर एरिया (भारतीय आर्यभाषा) आदि जैसे ग्रन्थों का भी यहाँ उल्लेख किया जा सकता है, जिनमें विद्वानों ने प्राकृत के विभिन्न विकासात्मक सोपानों को स्पष्ट करते हुए भारतीय भाषाओं के विकास में उनके योगदान की चर्चा की। Alsdorf का Origins of New Indo-Aryan languages लेख भी महत्वपूर्ण है।

इसी सन्दर्भ में हम हर्श के Inscriptions of Ashok (Oxford, 1925), बूलर के Ashoka's text and Glossary (कलकत्ता, १९२४), Bloch के Ashoka a la Magadhi (BSOS, VI, 2, 1932) जैसे कार्यों का भी उल्लेख करना चाहेंगे, जिनमें शिलालेखों की प्राकृत का विचार किया है। इन विद्वानों ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि प्रस्तर-लेखों पर प्राकृत का बहुत प्रभाव पड़ा है और ये विशेषताएँ केवल साहित्यिक प्राकृत में ही मिलती हैं। इन प्रस्तर-लेखों की भाषा में कुछ कृत्रिमता दिखाई देती है। फिर भी वे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं प्राकृत के विकास को समझने की दृष्टि से।

## २ प्राकृत-व्याकरणों का अध्ययन-अनुसन्धान

प्राकृत-व्याकरणों को साधारणतः दो सम्प्रदायों में विभक्त किया गया है पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वी सम्प्रदाय का नेतृत्व वररुचि करते हैं और पश्चिमी सम्प्रदाय का हेमचन्द्र। पश्चात्य विद्वानों ने इन दोनों सम्प्रदायों पर काम किया है। पूर्वी व्याकरण-सम्प्रदाय पर शोध प्रारम्भ करने का श्रेय Cl Lassen को दिया जा सकता है जिन्होंने १८३७ में Bonn से Institutions linguae Pracritiae नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। इसके प्रथम खण्ड में हेमचन्द्र आदि प्राकृत-वैयाकरणों तथा मागधी आदि प्राकृत बोलियों पर विचार किया गया है। दूसरे खण्ड में वररुचि के प्राकृत प्रकाश के प्रथम चार अध्याय प्राकृत-संस्कृत अनुक्रमणिका के साथ प्रस्तुत किए गए हैं। ग्रन्थ का तृतीय खण्ड मागधी, पैंशाची, अपभ्रंश आदि प्राकृत बोलियों के विवेचन पर आधारित है। १८३६ में N Delius ने Radices Pracritae का वही से प्रकाशन किया। इसमें लेखक ने वररुचि के आठवें अध्याय पर अपना अध्ययन विशेषतः केन्द्रित किया।

इन दोनों ग्रन्थों से प्रेरणा पाकर E. B. Cowell ने वररुचि के प्राकृत-प्रकाश की छह प्रतियों के आधार पर सर्वप्रथम सम्पादितकर गामह की प्राचीनतम मनोरमा टीका के साथ १८५४ में Hertwhard में प्रकाशित किया। वही ने उसी का द्वितीय संस्करण १८६८ में और कलकत्ता में तृतीय संस्करण १८६२ में हुआ। Cowell ने अपनी भूमिका में प्राकृत व्याकरणों — विशेषतः वररुचि और हेमचन्द्र की — का सर्वेक्षण किया। मूल के साथ ही अंग्रेजी अनुवाद और पात्र परिशिष्ट भी जोड़े गये। इन परिशिष्टों में एक परिशिष्ट ऐसा भी है जिसमें हेमचन्द्र द्वारा लिखित गोरमेनी प्राकृत के नियम-सूत्र संकलित दिये गये हैं और अन्य में हेमचन्द्र के ही स्वर लघुगत सूत्रों को रख दिया गया है। अन्त में एक विभृत शब्दसूची दी गई है जिसमें प्राकृत शब्दों की संस्कृत छाया भी समाहित है।

कतिपय विद्वान् चण्ड के प्राकृत लक्षण को वररुचि से भी पूर्ववर्ती मानते हैं। प्राकृत लक्षण का सर्वप्रथम सम्पादन H. Hoernle ने किया जो १८८० में कलकत्ता से The Prakrit Lakshanam or Chanda's Grammar of the ancient (आर्य) Prakrit, Pt I text with a critical introduction and indexes नाम से प्रकाशित हुआ। इसका सम्पादन चार प्रतियों के आधार पर हुआ। Hoernle की दृष्टि में चण्ड ने आर्य (अर्ध मागधी महाराष्ट्री) व्याकरण लिखा है और यह चण्ड वररुचि से पूर्ववर्ती है। परन्तु Block ने अपने Vararuci Unt Hemachandra शीर्षक निबन्ध में इस मत का खण्डन किया और कहा कि चण्ड ने अपना व्याकरण हेमचन्द्र आदि अनेक वैयाकरणों से उधार लिया है। इतना ही नहीं, उसमें अशुद्धियाँ भी बहुत हैं। पिगल ने इन दोनों मतों का खण्डन किया और कहा कि चण्ड उतना प्राचीन नहीं जितना Hoernle मानते हैं। चण्ड ने प्रथम श्लोक में ही 'वृद्धमतात्' शब्द का प्रयोग कर यह स्पष्ट कर दिया कि उन्होंने पूर्ववर्ती वैयाकरणों का आधार लिया है। यह श्लोक क्षेपक या प्रक्षिप्त नहीं बल्कि लगभग सभी प्रतियों में उपलब्ध है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और जैन शौरसेनी के सामान्य नियमों को प्रस्तुत किया है। व्यूलर ने इस ग्रन्थ की समीक्षा 'त्साइट-अप्ट डेर मौरगेन लैण्डिशन गेजेलशाफ्ट' में प्राकृत भाषान्तर विधान कहकर की है।

क्रमदीश्वर का संक्षिप्तसार हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के आधार पर लिखा गया है। इसके अध्यायों को प्राकृतपाद कहा गया है। प्रथम सात प्राकृत पाद में संस्कृत व्याकरण और अष्टमपाद में हेमचन्द्र के समान प्राकृत व्याकरण को निबद्ध किया है। इस व्याकरण का सर्वप्रथम सम्पादन Lassen ने १८३६ में 'इन्स्टीट्यूटसीओनेस' में किया जिसका कुछ भाग राडियेत प्राकृतिका ए (वीन्नाए-

आर्डरनुम) नाम से प्रकाशित हुआ। क्रमदीश्वर ने इस पर स्वोपज्ञ टीका लिखी और चण्डीदेव शर्मन् ने प्राकृत दीपिका लिखी है। क्रमदीश्वर का समय १२-१३ वीं शती मानी जाती है।

पुरुषोत्तम के प्राकृत शब्दानुशासन का सर्वप्रथम सम्पादन Nitti Dolci ने नेपाल से प्राप्त एक ही प्रति के आधार पर किया जिसका प्रकाशन १९३८ में पेरिस से हुआ। इसका समय १३वीं शती से पूर्व माना गया है। Dolci ने पिशल के इस मत का खण्डन किया कि व्याकरणकारों की प्राचीनता तथा नवीनता की पहचान या वर्गीकरण इस सिद्धान्त पर करें कि पुराने व्याकरणों में प्राकृत के कम भेद गिनाए गए हैं तथा नयों में उनकी संख्या बढ़ती गई है। वास्तव में पाया तो यह जाता है कि जितना नया व्याकरणकार है, वह उतनी कम प्राकृत भाषाओं का उल्लेख करता है। पिशल के इस मत को भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया। वररुचि, महाराष्ट्री छोड, अन्य प्राकृत भाषाओं के बारे में कम सूत्र देते हैं। कौवेल और ऑफरेष्ट के भी प्राकृत-अध्ययन का मूल्यांकन Dolci ने किया। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि प्राकृत सजीविनी स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं बल्कि टीका का नाम है। टीकाकार वसन्तराज का समय १४-१५ वीं शती माना जा सकता है। पिशल के काल से ही हेमचन्द्राचार्य द्वारा उल्लिखित 'हुग' की पहचान अभी तक नहीं हो सकी। Dolci ने हुग के स्थान पर 'सिद्ध' पाठ सही माना है और कहा है कि हेमचन्द्र के व्याकरण के मूल स्रोतों की खोज अभी तक पूर्ण सफल नहीं हुई। यह सही भी है।

प्राकृतकल्पतरु के रचयिता रामतर्कवागीश का समय लगभग १७वीं शती माना जाता है। लास्सन ने इसका उल्लेख अपने इन्स्टीट्यूट्सोस में किया। उसके समूचे भाग को एक साथ प्रकाशित नहीं किया जा सका। ग्रियरसन ने उसके कुछ भागों को निबन्धों के रूप में अवश्य प्रस्तुत किया है। बाद में सम्पूर्ण ग्रन्थ का सम्पादन E Hultzsch ने किया जिसका प्रकाशन रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, Hertford से १९०६ में हुआ।

लक्षेश्वर की प्राकृत कामवेनु, मार्कण्डेय का प्राकृत सर्वस्व, नरसिंह की प्राकृत शब्दप्रदीपिका आदि और भी अन्य प्राकृत व्याकरण हैं पर विदेशी विद्वानों ने उनपर प्रायः अपनी लेखनी नहीं चलाई।

प्राकृत व्याकरण के पश्चिमी सम्प्रदाय के प्रमुख वैयाकरण आचार्य हेमचन्द्र को कहा जा सकता है। उनका प्राकृत व्याकरण सिद्धहेमशब्दानुशासन का अष्टम अध्याय है जिसका सर्वप्रथम सम्पादन R Pischel ने दो भागों में किया जिनका प्रकाशन Halle से १८७७ और १८८० में हुआ। प्रथम भाग में मूल ग्रन्थ और शब्द-सूची दी गई है और द्वितीय भाग में उसका जर्मन अनुवाद, विशद व्याख्या और तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसमें पिशल ने हेमचन्द्र के

विद्वान्त्वों की भीभासा की है। कहीं वे उनसे सहमत भी नहीं हो सके। कहीं उन्होंने अकथ्य की भाषा को कथ्य भी बना दिया। अर्धमागधी, महाराष्ट्री आदि के अतिरिक्त ढक्की, दाक्षिणात्या, आवन्ती और जैन शौरसेनी जैसी प्राकृत बोलियों पर पिशल ने बिलकुल नई सामग्री प्रस्तुत की है।

त्रिविक्रम के शब्दानुशासन के आधार पर सिंहराज ने प्राकृत रूपावतार लिखा जिसका प्रथम सम्पादन E Hultzsch ने किया और प्रकाशन रायल एशियाटिक सोसाइटी, Hertford से १९०६ में हुआ। सम्पादक ने इसकी भूमिका में लेखक के व्यक्तित्व और कृतित्व पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

### ३. प्राकृत भाषाओं पर आधुनिक भाषाओं में लिखे गये व्याकरण

उपर्युक्त व्याकरणों के आधार पर विदेशी विद्वानों ने अनेक व्याकरण ग्रन्थ लिखे। उनमें से कतिपय कार्यों का उल्लेख हम प्राकृत भाषाविज्ञान के सन्दर्भ में कर चुके हैं। पाश्चात्य विद्वानों में स्वतन्त्र रूप से सर्वप्रथम व्याकरण लिखने वालों में Hoefflar का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने अपना ग्रन्थ *De Prakrita Dialects Libro Duo* १८३६ में वॉलिन से प्रकाशित किया था। लगभग उसी समय १८३७ में Cl Lassen का *Institutions Linguae Pracriticae* नामक प्राकृत व्याकरण का ग्रन्थ Bonn से प्रकाशित हुआ। ये ग्रन्थ सर्वसाधारण पाठकों को अच्छी सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार R Pischel की *De Grammaticis Pracriticis (Vratislaciae, 1874)*, E Muller की *Beitrage Zur Grammatik des Jaina Prakrit (Berlin, 1876)*, S Goldschmidt का *Prakritica (Strassburg, 1879, Zeitschrift der deutschen morgenlandischen Gesellschaft, Vol XXXII, pp. 99-112, Vol XXXVII, pp 457-458, Leipzig, 1878-1883)*, H Jacobi का *Das quantitatsgesetz in den Prakritsprachen (Kuhn's Zeitschrift fur vergleichende Sprachforschung, Vol. XXXV, pp 292-298, Berlin, 1881)*, R F Pavolini की *Le Novello Prakrit de Mandia edì Aglalatatta (Rome, 1872)*, Alfred C Woolner का *Introduction to Prakrit (Lahore, 1917)*, Sir George Abraham Grierson का *Prakrit Dhatvadesase (A S B, Calcutta, 1924)* आदि और भी प्राकृत व्याकरण हैं, जो प्राकृत भाषाओं के अध्येता के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं।

यहाँ Woolner का ग्रन्थ *Introduction to Prakrit* विशेष उल्लेखनीय है। इसे दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भाग में ग्यारह अध्याय हैं जिनमें विभिन्न प्राकृतों के सामान्य रूप से तुलनात्मक नियम दिये गये हैं और

हमारे भाग में प्राकृत ग्रन्थों के उद्धरणों के साथ उनका अनुवाद और विस्तृत शब्दसूची प्रस्तुत की गई है। लेखक का इस ग्रन्थ की रचना के पीछे एक उद्देश्य "संस्कृत नाटकों के शौरसेनी और महाराष्ट्री पाठों का अधिक ध्यान और व्युत्पत्ति पूर्वक अनुशीलन करने के लिए विद्यार्थियों के हाथ में एक पथप्रदर्शक रखना है। किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य वैदिक काल से आधुनिक भाषाओं तक के विद्यार्थियों को सहायता पहुँचाना है। प्रस्तुत व्याकरण अपने उद्देश्य में सफल भी रहा।

इसके बाद विद्वानों ने प्राकृत की किसी एक बोली पर अध्ययन करना प्रारम्भ किया। इस सन्दर्भ में Weber की Maharashtra and Ardhamagadhi, Adverd Mullar की Ardhamagadhi, H Jacobi की Maharashtra, Cowell की A Short Introduction to the ordinary Prakrit of the Sanskrit Dramas with a list of Common irregular Prakrit words (London, 1875), R Schmidt की Elementarbuch der Sauraseni (Hannover, 1924), Pischel के Materialien Zur Kenntnis des Apabhramsa (Gottingen, 1902), तथा Ein Nachtrag Zur Grammatik der Prakrit sprachen (Berlin, 1902) ग्रन्थ अथवा निबन्ध विशेष उल्लेखनीय हैं।

## ४ प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन

सामान्य अध्ययन के साथ तुलनात्मक अध्ययन भी आवश्यक है। पश्चात्य विद्वानों ने इस क्षेत्र में भी कार्य किया। H Jacobi के Ueber Vocaleinschub und Vocalisirung des Y in Pali and Prakrit (Kuhn's Zeitschrift für Vergleichende Sprachforschung, Vol XXIII, pp 594-599, Berlin, 1877), Über den clocka in Pali and Prakrit (वही, Vol XXIV, pp 610-614, Berlin, 1879), Zur genesis der Prakritsprachen (वही, Vol, XXV, pp, 603-609, Berlin 1881), Noch einmal das Prakritische quantitätsgesetz (वही, Vol XXV pp 314-360, Berlin 1883) Ueber unregelmässige passiva in Prakrit (वही Vol XXX) VIII, pp 249-256, Gutersloh, 1887), Über die Betonung in Klassischen Sanskrit und in den Prakrit-Sprachen (Zeitschrift der deutschen Morgenlandischen Gesellschaft, Vol XLVII, pp 574-582, Leipzig, 1893) आदि कार्य उल्लेखनीय हैं। विद्वान् लेखक ने इन निबन्धों में आचार्य, सूयगडग, उत्तरज्ज्ञायण आदि जैन ग्रन्थों का विशेष आधार लिया है।

इसके अतिरिक्त S Goldschmidt के *Praktische miscellen* (Kuhn's Zeitschrift für vergleichende Sprachforschung, Vol XXV, pp, 436-438, 610-617, Vol XXVI, pp 103-112, 327-328, Vol XXVII, P. 336, Berlin, 1881-1885) निबन्धों में प्राकृत शब्दों पर व्याकरणात्मक टिप्पणियाँ मिलती हैं जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। R Morris का *Notes on some Pali and Jain Prakrit words* (The Academy, 1892, PP 217-218, 242-243, 318, London, 1892) भी इसी प्रकार का निबन्ध है जिसमें पम्प, समिति, विवित्त आदि शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

Th Bloch का *Vararuci Und Hemacanda* (Gutersloh, 1893) तथा R Pischel का *Der Akzent des Prakrit* (Kuhn's Zeitschrift für Vergleichende Sprachforschung, Vol XXXIV, PP. 568-576; Vol XXXV, PP 140-150, Gutersloh, 1896-1897) भी उपयोगी निबन्ध हैं। पिशल ने प्राकृत और वैदिक ध्वनियों की यहाँ तुलना की है। Z Wickrema Singhe ने अपने *Index of all the Prakrit words occurring in Pischel's "Grammatic der Prakrit-Sprachen"* (Bombay, 1905-1909) ने पिशल के प्राकृत व्याकरण में आए प्राकृत शब्दों की एक सूची तैयार की जो *Indian Antiquary*, Vol. XXXIV में प्रकाशित हुई। George A Grierson के *Paisachi and Chulikapaisachi* (J A Li 1923, pp. 161-7) तथा *The Eastern School of Prakrit Grammarians and Paisachi Prakrit* (Sir Ashutosh Mukherji Silver Jubilee Volumes (Vol III, Part II, orientals, Calcutta, 1925, PP 119-141) भी उपयोगी निबन्ध हैं। W E Clerk का *Magadhi and Ardhamagadhi* (JAOS, 44 1925) J Block का *Ashoka's et la Magadhi* (BSOS, W), Alsdorf का "*Vasudevahindi, a specimen of Arctric Jaina Maharashtra* (BSOS, 1936), Grierson का *Rajasekhar on the Home of Paisachi* (JRAS, 1921), *Paisachi and Chulikapaisachi* (IA. 1923), Konow का *Home of Paisachi* (ZDMG, 1910), Grierson का *Parkrit Bibhasa* (JRAS, 1918), F B J Kuiper का *Paisachi fragment of the Kuvalayamala* (I I J I I 1957) आदि जैसे निबन्ध भी प्राकृत भाषा के तुलनात्मक क्षेत्र के लिए दृष्टव्य हैं।



## ५. संस्कृत नाटको में प्रयुक्त प्राकृत बोलियों का अध्ययन

संस्कृत नाटको में कुछ प्राकृत भाग नियमित आता है जिसे लेखक, महिला वर्ग, बाल वर्ग अथवा अन्य निम्न वर्ग से बोलवाता है। अतः स्वभावतः इन बोलियों में वैविध्य मिलता है। E. B. Cowell ने संभवतः इस ओर सर्वप्रथम ध्यान आकर्षित किया और A short introduction of the ordinary Prakrit of the Sanskrit dramas (London, 1875) निबन्ध प्रस्तुत किया। Pischel ने कालिदास के 'शाकुन्तलम्' का संपादन करते हुए उसमें प्रयुक्त प्राकृत का विश्लेषण किया। Printz का Bhasa's Prakrits (Frankfurt, A. M. 1921) तथा Luder का The fragments of Asvaghosa's Dramas (Berlin, 1911) भी उल्लेखनीय हैं।

Keith का Sanskrit Drama संस्कृत नाटको में प्रयुक्त प्राकृत बोलियों का एक अच्छा अध्ययन प्रस्तुत करता है। लेखक ने लिखा है कि भास और अश्वघोष ने शौरसेनी, अर्धमागधी और मागधी का प्रयोग किया है। मृच्छकटिक में तो यह वैविध्य और अधिक पाया जाता है। कदाचित् सर्वाधिक। कालिदास के नाटको में माघारणतः गद्य में शौरसेनी का और पद्य में महाराष्ट्री का प्रयोग हुआ है। भवभूति ने शौरसेनी, विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में शौरसेनी और महाराष्ट्री, भट्टनारायण ने वेणीसहार में शौरसेनी और मागधी तथा राजशेखर ने शौरसेनी का प्रयोग अपने प्राकृत नाटको में किया है। लेवी और ग्रिल का भी इस क्षेत्र में योगदान रहा है। इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों ने प्राकृत भाषा और व्याकरणशास्त्र के विभिन्न पक्षों पर अपना अध्ययन-अनुसन्धान किया है। उनका शोधकार्य आज भी एक मानदण्ड बना हुआ है।<sup>१</sup>

प्राकृत भाषा और व्याकरण-शास्त्र पर शोधकार्य का सूत्रपात यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों ने किया पर वाद में उसे भारतीय विद्वानों ने सचारा और परिवर्धित-परिष्कृत किया। यहाँ हम ऐसे ही विद्वानों के कार्यों का मूल्यांकन तीन प्रकार से करेंगे

- १ प्राकृत व्याकरण-शास्त्रों का संपादन और अनुवादन।
- २ स्वतन्त्र व्याकरणात्मक ग्रन्थों का प्रणयन।
- ३ भाषात्मक चिन्तन।

## १ प्राकृत व्याकरण-शास्त्रों का संपादन और अनुवादन।

प्राकृत व्याकरण-शास्त्र की परम्परा का प्रारम्भ 'भरत' से माना जाता है। मार्कण्डेय ने भरत के साथ ही शाकल्य और कोहल को भी प्राकृत व्याकरणके रूप में उल्लेखित किया है। कहा जाता है, पाणिनि ने भी एक 'प्राकृत लक्षण' नामक ग्रन्थ लिखा था।<sup>२</sup> परन्तु इनमें से कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं। अतः साधारणतः

प्राकृतप्रकाश के कर्ता वङ्गरुचि को ही प्राचीनतम प्राकृत वैयाकरण माना जाना चाहिए। रामशास्त्री तेलग ने इसका सम्पादन कर भात्र भूल पाठ के साथ १८६६ में वाराणसी से प्रकाशित किया था। प्राकृतप्रकाश पर अनेक टीकायें भी लिखी गई हैं। वटुकनाथ अर्मा और बलदेव उपाध्याय के संपादकत्व में 'प्राकृत-मजरी' नामक कात्यायन की टीका निर्णयसागर प्रेस से १९१३ में प्रकाशित हुई। इसके बाद वसन्तराज की मजीविनी और सदानन्द भी सुबोधिनी टीका के साथ प्राकृत प्रकाश यू०पी० गवर्नमेण्ट प्रेस से १९२७ में सामने आया। एक अन्य संस्करण डा० पी० एल० वैद्य ने पूना से अंग्रेजी अनुवाद सहित १९२१ में निकाला। उद्योतन शास्त्री भामह की मनोरमा व्याख्या के साथ (वाराणसी, १९४०), और कुनहन राजा ने रामपाणिवाद की व्याख्या के साथ (अड्यार लायब्रेरी, मद्रास, १९४६) भी इसे प्रस्तुत किया। भामह और कात्यायन की वृत्तियों के साथ और बंगाली अनुवाद के साथ वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय ने इसका सम्पादन १९१४ में कलकत्ता से प्रकाशित किया। दिनेशचन्द्र सरकार ने अपनी पुस्तक *Grammer of the Prakrit Language* (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९४३) में प्राकृत प्रकाश का अंग्रेजी अनुवाद तथा के० पी० त्रिवेदी ने गुजराती अनुवाद, (नवमारी, १९५७) भी प्रकाशित किया है। इसी का एक अन्य संस्करण भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी से भी हुआ है। इन सभी संस्करणों में प्रायः प्रथम आठ अध्याय प्रकाशित हुए हैं जो दक्षिणी परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं परन्तु E B. Cowell ने उसके बारह परिच्छेदों को सम्मिलित किया है। जगन्नाथ शास्त्री होशिंग का हिन्दी अनुवाद सहित प्राकृतप्रकाश का नवीन संस्करण भी उल्लेखनीय है (वाराणसी, १९५६) इसके बाद चण्ड के प्राकृत लक्षण को Hoerrle के संस्करण के आधार पर देवकीकान्त ने पुनः सम्पादित कर कलकत्ता से १९२३ में निकाला। उसी का एक अन्य संस्करण सत्यविजय जैन ग्रन्थमाला की ओर से अहमदाबाद से भी १९२६ में प्रकाशित हुआ। लीविश ने अपने 'पाणिनि' में चण्ड के स्थान पर 'चन्द्र' माना पर भण्डारकर के उद्धरणों से ही यह नाम चण्ड ही सिद्ध होता है।

लक्ष्मण की प्राकृत कामधेनु या प्राकृत लक्ष्मण रावण का प्रथम सम्पादन मनमोहन घोष ने किया, जिसे उन्होंने प्राकृत कल्पतरु के साथ (परिशिष्ट क्रमांक २, पृ० १७०-१७३) प्रकाशित किया। क्रमदीश्वर का 'सक्षिप्तसार' यद्यपि प्रथमतः Lassen ने किया पर उसका सम्पूर्ण संस्करण राजेन्द्रलाल मित्र ने *Bibliothika Indica* में कलकत्ता से १८७७ में प्रकाशित किया और इसी का एक अन्य संस्करण कलकत्ता से ही १८१६ में हुआ।

पुरुषोत्तम की प्राकृत शब्दानुशासन को Nitti Dolci के बाद मनमोहन घोष ने प्राकृत कल्पतरु के परिशिष्ट क्र० १, पृ० १५६-१६६ पर संपादित कर अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया। रामतर्कवागीश भट्टाचार्य का प्राकृत

कल्पतरु अभी तक प्रतिलिपि के दोष के कारण सपूर्ण रूप में प्रकाशित नहीं हो सका था। इसका श्रेय डॉ० मनमोहन धोप को दिया जा सकता है, जिन्होंने उसके सपूर्ण रूप का संपादन कर एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता से १९५४ में प्रकाशित किया। इसी के परिशिष्ट में प्राकृत कामधेनु आदि जैसे अल्पकायिक प्राकृत व्याकरणों को भी सम्मिलित कर दिया गया। प्राकृत व्याकरण के पूर्वी सम्प्रदाय में मार्कण्डेय का प्राकृत सर्वस्व (१६-१७वीं शताब्दी) सम्भवतः सर्वोत्तम माना जा सकता है। इसका प्रथम सम्पादन एस० पी० व्ही० भट्टनाथ स्वामिन् ने किया जिसका प्रकाशन विजगापट्टम से १९२७ में हुआ। अभी एक नया संस्करण प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, अहमदाबाद से १९६८ में हुआ जिसके संपादक हैं कृष्णचन्द्र आचार्य। कुछ और नई प्रतियों का आधार लेकर उसे आधुनिक दृष्टि से संपादित किया गया है। संपादक ने १६४ पृष्ठ की अंग्रेजी में भूमिका लिखी है जिसमें उन्होंने मार्कण्डेय का काल, प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति, प्राकृत बोलियों का तुलनात्मक अध्ययन आदि विषयों पर सप्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत की है।

आचार्य हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) पश्चिमी सम्प्रदाय के सर्वमान्य प्राकृत व्याकरण हुए हैं। सिद्धहेमशब्दानुशासन के अष्टम अध्याय में उन्होंने प्राकृत व्याकरण को परिवर्द्ध किया। इसका सर्वप्रथम सम्पादन Pischel ने (Halle, १८७७, १८८०) किया। इसके पूर्व कृष्ण महावल ने Introduction to the Hemachandra Vyakarana (बम्बई, १८७२) लिखा। S P पण्डित ने अपने कुमारपालचरित के परिशिष्ट में इसका पुनः सम्पादन किया (BSS. १९००) (पूना, १९२८) और उसी का बाद में डॉ० पी० एल० वैद्य ने उसे १९२८ में सम्पादित किया। संशोधित संस्करण १९५८ में पूना से ही प्रकाशित हुआ। इसकी प्रियोदय नामक हिन्दी व्याख्या सहित उपाध्याय रत्नमुनि ने अनुवादित कर व्यावर से दो भागों में प्रकाशित किया। प्रथम भाग विक्रमाब्द २०२० में निकला और द्वितीय भाग २०२४ में। इस संस्करण के परिशिष्ट भाग में प्रत्यय बोध, सकेत बोध, तृतीय पाद शब्दकोष रूप सूची और चतुर्थपाद शब्दधातुकोष रूप सूची दी गई है। इससे इस संस्करण की विशेष उपयोगिता सिद्ध हो सकी। शा० भीमसिंह माणिक ने निर्णय सागर प्रेस, मुंबई से ढुङ्किका टीका भाषान्तर सहित भी १९०३ में इसका प्रकाशन किया था।

त्रिविक्रम (१३वीं शती) के प्राकृतशब्दानुशासन के तीन अध्यायों में से प्रथम अध्याय विजगापट्टम् से १८९६ में प्रकाशित हुआ और सपूर्ण संस्करण टी० लङ्गू ने १९१२ में प्रकाशित किया। एक अन्य संस्करण बटुकनाथ शर्मा और बलदेव उपाध्याय के संपादकत्व में बनारस से भी निकला। पी० एल० वैद्य ने भी अच्छी भूमिका सहित उसे संपादित कर जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर से १९५४ में प्रकाशित किया वृत्ति के साथ। संपादक ने इसके संपादन में विजगा-

पट्टम तथा चौवम्भा से प्रकाशित संस्करणों का तो उपयोग किया ही, साथ ही तजौर और मद्राम से प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों का भी आधार लिया गया है। अपनी विस्तृत भूमिका में डॉ० वैद्य ने हेमचन्द्र और त्रिविक्रम से पूर्ववर्ती तथा पश्चात्वर्ती प्राकृत व्याकरणों पर विचार किया। यही त्रिविक्रम और हेमचन्द्र के व्याकरण-ग्रन्थों के सूत्रपाठ का तुलनात्मक अध्ययन तथा त्रिविक्रम और लक्ष्मीधर की तुलना की। डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने त्रिविक्रम के शब्दानुशासन का रचनाकाल १२३६ ई० माना। इसके परिशिष्ट में सूत्रपाठ, सूत्रानुक्रमणिका, छन्दोछायापन्न सूत्रपाठ, अपभ्रंश पद्यमूची तथा देशशब्दमूची दी गई है। इसके अतिरिक्त जगन्नाथ शास्त्री होशिंग ने स० २००७ में वृत्ति सहित प्राकृत शब्दानुशासन को विद्याविलास, वाराणसी से मुद्रित कराया था। इसी का एक संस्करण १९१२ ई० में लड्डू ने भी प्रकाशित किया था, जिस पर उनको पी० एच० डी० उपाधि से विभूषित किया गया।

प्राकृत शब्दानुशासन के आधार पर सिंहराज (१५ वीं शती) ने प्राकृत रूपावतार और लक्ष्मीधर ने पड्भाषाचन्द्रिका लिखी। पड्भाषाचन्द्रिका का संपादन कमलाशकर प्राणशकर त्रिवेदी ने किया (वाम्बे संस्कृत और प्राकृत सीरिज, १९१६)। इसकी भूमिका में संपादक ने महाराष्ट्री प्राकृत, गीरसेनी, मागधी, पैंशाची, चूलिका पैंशाची और अपभ्रंश इन छह प्राकृत बोलियों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। हेमचन्द्र के अतिरिक्त भामकवि की पड्भाषाचन्द्रिका, दुर्गणाचार्य की पड्भाषारूपमालिका तथा पड्भाषामजरी, पड्भाषासुवतार्थ और पड्भाषाविचार में भी इन्हीं छह बोलियों का विवेचन है।

इनके अतिरिक्त अप्पय दीक्षित (१५५३-१६३६ ई०) की प्राकृत मणिदीपिका का सटिप्पण संपादन श्रीनिवास गोपालाचार्य ने (ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पब्लिकेशन्स, युनिवर्सिटी आफ मैसूर, १९५४) तथा रघुनाथ (१८ वीं शती) के प्राकृतानन्द का संपादन और प्रकाशन मुनि जिनविजय ने (सिंधी जैन ग्रन्थमाला, वम्बई) किया।

इन ग्रन्थों के संपादन और प्रकाशन ने प्राकृत भाषा के अध्ययन-अध्यापन को सुखपूर्ण और सुविधापूर्ण बना दिया। छात्रों और अध्यापकों को ये ग्रन्थ सुलभ हो गये।

## २ स्वतन्त्र प्राकृत व्याकरणात्मक ग्रन्थों का प्रणयन

उपर्युक्त प्राकृत-व्याकरण शास्त्रों के आधार पर बीसवीं शती में आधुनिक भाषाओं में भारतीय विद्वानों द्वारा प्राकृत व्याकरण ग्रन्थों का प्रणयन प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम ऋषिकेश शास्त्री की प्राकृत व्याकरण का प्रकाशन कलकत्ता से १८८३ में हुआ। यद्यपि मूलतः वह संस्कृत में था पर साथ ही उसका अंग्रेजी

अनुवाद भी प्रकाशित हुआ।

Woolner का Introduction to Prakrit कलकत्ते से १९२८ में प्रकाशित हुआ था। उसकी उपयोगिता और लोकप्रियता को देखकर डॉ० बनारसीदास जैन ने उसका हिन्दी अनुवाद 'प्राकृत प्रवेशिका' के नाम से पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर से १९३३ में प्रकाशित किया। "भारतीय नाटको तथा भारतीय भाषा-विज्ञान को सुगम बनाना इसका मूल उद्देश्य था। प्राकृत की विभिन्न स्थितियों का परिचय भी इस ग्रन्थ से हो जाता है।

प० बेचरदास दोसी प्राकृत के मूर्धन्य विद्वान् है। उन्होंने १९२५ में गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर, अहमदाबाद से गुजराती भाषा में प्राकृत व्याकरण प्रकाशित की, जिसका हिन्दी रूपान्तर माधवी सुप्रताजी ने और उसका प्रकाशन १९६८ में मोतीलाल बनारसीदास ने किया। प्रस्तुत ग्रन्थ में "संस्कृत, पालि, औरसेनी, मागधी, पैंशाची तथा अपभ्रंश के पूरे नियम बताकर संस्कृत के साथ तुलनात्मक दृष्टि से विशेष परामर्श किया है और वेदों की भाषा, प्राकृत भाषा तथा संस्कृत भाषा, इन तीनों भाषाओं का शब्द समूह कितना अधिक समान है, इस बात को यथास्थान स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के शब्दों में "इसे पिरोल के वृहत् प्राकृत व्याकरण का गुटका संस्करण कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी।"

इसके बाद डॉ० पी० एल० वैद्य ने A Manual of Ardhamagadhi Grammar (पूना, १९३४) प्रकाशित की। पुस्तक छोटी पर उपयोगी है। इसके पूर्व डॉ० बनारसीदास जैन ने पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर से १९२३ में Ardhamagadhi Reader प्रकाशित की थी, जिसमें अर्धमागधी की सामान्य विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए जैनग्रन्थों में से प्राकृत-उद्धरण प्रस्तुत किए गये थे।

इसी शृंखला में डॉ० A M Ghatage की Introduction to Ardhamagadhi कृति १९५१ में कोल्हापुर (School and College Book-stall) से प्रकाशित हुई। इसमें लेखक ने प्राकृत को संस्कृत से उत्पन्न मानकर अर्धमागधी अथवा जैन महाराष्ट्री की विशेषताओं को तीन भागों में विभाजित किया ध्वनि, रूपिम और वाक्यविज्ञान तथा समास। यहाँ भाषाविज्ञान का विशेष रूप से आचार लिया गया है। अर्धमागधी का विश्लेषण करते हुए उन्होंने भूमिका में कहा है कि यह भाषा एक जैसी नहीं रही। प्राचीन और नवीन विकास का संकेत आगमों में स्पष्टतः देखा जा सकता है। उदाहरणतः प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अ तथा ए प्रत्यय मिलते हैं। इनमें ओ प्रत्यय प्राचीन रूप है जो गाथाओं में मिलता है तथा ए प्रत्यय अपेक्षाकृत नवीन रूप है जिसे हम गद्यभाग में पाते हैं। प्राकृत, विशेषतः अर्धमागधी, भाषाओं के विकासात्मक रूपों

को तुलनात्मक अध्ययन के साथ प्रस्तुत करने वाली यह कृति निःसन्देह अनुपम है।

इसके बाद डा० दिनेशचन्द्र सरकार की "Grammar of the Prakrit Languages" उल्लेखनीय है जिसमें उन्होंने अर्धभागधी के साथ ही अन्य प्राकृतों पर भी विचार किया है। शिलालेखी प्राकृतों पर डा० एम. ए. महेन्दले का बहुत अच्छा कार्य हुआ है। उन्होंने Historical Grammar of Inscriptional Prakrits (पूना, १९४८) में प्राकृत की विभिन्न विकासात्मक स्थितियों को स्पष्ट किया है। पूना से ही प्रकाशित तगारे का Historical Grammar of Apabhramsa (१९४३) तथा दावाने का Nominal Composition in Middle Indo-Aryan (पूना, १९५६) ग्रन्थ भी यहाँ उल्लेखनीय हैं। Comparative Syntax of Middle Indo-Aryan नाम से एक अन्य ग्रन्थ कलकत्ता से १९५३ में प्रकाशित हुआ। इन ग्रन्थों में भाषाविज्ञान की दृष्टि से प्राकृत पर विचार किया गया है।

डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल का 'प्राकृत विमर्श' लखनऊ विश्वविद्यालय से १९५३ में प्रकाशित हुआ। इसमें लेखक ने मुख्य प्राकृतों के अतिरिक्त प्रारम्भिक प्राकृत-पालि, शिलालेखी प्राकृत और उत्तरकालीन प्राकृत-अपभ्रंश का सक्षिप्त परिचय दिया है। नियमों को स्पष्ट करते समय सूत्रों का उल्लेख तथा साथ ही संस्कृत से तुलना कर दी गई है।<sup>११</sup> इससे संस्कृत और प्राकृत को एक साथ समझा जा सकता है। पिछले के प्राकृत व्याकरण का भी यहाँ भरपूर उपयोग हुआ है। पुस्तक पाँच अध्यायों में विभक्त है— १ प्राकृत और उसकी विभिन्न बोलियों का परिचय, २ प्राकृत बोलियों की सामान्य विशेषताएँ, ३ प्राकृत की ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ, ४ प्राकृत के पद, रूपों का विकास, ५ प्राकृत के क्रियापदों का विकास। अन्त में प्राकृत साहित्य से २१ उद्धरणों को चयनिका भाग में लेकर प्राकृत के विकास को और भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया परन्तु ये उद्धरण कालक्रम से नहीं दिए गए। कालक्रम से दिए जाते तो और अधिक अच्छा रहता। प्राकृत भाषाओं का वर्गीकरण यहाँ तीन प्रकार से किया गया है— धार्मिक साहित्यिक और नाटकीय।

डा० प्रद्योत पंडित भाषाविज्ञान के विश्रुत प्राध्यापक थे। उन्होंने पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी द्वारा आयोजित 'प्राकृत भाषा' पर १९५३ में, तीन भाषण दिए थे, जो १९५४ में प्रकाशित हो गए। इन तीन भाषणों के शीर्षक थे प्राकृत की ऐतिहासिक भूमिका, २ प्राकृत के प्राचीन बोली विभाग, और ३ प्राकृत का उत्तरकालीन विकास। डा० पंडित ने प्राकृत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'एक ओर से वर्तमान काल की बोलचाल की नव्य भारतीय आर्य-भाषाएँ और दूसरी ओर से प्राचीनतम भारतीय आर्यभाषा जैसे कि वेद की भाषा,

यह दोनों स्वरूपों के बीच की जो भारतीय भाषा इतिहास की अवस्था है, उसको हम प्राकृत कह सकते हैं।<sup>११</sup> प्राकृत में 'प्रकृति' का अर्थ उन्होंने आदर्श लिया है अर्थात् प्राकृत का आदर्श है संस्कृत।<sup>१२</sup>

१६६० में चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी से प्राकृत व्याकरण नामक ग्रन्थ निकला जिसके लेखक हैं मधुसूदनप्रसाद मिश्र। इसे हेमचन्द्र का आधार लेकर लिखा गया है। पुस्तक ग्यारह अध्यायों में विभक्त है। सर्वप्रथम महाराष्ट्री के लक्षणों को स्पष्ट किया गया है और उसके बाद शौरसेनी, मागधी, पेशाची और अपभ्रंश को। बीच-बीच में यथा स्थान प्राकृतप्रकाश, कल्पलतिका आदि का भी उल्लेख किया गया है। सप्तम अध्याय में कुछ विशिष्ट पदों को एकत्रित किया गया है और पादटिप्पणी में विशेष सूत्रों का भी उल्लेख कर दिया गया है।

डा० सुकुमार सेन का एक ग्रन्थ *Comperative Grammar of Indo Aryan* भारत की *Linguistic Society* के विशेष प्रकाशन के रूप में १६६० में सन्निधित करके प्रकाशित हुआ है। उसी का हिन्दी रूपान्तर 'तुलनात्मक पालि-प्राकृत-अपभ्रंश व्याकरण' के नाम से प्रकाशित किया गया १६६६ में (लोक-भारती प्रकाशन, इलाहाबाद)। डा० सेन प्रकृति का अर्थ संस्कृत मानकर चलते हुए लगते हैं। उन्होंने प्राग्भारतीय आर्य भाषा (१२०० ई० पू०) से क्रमशः प्रारम्भिक वैदिक १२००-८०० ई० पू० (साहित्यिक तथा बोलचाल का रूप), परवर्ती वैदिक ८००-५०० ई० पू० (साहित्यिक तथा कथ्य रूप), संस्कृत—५०० ई० पू० (साहित्यिक और जन सामान्य)। प्रथम मध्य भारतीय आर्यभाषाएँ बौद्ध संस्कृत—२००—३०० ई० पू० (उत्तर पश्चिमी, पश्चिम मध्यवर्ती, पूर्वमध्यवर्ती और पूर्वी), द्वितीय मध्यवर्ती आर्यभाषाएँ (निय प्राकृत २०० ३०० ई, पालि २०० ई० पू० प्राकृत अपभ्रंश—(१-६०० ई०) तृतीय मध्य भारतीय आर्यभाषाएँ अवहट्ट-६००-१२०० ई०)। यहाँ अपभ्रंश को भारतीय आर्यभाषा के विकास की सीधी परम्परा में बैठाया है और कहा है कि मध्य भारतीय आर्यभाषा का द्वितीय पर्व वस्तुतः अपभ्रंश का प्रारम्भिक पर्व है। वैयाकरणों द्वारा प्रस्तुत अपभ्रंश इसके दूसरे पर्व का कुछ गढ़ा हुआ रूप है। अपभ्रंश का तीसरा पर्व आधुनिक भारतीय आर्य भाषा का प्राङ्गूरूप है और अवहट्ट या लौकिक कहा जाता है।<sup>१३</sup>

डा० एस० एम० कत्रे ने १९४५ में भारतीय विद्याभवन, बम्बई में जो भाषण दिए थे, उनका प्रकाशन *Prakrit Languages and their contribution to Indian culture* के नाम से हुआ। उसी का हिन्दी अनुवाद 'प्राकृत भाषाएँ और भारतीय संस्कृति में उनका अवदान' राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर से (१९७२ में प्रकाशित हुआ) डा० कत्रे ने भी प्राकृत को संस्कृत से उद्भूत माना है। उन्होंने कहा है कि प्राकृत भाषा में संस्कृत की ही सीधी उपज है, जो स्थान और काल की दृष्टि से परिवर्तित और परिवर्धित होनी रही

हैं। या अन्ततः यो कहा जा सकता है कि ये भाषाएँ जिन समान श्रोत से उत्पन्न हुई हैं, वह मस्कृत है।<sup>१०</sup> यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मस्कृत बहु सख्यक प्राचीन भारतीय बोलियों से मानव रूप में परिनिष्ठित और परिष्कृत हुई है। ये बोलियाँ ऋग्वेद काल में भी प्रचलित थीं और मस्कृत के साथ-साथ पाणिनि और पतञ्जलि के युग में और उसके बाद भी अताविद्योतक बनी रहीं। ये ही पालि-प्राकृत भाषाएँ थीं। इन्हें कवे ने सात श्रेणियों में विभक्त किया है १. वार्मिक प्राकृत, २. साहित्यिक प्राकृत, ३. नाटकीय प्राकृत, ४. वैयाकरणों द्वारा वर्णित प्राकृत भाषाएँ, ५. भारत वहि म्य प्राकृत, ६. अभिलेखीय प्राकृत, और ७. लोक प्रचलित मस्कृत।<sup>११</sup> आगे के पृष्ठों में इन प्राकृतों पर कुछ विचार से ही विचार किया गया है।

उपलब्ध व्याकरणों का आधार लेकर डा० हेमचन्द्र शास्त्री ने 'अभिनव प्राकृत व्याकरण' लिखा जिसका प्रकाशन तारा प्रिंटिंग प्रेस ने १९६३ में हुआ। इसमें डा० शास्त्री ने हेमचन्द्र आदि के प्राकृत व्याकरणों को आधुनिक दृष्टि से प्रस्तुत किया है। साथ ही उन्होंने आधुनिक भाषाओं में लिखे प्राकृत व्याकरणों का भी उपयोग किया है।<sup>१२</sup> अतः वह छात्रों को विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है। डा० शास्त्री का 'प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' ग्रन्थ भी यहाँ उल्लेखनीय है, जिसमें उन्होंने प्राकृत भाषा का विकास प्राचीन आर्यभाषा छान्दस से माना है। उपलब्ध प्राकृत साहित्य को उन्होंने द्वितीय स्तरीय प्राकृत के अन्तर्गत रखा, जिसके पाँच भेद किए १. आर्य प्राकृत जिसमें पालि भी सम्मिलित है, २. गिलालेखी प्राकृत, ३. नियमप्राकृत, ४. वम्मपद की प्राकृत, और ५. अश्वघोष नाटको की प्राकृत। द्वितीय स्तरीय मध्ययुगीन प्राकृत में महाराष्ट्री, मागधी, पँगाची, चूलिका, पँशाची, शौरसेनी, साकारी, ढक्की, आदि भाषाओं पर विचार किया गया है तथा द्वितीय स्तरीय तृतीय युग में अपभ्रंश भाषा को संयोजित किया है। इन सभी की विशेषताएँ संक्षेप में इस ग्रन्थ में उपस्थित की गई हैं।

इन ग्रन्थों में अपभ्रंश को भी सम्मिलित किया गया है। परन्तु कुछ विद्वानों ने पृथक् रूप से अपभ्रंश व्याकरणों की रचना की है। पतञ्जलि से लेकर हेमचन्द्र तक प्रायः सभी वैयाकरणों ने अपभ्रंश का उल्लेख किया है। अपभ्रंश व्याकरणों की कुछ पृथक् रचनाएँ भी हुई हैं, जिनमें डा० देवेन्द्रकुमार जैन का अपभ्रंश व्याकरण (वाराणसी), तथा अपभ्रंश भाषा और साहित्य (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६६) डा० परममित्र शास्त्री का भूतशैली और अपभ्रंश व्याकरण आदि जैसे ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। डा० नामवरसिंह और डा० शिवप्रसाद सिंह के ग्रन्थों ने भी अपभ्रंश और अवहट्ट भाषाओं तथा उनके व्याकरणों को समझने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। प्रस्तुत निबन्ध के लेखक का भी पालि-प्राकृत



भाषा और साहित्य' नामक ग्रन्थ पालि-प्राकृत और अपभ्रंश के अध्ययन के लिए उपयोगी है। इसका प्रकाशन इसी वर्ष नागपुर विश्वविद्यालय से हुआ है। डा० कोमल जैन ने भी बूलर के आधार पर एक प्राकृत प्रवेशिका का (वाराणसी, १९६४) प्रकाशन किया था।

ये सभी ग्रन्थ आधुनिक भाषाओं में प्राकृत व्याकरणों पर उपलब्ध हैं। छोटे-मोटे कुछ और भी ग्रन्थ लिखे गए हैं, जिन्होंने प्राकृत भाषा के अध्ययन को प्रोत्साहित किया।

### ३ प्राकृत भाषात्मक चिन्तन

पिछले कुछ वर्षों में प्राकृत ग्रन्थों का आधुनिक दृष्टि से संपादन-प्रकाशन हुआ है। उनमें संपादकों ने ग्रन्थों की भाषा पर विचार रखा है। इसी प्रकार कुछ फुटकर निबन्ध भी प्रकाशित हुए हैं। ये सभी यद्यपि स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं हैं, फिर भी भाषान्तर चिन्तन की दृष्टि से उनका मूल्यवान अवश्य किया जा सकता है।

एम० शाहीदुल्ला का 'Magadhi Prakrit and Bengali (IHQ 1925) डा० धाटगे के Instrumental and Locative in Ardhamagadhi (IHQ. 1937), Locative form in Paumacariya (BBRAS 1957) और Maharashtra language and literature (JBU 1936) तथा डा० P V वापट का The Relation between Pali and Ardhamagadhi (IHQ Vol. VI 1928) निबन्ध मागधी, अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत से संबद्ध हैं।

एस० पी० व्ही० रगनाथ स्वामी का Paisaci Prakrit (1A, XLVIII, 1919, pp 211-213) P V रामानुज स्वामी का Hemachandra and Paisaci Prakrit (1A Li, 1922 pp 51-54), ए० एन० उपाध्ये Paisaci Language and literature (Annals of the B O. R I XX1 1-2, pp 1-37, Poona, 1940), आदि निबन्ध पैशाची प्राकृत की विभिन्न समस्याओं को उद्घाटित करते हैं।

इसी प्रकार के कुछ अन्य निबन्ध भी उल्लेखनीय हैं। डा० के० बी० पाठक का The text of the Jainendra Vyakarana and the Priority of Candrar to Pujyapada (ABORI, Vol XIII, 1931-32, pp 25-36), डा० ए० एन उपाध्ये के Joinder and his Apabhramsa works (ABORI, Vol XII, 2 PP 132-168, Poona, 1931), Subhachandra and his Prakrit grammar, (ABORI, Vol XIII, 1931-32, pp 37-58) The Prakrit Dialect of Pravacanasara of jaina Sauraseni (JUB II, 6, Bombay, May, 1934), Prakrit studies their latest progress and future (A I O C, हैदराबाद, 1941) में दिये गए भाषण का

भाग), A Prakrit Grammar attributed to Samantabhadra (IH Q.XVII, pp 511-16, कलकत्ता, 1952), Language and dialects used in the Kuvalayamala (Summary of Papers, A I D.C. XXII Session, Gauhati, 1965) आदि। डा० भयाणी, डा हीरालाल जैन, मुनि नयमल, के ऋषभचन्द्र आदि विद्वानों के भी कुछ निबन्ध प्राकृत व्याकरण के विभिन्न पक्षों पर प्रकाशित हुए हैं।

भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी भारतीय विद्वानों ने प्राकृत भाषा की उपयोगिता पर विचार-मन्थन किया है। इस दृष्टि से डा एस एम. कत्रे के Introduction to Modern Indian Linguistics with special reference to Indo-Aryan and Assamese (University of Gauhati, 1941) डा० एस० एम० चाट्जे के Historical Linguistics and Indo-Aryan Languages (University of Bombay, 1962) तथा डा० प्रबोध पण्डित के 'प्राकृत भाषा' (वाराणसी, १९५४) पर दिए गये भाषण भारतीय आर्य भाषाओं के विकास में प्राकृत के योगदान को स्पष्ट करते हैं। इसी प्रकार डा० एस० के० चटर्जी और डा० सुकुमार सेन का Middle Indo-Aryan Reader, (University of Calcutta, 1957), डा० P D. गुणे का 'Introduction to Comparative Philology, Apabhramsa Literature and its importance to Philology (Poona, 1919 A I O C), S.N धोषाल का 'On the Etymology of the Prakrit Vocabule Pore (VIG, होशियारपुर, मार्गव, मार्च, १९६७, पृ० ३८-४०), गुरुसेवी शर्मा का "भाषाधीभासासु क्रियापदाना विश्लेषणम्' (AIOC, अलीगढ़), मुनीश्वर झा का Modal Relation in Prakrits (वही) तथा Desi words in Kalidasa's Prakrit (वही) आदि लेख भी उपयोगी हैं।

प्राकृत और अपभ्रंश के मूल ग्रन्थों के सम्पादन में संपादकों ने ग्रन्थों की भाषाओं पर भी विचार किया है। इस दृष्टि से डा० हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित ग्रन्थ उल्लेखनीय है १ गायकुमारचरित (प्रथम संस्करण कारजा सीरिज से १९३१ में और द्वितीय संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ से १९७२ में), २. पाहुड दोहा (कारजा सीरिज से १९३३ में), ३ सावयधम्म दोहा (कारजा सीरिज, १०३२), ४ करकडघरित (कारजा से १९३४ में प्रथम संस्करण और भारतीय ज्ञानपीठ से १९६४ में द्वितीय संस्करण), ५-२० पट्-खण्डागम धवलाटीका व हिन्दी अनुवाद के साथ १६ भागों में (जि० ला० जैन साहित्योद्धार फण्ड, १९३९-५८), २१ सुगवदसमी कहा (भारतीय ज्ञानपीठ, १९६२), २२ मुदमणचरित (भारतीय ज्ञानपीठ, १९७०), २३ मयण पराजय (भारतीय ज्ञानपीठ, १९६२), २४ कहक्कोसु (प्राकृत सोसाइटी, अहमदाबाद,

१९६९), २५. जसहर चरिउ (भारतीय ज्ञानपीठ, १९७३), तथा वीरजिणिद-चरिउ (भारतीय ज्ञानपीठ, १९७५) ।

डा० हीरालालजी के अन्यतम विद्वान् मित्र डा० ए० एन० उपाध्ये ने भी अनेक प्राकृत ग्रन्थों का संपादन किया है, जिनमें उन्होंने उन ग्रन्थों की भाषा पर भी विस्तार से विचार किया है । उनके कतिपय सम्पादित ग्रन्थ इस प्रकार हैं पंचसूत्र (१९३४), २ प्रवचनसार (रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, १९३५), ३. परमात्म प्रकाश (१९३७), ४ कसवहो (हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई, १९४०), ५ धूर्ताख्यान (भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९४४), ३ लीलावई (सिंधी जैन ग्रन्थमाला, १९४६), ७ आणद सुन्दरी (मोतीलाल बनारसीदास, १९५५), ८ उसाणिरुद्ध (बम्बई विश्वविद्यालय जर्नल, १९४१), ९ कुवलयमाला (सिंधी जैन ग्रन्थमाला, १९५६), १० चदलेहा (भारतीय विद्याभवन, १९४५), ११ सिंगारमजरी, (पूना विश्वविद्यालय जर्नल, १९६०), १२. कट्टिगेयाणु-पेक्खा (रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, १९६०), आदि । इनके अतिरिक्त डा० उपाध्ये ने डा० हीरालालजी के सहयोग से कुछ और ग्रन्थों का सम्पादन किया, जिनका प्रकाशन जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर से श्री प० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री के हिन्दी अनुवाद सहित हुआ । इन ग्रन्थों में तिलोयपण्णत्ती (प्रथम संस्करण, १९४३, द्वि० सं० १९५६) भागवत्, तिलोय पण्णत्ती भाग २ (१९५१) तथा जलूदीवपण्णत्ती (१९५७) प्रमुख ग्रन्थ हैं ।

मुनि नथमलजी प्राकृत और जैन दर्शन के विश्रुत विद्वान् हैं । उन्होंने उत्तरा-ध्ययन, दशवैकालिक आदि ग्रन्थों का सम्पादन तथा अनुवाद किया है । ग्रन्थ-भाग की व्याख्या और उसके विश्लेषण में प्राकृत व्याकरण को भी स्पष्ट किया गया है । मुनिजी ने प्राकृत भाषा के सन्दर्भ में पृथक् रूप से भी यत्र-तत्र अपने गम्भीर विचार प्रस्तुत किये हैं ।

इसके अतिरिक्त डा० विमल प्रकाश जैन द्वारा संपादित जम्बू स्वामि चरिउ (भारतीय ज्ञानपीठ) । डा० भयाणी द्वारा संपादित आहिल का पाउमसिरि-चरिउ, डा० राजाराम जैन द्वारा संपादित विवुध श्रीधर का वडढमाणचरिउ आदि ग्रन्थ भी दृष्टव्य हैं, जिनकी भूमिकाओं में संपादकों ने सम्बद्ध ग्रन्थों की भाषा पर विस्तार से विचार किया है ।

संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत की भी भारतीय विद्वानों ने मीमांसा की है । एस० बी० पण्डित ने विक्रमोर्वशीय (BSS १८८९) और मालविकाग्निमित्र (BSSS, 1889) की भूमिका में, गोडवोले ने मृच्छकटिक (BSS १८९६) की भूमिका में, तेलग ने मुद्राराक्षस (१९००) की भूमिका में तथा आर० जी० भण्डारकर ने मालतीमाधव की भूमिका में (१९०५), प्राकृत वोलियों की विशेषताओं को स्पष्ट किया है । भास के नाटकों पर गणपति शास्त्री (१९१०-

१९१५) तथा मुखतकर ने (JAOS ४०-४२), भवभूति के महावीरचरित पर टोडरमल्ल ने (आक्मफोर्ड, १९२८), महाराजविजय पर दलाल ने (वडोदा, १९१८), अलविजय पर एल० वी० गाधी (वडोदा, १९२६) ने तथा विक्रमोर्वशीय पर एच० डी० वेलकर ने (साहित्य अकादमी, १९६१) विवेचन लिखा है। उन्होंने इन नाटकों में प्रयुक्त मागधी, शौरसेनी, पैंशाची आदि प्राकृत बोलियों का विवेचन किया है।

इस प्रकार भारतीय विद्वानों ने प्राकृत भाषा और व्याकरण की विविध विधाओं पर योगदान किया है। प्रारम्भ में उनका शोध कार्य पाश्चात्य विद्वानों के आदर्शों को सामने रखकर किया गया प्रतीत होता है। बाद में उन्होंने कुछ मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया। आज वे स्वयं आदर्श बनने की स्थिति में हैं वरन्ते कि वे अपेक्षित श्रम और निष्ठा के साथ कार्य करें। याकोबी और अल्सडोर्फ के आदर्श आज भी पुराने नहीं हुए। डा० हीरालाल जैन और ए० एन० उपाध्ये जैसे प्राकृत के सर्वमान्य विद्वानों के कार्य नहीं पीढ़ी के लिए प्रेरक सूत्र बन सकते हैं। सर्वश्री मुनि नथमलजी, प० सुखलाल सधवी, प० वेचरदास दोसी, प० दलसुख मालवणिया, डा० भयाणी, प० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री आदि जैसे प्राकृत भाषा के निष्णात विद्वान् अपनी लेखनी और विद्वत्ता से प्राकृत भाषा और साहित्य के अनुसन्धान के क्षेत्र को प्रशस्त कर रहे हैं। तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से अभी भी प्राकृत भाषा और साहित्य के विविध पक्षों का उद्घाटित होना शेष है। आशा है नयी और पुरानी पीढ़ी का सामञ्जस्य तथा पारम्परिक सहयोग इस दिशा की ओर अपने कदम बढ़ायेगा।

१ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, द्वि० स०, पृ ७५।

२ प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, हिन्दी अनुवाद, पृ० १४।

३ वही, पृ० ८-१४।

४. टिप्पण्य—(i) प्रेम सुमन जैन—‘विदेशी विद्वानों का जैनविद्या को योगदान’ वैशाली बुनेटिन न० १, पृ० २३२-४४।

(ii) F Wiesinger German Indology—Past & Present

(iii) A M Ghatge A brief sketch of Prakrit studies in progress of Indic studies

(iv) डॉ० सुमार भास्त्री—अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ—i)

- ५ मलयगिरि द्वारा कथित-प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ० ६५ ।
- ६ पिरोन ने इसे स्वतन्त्र ग्रन्थ माना है, टीका नहीं—प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ० ८७ ।
- ७ प्राकृत भाषाओं का व्याकरण—विशेल, पृ०-७४ (हिन्दी अनुवाद) ।
- ८ षड्भाषाचन्द्रिका, भूमिका, पृ० ४ ।
- ९ प्राकृत प्रवेशिका, भूमिका, पृ० ४ ।
- १० प्राकृत मार्गोपदेशिका, भूमिका, पृ० १० ।
- ११ वही, प्रस्तावना, पृ० ७ ।
- १२ कलकत्ता, १९४३ ।
- १३ प्राकृत विमर्श, प्राक्कथन, पृ० २ ।
- १४ प्राकृत भाषा, पृ० १ ।
- १५ वही, पृ० ४२ ।
- १६ तुलनात्मक पालि-प्राकृत-अपभ्रंश व्याकरण, पृ० १४-१५ ।
- १७ प्राकृत भाषाओं और भारतीय सस्कृति में उनका अवदान, पृ० १ ।
- १८ वही, पृ० ७-८ ।
१९. अभितन प्राकृत व्याकरण, प्रस्तावना, पृ० २२ ।



# अर्धमागधी आगम-साहित्य की विशिष्ट शब्दावलि

डॉ० जगदीशचन्द्र जैन

बौद्धों के पालि त्रिपिटक की तुलना में अर्धमागधी में लिखे हुए जैन आगम-साहित्य का अध्ययन अपेक्षाकृत कम मात्रा में हुआ है। जैन आगमों के अध्ययन को प्रकाश में लाने का श्रेय खासकर वेबर, याकोबी, पिशल, लॉयमान, शूब्रिंग, आल्सडोर्फ आदि जर्मन मनीषियों को ही दिया जायेगा, जिन्होंने अप्रकाशित आगम-साहित्य की हस्तलिखित प्रतियों को ढूँढ़कर उनका आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया।

## आगम-साहित्य का महत्व

जैन आगम-साहित्य अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। सर्वप्रथम, भगवान् महावीर एवम् उनके शिष्य-प्रशिष्यों के अमूल्य उपदेशों का इसमें संग्रह है, भले ही यह साहित्य अपने मूल रूप में सुरक्षित न हो। इस साहित्य में तत्कालीन सामाजिक सांस्कृतिक, आर्थिक एवं भौगोलिक विषयों के अतिरिक्त कितनी ही ऐतिहासिक एवं अर्ध-ऐतिहासिक परंपराओं का उल्लेख है, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं। भारत के प्राचीन इतिहास के सागोपाग ज्ञान के लिए इस सामग्री का विश्लेषण आवश्यक है।

जैन श्रमण चातुर्मास को छोड़कर, एक वर्ष में आठ महीने एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमनागमन करते थे। वृहत्कल्प भाष्य के अध्वप्रकरण के अन्तर्गत जनपद परीक्षा में उल्लेख है कि श्रमण निर्ग्रन्थों को विविध देशी भाषाओं में कुशल होना चाहिये, जिससे कि वे अपने उपदेशों को अधिक-से-अधिक लोगों तक पहुंचा सकें। भाषा के अतिरिक्त उन्हें उन-उन प्रदेशों के रहन-सहन और रीति-रिवाजों का ज्ञान होना भी आवश्यक है। उदाहरणार्थ लोक ज्ञान के लिए यह जानना जरूरी है कि किस प्रदेश में किस प्रकार से अन्न उपजाया जाता है जैसे लाट देश में वर्षा से,

सिंधुदेश में नदियों से, द्रविड देश में तालाबों से, उत्तरापथ में कुओं से, और डिम्बरेलक (?) में महिरावण (?) की बाढ़ से खेतों की सिंचाई होती है (वृहत्कल्पभाष्य १-१२२६-३६) ।

भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी जैन आगम साहित्य का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है। प्राकृत भाषाओं ने कालान्तर में किस प्रकार अपभ्रंश का रूप लिया और किस प्रकार उन्होंने हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि आधुनिक भाषा भाषाओं को प्रभावित किया, इसकी कल्पना जैन आगम-साहित्य के अध्ययन के बिना नहीं हो सकती है। इस संबंध में हेमचन्द्र की 'देशी नाममाला' का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। स्वयं हेमचन्द्र के शब्दों में "जो शब्द 'सिद्धहेम शब्दानुशासन' व्याकरण में सिद्ध नहीं किए जा सके, जो संस्कृत के अभिधान कोषों में मौजूद नहीं हैं, तथा गौण लक्षणा शक्ति से जो संभव हैं, उन शब्दों का संग्रह इन देशी शब्दों में नहीं किया गया। उन्हीं शब्दों का यही संग्रह है जो महाराष्ट्र, विदर्भ और आभीर आदि देशों में प्रसिद्ध है। किन्तु इस प्रकार के शब्दों की सख्या का अन्त नहीं, अतएव जीवन भर में भी इन शब्दों का संग्रह कर सकना संभव नहीं। ऐसी दशा में अनादिकाल से प्रचलित प्राकृत भाषा के विशेष शब्दों का ही यही सकलन किया गया है।" इसमें सन्देह नहीं कि हेमचन्द्र द्वारा किया हुआ यह संग्रह देशी शब्दों का अनुपम संग्रह है जो प्राकृत, अपभ्रंश एवं उत्तर भारत में बोली जाने वाली आधुनिक भारतीय भाषाओं के विश्लेषणात्मक अध्ययन के लिए परम उपयोगी है।

## भाषा की अनेकरूपता

भाषा के संबंध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भगवान् महावीर ने जिस मागधी भाषा में अपना प्रवचन दिया था, उसका सही रूप जानने के हमारे पास साधन नहीं हैं। फिर, आगे चलकर पाटलिपुत्र, मयुरा और वलभि में जो समय-समय पर आगमों की वाचनाएँ प्रस्तुत की गईं, उनमें उन-उन प्रदेशों की बोलियों का प्रभाव आ जाना स्वाभाविक है। हम देखते हैं कि व्याकरण के प्रयोगों में भी जैन आगमों में एकरूपता दिखाई नहीं देती। कहीं यश्रुति मिलती है, कहीं नहीं मिलती, कहीं उसके स्थान में 'ड' का प्रयोग किया गया है। वरश्चि आदि वैयाकरण यश्रुति को स्वीकार नहीं करते, हेमचन्द्र करते हैं, लेकिन उन्होंने भी अपवादों की ओर लक्ष्य किया है। 'ण' और 'न' के प्रयोग के संबंध में भी एकरूपता नहीं। वरश्चि ने सर्वत्र 'ण' के प्रयोग को स्वीकार किया है। हेमचन्द्र के अनुसार स्वर के पश्चात् असंयुक्त और आदि में न आने वाला 'न' 'ण' में परिवर्तित हो जाता है, जबकि आर्य प्राकृत में यह नियम लागू नहीं होता। आदि में आने वाले



असंयुक्त 'न' के सबध में वैकल्पिक नियम है कभी वह 'ण' में परिवर्तित होता है, कभी नहीं (प्राकृत व्याकरण, १।२२८।६)।<sup>१</sup> यही बात 'हु-खु' तथा 'अपि पि-वि-मि-अवि, आदि के प्रयोगों के सबध में है। प्राकृत वैयाकरणों ने व्याकरण के नियम बनाते समय जगह-जगह 'प्राय' 'बहुल' 'क्वचित्', 'वा' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। आगम-साहित्य में कही महावीर के स्थान पर मवावीर, और देवेहि के स्थान पर देवेभि आदि का प्रयोग हुआ है।

प्रकाशित आगम-साहित्य में ही नहीं, उनकी मूल प्रतियों में भी भाषा की विविध रूपता देखने में आती है। मुनि पुण्यविजय जी ने भगवती सूत्र की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों (क) वि० सं० १११० की प्रति, (ख-ग) १३वीं सदी की जैसलमेर की दो ताडपत्रीय प्रतियाँ, (घ) १३वीं सदी की खंभात की प्रति (ङ) १३वीं सदी की बडौदा की प्रति— का उल्लेख किया है जिनमें भाषा की दृष्टि से विविध प्रयोग पाये जाते हैं।<sup>२</sup>

कहना न होगा कि भगवान् महावीर तथा समय-समय पर होनेवाली अनेक वाचनाओं में दीर्घकालीन व्यवधान पड़ जाने के कारण, मूल परम्पराओं के विस्मृत हो जाने से आगमों में बहुत से परिवर्तन एवं संशोधन करने पड़े। अनेक स्थलों पर सूत्रों में विसंवाद उपस्थित होने के कारण स्वयं नवागवृत्तिकार अभयदेवसूरि ने अपनी अल्पज्ञता की ओर लक्ष्य किया है (देखिये, स्थानागटीका, पृ० ४६६-५०० प्रश्न व्याकरण टीका, प्रस्तावना)। इसी प्रकार आचार्य मलयगिरि ने वाचनाभेद तथा सूत्रों के गलित हो जाने की ओर लक्ष्य करते हुए सूत्रों के अर्थ को 'सम्यक् संप्रदाय' के द्वारा जानने और समझने की सिफारिश की है।<sup>३</sup>

हस्तलिखित प्रतियों की नकल करने वाले लेखक और संपादक भी कम दोषी नहीं। जहाँ कोई पाठ उनकी समझ में न आया अथवा उन्हें अनुकूल दिखाई न पड़ा तो उन्होंने उसमें मन-माना परिवर्तन कर दिया। इस सबध में प्रोफेसर आल्सडोर्फ लिखते हैं स्वर्गीय प्रोफेसर लॉयमान के कागजों में मुझे एक पुरजा मिला, जिस पर उन्होंने विशेषावश्यक भाष्य के पाठ एकत्र किये थे। पाठ में बार-बार अद्यतनभूत (Aorist) का प्रयोग किया गया था, किन्तु लेखक ने उसकी जगह निश्चयार्थ सूचक वर्तमान काल लिखना पसंद किया। यह केवल एक उदाहरण है जबकि हस्तलिखित प्रतियों की नकल करने वालों ने व्याकरण के असामान्य प्रयोगों को निकाल दिया। हमें उसी से सतोष करना होगा कि जो थोड़ा बहुत उन्होंने छोड़ दिया है।<sup>४</sup>

## आगम ग्रन्थों की शैली

पालि त्रिपिटक की भाँति जैन आगम ग्रन्थों की शैली भी मन्दगति से अग्रसर

होती है। किसी वटना का वर्णन पढ़कर ऐसा लगता है कि सामने खड़ा हुआ कोई व्यक्ति स्वाभाविकता, सरलता एवं बोधगम्यता के साथ अपनी बात सुना रहा है। हाँ, बीच-बीच में कथा को गर्भार रूप देने और उसे रोचक बनाने के लिए वर्णको को समावेश कर लिया जाता है। ये वर्णक प्रायः वधे-वधाये रूप में एक जैसे होते हैं, जिनका प्रयोग सर्वमान्य रूप में किया जाता है। उदाहरण के लिए जो बातें चंपा नगरी के वर्णन-प्रसंग में औपपातिक सूत्र में वर्णित हैं, वे ही साकेत के सवध में अन्यत्र समझ लेनी चाहिए। बौद्ध सूत्रों में 'वेष्णाल' (पातु अल) की भाँति यह वर्णन प्रायः 'जहा वण्णओ' शब्दों से सूचित किया जाता है। आगम-साहित्य में इस प्रकार के वर्णन राजा, नगर, चैत्य, साधु-सत्तों का आगमन, पुत्र-जन्म-उत्सव, प्रीतिदान, निष्क्रमण-सत्कार आदि के प्रसंग उपस्थित होने पर जहाँ-तहाँ पाये जाते हैं।

इस प्रकार के वर्णन केवल जैन आगम-साहित्य में ही नहीं, प्राकृत, सस्कृत एवं अपभ्रंश के अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं। १४वीं शताब्दी के भियला निवासी ज्योतिरीश्वर के वर्ण रत्नाकर में राजाओं के भाट, आखेट, रणभूमि के लिये प्रस्थान, दूतियों, देश-देशान्तर की तृणियों तथा नारियों के आभूषण आदि के मनोरंजक वर्णन मिलते हैं। डॉ० वी० जे० सडसरा द्वारा सम्पादित वर्णक-समुच्चय इस प्रकार की दूसरी महत्त्वकी रचना है, जिसमें नगर, हाथी, सर्प, समुद्र आदि के वर्णन उपलब्ध होते हैं।

## आगमों के विशिष्ट शब्द

यहाँ आगम और उनकी व्याख्याओं में सन्निहित प्राकृत के कतिपय विशिष्ट शब्दों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है, यह अध्ययन जैन आगम-साहित्य के अनुशीलन में प्रेरणादायक सिद्ध होगा।

### १ शैलीगत शब्दावलि •

जैन आगमों की शैली के सवध में कहा जा चुका है। भगवतीसूत्र, नायाधम्म-कहा आदि आगमों में सर्वमान्य रूप में प्रयुक्त निम्न शब्दावलि आगम-साहित्य की विशिष्ट शैली की ओर संकेत करती है

१ कालमासे काल किञ्चा (मृत्यु आने पर काल करके) ।

२ तहमेय अवितहमेय असदिद्धमेय इच्छियमेय पडिच्छियमेय इच्छिय-पडिच्छियमेय सञ्जे ण एसमद्धे 'ज पुब्बे वयह' (यह बात तयारूप है, अवितथ है, असदिग्ध है, इष्ट है, विशिष्ट है, इष्ट-विशिष्ट है और सत्य है, जो आपने कही है) ।

३ पडिवुद्धा समाणी हट्ठतुट्ठा चित्तमाणदिया पीइमणा परमसोमणस्सिया हरिसवसविसप्पमाणहियया धाराहयकलव पुप्फग पिव समूससिय रोमकूवा (उठे कर वह हर्षित हुई, सत्तुष्ट हुई, मन में आनन्दित हुई, प्रसन्न हुई, परम सौमनस्य-भाव प्राप्त किया, हर्ष के कारण फूली न समाई और वर्षा की धारा से जैसे कदम का पुष्प खिल जाता है, वैसे ही वह रोमांचित हो उठी) ।

४ एय सोज्जा निसम्म हट्ठतुट्ठे जेणामेव समणे भगव महावीरे तेणामेव उवागच्छइ २ समण भगव तिवखुत्तो आयाहिण पयाहिण करेइ वदेइ नमसइ २ समणस्स भगवओ नच्चासन्ने नाइदूरे सुस्सूसमाणे नमसमाणे पजलिउडे अभिमुहे विणएण पज्जुवासइ (यह श्रवण कर, सुनकर, वह हर्षित हुआ, सत्तुष्ट हुआ और जहाँ श्रमण भगवान महावीर विराजते थे, वहाँ पहुँचा । वहाँ पहुँच कर श्रमण भगवान की तीन बार आदक्षिणा-प्रदक्षिणा की, उन्हें वन्दन किया, नमन किया । नमन करने के पश्चात् श्रमण भगवान के न बहुत निकट और न बहुत दूर उनकी सुश्रूषा करता हुआ, उन्हें नमन करता हुआ, सामने की ओर दोनों हाथ जोड़कर विनयपूर्वक उनकी पर्युपासना में लीन हो गया) ।

५ अम्हे एगे पुत्ते इट्ठे कत्ते पिए मणुन्ने मणामे येज्जे वेसासिए सम्मए बहुमए अणुमए भडकरडगकसमाणे रयणे रयणभूए जीवियउस्सासए हिययाणदजणणे उवरपुप्फ पिव दुल्लहे सवणयाए किमग पुण पासणयाए ? (तुम मेरे इकलौते बेटे हो इष्ट हो, कमनीय हो, प्रिय हो, मनोज्ञ हो, मन को अच्छे लगते हो, स्थिर हो, विश्वसनीय हो, सम्मत हो, बहुमत हो, अनुमत हो, रत्नों की पिटारी के समान हो, रत्न हो, रत्न स्वरूप हो, जीवन के उच्छ्वास रूप हो, हृदय में आनन्द पैदा करने वाले हो और उदुवर पुष्प की भाँति हो जिसका सुनना भी दुर्लभ है, देखने की बात तो दूर रही) ?

६ आसुरत्ते तिवलिय भिज्जि निडाले कट्ठु (क्रोध से लाल-पीला होकर अपनी तीन बलवाली भ्रुकुटि को मस्तक पर चढाकर) ।

७ मिसिमिसायमाण (क्रोध से दात पीसकर) ।

८ निप्पट्ठपसिणवागरण (निष्पृष्टप्रश्न व्याकरण = निश्चर) ।

९ जाणुकोप्परमाया (केवल धोतू और कोहनी की माता = वध्या) ।

१० गिरिकदरमल्लीणेव चपग पायवे सुहसुहेण वड्ढइ (पर्वत की कन्दरा में सुरक्षित चपक लता की भाँति वह सुखपूर्वक बड़ा होने लगा) ।

११ मारामुक्के विव काए (वधस्यान से मुक्त कौए की भाँति) ।

२ समानधर्मी विशिष्ट शब्द सूची

१ ग्राम आदि वाचक शब्दावलि, ग्राम नगर, निगम, राजधानी, खेट, कर्बट,

मडव, द्रोणमुख, पत्तन (अथवा पट्टन) पुटभेदन, आकर, आश्रम, निवेश (अथवा सनिवेश), विहार, सवाध (अथवा सवाह) ।

२ वन आदि वाचक शब्दावलि वन, वनखड, वनराजि, कानन, आराम, उज्जाण (उद्यान) निज्जाण (निर्याण) ।

३ वापी आदि वाचक शब्दावलि वापी, पुष्करिणी, सर, सरपक्ति, सरसरपक्ति, अवट (अथवा अवड), तडाग, द्रह (अथवा ह्रद), दीधिका, गुजालिया ।

४ पर्वत आदि वाचक शब्दावलि टक, कूट, शैल, शिखरी, प्राग्मार, लयन, उज्जर, निज्जर, (निर्जर) पज्जर (प्रक्षर) वप्पिण ।

५ भवन आदि वाचक शब्दावलि अट्टालिका, चरिका, गोपुर, प्रासाद, गृह (शीतगृह भी), शरण, द्वार, तोरण, परिधि, इन्द्रकोल ।

६ मार्ग आदि वाचक शब्दावलि शृगाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर, चतुर्मुख, पथ, महापथ, शकट, रथ, पाया, युग्म (जुग्म), गिल्ली, यिल्ली, शिविका स्पन्दमानी ।

७ आपण-शाला आदि वाचक शब्दावलि कुत्तिकापण' कुम्भकारशाला, पणितशाला, भाण्डशाला, कर्मशाला, पचनशाला, इधनशाला, व्याघरणशाला, कम्मतशाला, कोट्ठागार (कोष्ठागार), भडागार (भाडागार), पाणागार (पानागार) खीरघर (क्षीरगृह) घघशाला, गजशाला (गजशाला), महाणसशाला (महानस-शाला), चक्कियाशाला (चक्रिकशाला), वोहिय शाला (वोधित शाला), दोसिय शाला (दौस्थिक शाला), सोत्तिय शाला (सौत्तिक शाला), गधिय शाला (गाधिक शाला), सौंडिय शाला (शौंडिक शाला) ।

८ नट आदि वाचक शब्दावलि नट, नर्तक, जल, मल, मौष्टिक, विडवक, कयक, प्लवग, लासक, ओख्यापक, लख, मख, तूणडल (तूणावत्) तुववीणिक, तालाचर ।

९ राजा आदि वाचक शब्दावलि राजा, पाच प्रधानपुरुष राजा, युवराज अमात्य, श्रेष्ठी, पुरोहित ईश्वर, गणनायक, दडनायक, तलवर, माडंविय (माडविक), कौटुविक, मन्त्री, महामन्त्री, गणक, अमात्य, चेट, इम्भ्य, श्रेष्ठी, पुरोहित, सेनापति, सार्यवाह, पीठमर्द, दूत, सधिपाल, कचुकी, वर्षघर, महत्तर, दडघर, दडारक्षित, दीवारिक ।

### ३ प्राकृत साहित्य के मनोरञ्जक शब्द

१ ण्हाविय यदि संस्कृत रूपांतर किया जाए तो स्थापित होना चाहिए, लेकिन संस्कृत कोशों में नापित (अर्थात् वाल काटने वाला नाई) किया गया है (मराठी में नावी इसी अर्थ में)। ण्हाविय का शब्दार्थ होता है स्नान करानेवाला ।

विषाक सूत्र (६) में उसे अलकारिक भी कहा है, अर्थात् जो स्नान आदि कराकर वस्त्राभूषण से अलंकृत करे। मथुरा के राजा के चित्त नामक अलकारिक को सर्वत्र अन्तपुर तक में आने-जाने की छूट थी। ज्ञाताधर्मकथा में (१३) अलकारिक सभा (बाल काटने के 'सलून') का उल्लेख है जहाँ वेतनभोगी अनेक नौकर-चाकर श्रमण, अनाथ, रुग्ण और कंगाल पुरुषों का अलकार-कर्म करते थे।

२ गणिका का अर्थ है जो गणों के द्वारा भोग्य हो। वसुदेवहिंडि (१०३, १२-२४) में उल्लेख है। सामन्त राजाओं ने कुछ कन्यायें चक्रवर्ती राजा भरत को उपहार में दी। वे छत्र और चमरवारी सखियों के साथ राजा भरत की सेवा-सुश्रूषा में रहने लगी। अपनी रानी के कहने से भरत ने उन्हें गणों को प्रदान कर दी।<sup>१</sup> भगवान् बुद्ध को भोजन के लिये निमन्त्रित करने वाली सुप्रसिद्ध अवापाली वैशाली के गणराजाओं द्वारा भोग्य थी। किन्तु जान पड़ता है कि आगे चलकर गणिका का मूल अर्थ बदल गया। वात्स्यायन ने कामसूत्र में गणिकाओं को वेश्याओं का एक उपभेद माना है। आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन (विवेक, पृ० ४१८) में अपनी कला की प्रगल्भता और धूर्तता में कुशल स्त्री को गणिका कहा है (कलाप्रागल्भ्यवौर्त्याभ्या गणयति कलयति गणिका)।

३ वेस्ता (वृहत्कल्प भाष्य ६२५६) = द्वेष्या, लेकिन कालान्तर में यह शब्द वेश्या के अर्थ में रूढ हो गया। पाइअसद्महण्णवो में विशेषावश्यक का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए वेस्ता का अर्थ पण्यागना या गणिका किया गया है।

४ छिन्नाला (हिन्दी में छिनाल, कुलटा)। वृहत्कल्प भाष्य (२३१५) के टीकाकार ने छिन्नाला का अर्थ किया है छिन्ना नाम ये ऽगम्यगमनाद्यपराध कारित्वेन च्छिन्न हस्तपाद। नासादय कृता, अर्थात् अगम्य गमन का अपराध करने के कारण जिसके हाथ, पैर और नासिका आदि को छिन्न कर दिया गया है। पाइअसद्महण्णवो में छिण्णालिआ अथवा छिण्णाली शब्द को देशी बताया गया है।

५ मेहुणिअ (वृ० भा० २८२२), मेहुणिआ (निशीथ भा० ५७७५)। मेहुणिअ अर्थात् भानजा (मराठी में मेहुणा वहनोई या साले के अर्थ में प्रयुक्त) और मेहुणिआ अर्थात् मामा या बुआ की लडकी या साली (मराठी में भी यही)। मेहुण का संस्कृत रूप मैथुन होता है, इसका तात्पर्य यह हुआ कि मेहुणिअ और मेहुणिआ का परस्पर विवाह संभव हो सकता था वे मैथुनगम्य थे। मामा की लडकी से विवाह करने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। स्वयं महावीर का विवाह उनकी भानजी से हुआ था। इस प्रकार का विवाह लाट देश और दक्षिणापथ में विहित तथा उत्तरापथ में निषिद्ध समझा जाता था (आवश्यक चूर्णी २, पृ० ८१)। बोधायन में इस प्रकार के विवाह का उल्लेख है। कुमारिल भट्ट ने दाक्षिणात्यो के मामा-भानजी के विवाह का उपहास किया है (एच० सी० चकलदार, मोशल

लाइफ इन ऐंशियेंट इंडिया, स्टडीज़ इन वात्स्यायन'स कामभूत, पृ० १३३) । निशीथ चूर्णी (पीठिका, पृ० ५१) में अपनी बुआ अथवा मौसी की कन्या के साथ विवाह किये जाने का उल्लेख है । पाइअसदमहणवो में उक्त दोनों शब्दों को देशी बताया गया है ।

६ भोयडा— (निशीथ भा० १२६) । जिसे लाट देश में कच्छ कहा जाता था, उसे महाराष्ट्र में भोयडा कहते थे । महाराष्ट्र की कन्याएँ इस वस्त्र को वचपन से पहनती थीं और विवाह होने तक पहने रहती थीं । उसके बाद गर्भवती होने पर सगे-मवधियों को भोज दिया जाता और उत्सव समाप्त होने के पश्चात् इस वस्त्र को निकाल दिया जाता । इस तरह का या इससे मिलता-जुलता रिवाज आज भी महाराष्ट्र में प्रचलित है या नहीं, इसकी खोज की जानी चाहिये ।

७ कुत्तियावण (वृ० भा० ३४२१४-२२, भगवतीसूत्र और नायाधम्मकहा में भी) का सस्कृत रूप कुत्तिकापण मानकर आचार्य मलयगिरि ने इस शब्द की बड़ी विचित्र व्याख्या प्रस्तुत की है कु इति पृथिव्या सजा, तस्या त्रिक कुत्तिक स्वर्गमर्त्यपाताललक्षण तस्यापण हृत् । पृथिवीक्षये यत् किमपि चेतनमचेतन वा द्रव्य सर्वस्यापि लोकस्य ग्रहणोपभोगदाम विद्यते तत् आपणे न नास्ति (देखिये आवश्यक टीका भी, पृ० ४१३ अ) अर्थात् जहाँ स्वर्ग, मर्त्य और पाताल लोक में मनुष्य के उपभोग्य चेतन व अचेतन कोई भी वस्तु मिल सकती हो (आजकल का 'जनरल स्टोर', पालि में अन्तरापण) । उज्जैनी, राजगृह और तोसलिनगर में कुत्तियावण होने का उल्लेख मिलता है । कहते हैं कि भूत-प्रेत भी इन दुकानों पर मुलभये । भृगुच्छ का कोई वैश्य उज्जैनी की दुकान से एक भूत खरीद कर ले गया, जिसके द्वारा भूततडाग नामक तालाव बनाये जाने का उल्लेख है । तोसलि देश के किसी वणिक् ने ऋषिपाल नामक व्यतर खरीदा, जिम्हने इसितडाग (ऋषि तडाग) तालाव का निर्माण किया । इसितडाग का उल्लेख खारवेल के हाथी गुफा शिलालेख में पाया जाता है । यदि कुत्तियावण के स्थान पर कोत्तियावण पाठ रक्खा जाय तो उसका अर्थ कीतुकिकशाला, यानी जहाँ कुतूहल पैदा करने वाली चीजे मिलती हों, किया जा सकता है ।

८ माहण (ब्राह्मण) । माहण शब्द की व्युत्पत्ति भी कुछ विचित्र ही लगती है । कहते हैं कि भरत के राज्य काल में श्रावक धर्म उत्पन्न होने पर ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई । राजा भरत ने उन्हें जीवों को हनन न करने की प्रतिज्ञा दिलवाई (मा हणह जीवे) तब से ये लोग माहण कहे जाने लगे (देखिये वसुदेव हिडि, १८४, २३, आचाराग चूर्णी, पृ० ५, आवश्यक चूर्णी, पृ० २१३ आदि) । इसी प्रकार द्विजाति शब्द से धिज्जाड (= धिक् जाति) बना लिया गया मालूम देता है । जिनेश्वर मूरि कृत कथा कोप प्रकरण में ब्राह्मण के लिये डोड्ड शब्द का प्रयोग हुआ है । कन्नड में दोड्ड आचार्य का अर्थ गेखी बघारनेवाला होता है ।

‘धिज्जाइ’ की भाँति बहुत करके इस शब्द का प्रयोग भी ब्राह्मणों के उपहास के लिये किया गया जान पड़ता है।

६. अगोहलि (आकठ स्नान) अग + होल के सयोग से बना है। कन्नड में होल का अर्थ धोना होता है। मराठी में आधोल शब्द स्नान के अर्थ में प्रचलित है। आवश्यक चूर्णी, व्यवहार भाष्य टीका आदि में इसका उल्लेख है।

१० तक्क (वृ० भा० १७०६)। संस्कृत में तक्क। प्राकृत में उदसी (वृ० भा० ५६०४) भी। छास रूप में भी उल्लेख है, जो खानदेश में बोली जाने वाली अहिराणी (अहीरो की भाषा) में आज भी प्रचलित है।

११ जल्ल और मल (निशीथ भाष्य ५३४)। जल्ल का अर्थ शरीर का मैल होता है। दोनों में अन्तर यही है कि जल्ल में गीलापन रहता है जब कि मल हाथ आदि से रगड़ कर निकाला जाता है और फूक मारने से उड़ जाता है।

१२ उज्जल्ल (वृ० भा० २४५७) अर्थात् विशेष मलिन (उत् = प्राबल्येन मलिन), लेकिन हिन्दी में उज्जल शब्द का अर्थ उज्जल हो गया है, जैसे संस्कृत के भद्रक शब्द से भद्रा उल्टे अर्थ में प्रयुक्त होता है।

१३ तुप्प (नि० भा० २०१) अर्थात् मृत शरीर की चर्बी। मराठी में तूप का अर्थ घी और कन्नड में तेल होता है। किस प्रकार परिस्थितियों के अनुसार शब्दों के अर्थ में फेरफार हो जाता है ? यह अध्ययन का विषय है।

१४ उत्तरोठ्ठरोम (निशीथ सूत्र ३५६), संस्कृत में उत्तरीष्ठरोम = ऊपर के ओठ के बाल = मूँछ।

१५ वेणूसुइय (नि० सूत्र) अर्थात् वास की बनी सूई। इससे जान पड़ता है कि उस समय लोहे की सूई प्रचलित नहीं थी।

१५ माउग्गाम (वृ० भा० २०६६, निशीथ सूत्र में भी) अर्थात् स्त्री-समूह। मराठी में स्त्री के अर्थ में प्रयुक्त, भोजपुरी में मउगी।

१६ टिट (टिट्टा अथवा टेटा)। टिटधर का अर्थ द्यूतगृह होता है। भविसत्त कहा, सुपासनाहचरिअ आदि में इसका उल्लेख है (देखिये पाइअसद्धमहण्णवो) कर्पूरमजरी में टेटा का अर्थ द्यूतगृह किया गया है। ज्ञानेश्वरी के १८वें अध्याय में टिटधर का प्रयोग हुआ है किन्तु टीकाकार ने उसका सही अर्थ नहीं किया। टिट या टेटा की हिन्दी के टटा (झगडा) शब्द के साथ तुलना की जा सकती है।

१७ धोडयकडुइय (व्यवहार भा० ४१०५) का अर्थ है दो साधुओं का परस्पर प्रश्नोत्तर, संभवतः जैसे दो धोडे मिलकर आपस में खुजलाते हैं।

१८ खट्टामल्ल (वृ० भा० २६२३-२५) अर्थात् सौ वर्ष का बूढ़ा जो बीमारी के कारण खाट पर से उठने में असमर्थ हो। खासने और थूकने में भी उसे कष्ट होता है। वह पूजा खाते समय केवल चत्रचव शब्द करता है, खा नहीं सकता, इसलिये उसे पूवलिया खाओ (पूवलिका खादक) भी कहा गया है।

१६ अगठिम (वृ० भा० ३०६३) अर्थात् जिसमें गाठ न हो = केला ।

२० उल्लुगच्छी (नि० भा० ३६८६), जो उल्लू की आँख के समान हो = सूर्य की नोक ।

२१ खलहाण (नि० भा० ३१८०) = खलिहान ।

२२ झझड़िया (नि० भा० ३७०४) = ऋण न चुका सकने पर वणिगों में परस्पर होने वाला गाली गलौज ।

२३ डगलक (वृ० भा० ४ ४०६६) = शीघ्र जाते समय टट्टी पोछने के लिये जैन साधुओं द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले मिट्टी आदि के ढेले ।

२४ वदर (पिंड नि० ३६४) = जीना, मराठी और गुजराती में दादर ।

२५ दीहसुत्त करेइ (नि० सूत्र ५ २४) = कातता है (मृत को वटाता है) ।

२६ दुस्सिय (वृ० भा० ३२८१) = दौष्टिक — वस्त्र बेचने वाला । गुजरात व महाराष्ट्र में दोशी, हिन्दी में धुस्सा । मुदमणाचरिय में दोसियहट्ट (वस्त्र की दुकान) का उल्लेख है ।

२७ वट्टखुर (वृ० भा० ३७४७) = गोल खुर वाला = धोडा ।

२८ सुगेही (वृ० भा० ३२५२) — अच्छे घर वाली, वया के अर्थ में रुढ ।

२९ इडुर (ओध निर्युक्ति ४७६) = गाडी ।

३० उक्कुरड (वृ० भा० १६२५) — कचरे का ढेर, हिन्दी में कूरडी, गुजराती में उकरडी ।

३१ कट्टर (पिंड नि० ६२५) = कढ़ी में डाला हुआ घी का वडा ।

३२ कडुहड पोट्टलिक (व्य० भा० ६ ८) = गले में दाखण कुरूप पोटली वाला काला वकरा ।

३३ दोद्धिअ (व्य० भा० १० ४६४) = लौकी, मराठी में दूधी ।

३४ वप्प (नि० चूर्णी ३१८७) = वाप । कतिपय संस्कृत के पंडितों ने इसे वप् (वोना) धातु से सिद्ध करने की चेष्टा की है ।

३५ वठ (ओधनिर्युक्ति २१८) = अविवाहित, गुजराती में वाढो ।

३६ सीताजन्म (वृ० भा० १ ३६४७) = सीतायज्ञ, हलदेवता के सम्मान में किया जाने वाला उत्सव ।

४ प्राकृत के कुछ शब्द जिनकी परम्परा विनष्ट हो गई है और अर्थ में खीचा तानी करनी पड़ी है ।

(१) भिमिसार । जैन ग्रंथों में श्रेणिक (बौद्ध ग्रंथों में सेनिय अथवा विविमार) को भिमिसार (तुलनीय विविसार से), भिमिसार अथवा भंभसार भी कहा गया है । कहा जाता है कि कुशाग्रपुर (राजगृह) के महल में आग लग जाने पर जल्दी-जल्दी में कोई राजकुमार हाथी, कोई घोडा और कोई मणि-मुक्ता



लेकर भागा, श्रेणिक एक भभा (एक वाद्य) लेकर चले। तभी से उनका नाम भभसार पड गया (आवश्यक चूर्णी, २, पृ० १५८)। आचार्य हेमचन्द्र ने यही व्युत्पत्ति स्वीकार की है। बौद्ध ग्रंथो में बिबिसार का अर्थ सुनहरे (बिबि) वर्ण वाला किया गया है)।

२ कूणिक जैन ग्रंथो में कूणिक (अजातशत्रु बौद्ध ग्रंथो में) को अशोकचन्द्र, वज्जिविदेहपुत्र अथवा विदेहपुत्र भी कहा है। जान पडता है कि इस शब्द की व्याख्या करते हुए भी जैन आचार्यों को खीचातानी करनी पडी। वज्जिविदेहपुत्र (भगवती ७६) अथवा विदेहपुत्र कहे जाने का कारण स्पष्ट है कि उनकी माता चेल्लणा विदेहवश की थी। बौद्ध सूत्रो में भी अजातशत्रु को वेदेहिपुत्र कहा गया है। यद्यपि दीघनिकाय के टीकाकार अश्वधोप ने 'वेदेन इहति इति वेदेहि', अर्थात् बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करने वाले को वेदेहिपुत्र माना है (अट्ठकथा १, पृ० १३६)।

जैन टीकाकारो की कूणिक और अशोकचन्द्र की व्युत्पत्ति भी इसी तरह हास्यास्पद कही जायेगी। कथन है कि कूणिक के पैदा होने पर उसे नगर के बाहर एक कूडी पर छुडवा दिया गया, जहा किसी मुर्गे की पूछ से उसकी कून उगली में चोट लग गई। तभी से वह कूणिक कहा जाने लगा। एक दूसरी परंपरा के अनुसार कूणिक के जन्म के पश्चात् जिस अशोक वन में उसे छोड दिया गया था, वह प्रकाशित हो उठा। अतएव कूणिक अशोकचन्द्र नाम से प्रसिद्ध हो गया (आवश्यक चूर्णी २, पृ० १६६) निरयावलि १, ११ ब, हेमचन्द्र, महावीरचरित उल्लेखनीय है कि उक्त दोनो परंपरायें एक ही ग्रंथ आवश्यक चूर्णी में उद्धृत है, जिससे जान पडता है कि चूर्णीकार इस मवध में स्वयं अमदिरध नहीं थे। बौद्ध ग्रंथो में कूणिक को अजातशत्रु कहा जाना उसके प्रति विशेष आदर का सूचक प्रतीत होता है।

३ वज्जी वज्जी एक जाति अथवा वश का नाम है। बौद्धसूत्रो में वज्जियो के आठ कुलो का उल्लेख है, जिनमें वैशाली के लिच्छवी और मिथिला के विदेह मुख्य माने गये हैं। भगवती सूत्र में वज्जी की गणना १६ जनपदो में की गई है। वज्जिविदेहपुत्र का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। फिर भी लगता है कि जैन और बौद्ध दोनो ही टीकाकारो के काल में यह मूल परंपरा विस्मृत हो चुकी थी। उपर्युक्त प्रसंग पर वज्जी विदेहपुत्र के अन्तर्गत वज्जी शब्द का अर्थ टीकाकार ने इन्द्र किया है वज्रम् अस्य अस्ति (भगवती ७६ टीका)। आचार्य हेमचन्द्र ने यही अर्थ स्वीकार किया है। मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा में भी वज्जी वश की विचित्र व्युत्पत्ति दी हुई है जिससे उपर्युक्त वक्तव्य का समर्थन होता है।

४ लिच्छवि (अथवा लेच्छइ) शब्द के सवध में भी यही हुआ। परंपरा के अभाव में टीकाकारो ने अर्थ का अनर्थ कर डाला। कालिदास के टीकाकार

मल्लिषेणद्वारा उष्ट्र को एक प्रकार का पक्षी (उष्ट्र पक्षीविशेष) बताया, मन्थित साहित्य में सुप्रसिद्ध है। टीकाकार शीलाक ने 'लिच्छवि' का अर्थ किया है

लिप्सुक स च वणिगादि (सूत्रकृताग टीका २, १ पृ० २७७ व), अर्थात् लिप्सायुक्तवणिक आदि को लिच्छवि कहते हैं। चूर्णीकार ने इस अर्थ का समर्थन किया है (सूत्रचूर्णी, पृ० ३१५)। पाइअसदमहण्णवो में लिच्छवि का यही अर्थ दिया गया है। भज्जिमनिकाय के अट्ठकयाकार अश्वघोष ने लिच्छवि का सवध निच्छवि (पारदर्शक) शब्द से जोड़ दिया है, अर्थात् जो कुछ लिच्छवी लोग खाते थे, वह आरपार दिखाई देता था।

आचाराग (२, ३, ३६६-४००) सूत्र में महावीर भगवान के वंश और कुल आदि का वर्णन करते हुए कहा गया है कि लिच्छवी वंश में पैदा होने के कारण वे प्रियदर्शी और सुन्दर थे। आश्चर्य है कि फिर भी उत्तरकालीन टीकाकार लिच्छवी वंश का अर्थ ही भूल बैठे। ऐसी हालत में उनके जन्म और निर्वाण स्थान के सवध में अनेक विसंगतियों एवं विसवाद का उत्पन्न हो जाना अस्वाभाविक नहीं माना जायेगा।

५ वेसाली — (वैशाली)। वैशाली (वसाट, जिला मुजफ्फरपुर) भगवान महावीर की जन्मभूमि थी। भगवतीसूत्र (शातक २) में महावीर की जीवन सवधी चर्चाओं के प्रसंग में महावीर के श्रावको को 'वेसालियमावक' अर्थात् वैशाली-निवासी महावीर के श्रावक कहा गया है। किन्तु टीकाकार अभयदेव ने 'वैशालीय' का अर्थ विशाल गुण संपन्न ('वेसालीए' गुणा अस्य विशाला इति वैशालीया) कर डाला है। सूत्रकृताग में भी भगवान महावीर को वेसालिय नाम से उल्लिखित किया गया है। लगता है कि इस प्रकार भ्रातियों के कारण ही विशाला नाम से प्रसिद्ध उज्जैनी महावीर का जन्म स्थान मान ली गई।

६ कासव — (काश्यप) भगवान महावीर का गोत्र है। समवायाग (७) में उल्लिखित सात गोत्रों में कासव गोत्र सर्वप्रथम है। कल्पसूत्र में कासवज्जिया नाम की जैन श्रमणों की शाखा का उल्लेख है। फिर भी आश्चर्य है कि टीकाकार अभयदेव सूरि ने इसका सवध इक्षुरस के साथ कैसे जोड़ दिया — काश उच्छु तस्य विकार कास्य रस स यस्य पान स काश्यप।

७ आजीविक आजीविक संप्रदाय की परंपरा भी विस्मृत हो गई थी। सूत्रकृताग के टीकाकार शीलाक अमदिग्ध नहीं थे कि गोशाल के मतानुयायी ही आजीविक हैं, इसलिए उन्हें लिखना पड़ा — गोशाल-मतानुसारिया आजीविका दिगम्बरा वा (३३-८, पृ० ६० व), अर्थात् वैकल्पिक रूप में उन्होंने दिगंबरों को भी आजीविक बताया। निशीयचूर्णी १३-४४२० में गोशाल के शिष्य अथवा पडरभिक्षुओं को आजीविक कहा है। उल्लेखनीय है कि पाइअसदमहण्णवो में श्वेतावर संप्रदाय के भिक्षुओं को पडरभिक्षु बताया है, जो ठीक नहीं।

वस्तुतः मखलि गोशाल और उनके सिद्धांतों की परंपरा विच्छिन्न हो जाने (या विच्छिन्न कर दिये जाने) के कारण यह सब धोटेला हुआ जान पड़ता है। चित्रपत्र दिखाकर आजीविका चलाने वाले को मख कहा है (बृहत्कल्पभाष्य पीठिका २०० आवश्यकचूर्णी, पृ० ६२, २८२), फिर भी अश्वधोष जैसे विद्वान् ने 'मत गिर' (मखलि) इत्यादि व्युत्पत्ति प्रस्तुत कर अपने को उपहास का ही भाजन बनाया है।

८ अधगवण्हि यादववशी एक सुप्रसिद्ध राजा। लेकिन अभयदेवसूरि ने भगवती सूत्र की टीका (१८ ३, पृ० ७४५ अ) में इस शब्द का निम्नलिखित अर्थ किया है अह्लिपा-वृक्षास्तेषां वल्लयस्तदाश्रयत्वेनेत्यह्लिपवल्हयो वादरतेजस्कायिका इत्यर्थः। यहा वादरतेजस्कायिक जीवों को अधगवण्हि बताया गया है लेकिन इस अर्थ के बारे में पूर्णतया असदिग्ध न होने से टीकाकार दूसरों की मान्यता भी प्रस्तुत करते हैं अन्ये त्वाहु—अधका अप्रकाशका सूक्ष्मनामकर्मोदयाद्ये वल्लयस्ते अधकवल्हयो जीवाः, यहा सूक्ष्म अग्निकायिक जीवों को अधकवण्हि कहा है। गुणभद्र ने उत्तरपुराण में (७० ६४) में अधगवण्हि को अधकवल्हिरूप में प्रस्तुत कर अधकवृष्टि के रूप में उल्लिखित किया है, इससे भी इस विषय में एकमत न होने का ही समर्थन होता है।

९ वीतिभय—सिन्धु-सौवीर की राजधानी मानी गयी है। चम्पा से वीतिभय पहुंचकर वीतिभय के राजा उद्रायण को भगवान् महावीर द्वारा श्रमण दीक्षा देने का प्रसंग भगवतीसूत्र में उल्लिखित है। टीकाकार अभयदेव सूरि ने वीतिभय की निम्नलिखित व्याख्या की है विगता ईतयो भयानि च यतस्त-द्वीतिभय, विदर्भ इति केचित् (भगवती १३ ६), अर्थात् जिस स्थान पर भय की आशका न हो, वह वीतिभय है। अपनी इस व्याख्या से सतुष्ट न होने के कारण आगे चलकर टीकाकार को अन्य किसी आचार्य का मत उद्धृत करना पड़ा, जिसने विदर्भ को वीतिभय स्वीकार किया है। वस्तुतः वीतिभय सिन्धु-सौवीर का मुख्य नगर था अतएव विदर्भ से उसकी पहचान नहीं की जा सकती।

१० कुत्तियावण—की टीकाकारों द्वारा दी हुई व्याख्या ऊपर आ चुकी है। और भी कितने ही शब्द ऐसे हैं जिन्हें उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, किन्तु विस्तारभय से ऐसा न कर कुछ गिने-चुने शब्दों से ही सतोष किया जा रहा है।

कर्पूरमजरी के विद्वान् सपादक डॉ० मनमोहन धोष ने अपनी भूमिका में ठीक ही लिखा है कि प्राकृत बोलचाल की भाषा न रह जाने से आगे चलकर इसके रूप नियत करने में काफी कठिनाई का सामना करना पड़ा। नतीजा यह हुआ कि इतस्ततः बिखरे हुए प्राकृत साहित्य को पढ़-पढ़कर ही व्याकरण अपने सूत्रों को गढ़ने लगे। ऐसी हालत में प्राकृत व्याकरण सबधी जो विवेचन उन्होंने प्रस्तुत

किया, उसका अस्पष्ट और अपूर्ण रह जाना स्वाभाविक था। वस्तुतः जिस साहित्य का विश्लेषण कर वे लोग व्याकरण के सूत्रों की रचना कर रहे थे, वह सर्वथा भिन्न काल का साहित्य था।

ऐसी दशा में जैन आगम साहित्य के मूल रूप का निर्धारित करना कठिन ही नहीं, असंभव जान पड़ता है। फिर भी इतना तो किया ही जा सकता है कि प्रामाणिक मूल प्रतियों की सहायता से जैन आगमों और उनकी प्राचीन टीकाओं के समालोचनात्मक (क्रिटिकल) संस्करण प्रकाशित किये जायें। इस दिशा में भगवान् महावीर की पचीसवीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य में जैन विश्वभारती, लाडनू द्वारा आगम-ग्रन्थों का प्रकाशन एक स्तुत्य प्रयत्न है। आगम ग्रन्थों का पालि त्रिपिटक के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने की आवश्यकता है, इससे आगमों का विषय अधिक स्पष्ट हो सकेगा और विषय की पूर्वापर ऐतिहासिक दृष्टि हमारे समक्ष आ सकेगी। आगमों के प्रत्येक आगम का पृथक् रूप से समय-निर्धारण की भी बहुत आवश्यकता है। यह कार्य आगमों में उल्लिखित विषयवस्तु के विश्लेषणात्मक अध्ययन से संभव हो सकता है। जरूरत इस बात की है कि आगम-साहित्य को देश-विदेश में उपादेय बनाने के लिये तुलनात्मक व्यापक दृष्टि से उनका अध्ययन और चिन्तन किया जायें।

हरगोविन्ददास सेठ के हम अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने प्राकृत की अनेक हस्तलिखित प्रतियों का अध्ययन कर ई० १९२८ में पाइअसद्धमहण्णवो जैसा महत्त्वपूर्ण कोष प्रकाशित किया। किन्तु क्या पिछले ४८ वर्षों में इस दिशा में हमने कुछ प्रगति की है? १९६३ में प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी की ओर से इसका कायाकल्प किया गया, किन्तु मुनिराज श्री पुण्यविजयजी द्वारा सूचित कतिपय शब्दों को छोड़कर उसे ज्यों का त्यों छाप दिया गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्राकृत के कितने ही महत्त्वपूर्ण शब्दों का इस कोष में समावेश नहीं है।

आगमों के अन्तर्गत छेदसूत्रों के भाष्य एवं चूर्णी-साहित्य में कितनी सामाजिक एवं सांस्कृतिक सामग्री भरी पड़ी है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। जैनकथा साहित्य तो इस प्रकार की सामग्रियों का अनुपम भंडार है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह समस्त साहित्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भाषाविज्ञान के पंडितों का लक्ष्य इस ओर अभी तक नहीं पहुँचा है। दिगम्बरों के प्राचीन ग्रन्थ भगवती आराधना, मूलाचार आदि के तुलनात्मक अध्ययन की भी कुछ कम आवश्यकता नहीं। इस अध्ययन में दिगम्बर-श्वेताम्बर परंपरा के मतभेद की गुत्तियों पर प्रकाश पड़ सकेगा। भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् भारतीय विद्या के क्षेत्र में जो महत्त्वपूर्ण खोजबीन हुई है, उसका पर्याप्त लाभ उठाया जा सकता है।





## शौरसेनी आगम-साहित्य की भाषा का मूल्यांकन

पं० हीरालाल सिद्धान्ताचार्य

आचार्य हेमचन्द्र ने महाराष्ट्री प्राकृत से विभिन्नता बतलाते हुए शौरसेनी प्राकृत की विशेषताओं का कुछ वर्णन अपने प्राकृत व्याकरण में किया है। परन्तु यह नाम कैसे पड़ा, इसका कुछ उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। पड़भापाचन्द्रिकाकार ने उसका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है

‘शूरसेनोद्भवा भाषा शौरसेनीति गीयते’

अर्थात् शूरसेन देश में उत्पन्न हुई भाषा शौरसेनी कही जाती है। यह शूरसेन देश कौन सा है? यह विचारणीय है। पन्नवणासूत्र के

“सात्तियमध्या चेदी वीतभय सिन्धुसोवीरा।

मथुरा य सूरसेणा पावा भगीय मास पुरिवट्टा ॥”

उसकी टीका करते हुए आचार्य मलयगिरि सूरसेन देश की राजधानी पावा बतलाते हैं। यथा—

“चेदिपु शुक्तिकावती, वीतभय सिन्धुपु, सोवीरेषु मथुरा, सूरसेनेषु पावा, भगीपु मास पुरिवट्टा”।

इस उल्लेख के अनुसार सूरसेन की राजधानी पावा बतलाकर वे बिहार प्रान्त के अन्तर्गत सूरसेन देश का होना मानते हैं। किन्तु नेमिचन्द्र सूरि ने अपने प्रवचन-मारोद्धार ग्रन्थ में पन्नवणासूत्र के उक्त पाठ को अविकल रूप से उद्धृत किया है और उसकी टीका में श्री सिद्धसेन सूरि ने मलयगिरि की उक्त व्याख्या को ‘अति-व्यवहृत’ कहकर उक्त पाठ की व्याख्या इस प्रकार की है

“शुक्तिमती नगरी चेदयो देश, वीतभय नगर सिन्धुसोवीरा जनपद, मथुरा नगरी सूरसेनाख्यो देश, पावा नगरी भङ्कयो देश, मासपुरी नगरी वर्तोदेश”।

इसमें स्पष्ट रूप से मथुरा नगरी को सूरसेन देश की राजधानी बताया गया है। इससे यह सिद्ध है कि मथुरा के समीपवर्ती देश को शूरसेन या सूरसेन देश कहा जाता था।

अ० अरिष्टनेमिके पूर्वजो मे शूरसेन राजा हुए हैं, वे शौर्यपुर नगर के स्वामी थे । यथा

अवार्य निज शौर्येण निर्जिताशेषविद्विष ।  
 ख्यातशौर्यपुराधीशमूरमेनमहीपते ॥ ६३ ॥  
 सुतस्य शूरवीरस्य धारिण्याश्च तनूद्भवौ ।  
 विख्यातोऽन्धकवृष्टिश्च पतिवृष्टिर्नरादिवाक् ॥ ६४ ॥  
 धर्मा वान्धकवृष्टेश्च मुभद्रायाश्च तुग्वरा ।  
 समुद्रविजयोऽक्षोभ्यस्तत स्तिमितसागर ॥ ६५ ॥  
 हिमवान् विजयो विद्वानचलो धारणाह्वय ।  
 पूरण पूरितार्थोच्छो नवमोऽप्यभिनन्दन ॥ ६६ ॥  
 वसुदेवोऽन्तिमश्चैव दशाभूवन् शशिप्रभा ।  
 कुन्ती माद्री च सोमेवा सुते प्रादुर्वभूवतु ॥ ६७ ॥

(उत्तर पुराण, पर्व ७०)

अर्थात् राजा शूरसेन के शूरवीर पुत्र के दो पुत्र हुए—अन्धकवृष्टि और नरवृष्टि । अन्धकवृष्टि के १ समुद्रविजय, २ अक्षोभ्य, ३ स्तिमितसागर, ४ हिमवान्, ५ विजय, ६ अचल, ७ धारण, ८ पूरण, ९ अभिनन्दन और १० वसुदेव, ये दश पुत्र हुए ।

आज भी शौर्यपुर नगर सौरीपुर वटेश्वर के नाम से प्रसिद्ध है और जो मयुरा के समीप ही है । इस उल्लेख से यह बात सिद्ध है कि मयुरा के आस-पास का प्रदेश शूरसेन नाम से प्रसिद्ध था और उस देश की भाषा शौरसेनी कहलाती थी । उक्त उल्लेख से इस भाषा की प्राचीनता अरिष्टनेमि से भी पूर्ववर्ती काल तक पहुँचती है ।

शौरसेनी भाषा की कुछ विशेषताएँ आ० हेमचन्द्र ने इस प्रकार बतलाई हैं—

१ (तो दो ४, २६०) त के स्थान पर द, यथा तत तदो, पूरित पूरिदो, मारुति गारुदि आदि ।

२ (अघ क्वचित् ४, २६१) महान्त महन्दो, निश्चिन्त निश्चिन्दो, अन्त पुरम् अन्देउर आदि ।

३ (वादेस्तावति ४, २६२) तावत् ताव, दाव ।

४ (मो वा ४, २६४) भो राजन् भो राय, विजयवर्मन् विजयवर्म्मा आदि ।

५ (भवद् भगवतो ४, २६५) भवान् भव, भगव, भयव आदि ।

६ (न वा र्यो य्य ४, २६६) आर्यपुत्र अय्यउत्त, पक्षे अज्जपुत्त आदि ।

७ (थो घ ४, २६७) कययति कधेदि, कहेदि, नाथ गाधो, गाहो, कय कध कह, राजपथः— राजपधो, राजपहो आदि ।

८ (इह ह्योर्यस्य ४, २६८) इह इध, भवथ—होघ, होह, परियायध्वे परितायध, परितायह आदि ।



६ भुवो भ ४,२६६) भवति —भोदि, होदि, भुवदि, हुवदि, भवदि, हवदि आदि ।

१० (क्त्वं इय दूणौ ४,२७१) भूत्वा—भविय, भोदूण, हविय, होदूण, पठित्वा पठिय, पठिदूण, रन्त्वा रमिया रन्दूण आदि ।

११ (कृ गमो डडुअ ४,२७२) कृत्वा, कडुअ, गडुअ, पक्षेकरिय, करिदूण, गत्वा गच्छिय गच्छिदूण आदि ।

१२ (दि रि चे चो ४,२७३) नयति —नेदि, ददाति देदि, भवति भोदि, होदि ।

१३ (अतो देशच ४,२७४) आस्ते अच्छदि, अच्छदे, गच्छति गच्छदि, गच्छेदे, करोति —किज्जदि, किज्जदे आदि ।

१४ (भविष्यति स्ति ४,२७५) भविष्यति—भविस्सिदि, करिष्यति करिस्सिदि आदि ।

१५ (तस्मात्ता ४,२७८) तस्मात् ता ।

संस्कृत नाटको में प्राकृत गद्यांश प्रायः शौरसेनी भाषा में लिखे गए हैं । अश्वघोष भास और कालिदास के नाटको में तथा इनके परवर्ती नाटको में प्रायः शौरसेनी के उदाहरण दिखाई देते हैं ।

ऊपर जा हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के सूत्र और नियम दिए गए हैं, प्रायः वे ही नियम, उनसे मिलते-जुलते सूत्र और प्रयोग वररुचि, लक्ष्मीधर और त्रिविक्रम आदि के प्राकृत व्याकरणों में भी पाए जाते हैं ।

दण्डी, रुद्रट और वाग्भट आदि ने भी अपने ग्रन्थों में इस भाषा का उल्लेख किया है । भरत के नाट्यशास्त्र में भी शौरसेनी भाषा का उल्लेख इस प्रकार उपलब्ध है

‘नायिकाना सखीना च सूरसेनाविरोधिनी’ अर्थात् नायिका स्त्री और उनकी सखियों के लिए शौरसेनी का प्रयोग अविरोधी है ।

इस प्रकार शौरसेनी या शौरसेनी भाषा की प्राचीनता और उद्गम स्थान ज्ञात हो जाने पर स्वभावतः ये प्रश्न उपस्थित होते हैं

(१) क्या वे सब दिगम्बर आचार्य शूरसेन देश के ही निवासी थे, जिन्होंने कि अपने ग्रन्थों की रचना शौरसेनी में की है ?

(२) यदि नहीं थे, तो फिर दि० कुन्दकुन्दाचार्य और नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती जैसे दक्षिण प्रान्त में जन्मे अनेक दि० आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों की रचना शौरसेनी प्राकृत में ही क्यों की ?

(३) अथवा इसमें रचना करने का और कोई अन्य कारण विशेष रहा है, जिससे प्रेरित होकर प्रायः सभी दिगम्बर आचार्यों ने इसे अपनाया है ?

उक्त प्रश्नों का समाधान करने के पूर्व यह ज्ञातव्य है कि भारतवर्ष में उत्तर से

दक्षिण तक जाने-आने का जो मध्य मार्ग था और जिसमें हिन्दुओं के परम उपास्य श्रीकृष्ण का जन्म हुआ, वह मयुरा नगरी इस उत्तरापथ और दक्षिणापथ के मध्य में पड़ती है। आज भी सुदूर दक्षिण के तीर्थयात्री जब उत्तर प्रान्तों के तीर्थों की यात्राएँ निकलते हैं तो वे उत्तर के बदरीनारायण, गंगोत्री, औरकैलाश की यात्राएँ जाते-आते हुए मध्यवर्ती मयुरा में अवश्य उतरते हैं। इस आवागमन से आज भी दक्षिणयात्री जैसे इस शूरसेन देश की राजधानी मयुरा की वर्तमान भाषा हिन्दी से परिचित हो जाते हैं, उसी प्रकार श्री कृष्ण के समय इस देश में बोली जाने वाली शौरसेनी से परिचित हो जाते थे।

अब हम ऊपर दिए गए प्रथम प्रश्न का समाधान करेंगे दि० जैन ग्रन्थों, अनुश्रुतियों एवं दक्षिण में प्राप्त अनेक शिलालेखों से यह सिद्ध है कि आ० भद्रबाहु श्रुत-केवली के समय उत्तरभारत में १२ वर्ष का भयकर दुष्काल पड़ा था। अपने निमित्तज्ञान से जब आ० भद्रबाहु ने यह जाना कि निकट भविष्य में ही भयकर दुष्काल पड़नेवाला है तो अपने मधस्थ २४ हजार साधुओं को सम्बोधित करते हुए इस देश को छोड़कर सुदूर दक्षिण देश में चलने को कहा। उसमें से १२ हजार साधु तो उनके साथ दक्षिण देश को चले गए। किन्तु शेष १२ हजार इधर के श्रावकों के आग्रह और दुर्भिक्षकाल में भी भिक्षा-सुलभता के आश्वासन पर स्थूल-भद्र के नेतृत्व में यही उत्तरभारत में रह गये।

उक्त परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि जो साधु भद्रबाहु श्रुतकेवली के साथ दक्षिण प्रान्त में गये, वे प्रायः अधीतश्रुत एवं गीतार्य थे, क्योंकि उस समय अगो और पूर्वो का पठन-पाठन प्रचलित था। दक्षिण प्रान्त की तात्कालिक भाषाएँ आज के समान ही उत्तर भारत की बोलचाल की भाषा से सर्वथा भिन्न थी, फिर भी उधर के निवासी इधर के शूरसेन देश की बोली से आवागमन के कारण परिचित थे, इस कारण उक्त सघ के बहुश्रुतज्ञ साधुओं ने अपनी ही बोली शौरसेनी में उपदेश देना प्रारम्भ किया और समयानुसार ग्रन्थ रचना करना प्रारम्भ किया। अतः प्रारम्भ में जिन आचार्यों ने शौरसेनी भाषा में ग्रन्थों की रचना की, उनमें अधिकतर उत्तर भारत के थे। इन हजारों साधुओं के दक्षिण प्रान्त में विचरण से, उपदेश देने से एवं सत्संग से दक्षिण देशवासी भली भाँति परिचित हो गये थे, अतः दक्षिण देश में जन्मे हुए पीछे के दिगम्बर आचार्यों ने भी उसी सर्वाधिक समझी जाने वाली शौरसेनी भाषा में ही अपने ग्रन्थों की रचना की।

(२) इस प्रकार उक्त कथन से दूसरे प्रश्न का समाधान भी स्वयं ही हो जाता है। यतः पश्चाद्वर्ती ग्रन्थकारों की मूल-परम्परा आ० भद्रबाहु तक पहुँचती है, अतः उनके मधस्थ साधुओं की जो बोलचाल की भाषा थी, और जिसे कि आज शौरसेनी नाम से कहा जाता है, उसी में उन पीछे के दक्षिणी आचार्यों ने उत्तर

और दक्षिण के प्रान्तों में समझी जाने वाली शौरसेनी भाषा में ही अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना उचित समझा।

(३) तीसरे प्रश्न का समाधान यह है कि जैसे प्राकृत की शाखा मागधी, अर्धमागधी, या महाराष्ट्री आदि प्राचीन बोलचाल की प्राकृतिक (स्वाभाविक) बोलियों का सस्कार करके संस्कृत भाषा के रूप में तात्कालिक महर्षियों ने एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का निर्माण किया, और जो समान रूप से बिना किसी परिवर्तन के सारे भारतवर्ष में समझी जाने लगी थी, उस संस्कृत भाषा के अति समीप या अत्यधिक साम्य होने के कारण परवर्ती दिगम्बर जैनचार्यों ने शौरसेनी में अपने ग्रन्थों की रचना करना अधिक उपयोगी और श्रेयस्कर समझा।

यह बात इस नीचे दी जाने वाली तालिका से सहज में ज्ञात हो सकेगी

प्राकृत	शौरसेनी	संस्कृत	प्राकृत	शौरसेनी	संस्कृत
अइसय	अदिसय	अतिशय	अइरेअ	अदिरग	अतिरेक
अइहि	अतिहि	अतिथि	अईअ	अदीद	अतीत
अउअ	अयुद	अयुत	अकुरिअ	अकुरिद	अकुरित
अइर	अचिर	अचिर	अज्ज	आरिय	आर्य
अहिगरण	अधिगरण	अधिकरण	आअअ	आगद	आगत
आअपिअ	आकपिय	आकम्पित	आअव	आतव	आतात्र
आएस	आदेस	आदेश	आआस	{ आगास	आकाश
आउत्त	{ आजुत्त	{ आयुक्त		{ आयास	
	{ आगुत्त	{ आगुप्त		{ आयस्सय	आवश्यक
इइ	इदि	इति	आवस्सअ	{ आवस्सग	
ईसा	इरिसा	ईर्ष्या	{ इण्हि	इयाणि	इदानीम्
उदअ	उदग	उदक	{ इयण्हि		
उड	पुड	पुट	ईइस	ईदिस	ईदृक्, ईदृश
एअ	एग	एक	उउ	उडु	ऋतु
ओइण्ण	ओदिण्ण	अवतीर्ण	उप्पायपुव्व	उप्पादपुव्व	उत्पादपूर्व
कइ	कदि	कति	एअत	एगत	एकान्त
कडुअ	कडुग	कटुक	ओअण	ओदण	ओदन
कवलिअ	कवलिद	कवलित	कउह	ककुध	ककुद
कोअड	कोदड	कोदण्ड	करआ	करगा	करका(ओला)
खेअ	खेद	खेद	कायव	कादव	कादम्ब
गइ	गदि	गति	खाइर	खादिर	खादिर
गोआऊरी	गोदावरी	गोदावरी	खोह	खोभ	क्षोभ
घओअ	घओद	घृतोद	गणअ	गणग	गणक
चउक्क	चडुक्क	चतुष्क	गोअ	गोव	गोप
चलिअ	चलिद	चलित	घायअ	घायग	घातक

छाउमत्थिय	छादुमत्थिय	छादस्थिक	चओर	चगोर	चकोर
जड	जदि	यदि	चाय	चाग	त्योग
णड	णदी	नदी	छेअण	छेदण	छेदन
तडय	तदिय	तृतीय	जीअ	जीव	जीव
दलिअ	दलिद	दलित	णट्टअ	णट्टग	नर्तक
धअ	धव	धव (पति)	तडअ	तदिय	तृतीय
पडड	पगड	प्रकृति	दिआअर	दिवागर	दिवाकर
फलअ	फलग	फलक	धुअ	धुव	ध्रुव
वउर	वदर	वदर	पयअ	पगय	{ प्रकृत प्रगत }
सजअ	सजद	सयत	फुल्लअ	फुल्लग	फुल्लक
			भिउर	भिदुर	भिदुर
					(विनश्चर)
			हअ	हद	हत

ऊपर से दिये गये शब्द-रूपों के भेद से प्राकृत (महाराष्ट्री) और शौरसेनी का अन्तर स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाता है। अब हम आ० कुन्दकुन्द रचित ग्रन्थों से कुछ प्रयोग उद्धृत करते हैं, जिससे कि पाठक दि० शौरसेनी की विशेषता से स्वयं परिचित हो जायेंगे।

### समयसार से

प्रयोग	गाथांक	प्रयोग	गाथांक	प्रयोग	गाथांक
पदेसद्विय	२	विसवादिणी	३	सुदपरिचिदाणुभूदा	४
जाणगो	७	जाणिदूण	१७	अणुचरिदव्वा	१८
भूदत्थ	२२	मोहिदमदी	२३	इदर	२५
आदा	२६	जदि	२६	वदिदो	२८
वदिदो	२८	थुणदि	२९	कदा (कृता)	३०
थुदा (स्तुता)	३०	णादूण	३४	एदे	५५
विज्जदे	५१	कोधादिसु	६९	कुणदि	७२
णादूण	७४	परिणमदि	७८	कुण्वदि (करोत्ति)	८५
अविरदि	८८	आदा (आत्मा)	{ ९७, १०२	अप्पा, अत्ता	९४, ९७, १०२
चेदा	११८	{ वधदि मुचदि	{ १५०, २८१	णादव्व	१५९
मव्वदो	१६०	विजाणादि	१६०	{ जहण्णादो णाणगुणादो	१७१
{ भुजदि वज्जदि	{ १९५ १९६	आदम्मि	२०३	{ छिज्जदु भिज्जदु	२०९

अधम्मस्स	२११	वेददि	२१६	विणस्सदे	२१६
पजहिद्वण	२२३	आधाकम्म	२८७	जिज्जदि	२०६

प्रवचनसार से

चदिद	१,१	सपज्जदि	१,६	{ चरित्तादो पहाणादो	१,६
अदिदिओ	१,१६	{ जाणदि जाणादि	१,५५	{ तघ, तघा तघा	१,६७ १,६८
किघ (कथ)	१,७२	{ जहदि लहदि	१,८१	समधिदण्व	१,८६

पचास्तिकाय से

इदसदवदियाण	१,	विज्जदि	१४५	चेदिय	१६६
------------	----	---------	-----	-------	-----

षट्खण्डागमसूत्र (छक्खडागमसुत्त)

णाणाणि	१,१	इमाणि	१,१	अणियोगद्दाराणि	१,५
सजदासजदा	१,१३	पमत्तसजदा	१,१४	अप्पमत्तसजदा	१,१५
ओदेसेण	१,२४	णिरयगदी आदि	१,२४	असजदसम्मादिट्ठी	१,२७
छट्ठमत्था	१,२७	साधारणसरीरा	१,४१	सोघम्मीसाण	१,६६
पुरिसवेदा	१,१०१	चट्ठसु	१,१०५	भदिअण्णाणी	१,११६

इस प्रकार के प्रयोगों से सारा ग्रन्थ भरा हुआ है।

कसायपाहुडसुत्त की सारी गाथाएँ शुद्ध शौरसेनी में ही रची हुई हैं। यहाँ पर हम केवल एक गाथा ही उदाहरणार्थ देते हैं

गाहासदे असोदे अत्थे पण्णरसधा विहतम्मि ।

वोच्छामि सुलगाहा जयि गाहा जम्मि अत्थम्मि ॥२॥

रेखांकित तीनों पद स्पष्टतः शौरसेनी भाषा के परिचायक हैं।

उक्त ग्रन्थों के पश्चात् जितने भी मूलाचार, नियमसार, रयणसार, अष्टपाहुड, भगवती आराधना, दर्शनसार, तिलोयपण्णत्ती, भावसग्रह, लब्धिसार, गोम्मटसार जीवकाड, कर्मकाड आदि प्राकृत दि० जैन ग्रन्थ हैं, वे सभी शौरसेनी में ही रचे गये हैं।

मैंने वसुनन्दि श्रावकाचार के परिशिष्ट न० ५ में प्राकृत धातु रूप और परिशिष्ट न० ६ में प्राकृत शब्द रूप सग्रह दिया है, उससे भी दि० ग्रन्थों की शौरसेनी भाषा को अपनाने की बात भली भाँति सिद्ध होती है।

इस प्रकार शौरसेनी प्राकृत का मूल उद्गम भले ही उत्तरी मथुरा का समीपवर्ती प्रदेश रहा हो, परन्तु दक्षिणी यात्रियों के उत्तर भारत में आने से तथा

उत्तर प्रान्तीय भद्रबाहु के मुनि सघ के दक्षिण में जाने से यह भाषा वहाँ पर (दक्षिणी मद्रा तक) अच्छी तरह समझी और बोली जाने लगी थी। यही कारण है कि शेषगिरि राव जैसे अर्जन दक्षिणी विद्वान् ने अपने लेख 'दी एज आफ् कुन्द-कुन्द' में लिखा है कि मेरे पास तमिल साहित्य में और लोक बोली में इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि जिस प्रकार की प्राकृत में आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थ निबद्ध किये हैं, वह केवल समझी ही नहीं जाती थी, बल्कि आन्ध्र और कर्नाटक प्रदेशों में जन-सामान्य के द्वारा बोली जाती थी। (जैन गजट, १८ अप्रैल सन् १९२२ पृ० ६१)

भाषा की दृष्टि से विचार करने पर यह कथन पूर्णरूपेण सत्य प्रतीत होता है।

आ० हेमचन्द्र ने सज्ञा शब्दों के जो सातो ही विभक्तियों में अनेक रूप दिये हैं, उनमें से शौरसेनी भाषा में कुछ सीमित ही रूप अपनाये हैं, जो कि सस्कृत के साथ बहुत अधिक साम्य रखते हैं। यथा

प्राकृत	शौरसेनी	सस्कृत	प्राकृत	शौरसेनी	सस्कृत
ठाणाइ	ठाणाणि	स्यानानि	एए	एदे	एते
वच्छाओ	वच्छादो	वृक्षात्	अच्छीइ	अच्छीणि	अक्षीणि

इसी प्रकार महाराष्ट्री प्राकृत की अपेक्षा शौरसेनी के धातुरूप भी सस्कृत के बहुत अधिक समीप हैं। यथा

प्राकृत	शौरसेनी	सस्कृत	प्राकृत	शौरसेनी	सस्कृत
भवइ	भवदि	भवति	गच्छई	गच्छदि	गच्छति
भवउ	भवदु	भवतु	गच्छउ	गच्छदु	गच्छतु

इस प्रकार जन-साधारण को सुगम होने से बहुजन-हिताय दि० जैन-आचार्यों ने अपनी रचनाएँ शौरसेनी प्राकृत में की हैं।

## प्राकृत एवं अपभ्रंश का आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं पर प्रभाव

डॉ० महावीर सरन जैन

प्राकृत एवं अपभ्रंश के विविध भाषिक रूपों से ही आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विविध रूपों का विकास १०वीं से १२वीं शताब्दी के बीच में हुआ। यह बात अलग है कि इस विकास परम्परा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करना एक सीमा तक असम्भव सा है। इस सबब में अभी तक जितने कार्य सम्पन्न हुए हैं उनमें अधिकांशतः अज्ञात से ज्ञात की ओर आया गया है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना जरूरी है कि ज्ञात से अज्ञात की ओर वैज्ञानिक ढंग से उन्मुख होने पर ही अज्ञात अनुपलब्ध रूपों को पुनर्निर्मित किया जा सकता है और पुनर्निर्माण के सिद्धान्तों पर अवलम्बित होकर ही प्राकृत से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं तक की विकास यात्रा का वैज्ञानिक अध्ययन अंशतः सम्पन्न किया जा सकता है।

आज हमारे पास प्राकृत एवं अपभ्रंश की जो सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विकास की सारी कड़ियाँ अलग-अलग सुस्पष्ट रूप से जोड़ पाना दुष्कर कार्य है। इसके निम्नलिखित कारण हैं

१ हमारे पास प्राकृत युग एवं अपभ्रंश युग के साहित्यिक भाषिक रूप ही उपलब्ध हैं। मध्य भारतीय आर्य भाषाकाल में उसके सम्पूर्ण क्षेत्र में विभिन्न भाषाओं के जो विविध क्षेत्रीय एवं वर्गीय भाषिक रूप बोले जाते होंगे, वे उपलब्ध नहीं हैं।

२ प्राकृत एवं अपभ्रंश के जो साहित्यिक भाषिक रूप प्राप्त हैं उनके क्षेत्रीय प्रभेदों का विवरण मिलता है। इस सम्बन्ध में विचारणीय यह है कि उपलब्ध क्षेत्रीय भेद आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं यथा पंजाबी, हिन्दी, गुजराती, मराठी, वगैराह, असमिया, उडिया आदि की भाँति भिन्न साहित्यिक भाषाएँ हैं अथवा उस काल की किसी एक ही साहित्यिक प्राकृत अथवा

साहित्यिक अपभ्रंश के विभिन्न क्षेत्रीय रूप हैं। दूसरे शब्दों में प्राकृतों के उपलब्ध क्षेत्रीय रूप भिन्न-भिन्न भाषाएँ हैं अथवा किसी एक ही भाषा के क्षेत्रीय रूप हैं।

इन दृष्टि से जब हम विविध प्राकृत रूपों पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि इनका नामकरण विभिन्न दूरवर्ती क्षेत्रों के आधार पर हुआ है तथापि इनमें केवल उच्चारण के धरातल पर थोड़े से ध्वन्यात्मक अन्तर ही प्रमुख हैं। महाराष्ट्री में स्वर बाहुल्यता है, द्विस्वरान्तर्गत व्यंजन का लोप हो जाता है तथा श्, ष्, स्, नयर्षो वन्या काकल्य सधर्षी 'हू' में बदल जाती है। शौरसेनी में द्विस्वरान्तर्गत न्यिति में अधोप व्यंजनों का घोषीकरण हो जाता है। मागधी प्राकृत में र् > ल् में तथा मूर्धन्य 'प्' तथा दन्त्य 'म्' > तालव्य 'श्' में परिवर्तित हो जाते हैं। अर्ध-मागधी प्राकृत में दन्त्य > मूर्धन्य तथा मूर्धन्य 'प्' एवं तालव्य 'श्' > दन्त्य 'स्' में परिवर्तित हो जाते हैं तथा द्विस्वरान्तर्गत श्रुति का आगम हो जाता है। पैंशाची प्राकृत में सधोप > अधोप, र् > ल तथा मूर्धन्य 'प्' > श् स् में परिणत हो जाते हैं।

प्राकृतों के ये अन्तर अथवा इनकी विशिष्ट विशेषताएँ इतनी भेदक नहीं हैं कि इन्हें अलग-अलग भाषाओं का दर्जा प्रदान किया जा सके।

मराठी, हिन्दी, गुजराती, वगैरा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में केवल थोड़े से उच्चारणगत भेद ही नहीं हैं अपितु इनमें भाषागत भिन्नता है, पारस्परिक मरचनात्मक एवं व्यवस्थागत अन्तर है तथा पारस्परिक अवबोधन का अभाव है। आज कोई मराठी भाषी मराठी भाषा के द्वारा मराठी से अपरिचित हिन्दी, वगैरा, गुजराती आदि किसी आधुनिक भारतीय आर्य भाषा के व्यक्ति को भाषात्मक स्तर पर अपने विचारों, संवेदनाओं का बोध नहीं करा पाता। भिन्न भाषी व्यक्ति अभिप्राय को संकेतों, मुद्राओं, भावभंगिमाओं के माध्यम से भले ही समझ जावे, भाषा के माध्यम से नहीं समझ पाते। किन्तु अर्धमागधी का विद्वान् मागधी अथवा शौरसेनी अथवा महाराष्ट्री प्राकृत को पढ़कर उनमें अभिव्यक्त विचार को समझ लेता है। इस रूप में जो साहित्यिक प्राकृत रूप उपलब्ध हैं उनका नामकरण भले ही दूरवर्ती क्षेत्रों के आधार पर हुआ हो किन्तु तत्त्वतः ये उस युग के जन-जीवन में उन विविध क्षेत्रों में बोली जाने वाली भिन्न-भिन्न भाषाएँ नहीं हैं और न ही आज की भाँति इन क्षेत्रों में लिखी जाने वाली भिन्न साहित्यिक भाषाएँ हैं, प्रत्युत एक ही मानक अथवा साहित्यिक प्राकृत के क्षेत्रीय रूप हैं।

ऐसा नहीं हो सकता कि दसवीं-बारहवीं शताब्दी के बाद तो भिन्न-भिन्न भाषाएँ विकसित हो गई हों किन्तु उसके पूर्व प्राकृत युग में पूरे क्षेत्र में भाषात्मक अन्तर न रहे हो। आधुनिक युग में 'भारतीय आर्य भाषा क्षेत्र' में जितने भाषात्मक



अन्तराल है उसकी अपेक्षा प्राकृत युग में 'भारतीय आर्य भाषा क्षेत्र' में भाषात्मक अन्तराल कम होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, ये निश्चय ही बहुत अधिक रहें होंगे। प्राकृत युग १ ईस्वी से ५०० ईस्वी तक है। आधुनिक युग की अपेक्षा डेढ़-दो हजार साल पहले तो सामाजिक-सम्पर्क निश्चित ही बहुत कम होगा फिर भाषात्मक अन्तराल के कम होने का सवाल कहा उठता है? सामाजिक सम्पर्क जितना सघन होगा, भाषा विभेद उतना ही कम होगा। आधुनिक युग में तो विभिन्न कारणों से सामाजिक सम्प्रेषणीयता के साधनों का प्राकृत युग की अपेक्षा कई कई गुना अधिक विकास हुआ है। इनके अतिरिक्त नागरिक जीवन, महानगरी का सर्वभाषायी स्वरूप, यायावरी वृत्ति, शिक्षा, भिन्न भाषायी क्षेत्रों में वैवाहिक, व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सवध तथा सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक केन्द्रीय शासन आदि विविध तत्त्वों के द्रुत विकास एवं प्रसार के कारण आज भिन्न भाषाओं के बीच परस्पर जितना आदान-प्रदान हो रहा है उसकी डेढ़ दो हजार साल पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इनके अतिरिक्त आधुनिक भारतीय आर्य भाषा काल में तो अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं की शब्दावली, ध्वनियों एवं व्याकरणिक रूपों ने सभी भाषाओं को प्रभावित किया है। इतना होने पर भी आज भी भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की भाषाओं में पारस्परिक बोधगम्यता नहीं है। आज भारतीय आर्य भाषा क्षेत्र में जितनी भिन्न भाषाएँ एवं किसी भाषा के जितने भिन्न-भिन्न उपरूपों का प्रयोग होता है प्राकृत युग में तो उस क्षेत्र में निश्चित रूप से अपेक्षाकृत अधिक सख्या में भिन्न भाषाओं तथा उनके विभिन्न क्षेत्रीय उपरूपों का प्रयोग होता होगा किन्तु हमें आज जो प्राकृत रूप उपलब्ध हैं वे एक ही प्राकृत के क्षेत्रीय रूप हैं जिनमें बहुत कम अन्तर है एक भाषा की क्षेत्रीय बोलियों में जितने अन्तर प्रायः होते हैं उससे भी बहुत कम। भाषा की बोलियों के अन्तर तो सभी स्तरों पर हो सकते हैं जबकि इन तथाकथित भिन्न प्राकृतों में तो केवल उच्चारणगत भेद ही उपलब्ध हैं। विभिन्न प्राकृतों को देश भाषाओं के नाम से अभिहित किया गया है किन्तु तात्त्विक दृष्टि से ये देश की अलग-अलग भाषाएँ न होकर एक ही प्राकृत भाषा के देश भाषाओं से रजित रूप हैं। एक ही मानक साहित्यिक प्राकृत के विविध क्षेत्रीय रूप हैं जिनमें स्वभावतः विविध क्षेत्रों की उच्चारणगत भिन्नताओं का प्रभाव समाहित है। आधुनिक दृष्टि से समझना चाहे तो ये हिन्दी, मराठी, गुजराती की भाँति भिन्न भाषाएँ नहीं हैं अपितु आधुनिक साहित्यिक हिन्दी भाषा के ही 'कलकत्तिया हिन्दी,' 'बम्बइया हिन्दी,' 'नागपुरी हिन्दी' जैसे रूप हैं।

मेरी इस प्रतिपत्तिका का आधार केवल भाषा वैज्ञानिक ही नहीं है, इसकी पुष्टि अन्य स्रोतों से भी सम्भव है। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र<sup>१</sup> में यह विधान किया है कि नाटक में चाहे शौरसेनी भाषा का प्रयोग किया जाये चाहे अपनी

इच्छानुसार किसी भी देशभाषा का, क्योंकि नाटक में नाना देशों में उत्पन्न हुए काव्य का प्रसंग आता है। उन्होंने देश भाषाओं का वर्णन करते हुए उनकी संख्या सात बतलायी है (१) मागधी, (२) आवती, (३) प्राच्या, (४) शौरसेनी, (५) अर्ध मागधी, (६) वाल्मीका, (७) दाक्षिणात्या।

इस विवेचन के आधार पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि भरत मुनि सात भाषाओं की बातें कर रहे हैं किन्तु यदि हम सदर्भ को ध्यान में रखकर विवेचना करें तो पाते हैं कि भरत मुनि यह विधान कर रहे हैं कि नाटककार किसी भी नाटक में इच्छानुसार देश प्रसंग के अनुरूप किसी भी देश भाषा का प्रयोग कर सकता है। कोई भी नाटककार अपने नाटक में पात्रानुकूल भाषा नीति का समर्थक होते हुए भी विविध भाषाओं का प्रयोग नहीं करता, नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि उसे ऐसी भाषा का प्रयोग करना पड़ता है जिसका अभिनेता ठीक प्रकार उच्चारण कर सके और उस नाटक का दर्शक समाज भिन्न-भिन्न पात्रों के भिन्न-भिन्न सम्वादों को समझ सके। यदि सम्प्रेषणीयता ही नहीं होगी तो 'रस' कैसे उत्पन्न होगा? यही कारण है कि समाज के विविध स्तरों एवं विभिन्न क्षेत्रों के पात्रों के स्वाभाविक चरित्र-चित्रण की दृष्टि से पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग करते समय एक ही भाषा के विविध रूपों तथा उस भाषा के अन्य भाषियों के उच्चारण-लहजों के द्वारा प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। कोई हिन्दी नाटककार अपने हिन्दी नाटक में वगला भाषी पात्र से वगला भाषा में नहीं बोलवाता अपितु उसकी हिन्दी को वगला उच्चारण से रजित कर देता है।

इस दृष्टि से सात देश भाषायें अलग-अलग भाषायें नहीं हैं, किसी एक ही साहित्यिक प्राकृत के भिन्न देशों की भाषाओं से रजित रूप है। यदि ये देश भाषाएँ अलग-अलग भाषाएँ ही होती तो भरत मुनि यह विधान न करते कि अन्त-पुरनिवासियों के लिए मागधी, चेट, राजपुत्र एवं सेठों के लिए अर्ध मागधी, विदूषकादिकों के लिये प्राच्या, नायिका और सखियों के लिए शौरसेनी मिश्रित आवती, योद्धा, नागरिकों और जुआड़ियों के लिए दाक्षिणात्या और उदीच्य, खमो, शत्रु, शको तथा उन्हीं के समान स्वभाव वालों के लिए उनकी देशी भाषा वाल्मीका उपयुक्त है।<sup>१</sup> जहाँ तक इन तथाकथित भिन्न प्राकृतों के प्रयोग का प्रश्न है शौरसेनी प्राकृत का उपयोग मस्कृत नाटकों में गद्य की भाषा के रूप में हुआ है। मागधी प्राकृत में कोई स्वतन्त्र रचना नहीं मिलती। सस्कृत नाटककार निम्न श्रेणी के पात्रों में मागधी का प्रयोग करते हैं। अर्ध मागधी में मागधी एवं शौरसेनी दोनों की प्रवृत्तियाँ पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं। महाराष्ट्री प्राकृत को आदर्श प्राकृत कहा गया है।<sup>२</sup> दण्डी ने यद्यपि महाराष्ट्री को महाराष्ट्र आश्रित भाषा कहा है तथापि मत्स्य यह है कि यह क्षेत्र विशेष की प्राकृत न होकर शौरसेनी प्राकृत का परवर्ती विकसित रूप है। यह जरूर विवादास्पद है कि शौरसेनी एवं महाराष्ट्री

का अन्तर कालगत है अथवा शैलीगत। कालगत अन्तर मानने वालों का तर्क है कि प्राकृत के वैयाकरणों ने महाराष्ट्री का अनुशासन आठवीं शताब्दी के पश्चात् निबद्ध किया है। डा० मनमोहन घोष ने स्थापित किया कि प्राचीन शौरसेनी महाराष्ट्री की जननी है।<sup>१५</sup> डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने भी शौरसेनी प्राकृत तथा शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की एक अवस्था को महाराष्ट्री प्राकृत माना है।<sup>१६</sup> इनका शैलीगत अन्तर मानने वालों में स्टेन कोनो प्रमुख है, जिन्होंने यह नियम प्रतिपादित किया कि पद्य की महाराष्ट्री एवं गद्य की शौरसेनी होती है। शौरसेनी में द्विस्वरान्तर्गत व्यंजनो का घोषीकरण अर्थात् व्यंजन वर्ग के प्रथम व्यंजन के स्थान पर उसी वर्ग के तृतीय व्यंजन की स्थिति पायी जाती है जबकि महाराष्ट्री में द्विस्वरान्तर्गत व्यंजनो का लोप होकर स्वर बाहुल्य स्थिति हो जाती है।

डा० मनमोहन घोष ने विकास एवं शैली में तारतम्य स्थापित कर प्रतिपादित किया कि पहले शौरसेनी प्राकृत थी जिसमें गद्य रचना हुई। संस्कृत के नाटककार जब गद्य में पात्रों से वार्तालाप कराते थे तो शौरसेनी प्राकृत का उपयोग करते थे क्योंकि वह तत्कालीन जनता के भाषिक रूपों के निकट थी। बाद में उसका विकास महाराष्ट्री प्राकृत के रूप में हुआ। जब कवियों ने पद्यरचना में महाराष्ट्री प्राकृत का उपयोग किया तो उन्होंने मृदुता के लिए व्यंजनो का लोप कर भाषा को स्वर बाहुल्यता प्रदान कर दी।<sup>१७</sup>

प्राकृतों की भाँति अपभ्रंशों की भी स्थिति है। अपभ्रंश शब्द के भाषागत प्रयोग का जो प्राचीनतम उल्लेख प्राप्त है उसमें तो अपभ्रंश किसी भाषा के लिए प्रयुक्त न होकर संस्कृत के विकृत रूपों के लिए प्रयुक्त मिलता है।<sup>१८</sup> नाट्यशास्त्रकार के समय प्राकृतों के युग में अपभ्रंश एक बोली थी। कालान्तर में इस बोली रूप अपभ्रंश पर आधारित मानक अपभ्रंश का उत्तरोत्तर विकास हुआ जिसका स्वरूप स्थिर हो गया। अपनी इसी स्थिति के कारण हिमालय से सिन्धु तक इसका रूप उकार बहुला था। प्राकृतों के साहित्यिक युग के पश्चात् उकार बहुला अपभ्रंश साहित्यिक रचना का माध्यम बनी। आठवीं नौवीं शताब्दी तक राजशेखर के समय तक यही अपभ्रंश सम्पर्क भाषा के रूप में पंजाब से गुजरात तक व्यवहृत होती थी।

“समस्त मरुएव टक्क, और भादानक में अपभ्रंश का प्रयोग होता है”<sup>१९</sup> तथा सौराष्ट्र एवं त्रिवण्णादि देशों के लोग संस्कृत को भी अपभ्रंश के मिश्रण सहित पढ़ते हैं<sup>२०</sup> जैसी उक्तिया इसकी परिचायक हैं।

आगे चलकर इसी मानक साहित्यिक अपभ्रंश रूप के विविध क्षेत्रों में उच्चारण भेद हो गए। नौवीं शताब्दी में ही रुद्रट ने स्वीकार किया कि अपभ्रंश के देशभेद से बहुत से भेद हैं।<sup>२१</sup>

अपभ्रंश भाषा के उपनागर, आभीर एवं ग्राम्य भेदों को ‘भूरिभेद’ कहकर

अर्थात् भूमि की भिन्नता के कारण एक ही भाषा के स्वामाविक भेद बतलाकर खड्ड ने एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया है।

ईसा की १२वीं शताब्दी तक अपभ्रंश लोकभाषा न रहकर साहित्य में प्रयुक्त होने वाली रूढ़ भाषा बन चुकी थी। वस्तुतः ११वीं शताब्दी से तो आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के प्राचीन भाषा रूपों में लिखित साहित्यिक ग्रन्थ मिलने आरम्भ हो जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि बोलचाल की भाषा के रूप में तो अपभ्रंश के विविध रूप ६०० ई० या अधिक से अधिक १००० ई० तक ही व्यवहृत होते होंगे। अपभ्रंश के इन विविध रूपों की सामग्री, जिनसे विविध आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास हुआ, उपलब्ध नहीं है। अपभ्रंश के देशगत भेद उसी प्रकार अथवा उससे भी अधिक विद्यमान रहे होंगे जिस प्रकार आज आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के भेद विद्यमान हैं।

विष्णुधर्मोत्तरकार के अनुसार तो स्थान भेद के आधार पर अपभ्रंश के भेदों का अन्त ही नहीं है।<sup>११</sup> प्राकृत सर्वस्व से भी पता चलता है कि अपभ्रंश के २७ भेद स्वीकृत थे।<sup>१२</sup>

‘प्राकृतानुशासन’ में भी नागर, ब्राह्म, उपनागर, पचाल, वैदर्भी, लाटी, ओड्डी, कैंकेयी, गौडी, टक्क, वर्वर, कुन्तल, पाड्य तथा सिंहल आदि अपभ्रंशों का उल्लेख है।

अपभ्रंश के विविध रूप बोले जाते थे इसमें कोई सन्देह नहीं है किन्तु इन भिन्न-भिन्न रूपों में साहित्य उपलब्ध न होने के कारण इनका परिचय प्राप्त नहीं है। अपभ्रंश साहित्य का विकास मालवा, राजस्थान तथा गुजरात में ही हुआ। इन्हीं प्रदेशों की अपभ्रंशों के आवार पर विकसित साहित्यिक अपभ्रंश में साहित्यिक रचना हुई। इसी साहित्यिक अपभ्रंश का रूप आज सुरक्षित है जिसमें कालान्तर में प्रत्येक प्रदेश के साहित्यकारों ने साहित्य रचना की। इस प्रकार साहित्य के रूप में जिस मानक अपभ्रंश का प्रयोग हुआ है उसमें प्राकृतों की भाँति यत्किंचित् स्थानीय भेदों की झलक तो है किन्तु वस्तुतः वे एक ही साहित्यिक अपभ्रंश भाषा के रूप हैं।

३ अपभ्रंश के विविध रूपों से निम्नृत होते समय आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का जो रूप बोला जाता होगा उसकी भी हमें जानकारी नहीं है। इस प्रकार के विवरण तो उपलब्ध है कि किस अपभ्रंश रूप से किस आधुनिक भारतीय आर्य भाषा का विकास हुआ है। इस सम्बन्ध में ‘पाड्य-सद्-महण्णवो’ का विवरण उल्लेखनीय है जिसमें कहा गया है कि “महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी और कोकणी भाषा, मागधी अपभ्रंश की पूर्वी शाखा से बगला, उडिया और असमिया भाषा, मागधी अपभ्रंश की बिहारी शाखा से मैथिली, मगही और भोजपुरिया, अर्द्धमागधी अपभ्रंश से पूर्वीय हिन्दी

भाषाये अर्थात् अवधी, वघेली, और छत्तीसगढ़ी, शौरसेनी अपभ्रंश से बुन्देली, कन्नौजी, ब्रजभाषा, वागरू, हिन्दी या उर्दू ये पाश्चात्य हिन्दी भाषायें, नागर अपभ्रंश से राजस्थानी, मालवी, मेवाड़ी, जयपुरी, मारवाड़ी तथा गुजराती भाषा, पालि से सिंहली और मालदीवन, टाक्की अथवा ढाक्की से लहण्डी या पश्चिमीय पजाबी, टाक्की अपभ्रंश (शौरसेनी से प्रभावयुक्त) से पूर्वीय पजाबी, ब्राचड अपभ्रंश से सिन्धी भाषा, और पैशाची अपभ्रंश से कश्मीरी भाषा का विकास हुआ।<sup>१३</sup>

यद्यपि यह विवरण भी केवल ऐतिहासिक सम्बन्धों का द्योतन कराने के उद्देश्य से ही प्रस्तुत है फिर भी इसमें यह दृष्टि तो मिलती ही है कि अपभ्रंश में ही विविध भाषिक धारार्ये थी तथा अलग-अलग धारा से किस प्रकार आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की किन प्रमुख शाखा प्रशाखाओं का विकास हुआ है। जिस प्रकार हमें अपभ्रंश की अलग-अलग भाषा धारा के वैशिष्ट्य की जानकारी एवं सामग्री प्राप्त नहीं है उसी प्रकार इन धाराओं से निःसृत होते समय आधुनिक भारतीय आर्य भाषा की किस शाखा का क्या जन प्रचलित स्वरूप था इसका ज्ञान नहीं है।

४ आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में से कुछ भाषाओं में प्राचीन साहित्य अवश्य उपलब्ध है। इस सम्बन्ध में भी दो सीमायें हैं

(क) उपलब्ध साहित्य स्रान्तिक काल के प्रथम चरण का न होकर परवर्ती युग का है। हिन्दी में ग्यारहवीं सदी में राउलबेल, उडिया में १०५१ ई० में अनन्त वर्मा के उरजम शिलालेख, बंगला में १०५० ई० से १२०० ई० तक के चरियागीति, मराठी एवं गुजराती में १२वीं शताब्दी में क्रमशः मुकुन्दराय के गीत तथा शालिभद्र कृत भारतेश्वर बाहुबलिरास मिलता है। पजाबी में तो १२वीं शताब्दी के भी अन्तिम चरण में बाबा फरीद शकरगज की रचनायें तथा असमिया में १३वीं शताब्दी में जाकर हेम सरस्वती, हरि विप्र, माधवकदाले तथा शकरदेव की रचनायें प्राप्त हो पाती हैं।

(ख) इससे लिखित साहित्यिक भाषा के ही स्वरूप का पता चल सकता है, जनजीवन में व्यवहृत तत्कालीन भाषिक रूपों का पता नहीं चलता।

इस प्रकार यह यद्यपि निर्विवाद है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विविध रूपों का विकास उनके प्राकृत एवं अपभ्रंश रूपों से हुआ किन्तु उपर्युक्त कारणों से हम इस विकास यात्रा का पूरा लेखा जोखा प्रस्तुत नहीं कर सकते।

अतएव प्राकृत एवं अपभ्रंश के साहित्यिक भाषा रूपों की सामान्य उच्चारण-गत अभिरचनाओं, व्याकरणिक व्यवस्थाओं एवं सरचनाओं ने आधुनिक भारतीय

आर्य भाषाओं का जिस प्रकार सामान्य रूप में प्रभावित किया है वही केवल उगी प्रभाव की चर्चा प्रस्तुत की जा रही है।

## ध्वन्यात्मक

१ प्राकृत अपभ्रंश की ध्वन्यात्मक अभिरचनाओं एवं प्रमुख स्वर व्यंजन ध्वनियां आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की केन्द्रवर्ती भाषाओं में सुरक्षित हैं। इसके विपरीत सीमावर्ती आर्य भाषाओं में प्राकृत अपभ्रंश ध्वन्यात्मक अभिरचना से भिन्न ध्वन्यात्मक विशेषताओं का भी विकास हुआ है।

इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उदाहरण दृष्टव्य हैं

(क) असमिया में दन्त्य एव मूर्धन्य व्यंजनों की भेदकता एवं वैषम्य समाप्त हो गया है। तालव्य व्यंजन दन्त्य सधर्पी में तथा दन्त्य सधर्पी 'म्' का कोमल तालव्य सधर्पी के रूप में विकास हुआ है।

(ख) मराठी में चवर्गीय ध्वनियों का विकास दो रूपों में हुआ है तथा न्वरो की अनुनासिकता का लोप हो गया है।

(ग) केन्द्रवर्ती भाषाओं में पूर्व भारतीय आर्य भाषा की परम्परानुरूप महाप्राण ध्वनियों का उपयोग होता है किन्तु अन्य भाषाओं में सधोप महाप्राण व्यंजनों एवं हकार का भिन्न-भिन्न रूपों में उच्चारण होता है। इस दृष्टि से डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पूर्वोक्त भाषा में कण्ठनालीय स्पर्श के साथ-साथ आशिक रूप में विशिष्ट स्वर विन्यास का व्यवहार तथा पञ्जाबी में स्वर विन्यास परिवर्तन मानते हैं तथा राजस्थानी में ह-कार की जगह कण्ठनालीय स्पर्श ध्वनि तथा सधोप महाप्राणों के आश्रित उच्चारण की उपस्थिति से यह अनुमान व्यक्त करते हैं कि राजस्थानी तथा गुजराती में इस प्रकार का उच्चारण कम से कम अपभ्रंश काल की रीति तो अवश्य ही है।<sup>१४</sup>

(घ) सिन्धी एवं लहदा में अन्त स्फोटात्मक ध्वनियों का विकास हुआ है।

(ङ) पञ्जाबी में तान का विकास हुआ तथा सधोप महाप्राण व्यंजन तानयुक्त अल्पप्राण व्यंजनों के रूप में परिवर्तित हो गए। इस सम्बन्ध में डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने डा० सिद्धेश्वर वर्मा के मत का उल्लेख किया है कि श्रुति की दृष्टि से पञ्जाबी में 'भ, घ, ढ' आदि के परिवर्तन में महाप्राणता सुनायी नहीं पड़ती, बाद के स्वर के साथ श्वास का कुछ परिमाण सलग्न रहता है, जो उसके स्वर-विन्यास की एक विशिष्टता माना जा सकता है।<sup>१५</sup>

२ 'ऋ' का उच्चारण पालि युग में ही समाप्त हो गया था। इसका उच्चारण आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में 'र' 'रि' एवं 'रु' रूप में हुआ। आज भी 'रि'

मे 'रू' के बाद का 'ड' का उच्चारण अग्न की अपेक्षा मध्योन्मुखी होता है।

३ 'प' वर्ण का मूर्धन्य उच्चारण किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में नहीं होता।

४ अपभ्रंश के 'एँ' एवं 'ओँ' के ह्रस्व उच्चारण आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में सुरक्षित है। इसी कारण 'ए' 'ऐ' 'ओ' 'औ' का उच्चारण मूल स्वरों के रूप में होने लगा है।

५ हिन्दी, उर्दू, सिन्धी, पंजाबी, उडिया आदि में मूर्धन्य उत्क्षिप्त 'ड' एवं 'ढ' विकसित हो गए हैं।

६ मध्य भारतीय आर्य भाषा काल में जिन शब्दों में समीकरण के कारण एक व्यंजन का द्वित्व रूप हो गया था, अपभ्रंश के परवर्ती युग में एक व्यंजन शेष रह गया तथा उसके पूर्ववर्ती अक्षर के स्वर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण हो गया। सिन्धी, पंजाबी एवं हिन्दी की वागए एवं खडी बोनी के अतिरिक्त सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में यह प्रवृत्ति सुरक्षित है। यथा

कर्म > कम्म > कम्मु > कामु > काम्

७. अपभ्रंश में अन्त्य स्वर के ह्रस्वीकरण एवं लोप की प्रवृत्ति मिलती है। 'पासणाह चरिउ'<sup>१६</sup> से कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं

महिला > महिल १।१०।१२। जघा > जघ ३।२।८।

गृहिणी > घरिणि १।१०।४। गम्भीर > गहिर ३।१४।२।

पापाण > पाहण २।१२।६। पुडरीक > पुडरिय १।७।२।१।२।

बिहारी, काश्मीरी, सिन्धी और कोकणी के अतिरिक्त अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में भी यह प्रवृत्ति है।

हिन्दी में अकारान्त शब्दों को प्रायः व्यंजनान्त रूप में उच्चरित किया जाता है।<sup>१७</sup>

## व्याकरणिक

१ विभक्ति रूपों की संख्या में कमी प्राकृत काल में ही विभक्ति रूपों की संख्या में कमी हो गयी थी। विभिन्न कारकों के लिए एक विभक्ति तथा एक कारक के लिए विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग होने लगा था। एक ओर कर्म, करण, अपादान तथा अधिकरण के लिए षष्ठी विभक्ति का तथा कर्म एवं करण के लिए सप्तमी विभक्ति का तो दूसरी ओर अपादान के लिए तृतीया तथा सप्तमी विभक्तियों का प्रयोग मिलता है।<sup>१८</sup>

अपभ्रंश में विभक्ति रूपों की संख्या में और कमी हो गयी। कर्ता-कर्म-सम्बोधन के लिये समान विभक्तियों का प्रयोग आरम्भ हो गया। इसी प्रकार एक ओर करण-अधिकरण के लिए तो दूसरी ओर सम्प्रदान-सम्बोधन के लिए समान

विभक्तियों का प्रयोग होने लगा। उदाहरणार्थ, अपभ्रंश के विभक्ति रूपों को उस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है

	एक वचन	बहुवचन		
		पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	
कर्ता-कर्म-सम्बोधन	-अ, -आ, -उ, -ओ	-अ, आ	-अ, -आ, -उ	
	एक वचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
करण-अधिकरण	-ए, -ए -एण, -इण -ई	-ए, -इ  -हि	-हि	-हि
सम्प्रदान-सम्बन्ध	-हो -आसु -स्स	-हे -हि	-ह -आह	-ह
अपादान	-हो, हे-हु	-हे, -हि	-आहु	-हि

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में विभक्ति रूपों की संख्या में क्रमशः ह्रास हुआ है। जिन भाषाओं की सश्लिष्ट प्रकृति अभी भी विद्यमान है उनमें विभक्ति रूपों की संख्या अभी भी अधिक है किन्तु जिन भाषाओं ने वियोगात्मकता की ओर तेजी में कदम बढ़ाया है उनमें विभक्ति प्रत्ययों की संख्या बहुत कम रह गयी है। इस दृष्टि से यदि हम मराठी एवं हिन्दी का अध्ययन करें तो स्थिति स्पष्ट हो जाती है। मराठी में सज्ञा शब्द के जहाँ अनेक वैभक्तिक रूप विद्यमान हैं मुलास (द्वितीया), मुलाने (तृतीया), मुलाला (चतुर्थी), भूलाहून (पचमी), मुलाचा (षष्ठी), मुलात (सप्तमी), मुला (सम्बोधन) वहाँ दूसरी ओर हिन्दी में पुल्लिंग सज्ञा शब्दों में या तो केवल विकारी कारक बहुवचन के लिए अथवा अविकारी कारक बहुवचन, विकारी कारक एकवचन एवं विकारी कारक बहुवचन के लिए विभक्तियाँ लगती हैं। स्त्रीलिंग सज्ञा शब्दों में केवल अविकारी बहुवचन एवं विकारी बहुवचन के लिए विभक्तियाँ जुड़ती हैं, एकवचन में प्रातिपदिक ही प्रयुक्त होता है।”

२ परसर्गों का विकास अपभ्रंश में विभक्ति रूपों की कमी के कारण अर्थों



मे अस्पष्टता आने लगी होगी। कारको के अर्थों को व्यक्त करने के लिए इसी कारण अपभ्रंश में शब्द के विभक्तिक रूप के पश्चात् अलग से शब्दों अथवा शब्दांशों का प्रयोग आरम्भ हो गया। यद्यपि संस्कृत में भी 'रामस्य कृते' तथा प्राकृत में 'रामस्य केरक धरम्' जैसे प्रयोग मिल जाते हैं तथापि इतना निश्चित है कि अपभ्रंश में परसर्गों की सुनिश्चित रूप से स्थिति मिलती है। करण के लिए सहु, सउ, समाणु, सम्प्रदान के लिए तेहि, केहि, अपादान के लिए लइ, होन्तउ, ठिन, —पासिउ, सम्बन्ध के लिए तण, तणि—केरउ तथा अधिकरण के लिए मज्जे,—मज्झि जैसे परसर्गों का बहुल प्रयोग अपभ्रंश साहित्य में हुआ है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में परसर्गों का विकास हुआ है। इनके प्रयोग में सभी भाषाओं की स्थिति समान नहीं है। आज भी कुछ भाषाएँ कारकीय अर्थों को परसर्गों से नहीं अपितु शब्द के विभक्तियुक्त रूपों से व्योक्त कर रही हैं किन्तु फिर भी परसर्गों का प्रयोग कम या अधिक सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में होता है। जिन भाषाओं में विभक्तियुक्त शब्द द्वारा कारक का अर्थ व्यक्त किया जाता है उनमें भी अलग-अलग कारक के लिए अलग-अलग विभक्ति रूपों का सम्बन्ध सुनिश्चित नहीं है। यथा मराठी में एक ही कारक को व्यक्त करने के लिए अनेक विभक्तियों का प्रयोग होता है तथा एक ही विभक्ति अनेक कारको का अर्थ व्यक्त करती है।<sup>१०</sup> उसमें भी तृतीया के ने, नी, पचमी के —ऊन, —हून तथा षष्ठी में प्रयुक्त —चा, ची, चे, च्या आदि रूपों को परसर्ग कोटि में रखा जा सकता है। इसी प्रकार बंगला की प्रकृति भी अपेक्षाकृत सश्लिष्ट है किन्तु वहाँ भी दिया, द्वारा, के दिया, सगे, हइते, थेके जैसे शब्दांशों की स्थिति परसर्गों की ही है। यथा

मन दिया पढ (मन से पढो), तोमा द्वारा हाइवे ना (तुमसे नहीं होगा)

बहू के दिया गघाउ (बहू से रसोई बनवाओ)

आमी बघु सगे देखा करिते गेल (मैं मित्र से मिलने गया)

बाडी हइते चलिया गेल (घर से चला गया)

बाडी थेके चलिया गेल ( " " )।<sup>११</sup>

गुजराती में भी सम्प्रदान में 'माटे' तथा सम्बन्ध के लिए 'ना', 'नी' का प्रयोग होता है। पञ्जाबी में भी सम्बन्ध में 'दा', 'दी' का प्रयोग होता है।

परसर्गों के प्रयोग के सम्बन्ध में हिन्दी की स्थिति अधिक स्पष्ट है। हिन्दी में सज्ञा शब्दों में कारकीय अर्थों को विश्लिष्ट प्रकृति के परसर्गों द्वारा ही व्यक्त किया जाता है।

हिन्दी में परसर्गों का विकास आरम्भ से ही अधिक हुआ। हिन्दी के आदि-कालीन साहित्य में ही विभिन्न कारकीय रूपों को सम्पन्न करने के लिए परसर्गों

का प्रयोग मिलता है। कर्ता के अर्थ में डा० उदयनारायण तिवारी ने चदरवरदाई की भाषा में 'ने' का प्रयोग स्वीकार किया है।<sup>१३</sup> कीर्तिलता की भाषा में कर्ता के अर्थ में —आ, —ए, —ओ का प्रयोग हुआ है।<sup>१४</sup>

कर्म के अर्थ में 'को' का प्रयोग ११वीं सदी से राजलवेल में मिलने लगता है। वीसलदेव रानो<sup>१५</sup> में 'नू' एवं कीर्तिलता में 'हि', 'हि' का प्रयोग कर्मकारक के अर्थ में हुआ है।

करण के अर्थ में कीर्तिलता में<sup>१६</sup> 'ए' एन' 'हि' का, पृथ्वीराजरासो<sup>१७</sup> में 'ते', 'वाचा', 'से', 'सहु', 'मू', 'सो', तथा खुमरो<sup>१८</sup> के काव्य में 'से' का प्रयोग मिलता है।

इसी प्रकार की स्थिति अन्य कारकीय अर्थों को व्यक्त करने के सम्बन्ध में है।

३ भाषा प्रकृति अर्द्ध अयोगात्मक आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की विवेचना करते समय प्रायः विद्वानों ने उन्हें अयोगात्मक भाषायें कहा है। यह ठीक है कि 'हिन्दी' ने अपभ्रंश की अर्द्ध-अयोगात्मक स्थिति की अपेक्षा अयोगात्मकता की ओर अधिक विकास किया है तथापि भाषा-प्रकृति की दृष्टि से आज भी आधुनिक भारतीय आर्य भाषायें अर्द्ध-अयोगात्मक हैं। शब्द के वैभक्तिक रूप भी मिलते हैं तथा परमर्गों का भी प्रयोग होता है। कारकीय रूपरचना में विभिन्न भाषाओं में विभक्तियाँ संश्लिष्ट रूप में भी व्यवहृत होती हैं। उदाहरणार्थ सिन्धी एवं पंजाबी में अपादान एवं अधिकरण कारको में, गुजराती में करण एवं अधिकरण में, मराठी में करण, सम्प्रदान तथा अधिकरण में तथा इसी प्रकार उडिया में अधिकरण में विभक्तियों का संयोगात्मक रूप द्रष्टव्य है। बंगला में भी सम्बन्धतत्त्व संश्लिष्ट रूप में प्राप्त होता है।

हिन्दी में भी सर्वनाम रूपों में कर्म सम्प्रदान में इसे, उसे, इन्हे, उन्हें, तुझे जैसे रूप मिलते हैं जिनकी प्रकृति संश्लिष्ट है। यह बात अलग है कि हिन्दी में इनके वियोगात्मक रूप भी उपलब्ध हैं यथा इसको, उसको, उनको, इनको, तुझको। इसी प्रकार वर्तमान सम्भावनार्थ पढ़ूँ, पढ़ें, पढ़ें, पढ़ो तथा आज्ञार्थक पढ़ना, पढ़ियेगा, पढ़ो, पढ़ मे संयोगात्मकता की स्थिति देखी जा सकती है।

४ नपुसकलिंग की स्थिति अपभ्रंश काल में नपुसकलिंग का लोप हो गया था। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में मराठी एवं गुजराती को छोड़कर गेप सभी में नपुसकलिंग नहीं है। सिन्धी में प्राणी तथा अप्राणीवाची आधार पर प्राणवान तथा प्राणहीन दो लिंग हैं, जो द्रविड परिवार की भाषाओं के प्रभाव के सूचक प्रतीत होते हैं। गेप में पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग दो लिंग हैं। इनमें भी बंगला एवं उडिया में देशज शब्दों में लिंग विधान शिथिल है। जान वीम्स के अनुसार इनमें तत्सम शब्दों को छोड़कर गेप शब्दों में लिंग व्यवस्था नहीं है।<sup>१९</sup>

५. बहुवचन द्योतक सर्वदावली सिन्धी, मराठी तथा पश्चिमी हिन्दी के

अतिरिक्त शेष अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में कर्ता कारक के शब्दों में बहुवचन का द्योतन विभक्तियों से न होकर बहुवचन द्योतक शब्दों अथवा शब्दांशों से व्यक्त होने लगा है। उदाहरणार्थ बंगला में 'सकल' यथा कुक्कुर सकल (कुत्ते)। इसी प्रकार उडिया में 'मनि' असमिया में 'बोर' मैथिली 'सम' एवं भोजपुरी 'लोगनि' इत्यादि शब्द रूप बहुवचन द्योतक हैं।

पश्चिमी हिन्दी, सिन्धी, मराठी में कर्ता कारक बहुवचन के वैभक्तिक रूप उपलब्ध हैं। यथा

सिन्धी	एकवचन	पिउ	बहुवचन	पिउर
मराठी	एकवचन	—रात	बहुवचन	—राती
हिन्दी	—एकवचन	लडका	बहुवचन	लडके

यहां यह उल्लेखनीय है कि इन भाषाओं में भी बहुवचन को स्वतंत्र शब्दों द्वारा व्यक्त करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। यथा

हिन्दी	एकवचन	राजा	बहुवचन	राजा लोग
मराठी	—एकवचन	दोघे	बहुवचन	दोघे जण

इस प्रकार की प्रवृत्ति सजा शब्दों की अपेक्षा सर्वनाम रूपों में अधिक है। यथा—पश्चिमी हिन्दी हम लोग। भोजपुरी हमनीका। मागधी हमनी। मैथिली हमरा सम। बंगला—आमि सब।

आधुनिक भारतीय भाषाओं की यह प्रवृत्ति मध्ययुगीन भाषाओं की व्यवस्था से अवश्य भिन्न है तथा अयोगात्मकता की ओर उन्मुख होने की सूचक है।

६ प्राकृत एवं अपभ्रंश के क्रिया रूप मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की क्रिया संरचना का प्रभाव आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में वर्तमान अथवा वर्तमान सम्भावनार्थ काल एवं आज्ञार्थक रूपों पर पड़ा है।

अपभ्रंश में वर्तमान काल द्योतक उत्तम पुरुष उ, —हु, मध्यम पुरुष —हि, —हु एवं अन्य पुरुष —अइ, —हिं, —अन्ति विभक्तियां थीं।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में ये प्रवृत्तियां इस प्रकार हैं

पुरुष	वचन	हिन्दी	गुजराती	मराठी	बंगला	उडिया	पंजाबी
उत्तम पुरुष	एकवचन	—ऊ	—ऊ	—ए	—इ	—अइ	—आ
	बहुवचन	—ए	—इये	—ओ —ऊ	—इ	—उ	—अय
मध्यम पुरुष	एकवचन	—ए	—ए	—अस	—इस	—उ	—ए
	बहुवचन	—ओ	—ओ	—आ	—अ	—अ	—ओ

अन्य	एकवचन	—ए	—ए	—ए	—ए	—अइ	—ए
पुरुष	बहुवचन	—ए	—ए	—अत	—एन	—अन्ति	—अण

आधुनिक भारतीय भाषाओं के वर्तमान आज्ञार्थक रूपों का विकास भी मध्य-कालीन भारतीय क्रिया रूपों से हुआ है।

अपभ्रंश में भविष्यकालिक रूपों की रचना में धातु में विभक्ति लगाने के पूर्व 'इस्स' अथवा 'इह' प्रत्यय जुड़ता था। गुजराती —करीण, —करिणु, करणे —आदि रूपों से 'इस्स' का तथा हिन्दी की ब्रज आदि बोलियों के —करिहों —करिहै आदि में 'इह' का प्रभाव विद्यमान है।

७ क्रिया के कृदन्तीय रूपों का प्रयोग प्राचीन भारतीय आर्य भाषाकाल में भूतकालिक रचना के कई प्रकार थे। लङ् से असम्पन्न भूत, लुङ् से सामान्य भूत तथा लिट् से सम्पन्न भूतकाल की रचना होती थी। उदा० गम् धातु के रूप अगच्छत्, अगमत् एव जगाम वनते थे। इनमें क्रिया रूप विद्यमान था।

प्राकृत अपभ्रंश युग में इनके बदले भूतकाल भावे या कर्मणि-कृदन्त 'गत' लगाकर बनाया जाने लगा।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में कर्मणि कृदन्त रूप तो विद्यमान है ही, कृदन्तीय रूपों से काल रचना होने लगी है।

अधिकांश आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में वर्तमान कालिक कृदन्तीय रूप में पुरुष एव लिंग वाचक प्रत्यय लगाकर काल रचना होती है। यथा—हिन्दी —करता। गुजराती —करत। वगला —करित। मराठी—करित। उडिया करन्त।

इसी प्रकार भूतकालिक कृदन्तीय रूपों से भी कालरचना सम्पन्न होती है। अपभ्रंश में भूतकालिक कृदन्त रूप विशेषणात्मक रूप में पूर्ण क्रिया के स्थान में भी व्यवहृत होने लगे थे। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में हिन्दी गया गुजराती लीधु जैसे रूप वर्तमान हैं।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में से वगला, उडिया, असमिया, भोजपुरी मैथिली, मराठी आदि में भूतकालिक कृदन्त प्रत्यय 'ल' जुड़ता है। यथा वगला

गेल, होइल, मराठी गेलो, गेलास, भोजपुरी मारलो, मारलास। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि इस भूतकालिक कृदन्त प्रत्यय का प्रयोग परवर्ती अपभ्रंश में हुआ है। राउलवेल की भाषा में इसका प्रयोग देखा जा सकता है।<sup>१०</sup>

८ क्रियाओं में लिंगभेद—अपभ्रंश में कृदन्तीय रूपों में लिंगभेद किया जाता था। हिन्दी जैसी भाषाओं में क्रियाओं में लिंगभेद का कारण अपभ्रंश के कृदन्तीय रूपों की क्रिया रूपों में प्रयोग है। कृदन्त रूपों की क्रिया रूपों में अपनाने के कारण

हिन्दी में पढता, पढती, पढा, पढी आदि क्रियाओं में लिंगभेद मिलता है। मराठी में भी मी जातो (मैं जाता हूँ) एव मी जाते (मैं जाती हूँ) तथा तू जातोस (तू जाता है) एव तू जातेस (तू जाती है) क्रियाओं में लिंगभेद द्रष्टव्य है।

**६ सयुक्त कालरचना एव संयुक्त क्रिया निर्माण**—हिन्दी जैसी भाषाओं में मूल धातुओं में प्रत्यय लगाकर कालरचना की अपेक्षा वर्तमानकालिक कृदन्त एव भूतकालिक कृदन्त रूपों के साथ सहायक क्रियाओं को जोड़कर विविध कालों की रचना की जाती है। इसी प्रकार क्रिया के विभिन्न अर्थों को व्यक्त करने के लिये मुख्य क्रिया रूप के साथ सहकारी क्रियाओं को सयुक्त किया जाता है। मध्य-भारतीय आर्य भाषाकाल तक इस प्रकार की भाषायी प्रवृत्ति परिलक्षित नहीं होती। इस कारण विद्वानों ने आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में सयुक्त कालरचना एव सयुक्त क्रिया निर्माण को द्रविड भाषाओं के प्रभाव का सूचक माना है। इस सम्बन्ध में मेरा यह अभिमत है कि हिन्दी ने इस परम्परा को परवर्ती अपभ्रंश परम्परा से स्वीकार किया है। सयुक्त काल एव सयुक्त क्रिया निर्माण की प्रवृत्ति 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' एव 'राउलवेल' की भाषा में दिखायी देती है और इसी का विकास हिन्दी में हुआ है। परवर्ती अपभ्रंश में इस प्रकार की व्यवस्था भले ही द्रविड परिवार की भाषाओं के प्रभाव के कारण आयी हो।

## संदर्भ

- १ नाट्यशास्त्र १८३४-३५।
- २ नाट्यशास्त्र १८३६-४०।
- ३ महाराष्ट्राश्रया भाषा प्रकृष्ट प्राकृत विदुः ।—काव्यादर्श १।३४।
- ४ Introduction to Karpurmanjari, p 75  
University of Calcutta (1948)
- ५ भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० १०३ (१९६३) तृतीय परिवर्द्धित संस्करण, दिल्ली
- ६ Mana Mohan Ghosh, Maharaṣṭrī, a late phase of Śauraseni  
Journal of the Department of Letters of the Calcutta University, Vol XXXII, 1933
- ७ गरीयानप शब्दोपदेश । एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽप्यत्र शा । तद्वथा गोरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिका इत्येवमादयो बहवोऽप्यत्र शा । (पातजल, महाभाष्य १।१।१)।
- ८ सापञ्च शप्रयोगा सकलमरुभुवण्डवकु भादानकाश्च (काव्यमीमांसा, अध्याय १०)।
- ९ भुराष्ट्रवणाद्या ये पठन्त्यपितसोऽवम् ।  
अपञ्च शब्दशानि ते संस्कृत वचास्यपि (काव्यमीमांसा, अध्याय ७)
- १० ' भूरिभेदो देशविशेषादप्यत्र शा (काव्यालंकार २।१२) ।
- ११ स चाव्यैरूपनागराभीर ग्राम्यत्व भेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्त भूरि भेद इति ।
- १२ ब्राचडो लाट वेदभर्तृपुनानगर नागरी बार्बरावन्त्यपाचालटावकमालवकैकया । गोडो वैनयाश्चात्यपाड्यकोन्तल सिंहल । कलिगप्राच्य कार्णाटिका चद्राविडगोर्जरा । आभीरो

मध्यदेशीय सूक्ष्म भेदव्यवस्थिता सप्तविंशत्यपञ्च ज्ञा वेतालादि प्रभेदता (प्राकृत सर्वस्व २) ।

१३ पंडित हरगोविन्ददाम त्रिकमचंद षोड, पादश-सद्-महर्षिगो (प्राकृत भा० महार्षिगो ) कलकत्ता, प्रथम आवृत्ति मवत् १९८५ (सन् १९२८ ई०) ।

१४ दे० भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १२२-१३२ ।

१५ भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० १२७-१२८ ।

१६ पायणाहचरित सम्पादक प्रफुल्लकुमार मोदी (सन् १९६७) ।

१७ डा० महावीरसरन जैन, परिनिष्ठित हिन्दी का छविनिर्माणिक अध्ययन । पृ० २०-२२

१८ दे० (१) कोमलचंद जैन, प्राकृत-प्रवेशिका, पृ० ५८ ।

(२) प० अपिकेश भट्टाचार्य, प्राकृत ग्रामर, पृ० १२८ ।

१९ डा० महावीर सरन जैन, हिन्दी भाषा, भाषा, हिन्दी भाषा विशेषांक ।

२० महादेव मा० वासुदेव, मराठी की कारक व्यवस्था, गवेषणा, पृ० ८२-८४ वर्ष १०, अंक २० ।

२१ मरोजिनी शर्मा--हिन्दी और बंगला के परसर्गों का व्यतिरेकात्मक अध्ययन, गवेषणा, पृ० ६३-११०, वर्ष १०, अंक २० ।

२२ स० उदयनारायण तिवारी—वीरकाव्य, पृ० १६५ स० २०१२ ।

२३ स० वासुदेवशरण अग्रवाल कीर्तिलता २।२२८, २।२१८, ४।२४ ।

२४ स० उदयनारायण तिवारी वीरकाव्य, पृ० २२० ।

२५ स० वासुदेवशरण अग्रवाल—कीर्तिलता २।२७, ३।७८ ।

२६ वही—क्रमशः १।५०, १।४६, ४।४० ।

२७ स० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नामवरमिह पश्चिम पृथ्वीराज रासो, पृ० २५, ३१, ३२, १०८ ।

२८ स० बालकृष्ण राव हिन्दी काव्यसंग्रह (खुसरो), पृ० २७ ।

२९ John Beames, A Comparative grammar of the Modern Indian Aryan Languages, p 177

३० दे० डा० कैनाश चन्द्र भाटिया, राउलबेल में प्रयुक्त क्रियाएँ, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, मालवीय शती विशेषांक पृ० ४५७, वर्ष ६६, अंक २-३-४ (संवत् २०१८) ।

## प्राकृत-अपभ्रंश का राजस्थानी भाषा पर प्रभाव

डॉ० कृष्णकुमार शर्मा

‘राजस्थानी-भाषा’ पदवच के ‘राजस्थानी’ पद को विशेष सावधानीपूर्वक प्रयुक्त करने की अपेक्षा है। इस पदवच के ‘राजस्थानी’ पद का अर्थ आधुनिक वृहत्-राजस्थान नहीं है। वरन् ‘राजस्थानी भाषा’ से तात्पर्य उस भाषा से है, जिसका मूल भारत के इस पश्चिमी प्रदेश में ५०० ई० से १००० ईसा तक प्रचलित जनभाषा अपभ्रंश में है। इसी राजस्थानी भाषा का साहित्यिक रूप ‘डिंगल’ है। राजस्थान की इस साहित्यिक भाषा डिंगल की दो अवस्थाओं का उल्लेख विद्वानों ने किया है। इसवी सन् की १३वीं शताब्दी से लेकर १६वीं शताब्दी के अंत तक के युग को टैसीटोरी ने प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का युग कहा है।<sup>१</sup> १७वीं शताब्दी के प्रारंभ से लेकर आज तक के समय को आधुनिक मारवाड़ी का युग कहा जाता है। इसी आधार पर इन दो कालों की डिंगल को ‘प्राचीन डिंगल’ एवं ‘अर्वाचीन डिंगल’ कहा गया। किन्तु ध्यान देने पर ज्ञात होगा कि अपने मूल से पृथक् होने के समय से अब तक की राजस्थानी की तीन अवस्थाएँ स्पष्ट हैं। एक वह जिसे ‘प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी’ नाम दिया गया है। यही रूप अपभ्रंश का उत्तराधिकारी है।<sup>२</sup> द्वितीय अवस्था वह है जो पृथ्वीराज रचित ‘वेलि किसन स्कमणीरी’ में मिलती है। ‘वेलि’ की भाषा में ढाँचा तो प्राचीन राजस्थानी का है, परन्तु माध्यमिक राजस्थानी में विकसित कतिपय विशेषताएँ भी ‘वेलि’ की भाषा में हैं। ‘वेलि’ साहित्यिक राजस्थानी में रची गई है।<sup>३</sup> तृतीय अवस्था वीरसतसई एवं आधुनिकतम काव्यों, जैसे—वादली, साझ आदि में देखी जा सकती है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के उदाहरण ‘मुग्धावबोधमौक्तिक’ की भाषा में हैं।

इस प्रकार ‘कान्हडदे प्रवध’, वेलि, वीरसतसई, वादली, साझ आदि रचनाएँ राजस्थानी के ऐतिहासिक विकास की सामग्री प्रस्तुत करती हैं। प्राकृत-अपभ्रंश से आधुनिक राजस्थानी तक की विकास यात्रा का इतिहास इन रचनाओं के माध्यम से ही जाना जा सकता है। इसी दृष्टि से राजस्थानी के लिखित साहित्य

को आवारभूत सामग्री के रूप में ग्रहण करना ममुचित है। विकास के ऐतिहासिक स्वरूप को ध्वनि (उच्चारण), रूप, वाक्य और शब्दसमूह की दृष्टि से परखा जा सकता है। प्रस्तुत निवध में 'ध्वनि' और 'रूप' को ही आधार बनाया गया है। 'ध्वनि' में भी उन परिवर्तनों को दिखलाना अभिप्रेत है, जो प्राकृत-अपभ्रंश से राजस्थानी में किञ्चित् अंतर के साथ आए हैं, अथवा वैसे ही प्रयुक्त हो रहे हैं। उच्चारण पर विचार नहीं किया जा रहा है। रूपवैज्ञानिक विकास में सभी समव आयामों का आख्यान करना उचित होगा। भारत के पश्चिमी प्रदेश की जन-भाषा गोरसेनी अपभ्रंश से विकसित राजस्थानी रूपात्मक दृष्टि से कितने विकास स्तरों से गुजरी यह स्वयं में महत्वपूर्ण शोध का विषय है। पिंगल अपभ्रंश प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का स्रोत नहीं है। उसमें अनेक तत्त्व ऐसे हैं जो पूर्वी राजस्थानी बोलियों की विशेषता हैं। प्रस्तुत निवध का उद्देश्य प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी से विकसित माध्यमिक राजस्थानी और फिर आधुनिक राजस्थानी में दिखलाई पड़ने वाले प्राकृत-अपभ्रंश के प्रभाव की रूपरेखा प्रस्तुत करना है।

### (क) ध्वनि विवेचन

राजस्थानी की ध्वनि-व्यवस्था वही है जो प्रा. प. राजस्थानी में थी और प्रा. प. रा. में वह अपभ्रंश से आई थी। टेसीटोरी ने प्रा. प. राजस्थानी में 'ळ' ध्वनि की समावना व्यक्त की है। संभावना इसलिये कि पांडुलिपियों में उन्हे इसके लिए पृथक् से चिह्न नहीं मिला। परन्तु जो भी हो माध्यमिक राज० की कृति 'वेलि क्रिमन एकमणी री', आधुनिक राजस्थानी की सतसई, वादली आदि में यह ध्वनि है और इसे 'ल' चिह्न द्वारा प्रकट किया जाता है। ल/और/ल/ दो स्वनिम हैं। इनके अल्पतम युग दल और दल है। प्रथम का अर्थ समूह और द्वितीय का दलना, कुचलना आदि है।

अपभ्रंश का 'अ' प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में सुरक्षित रहा परन्तु जहाँ आद्य अथवा मध्य 'अ' के पूर्व या पश्चात् दीर्घ स्वर वाला अक्षर हो तो अ > इ हो जाता है, पिशेल के अनुसार प्राकृत में ऐसा नहीं होता। प्रा. प. रा. के कतिपय उदाहरण ये हैं

अगडकम् > अप० अगडउँ > ईडउँ (आदिनाथ चरित्र)

कपाट > ,, कवाँड > किमाड ( ,, ,, )

मारवाड़ी में अ > इ होता है। 'किमाड' का प्रयोग भी लोकभाषा है और अपभ्रंश की प्रवृत्ति के अनुसार 'कवाँड' भी प्रचलित है 'कवाँड दे द्यो' और किमाड लगा द्यो' दोनों प्रयोग चलते हैं। 'कवाँड' अपभ्रंश के प्रभाव स्वरूप ही है। इसी प्रकार 'गिमार' (गवाँर) शब्द भी है।



इसी प्रकार 'अ' 'उ' में भी परिवर्तित होता है। प्राकृत में यह प्रवृत्ति पाई जाती है, अपभ्रंश में नहीं है।

प्रहर > अप० पहर > पुहर या पुहुर

'वेलि किसन एकमणी' में अपभ्रंश रूप 'पहर' ही प्रयुक्त हुआ है

वर्ध मास ताइ पहर वधन्ति (छन्द १३)

भमसान > अप० मसाण > मुसाण (उपदेशमाला बालावबोध) आधुनिक राजस्थानी में अपभ्रंश 'भसाण' और प्रा प रा का 'मुसाण' दोनों प्रचलित हैं। 'मुसाणा' बहुवचन प्रयोग प्रायः मिलता है। परवर्ती और पूर्ववर्ती 'उ' के कारण भी 'अ' 'उ' में परिवर्तित हो जाता है

गरुड > गुरुड } (पचाख्यान)  
दर्दर > दुर्दुर }

कभी-कभी 'अ' का रूपांतर 'अइ' हो जाता है। मारवाड़ी में ऐसे स्थलों पर 'ऐ' होता है।

अपभ्रंश के आद्य 'अ' का लोप भी प्रायः राजस्थानी में होता है। यह प्रवृत्ति प्रा प रा से ही प्रारंभ हो गई थी

अपभ्रंश अछइ > अछइ > छइ

मारवाड़ी कूड़ाड़ी में 'अइ', ऐ में परिवर्तित हुआ है, 'छै' का प्रयोग लिंग और वचन का अनुसरण करता है कुण छी (स्त्री०), कुण छै या 'कुण छा' (पुलि०)।

आत्मनक > अप० अप्पणउ > पणउ। तणउ का प्रयोग 'वेलि' में है

कमलापति तणी कहेवा कीरति (छन्द-३)

श्रुति के रूप में 'अ' का आगम राजस्थानी की विशेष प्रवृत्ति कही जा सकती है। यह प्रवृत्ति भी प्रा प रा में ही प्रारंभ हो गई थी

गर्भ > गरभ

जन्म > जनम

'वेलि' में इस प्रकार की श्रुति के शतश उदाहरण हैं

अन्तर्यामी > अतरजामी

अदर्शन > अदरसणि आदि।

अपभ्रंश 'इ' के राजस्थानी में निम्नलिखित परिवर्तन हुए हैं

(क) 'इ' दुर्बल होकर 'अ' हो जाता है।

(ख) 'ई' ह्रस्व हो जाता है।

त्रीणि > अप० तिणि > त्रणि

परन्तु पृथ्वीराज ने 'त्रिणि' = तीन का प्रयोग किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अप० के तिणि से ही अनुमत है। द्वित्त का सरलीकरण और 'इ' का पुनर्दीर्घीकरण

त्रिणि दीह लगन वेला आडा तै (छन्द-६६)

‘ड’ का दीर्घरूप ई भी होता है

नास्ति > प्राकृत मे णत्ति > नथी

‘गुजराती’ में ‘नथी’ का प्रयोग सुक्षित है, राजस्थानी में भी इसका प्रयोग हुआ है। सूर्यमल मिश्रण की वीरसतसई का निम्नलिखित दोहा द्रष्टव्य है—

नथी रजोगुण ज्या नरा वा पूरौ न उफाण (दोहा-८)

‘वेलि’ में अन्त्य ‘ड’ का लोप और ‘य’ के महाप्राण अश वाला रूप ‘नह’ पाया जाता है—

निसा पडी चालियी नह (छन्द-४६)

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में अपभ्रंश का मध्यम ‘इ’ ‘य’ में परिवर्तित हुआ है

वैर > अप० वइर > वयर

परन्तु राजस्थानी में ‘ड’ का यह रूप नहीं मिलता वरन् ‘वैर’ ही प्रयुक्त हुआ है। हाँ वीरसतसड में ‘व’ का ‘व’ अवश्य हो गया है

वर घर वैर वसाविया दिन दिन लूवै घाड (दोहा-२६)

अपभ्रंश का ‘अअ’ प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में दो रूपों में मिलता है

(क) या तो ‘अअ’ संयुक्त होकर ‘आ’ हो जाते थे, अथवा

(ख) दोनों ‘अ’ के बीच ‘य’ श्रुति आ जाती थी

रत्न > अप० रअण > रयण

वचन > „ वअण > वयण

मदन > „ मअण > मयण

‘य’ श्रुति वाला रूप भी अपभ्रंश में मिलता है—

त सुणेविणु मयण राएण (मयण पराजय चरिउ-१५)

वेलि में भी ‘य’ श्रुति युक्त प्रयोग मिलते हैं

आयु रमणी लुटन्ति इम (छन्द-१८१)

अपभ्रंश के ‘अअ’ और ‘अआ’ में सामान्यतः सधि हो जाती है। राजस्थानी में ये सघीकृत रूप ही मिलते हैं

उण्णकालक > अपभ्रंश उण्णहआलउ > उण्णहलउ (आदिनाथ च०)

यह प्रा प रा की स्थिति है। मारवाड़ी तथा अन्य बोलियों में ‘अउ’ ओ में परिवर्तित होकर ‘उण्णहलो’ रूप मिलता है।

अपभ्रंश ‘अउ’ का सकोचन राजस्थानी में ‘ऊ’ के रूप में मिलता है

अपभ्रंश महु > मूँ

„ हउँ > हूँ

अपभ्रंश के इन प्रयोगों का आख्यान हेमचन्द्र ने 'भावस्मदो हउ' (३७६) तथा महु मज्जु डसि डस्म्याम् (३७५) सूत्रों में किया है। इनके उदाहरण हैं

तसु हउ कलजुगि दुल्हहो तथा महु होन्तउ आगदो

'अउ' का यह सकोचन राजस्थानी के सभी विकास चरणों में पाया जाता हुआ आज भी सुरक्षित है वेलि में,

महण मथे मू लीघ महमहण (छद ६२) तथा  
कहिया मूं मैं तेम कहे

गावण गुणनिधि हूं निगुण

वीर सतसइ मे 'हूं' का प्रयोग अधिक है

हूं बलिहारी राणियाँ (दोहा ६४, ६५)

राजस्थानी वर्ग की मेवाड़ी में 'मु' अधिक प्रचलित है।

अपभ्रंश 'इअ' का सकोचन 'ई' में मिलता है

दिवस > अ५० दिअह > दीह (प्रा प. रा)

'वेलि' में भी यह प्रयोग मिलता है—

त्रिणि दीह लगन वेला आडा तै (छद-६६)

अपभ्रंश 'ए' प्रा प रा में निम्नलिखित रूपों में परिवर्तित हुआ है

(क) ए > इ

अम्हे > अम्हि

यह 'वेलि' में भी है, 'ढोलामारू रा दूहा' में भी है।

एवँ > इम

केवँ > किम

जेवँ > जिम

प्रा प रा. के ये प्रयोग वेलि में भी उपलब्ध होते हैं

पहि किम पूजै पागुली<sup>१८</sup>

प्रमणन्ति पुत्र इम मात पिता प्रति (छद-४)

जा सुख दे स्यामा नै जिम (छद-३१)

इस प्रकार माध्यमिक राजस्थानी में तो ये प्रयोग मिलते हैं, पर आधुनिक राजस्थानी में विरल है।

मध्यवर्ती अनुस्वार का पूर्ववर्ती स्वर जब दीर्घ हो जाता है तो अनुस्वार अनुनासिक में परिवर्तित हो जाता है

सस्मरति > प्राकृत सभरड > अप० सभलड > माँभलड । अपभ्रंश में प्राकृत 'र' > ल हो गया है ।

इसी 'साँभलड' का पूर्वकालिक रूप 'वेलि' में प्रयुक्त मिलता है

रथ वैठा साँभलि अरथ (६६)

स्मरण करने के अर्थ में 'सभरड' 'ढोला भारू रा दूहा' में भी प्रयुक्त हुआ है ।

अपभ्रंश का पदान्त अनुस्वार प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में तो सुरक्षित रहा पर बाद में नहीं मिलता —

अप० वल्लहँ > वाहलाँ

मध्यवर्ती 'आ' में प्रायः अनुनासिक श्रुति के रूप में आ जाता है—

ग्राम > गाँम

नाँम आदि प्रयोग मिलते हैं ।

सामान्यतः 'ज', 'य' में परिवर्तित हुआ है---

अप० कहीज्जड > कहीजड > कहियड

प्रा. प रा में तो यह है ही, 'वेलि' में 'कहिया' का प्रयोग है

कहिया मूँ मैं तेम कहे (३०२)

'क' का धोपीकरण भी हुआ है

कातिक > कातिग

चातक > चातिग

'त' का 'प' हो जाता है

जीतवउँ > जीपवउ

वेलि में

जाणे वाद माँडियो जीपण (३)

'ह' यदि अन्त्य अक्षर के दो स्वरों के बीच आए और पदान्त का एक भाग हो तो प्रायः उसका लोप हो जाता है । दोनों स्वर प्रायः संयुक्त हो जाते हैं, पर कभी-कभी वैसे ही रह जाते हैं

अप० करहँ > करहाँ

'ढोलामारू रा दूहा' में ये प्रयोग उपलब्ध हैं ।

आद्य संयुक्त व्यञ्जन और उसके बाद वाले स्वर के बीच में कभी-कभी 'र' का आगम हो जाता है । बहुधा ग, त, प, भ और स के साथ 'र' का आगम होता है ।

यह प्रवृत्ति अपभ्रंश में भी थी और प्रा प रा में भी

गोघ > गोहली > ओहली > गिरोहली > ग्रीधणी

आधुनिक राजस्थानी में भी यह प्रवृत्ति मिलती है ।

अपभ्रंश के द्वित्व व्यञ्जन प्रा प, रा में नियमतः सरलीकृत हो गए हैं । यही प्रवृत्ति आगे भी रही है—

अप० लच्छी > लाछी

महुमास लच्छि ण तखरेहिँ (सदेश रासक-३०५)

परन्तु वेलि मे लक्ष्मी से 'लिखमी' बना है

लिखमी समी एकमणी लाडी (छद-३३)

आधुनिक राजस्थानी मे 'लिखमी' ही मिलता है। पालि और प्राकृत मे लक्ष्मी का लखमी होता है। राजस्थानी मे आदि 'अ' का इ मे परिवर्तन होकर 'लिखमी' बना है।

इसी प्रकार अप० पुत्तली > पूतली हो गया है

किरि कठचीत्त पूतली निज करि (छद-२)

उपर्युक्त परिवर्तनों के अतिरिक्त अन्य ध्वनि परिवर्तनों के कतिपय उदाहरण निम्नलिखित हैं-

१. कालिंदी > कालिंद्री (वे कि रु री)

२ कर्दम > कादो ( " " )

३ किजल्क > किजलक ( " " )

४ कीर्तन > कीरतन

श > स

५ किशुक > किसुक ( " " )

६ पलाश > पलास

७ केशव > केसव

क्ष > ख

८ क्षणान्तर > खिणतर

९ क्षीण > खीण

१०. क्षीर > खीर

११ क्षुधा > खुधा

ऋ > इ

यह परिवर्तन पालि मे ही हो गया था। ऋ के अ, इ और उ मे परिवर्तन पालि मे इस प्रकार मिलते हैं

नृत्य > नय्य

तृण > तिन

वृद्ध > बुद्धो

प्राकृत अपभ्रंश मे यही परंपरा रही।

वेलि मे—कृष्ण > किसन मिलता है।

ज > ग्य

वेलि में ज्ञान और ज्ञाति को क्रमशः 'ग्यान' और ग्याति लिखा गया है।

भ, घ > ह

गभीर > गुहिर (वेली)

मिहनी > सीहणी (वीर मतसई)

मेघ > मेह

दो महाप्राण एक साथ आने पर प्रथम के अल्पप्राण होने के उदाहरण भी मिलते हैं

भाभी > वाभी

न > ण

अपभ्रंश की विशेष प्रवृत्ति थी जो राजस्थानी में भी मिलती है

धनी > धणी

खाना > खाणी

पीना > पीणी

अतएव ध्वनि परिवर्तन की दृष्टि से राजस्थानी ने प्राकृत अपभ्रंश की परंपरा को सुरक्षित रखा है।

## (ख) रूपवैज्ञानिक विवेचन

रूपवैज्ञानिक विवेचन में दीर्घ उक्तियों को उनके लघुतम सरचको में विभक्त कर इन सरचको का कार्यकलन की दृष्टि से अध्ययन अपेक्षित होता है। रूपरचना में सरलीकरण की प्रक्रिया आर्यभाषाओं के मध्यकाल में ही प्रारंभ हो गई थी। प्राकृतों में दो लिंग और दो वचन रह गए थे। अपभ्रंश में भी दो वचन हैं। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में भी दो वचन हैं एक वचन और बहुवचन। प्राकृतों में संस्कृत के मन्धि नियम शिथिल हो गए थे। ह्रस्व नञाएँ न रहने के कारण उनकी कारकावली भी सरल हो गई। करण, अयादान और मप्रदान-सवध के रूपों में समानता पालि में ही आ गई थी, कर्ता और कर्म भी समरूप होने लगे। वैभक्तिक प्रत्ययों के स्थान पर स्वतन्त्र शब्दों का प्रयोग प्राकृत में ही होने लगा था, अपभ्रंश में भी यह प्रवृत्ति चलती रही। सर्वनामों में जटिलता रही पर एकरूपता का आधार इनमें भी खोजा जा सकता है।

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में टेसीटोरी के अनुसार 'नियमत सभी सज्ञाओं के रूपान्तर केवल करण, अयादान, अधिकरण और सम्बोवन में ही होते हैं। अन्य कारकों में केवल स्वरांत प्रातिपदिक ही होते हैं, व्यञ्जनांत प्रातिपदिक अपरिवर्तित रहते हैं', यद्यपि इसमें कुछ अपवाद मिलते हैं।

## कर्त्ता-कर्म एकवचन

पुल्लिग स्वरान्त प्रातिपदिको मे-उ प्रत्यय लगता है। अपभ्रंश व्याकरण में हेमचन्द्र ने इस स्थिति का आख्यान किया है। सूत्र है 'स्यमोरस्यात्' अर्थात् अपभ्रंश में प्रथमा और द्वितीया के एकवचन सज्ञा शब्दों के अन्त्य 'अ' का 'उ' होता है। 'सि' और 'अम्' क्रमशः प्रथमा (कर्त्ता) एक० व० और द्वितीया (कर्म) एकवचन के वद्ध रूपिम हैं। हेमचन्द्र ने 'दहमुहु' भुवण भयकरतोसिअ सँकरु उदाहरण दिया है। 'दहमुहु' (दशमुख) पुल्लिग एकवचन का कर्त्ताकारकीय रूप है और 'सकरु' द्वितीया एकवचन पुल्लिग रूप। प्राचीन राजस्थानी में भी यह प्रवृत्ति रही है—

प्राहुणउ (आदिनाथ चरित्र)

कुशीलउ (आदिनाथ चरित्र)

विवेकरूपीउ हाथीउ (शीलोपदेशमाला)

परन्तु माध्यमिक और आधुनिक राजस्थानी में यह प्रवृत्ति नहीं है। इसके साथ ही अपभ्रंश में एक और प्रवृत्ति विभक्ति लोप अथवा शून्य विभक्ति की भी पाई जाती है। हेमचन्द्र ने कहा है—

स्यम्-जस्-शसा लुक् ॥३४४॥

अर्थात् सि, अम्, जस् और शस् में विभक्ति का प्रायः लोप होता है। सि, अम्, जस् और शस् क्रमशः प्रथमा एक० व०, द्वितीया एक० व०, प्रथमा व० व० और द्वितीया बहु० व० के रूपिम हैं। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में व्यजनान्त और आकारान्त प्रातिपदिक निर्विभक्तिक पाए जाते हैं। विकल्प से इकारान्त प्रातिपदिकों की भी यही स्थिति रही है। कभी कभी व्यञ्जनान्त प्रातिपदिक भी उ-विभक्ति ग्रहण कर लेते हैं। राजस्थानी में लोप की यह प्रवृत्ति है। कर्त्ता एकवचन और बहुवचन में प्रातिपदिक ही पद के रूप में प्रयुक्त होते हैं। बहुवचन में भी व० व० सूचक रूपिम जोड़ा जाता है, कर्त्ता की कोई विशेष विभक्ति नहीं होती। आधुनिक राजस्थानी के

धोडो घास खार्या है १

धोडा घास खार्या है—२

प्रथम वाक्य में 'धोडो' एक वचन में कर्त्ता विभक्ति शून्य है, द्वितीय में 'आ' बहुवचन सूचक है, कर्त्ताकारक की विभक्ति नहीं है। प्रातिपदिक ही पद के रूप में कार्य कर रहा है। 'बेल' के व्याकरण के प्रसंग में कर्त्ता और कर्म की शून्य विभक्ति भी प्रदर्शित की गई है—

१ जाणे वाद माँडियो जीपण

वागहीन वागेसरी (छद-३)

उपर्युक्त उदाहरण में वागहीन कर्ता एक वचन है, इसके साथ कर्ताकारक की विभक्ति नहीं है।

२ राजति एक भीखमक राजा।

सिरहर अहि नर असुर सुर (छंद-१०)

इसमें भी कर्ता 'भीखमक राजा' कर्ताकारक विभक्ति रहित है। कर्मकारक में भी यही स्थिति है

१ पेखि रखमणी जल प्रसन (छंद-१३२)

२ वेलखि अणी मूठि द्विठि वन्धि (छंद-१३१)

३ केस उतारि विरूप कियौ (छंद-१३४)

४ करै भगति राजान किसन ची (छंद-१४६)

ढोलामारू रा दूहा में भी विभक्तिरहित कर्ता और कर्म के प्रयोग मिलते हैं

कूझड़ियाँ कलख कियउ (दोहा-५४)

उपर्युक्त उदाहरण में 'कूझड़ियाँ' और 'कलख' क्रमशः कर्ता और कर्म में प्रयुक्त हैं परन्तु इनमें इन कारको की विभक्तियाँ नहीं हैं। परन्तु 'ढोला मारू रा दूहा' में ही कर्ताकारक में अपभ्रंश का 'उ' भी मिलता है

जोवण आँवउ फलि रह्यउ (दोहा ११७)

कर्मकारक में भी यह 'उ' प्रयुक्त हुआ है

ढाढी एक सदेशडउ ढोलइ लागि लइ जाइ (दोहा-१२१)

भविष्यकाल के प्रयोगों में कर्ता विभक्तिरहित भी है

जोवण वधन तोडसइ

इससे यह स्पष्ट होता है कि 'ढोलामारू रा दूहा' में 'उ' विभक्ति और शून्य विभक्ति वाले दोनों रूप प्रयुक्त हुए हैं। 'वेलि' में केवल शून्य विभक्ति वाले रूप। अपभ्रंश में जहाँ प्रातिपदिक के अन्त्य 'अ' के स्थान पर 'उ' होता था, 'ढोला मारू रा दूहा' की भाषा में प्रातिपदिक के साथ 'उ' पृथक् से जोड़ा गया है आँवउ, सदेशडउ आदि

परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी की 'वीर सतसई' में कर्ता और कर्म विभक्ति रहित ही हैं

१ धनिया पग लूवी धरा, अवखी ही घर आय (दोहा-३२)। 'धरा' स्त्रीलिंग है और विभक्तिरहित भी।

२. तियाँ धरीजँ चाव (दोहा-३३)। 'तियाँ' बहुवचन स्त्रीलिंग है, विभक्ति यहाँ भी नहीं है।

३ एय धराणै सोहणी कवर जणै सो काल उपर्युक्त उदाहरण में कर्ता और कर्म दोनों में शून्य विभक्ति है।



४. नागण जाया चीटला, सीहण जाया साव

राणी जाया नहँ एकै, सो कुल वाट सुभाव (दोहा-४०)

इस प्रकार माध्यमिक राजस्थानी और आधुनिक राजस्थानी में कर्ता और कर्म एकवचन तथा बहुवचन में शून्य विभक्ति के साथ ही मिलते हैं। शून्य विभक्ति का कार्यफलन गणित के शून्य सदृश है। जैसे शून्य के योग से एक में कोई अंतर नहीं आता वैसे ही शून्यविभक्ति के योग से प्रातिपदिक अप्रभावित रहता है। वस्तुतः शून्य विभक्ति की परिकल्पना नियम पालनार्थ है। पाणिनि ने इस परिकल्पना का सूत्र-विन्यास किया था। आधुनिक राजस्थानी का निम्नलिखित उदाहरण इस दृष्टि से उल्लेखनीय है

ओ भूडो बगत

दिन रात म्हारै पसवाडै मे

रसोली ज्यू कुलै (जागती जोत, पृ० ४७)

कर्ता 'बगत' पुल्लिंग एक० व० विभक्ति रहित है।

रात घनख डोर ज्यू तरणाव

रीस मे भरियोडी

(वही-पृ० ४८)

'रात' स्त्रीलिंग एक० व० भी विभक्तिरहित है।

अतएव यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि राजस्थानी के विकास स्तरों में अपभ्रंश की स्यम्-जस्-शसा लुक् प्रवृत्ति ही चली। 'स्यमोरस्यात्' सूत्र का विधान बहुत कम पाया जाता है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में भी स्त्रीलिंग शब्द विभक्ति रहित प्रयुक्त हुए हैं। नपुंसक लिंग शब्द लिंग सकोचन के कारण पुल्लिंगवत् रूप रचना वाले होते हैं। इनमें प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में अपभ्रंश का 'ऊँ' मिलता है, पर कालान्तर में यह भी लुप्त हो गया। व्यञ्जनान्त प्रातिपदिक और 'इ', 'ई', 'उ' और 'ऊ' अन्त वाले प्रातिपदिक तथा स्त्रीलिंग प्रातिपदिक निर्विभक्तिक ही प्रयुक्त हुए मिलते हैं। अपभ्रंश और प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी की यही प्रवृत्ति आधुनिक राजस्थानी में पाई जाती है। वस्तुतः यह भी सरलीकरण की प्रक्रिया का ही प्रतिदर्श है। इस प्रकार अपभ्रंश में कर्ताकारक के रूपिम 'सि' के योग से सज्ञा शब्दों के अन्त्य स्वर में परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन 'सि' रूपिम और शब्द के अन्त्य स्वर में सधि के कारण नहीं होता। हेमचन्द्र ने कर्ता का चिह्न 'सि' माना है, जैसे पाणिनी ने 'सु' माना है। आधुनिक भाषाविज्ञान की शब्दावली में 'सि' वद्ध रूपिम है। शून्य इसी 'सि' का सहरूपिम है। आधुनिक राजस्थानी में इसी सहरूपिम का प्रचलन रह गया है, अन्य सहरूपिम काल के प्रवाह में लुप्त हो गए हैं।

अपभ्रंश में करण कारक के लिये ६ सूत्र हेमचन्द्र ने दिए हैं---

१ एट्टि अपभ्रंश में तृतीय एकवचन के रूप में सज्ञा शब्द के अन्त्य 'अ' के

स्थान पर 'ए' होता है, यथा दइँ। दइ मेँ करण एकवचन का सूचक है। सूत्र मे 'एँ' के 'ँ' का निर्देश नहीं है।

२ आट्टोणानुस्वारौ अपभ्रश मे तृतीया एकवचन मे 'ण' और अनुस्वार आदेश होते है।

३ एँ चेदुत इकारान्त और उकारान्त शब्दो के परे तृतीया एक० व० की विभक्ति 'टा' को 'एँ' आदेश होता है। 'च' से सूत्र सख्या दो का भी ग्रहण किया जाएगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि 'अग्नि' जैसे प्रातिपदिक के तीन रूप हो सकते है अग्निँ, अग्निण और अग्नि। ध्यातव्य है कि एँ, ण और तीनों मुक्त वितरण (Free distribution) मे है। मूल शब्द मे रूप स्वनिमिक (Morpho-phonemic) परिवर्तन नहीं होता। किन्तु उकारान्त मे यह परिवर्तन होता है, वायु से वाएँ बनता है।

४ ट ए स्त्रीलिंग शब्दो मे 'टा' को एँ आदेश होता है—

चन्द्रिमा + टा → चन्द्रिम + एँ → चन्द्रिमएँ

५ भिस्सुपोहि तृतीया बहुवचन की विभक्ति भिस् परे होने पर 'हि' आदेश होता है, शब्द के अंत मे कोई भी स्वर हो सकता है।

गुण | भिस् → गुणहि

६ भिस्येद्वा — सज्ञा शब्द के अन्त्य 'अ' को तृतीया व० व० की विभक्ति परे रहते विकल्प से 'ए' होता है गुण + भिस् → गुणे। इस प्रकार तृतीया के वद्ध रूपिम टा के निम्नलिखित महारूपिम होंगे

ए — अन्त्य 'अ' पु० ए० व० के परिवेश मे

एँ/ण — इ और उ पु० ए० व० के परिवेश मे

ए स्त्रीलिंग एक० व० के परिवेश मे

हि व० व० मे किसी भी स्वर के परिवेश मे

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे करण कारक एकवचन के दो विभक्ति चिह्न मिलते है ई (इ) और इँ ( —इहिँ)। प्रथम का विकास अपभ्रश के एँ से माना गया है, द्वितीय का प्राकृत 'एहि' से, अपभ्रश मे प्राकृत 'एहि' का 'हि' ही रह गया है। टेसीटोरी के अनुसार प्रथम का प्रयोग नियमत स्वरान्त प्रातिपदिको के साथ ही होता है, दूसरे का प्रयोग विरल है। व्यञ्जनान्त प्रातिपदिको के साथ 'हि' का प्रयोग अधिक प्रचलित है। कभी-कभी ये प्रातिपदिक विभक्ति से मुक्त भी होते है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के उदाहरण निम्नलिखित है

पसाई (शालिभद्र चउपड)

वाडँ (दशवैकालिका सूत्र)

राडँ (उपदेशमालावालावबोध)

पायीडँ (पञ्चाख्यान)

पाणीइँ (दशवैकालिक सूत्र)

स्त्रीलिंग में भी 'मालाई' मिलता है, अपभ्रंश में 'ए' प्रयुक्त होता था।

रूपिहि, दैविहि जैसे प्रयोगों में टैसीटोरी ने 'इहि' प्रत्यय माना है। मेरा मत है कि प्रत्यय तो 'हि' ही है, इसके पूर्व 'इ' का आगम रूपस्वनिमित्त परिवर्तन के कारण है। टैसीटोरी के ही अनुसार प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का 'अइ' मारवाड़ी में 'अइ' हो जाता है।

वेलि की भाषा में करणकारक के सहरूपि में निम्नलिखित हैं

शून्य (०), इ, ए, सू, करि, और आ

'इ' का उदाहरण जेणि उपायौ, जेण → जेणि (छद, २)

ए ,, ,, विचित्रे सखिए समावृत ( ' १६१)

करि ,, , मुख करि किसू कहीजै माहव ( ,, ६४)

शून्य ,, ,, (१) एकणि ग्रहियौ अगुली ( ,, ८४)

(२) भूप कणय तुलता भू भाति ( ,, २१२)

(३) किसा अग मापित करल ( ,, १६)

इसके अतिरिक्त संस्कृत के रूप भी प्रयुक्त हुए हैं करेण, जनेन। अन्य उदाहरण निम्नलिखित हैं

१ चात्रण खेल खगि खेल चढि (२७८) (इ)

२ छत्रे अकास एम औछायौ (१४४) (ए)

३ ऊजलियाँ धाराँ ऊवडियाँ (१२०) (आँ/याँ व व)

४ निहसे वूठौ धण विणु नीलाणी (१६७) (ए)

५ पकवाने पाने फले सुपुह्ये (२३०) (ए) (व व)

६ परनाले जल रूहिर पडै (१२०) (ए) (व व)

७ वलि रितुराइ पसाइ वेसन्नर (२५४) (इ)

जण भुरडीतौ रहै जगि

'अपभ्रंश की ही तरह 'अ' पुल्लिंग एकवचन के परिवेश में तो 'ए' आया ही है, बहु व में भी प्रयुक्त हुआ है

अपभ्रंश में गुण + भिस् → गुजे

वेलि में पान + ,, → पाने

फल + ,, → फले

सुपुहुप + ,, → सुपहुये

परनाल | ,, → परनाले

छत्र + ,, → छत्रे

लेकिन 'इ' जहाँ है वह अन्त्य 'अ' के स्थान पर ही है

खग + टा → खगू — अ + इ → खगि

पसाअ + टा → पसा — अ | इ → पसाइ

करण बहुवचन में प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में एतृतीया व० व० में मिलता है, ई भी प्रयुक्त हुआ है, इहिं भी है। अपभ्रंश में तृतीया व० व० में 'ए' स्त्रीलिंग में और 'हि' अन्यत्र प्रयुक्त होता था। परन्तु राजस्थानी में तृतीया व० व० में-ए स्त्रीलिंग में ही सीमित नहीं रहा, पुल्लिंग में भी चला। 'हि' का 'ई' ही रह गया। वेलि की भाषा में बहुवचन में 'आ' भी प्रयुक्त हुआ है। वीर सतसई में भी वहु० व० में 'आ' माना जा सकता है

१ तुंडा गज फेटाँ तुरी डाढां भड वीझाड (दोहा-५७)

२ भालां थभ वणाय (दोहा-६०)

तुड (एक० व०) तुडा (व० व०)

फेट ( ,, ,, ) फेटाँ ( ,, ,, )

भालो (एक० व०) भाला (व० व०) भाला (व० व०)

३ भर खप्पर वाल्है रुहिर (रुधिर से)

आधुनिक राजस्थानी में करण कारक की अभिव्यक्ति पृथक् शब्द से कराई जाती है। 'सू' ऐसा ही परसर्ग है, अचर तत्त्व है, लिंग—वचन और पुरुष से प्रभावित नहीं होता।

मिया-मिया सवदा सू नी

वा सवदा रै लारै लुक्थोडो

एक उतावली हाँफ सू अरथ दिया करतो। (जागती जोत, पृ० ५३)

वीर सतसई के 'भाला', 'तुडा' में व० व० और तृतीया व० व० का एकीकरण है। आधुनिक राजस्थानी के उपर्युक्त उदाहरण में 'सवदा' केवल व० व० है। करण-कारकीय परसर्ग 'सू' पृथक् से प्रयुक्त हुआ है। गद्य में भी यह 'सू' ही चलता है

(क) एक निजर सू देखा।

(ख) ईं दी० सू विचार करा।

इसके साथ ही पगा-पगा चाल जैसे प्रयोग भी मिलते हैं।

इस दृष्टि से आधुनिक राजस्थानी प्राकृत-अपभ्रंश से पृथक् हो गई है। करण कारक में योगात्मक रूप नहीं मिलते, परसर्गीय 'सू' वाली सरचनाएँ ही प्रयुक्त होती हैं। माध्यमिक राजस्थानी तक ही अपभ्रंश का प्रभाव रहा है।

अपादान के मदर्भ में अपभ्रंश में निम्नलिखित विधान का कथन है

डसि~हे अकार/ङकार/उकार से परे और स्त्री एक वचन में

(डसि-भ्यस्डीना हे हु ह्य, डसेहेंहु)

डस् डस्यो हें)

हु अकार से परे व० व० मे

(भ्यसो हु)

हुँ इकार/उकार से परे व० व० मे

हु अकार से परे एक० व० मे

(डसेहुँ)

अपादान कारक के लिए प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे—आँ और ओ दो वद्ध रूपिम है। प्रथम का प्रतिवधित प्रयोग सर्वनामो के स्थानवाचक क्रिया-विशेषण रूपो के साथ होता है, जैसे तिहाँ, ताँ, जिहाँ, जाँ आदि। परन्तु, ये रूप प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे कम मिलते हैं। विचित्रता यह है कि इसी प्रा प रा से विकसित मारवाडी मे 'आँ' वाले अपादान रूप अधिक प्रयुक्त होते हैं और गुजराती मे इनका अभाव है। टैसीटोरी ने इस आँ को अपभ्रंश मे प्रयुक्त अपादान बहुवचन रूपिम अहुँ से निकला हुआ कहा है तथा मारवाडी के 'आँ' मे अ (ह) उँ का सकोचन विशेषता के रूप मे स्वीकार किया है। परन्तु, हेमचन्द्र के अनुसार अपभ्रंश मे प्रयुक्त अपादान कारकीय रूपिमो मे—'अहुँ' का परिगणन नहीं है, वहाँ पर रूपिम—'हुँ' है। आँ वाले अपादान रूपो के उदाहरण टैसीटोरी ने निम्नलिखित दिए हैं—

१ कोपा जलि थयउ

२ मुख केडाँ दुख आवइ

द्वितीय अपादान कारकीय रूपिम प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी मे ओ है। इसकी व्युत्पत्ति अपभ्रंश अहु से मानी गई है, पर जैसा कि उपरिलिखित सूत्रो से स्पष्ट है, अपभ्रंश मे सीधे—'हु' का आदेश है। विभक्ति अहु मानकर पुन हु का विधान नहीं किया गया है। प्रा प रा मे ये प्रयोग नहीं हुए हैं जहाँ अपादान सज्ञा रूप के बाद अधिकरण सज्ञा रूपो से युग्म बने हैं

हाथो-हाथई, खण्डो-खण्डि, दिसो-दिसि

मध्यकालीन राजस्थानी मे (वेलि मे) अपादान के लिए निम्नलिखित सहरूपिम मिलते हैं

०, हू, हुँताँ, हुँती, हुँवा,

हूत, हूता, हूती, हूतो, प्रति

हु का उदाहरण

हुँ ऊधरी पताल हूँ

हुँता ,, ,,

कुन्दणपुर हुँता वसा कुन्दणपुरि

हुँत ,, ,,

दखिण हुँत आवतौ उत्तर दिसि

हुँता ,, ,,

कुसमथली हुँता कुन्दणपुरि

हुँती ,, ,, —

हुँ ऊधरी त्रिकुटगढ हुँती

इन रूपो मे अपभ्रंश का केवल प्रथम अर्द्धांश ही है। पुन अपभ्रंश मे यह अर्द्धांश

भी विभक्ति की तरह अर्थात् प्रातिपदिक के साथ सयुक्त होकर प्रयुक्त होता था, जैसे 'वच्छहु' आदि में । माध्यमिक राजस्थानी में यह एक परसर्ग की भाँति प्रयुक्त हो रहा है ।

वीर सतसई में 'थी' अपादान कारकीय परसर्ग के रूप में प्रयुक्त हुआ है

'देखीजै निज गोख थी' (दोहा-८८)

वीर सतसई में 'हूत' अधिकरण में भी आया है

धावा कत पधारिया, पावाँ हूत प्रणाम (दोहा-११७)

आधुनिक राजस्थानी की बोलियों में 'सू' परसर्ग अपादान कारक में प्रयुक्त होता है

'ओ ही कारण है कै शीरसेनी प्राकृत सू विगन्योटी गुर्जरी अपभ्रस सू निकली जूनी गुजराती या राजस्थानी री परपरागत कविता ऊपर कथणी अर मडणी दोन्यू ही द्रिस्टिया सू अपभ्रस रो पूरो अर गैरो असर दीखै है ।' (जागती जोत, पृ० ३१)

अपादान के उपर्युक्त विवेचन में यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृत अपभ्रश का प्रभाव आशिक रूप से माध्यमिक राजस्थानी तक ही रहा । आधुनिक राजस्थानी में प्रयोगात्मक स्थिति है, पृथक् से परसर्ग प्रयुक्त होता है । करण-कारकीय और अपादान कारकीय रूप एक हो गए हैं ।

जहाँ तक 'सू' की व्युत्पत्ति का प्रश्न है, यह 'हूँ' का परिवर्तित रूप हो सकता है । 'स' का राजस्थानी में 'ह' होता है, संभवतः 'हूँ' से 'सू' विपर्ययित परिवर्तन हुआ हो । एक और प्रयोग भी अपादान में मिलता है

'जोधपुरु आयो है'

अर्थात् प्रातिपदिक के साथ 'उँ' जुड़ा है, यह निश्चय ही अपभ्रश 'हूँ' का अवशेष है । इस दृष्टि से 'सू' और 'उँ' दोनों ही मूल रूप अपभ्रश की परंपरा से आए प्रतीत होते हैं । काल प्रवाह में ध्वनि-परिवर्तन हो गया है ।

### सम्बन्ध कारक

अपभ्रश में सवध कारक एकवचन में अकारान्त शब्दों के आगे 'सु', हो, स्सु आदेश होते हैं—डस सु हो स्सव । पर, तस और दुल्लह के इसके अनुसार परस्सु, तसु और दुल्लहो रूप बनते हैं । इस प्रक्रिया में भी रूपस्वनिमिक परिवर्तन नहीं होते ।

बहुवचन में अकार के परे 'ह' आदेश होता है 'आमो ह' । इकारान्त और उकारान्त शब्दों में परे 'हूँ' आदेश होता है 'हूँ चेदुद्भ्याम्' । मूल में आए 'च' से पूर्वमूल का 'ह' भी ग्रहण करना पड़ेगा । अर्थात् इकारान्त और उकारान्त के आगे 'ह' और 'हूँ' दोनों हो सकते हैं ।

तर + आम् → तर + हु → तरहुँ

सउणि + ,, → सउणि + ह → सउणिहँ

सूत्र में 'हुँ' और 'ह' है, पर उदाहरणों में 'ँ' दिया गया है।

स्त्रीलिंग सज्ञा शब्दों में पठ्ठी बहुवचन में 'हु' आदेश होता है—'भ्यसामो हुँ'

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में 'हु' प्रत्यय का प्रयोग रहा और संभवतः सभी प्रातिपदिकों के साथ समान रूप से प्रयुक्त होता था। पर बाद में यह लुप्त हो गया और प्रातिपदिक ही पद के सदृश प्रयुक्त होने लगा। फिर भी 'अ अ' वाले रूपों के साथ इसका प्रयोग मिलता है। गद्य में यह 'हु' वाला रूप नहीं मिलता, पर पद्य में मिलता है जैसे

वन > वनह

सुपन > सुपनह

कटक > कटकह

उपर्युक्त वन, सुपन, कटक आदि व्यञ्जनान्त प्रातिपदिक कहे गए हैं। स्वरान्त के साथ यह सधि में घुल गया। 'ई' और 'ऊ' वाले प्रातिपदिकों में 'ह' के अवशेष पाए जाते हैं और इसके निम्नलिखित रूप मिलते हैं

'बाँधिया हाथीया'

'सोसइ तालुआ'

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में स्त्रीलिंग इकारान्त और उकारान्त प्रातिपदिकों में यह प्रत्यय एकदम छूट गया प्रतीत होता है। सबधकारक बहुवचन में रूप तो एकवचन की ही भाँति होता है पर सानुनासिक होता है। अपभ्रंश में 'हुँ' होता था जिसके पूर्व का 'अ' विकल्प से 'आ' हो जाता था। इस प्रकार दो रूप बनते थे 'अहुँ' और 'आहुँ'। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में 'अहुँ' और 'आहुँ' संकुचित होकर 'आँ' हो जाता है, जैसे

करहाँ,

वाहलाँ

पागलाँ

घोडाँ

चारित्रियाँ

वैसे 'गायाँह' और 'नयणाँह' जैसे उदाहरण भी कही-कही मिलते हैं।

माध्यमिक राजस्थानी में सबधकारक के लिए पृथक् से परसर्गों का प्रयोग मिलता है

रो, को, चो, तण, तणो, तनि

इनके अतिरिक्त 'आँ' और 'काँ' भी वैभक्तिक प्रत्यय हैं।

१	वयण डेडराँ किसो वस वयण डेडराँ = मेढको के वचन	आँ (छद-५)
२	कामणि करग मु वाण काम रा वाण कामरा — काम के वाण	(,, — २३) रा
३	वाककति करि हम चौ वालक हस चौ वालक = हम को वप्पा	(,, १२) ('चौ' का व व रूप चाँ है। एव स्त्रीलिंग रूप भी)
४	कहण तणौ तिणि तणौ कीरतन तिणि तणौ कीरतन = उनका कीर्तन	तणौ (,, ६०)
५	हलधर काँ बाहताँ हलाँह हलधर के (काँ) चलाए दूए हलो मे	काँ (,, — १२४)
६	ग्याति किसी राजवियाँ ग्वालाँ राजवियाँ = राजवणियों का	याँ
७	वेलि गलि तखराँ विलागी गलि तखरा वृक्षो के गले	आँ (,, २५१)
८	क्रमियौ तासु प्रणाम करि उसे प्रणाम करके चला	मु
९	तिहि कुसुमित देसे उसको कुसुमित देखा	
१०.	दलाँ दुँह दोनो दलो की	आ
११	पुहपा, पाता	। आँ
१२	वरहासाँ नासाँ वजन्ति बोडो के नयुने वज रहे है	आँ

वेलि के उपर्युक्त उदाहरणों में अपभ्रंश का 'सु' है, 'आहँ' का मकुचित रूप 'आँ' है। याँ में भी आँ माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त तणौ, तणी, चौ/चाँ/ची, तथा रा, री आदि परसर्ग हैं। मध्यकालीन राजस्थानी में, इस प्रकार अपभ्रंश का प्रभाव भी है और विकास के दौर में गृहीत परसर्गीय प्रवृत्ति भी। परन्तु इन रूपों का इतिहास स्पष्ट है, विकास यात्रा की पूरी रूपरेखा राजस्थानी के तीनों चरणों में मुरक्षित है।

वीर सतमई में सवधकारक एक व मे शून्य भी मिलता है—

१	वाणी जगराणी वले मैं चीताणी मूढ (वाणी जगरानी का चिन्तन किया)	शून्य (दोहा—२)
२	सुमिगण लग्गा वीर सव, वीर रौ कुलवाट वीर रौ कुलवाट = वीरों का कुलभाग	रौ (,, ६)



३	वीर धणी रौ धान वीर स्वामी का अन्न	रौ
४	डाकी ठाकर रौ रिजक, ताखा रौ विष एक जवरदस्त स्वामी का रिजक और तक्षक का विष एक है	रौ („ १२)
५.	निज भग्ना तो नाह रौ, साथ न सूनो टाल	। रौ
६	पण वण रौ किम पेखही, नयण विणट्टा नाह	
७	भड घोडा रा भामणा जेथ जुडीजै कत	। रा („ २०)
८	मिजमानी रौ वार	। रौ
९	वीर जमीरा जे जणै	। रा
१०	सतियाँ आयो साथ सतियाँ साथ = सतियो का समूह	। आँ
११	धणियाँ पग लूवी धरा धणियो के पँरो से लटकती धरती	। आँ
१२	वाजा रै सिर चेतनी, भ्रूणा कवण सिखाय	। रै („ ५१)
१३	घोडा धर ढाला पटल, भाला थभ वणाय	। आँ
१४	कोसा चा सुण ढोलडा ऊठे नीद विछोड	। चा
१५	धणी रै रुण्ड (धणी का शरीर)	। रै
१६	वव सुणीजै पार को, लीजै हात लगाम	। को
१८	आपा रा मिजमान	। रा
१८	पहर धणी चा पूगरण धनी के वस्त्र पहनकर	। चा („ १०६)
१९	चीत खटक्कै मास चौ	। चौ
२०	जोडी हदा घोर जम, रोडी हदा राव	। हदा (पजावी) = का („ १७७)

उपर्युक्त उदाहरणों के परीक्षण से ज्ञात होगा कि अपभ्रंश से प्रभावित 'आँ' वाले सबधकारकीय रूप उन्नीसवीं शताब्दी की सतसई में अत्यल्प है। 'हदा' पर-सर्ग तो एक दोहे में आया है। अधिकांश प्रयोगों में 'रौ' परसर्ग का ही प्रयोग हुआ है। 'रौ' वचन और लिंग से प्रभावित होता है, परिणामतः रौ, री, रा, तीनों रूप चलते हैं। इस समय तक अपभ्रंश का प्रभाव इस सर्ग में बहुत कम रह गया है। सबधकारकीय परसर्ग 'को' भी प्रयुक्त हुआ है। आधुनिक राजस्थानी में 'का', 'को', की जैसे, 'कुण को बेटो', 'कुण का बेटा', 'कुण की बेटो' प्रयोग होते हैं। रा, रौ तो बहु प्रयुक्त हैं ही। आधुनिक राजस्थानी के कतिपय उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं।

१ "समाज सुधार री लहर रै सायै प्रवासी राजस्थानी लेखका वृद्ध-  
विवाह, दहेज, जीमण रै वारै में जिकी रचनावा करी"  
(जागती जोत पृ० ५५)

२ अर टेम री नस पिछाणवो  
वीया भी देश भगती हे  
मिरकार री सोरई सार  
नसवदी पैला हीजडो कैवाडजणो

३ जिको, किण रै ई माई  
किण रै ई भतीजो  
किण रै ई काको

(वही पृ० ५२)

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्राकृत-अपभ्रंश के विभक्ति प्रत्यय माध्यमिक राजस्थानी और प्रत्यल्प रूप में उन्नीसवीं शती की राजस्थानी में भी रहे। परन्तु आज की राजस्थानी में सबध अर्थ व्यक्त करने के लिए परसर्ग ही प्रयुक्त होते हैं, कहीं-कहीं शून्य भी। सर्वनामों के साथ भी यही री, री, री जुड़ते हैं—थारो, यारो, म्हारो, म्हारा, म्हारी, वणी री, वणी रा आदि आधुनिक राजस्थानी के सिद्ध प्रयोग हैं। एक उदाहरण देखे —

"यारो, म्हारो व्याव कोनी हो सकै  
म्है विरज री एक गूजरी  
थारी जान री किण विध खातरी करस्युं"

अपभ्रंश में सप्तमी एक व० में प्रातिपदिक के अन्त्य 'अ' को 'इ' और 'ए' होते हैं। 'इ' और 'ए' में मुक्त वितरण है, यह निश्चित नहीं है कि 'अ' का 'इ' कहाँ हो और 'ए' कहाँ (डि ने-५)

डिसिन्धुसूडीना हे-हू-हय सूत्र के अनुसार अन्त्य 'इ' और उकार को सप्तमी एकवचन में 'हि' आदेश भी होता है। सप्तमी बहुवचन में भिस्सुपोहि सूत्र से हि आदेश होता है।

स्त्रीलिंग शब्दों में सप्तमी एकवचन में डि को 'हि' आदेश होने का विधान भी निहित है। हेमचन्द्र ने संस्कृत की डि विभक्ति को आधार रूप में ग्रहण किया है। रूपवैज्ञानिक धारणा के अनुसार 'डि' वद्व रुपिम है तथा इसके परिपूरक वितरणीय सहरूपिम निम्नलिखित है

डि~ इ/ए (मुक्त वितरण में) अन्त्य 'अ' के परिवेश में  
हि अन्त्य इ और 'उ' के परिवेश में  
हि बहुवचन के हेतु  
हि स्त्रीवाचक प्रातिपदिक के परिवेश में

अपभ्रंश के उपर्युक्त सहरूपियों में दो ही रूप प्रमुख हैं हिं (हि) और

/इ/ये दोनों ही रूप प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में भी प्रयुक्त होते रहे, परन्तु यातव्य यह है कि 'हिं' भी —इ (इँ) के रूप में रह गया था। अपभ्रंश की भाँति 'हँ' 'अ' को छोड़कर शेष स्वरान्त प्रातिपदिकों के साथ आता था, इ/ए अकारान्त के साथ। टैसीटोरी ने हिँ अथवा हि प्रत्यय से निष्पन्न रूपों के उदाहरण निम्नलिखित दिये हैं—विद्याइ, शिविकाइँ, रात्रइ, आदि परन्तु धरि, सूरि, गोअलि, पेटिमझारि आदि रूपों की व्युत्पत्ति अपभ्रंश के ए, एँ, इ से मानी जाती है।

पुल्लिग और आ, ई तथा ऊ अत वाले प्रातिपदिक अइ और—अइँ प्रत्यय ग्रहण करने हैं नगरीअइँ, नगरीयइँ आदि। अधिकरण व० व० में प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में प्रयुक्त होने वाला प्रत्यय ए है

श्रवणे, काँने, घणी देसे आदि

इस प्रकार अविकरण में प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में प्रयुक्त प्रत्यय है—

—इ अथवा हू (अपभ्रंश हिँ अथवा हि से व्युत्पन्न)

इ (ए/इ से व्युत्पन्न)

अइ और अइँ

ए बहुवचन में

माध्यमिक राजस्थानी कृति वेलि में 'इ' और 'ए' दोनों प्रयुक्त हुए हैं, साथ ही 'मै', 'महि', 'परि', 'लगि', 'लगी', 'लगै' परसर्ग भी मिलते हैं। उदाहरण निम्नलिखित हैं

१ जिणि सेस सहस फण फणि बि वि जीह —'इ' (छंद-५)

२ लखण वलीस वाल लीलामे मै

३ सुणि सवणि वयण मन माहि थियो सुख माहि

४ पखी कवण गयण लगि पहुँचै लगि

५ राज लगै मेल्ह्यौ रुखमणी लगै

६ आयौ अस खेडि अरि सेन अतरै ए

७ पूछत पूछत ग्यौ अतहपुरि इ

८ ऊपडी धुडी रवि लागी अम्बरि —इ

९ अम्बि अम्बि कोकिल आलाप इ

१० उत्तमग किरि अम्बर आधो अधि इ

११ आगणि जल तिरय उरप अलि पिअति इ

१२ ए अख्यात जु आउधि आउध इ

१३ आवासि उतारि जोडि कर ऊभा इ

१४ आँखाणा उरि उठि झल इ

अतएव माध्यमिक राजस्थानी तक अपभ्रंश 'इ' ही अधिकरण में अधिक प्रयुक्त हुआ है। परसर्गों का प्रयोग—ड वाले रूपों की तुलना में कम मिलता है। वीरसतसई में प्रथम दोहे में ही परसर्ग 'पै' का प्रयोग हुआ है—

- |  |     |
|--|-----|
| १ लाऊँ पै सिर लाज हू सदा कहाँ दास        | पै  |
| २ वीर हुतासण बोल मे, दीसै हेक न दोस      | मे  |
| ३. सूरालस ऐस मे अकज गुमाई आव             | मे  |
| ४ खोयो मै घर मे अवट, कायर जवुक काम       | मे  |
| ५ उरसाँ खेती बीज घर, रजवट उलटी राह       | आँ  |
| ६ आज घरे सासू कहे, हरख अचाणक काय         | ए   |
| ७ देख सखी होली रमै, फौजाँ मे धव एक       | मे  |
| ८ चगताँ घावाँ चैकसी, जे सुणसी बवाल       | —आँ |
| ९ बिण माथै दल बाढियौ, आँख हियै कै सीस    | ए   |
| १० मोनू ओछै कचुवै हाय दिखाता लाज         | ए   |
| ११ तोहि मचाई छोरै, बैरी रे घर बूव        | —०  |
| १२ गोठ गया सब गेहरा, वणी अचाणक आय        | ०   |
| १३ भाभी हू डौढी खडी लीधाँ खेटक रूक       | ०   |
| १४ छोड़ा चढणौ सीखिया भाभी किसई काम       | आँ  |
| १५ सूने घर सीधू थिया आपा रा मिजमान       | ०   |
| १६ हूँ बलिहारी राजियाँ, भ्रूण सिखावण भाव | आँ  |
| १७. घर मे देखू दोय कर रण मे दोय हजार     | मे  |
| १८ सीहां रे गल साकलै वे भड धालै हाथ      | ०   |
| १९. पैला काकड, पीव घर बीच बुहारै खेत     | —०  |
| २०. भाभी कुल खेती बिचा, भय न हुवै धव भग  | आँ  |
| २१. रण हालीजै चारणा चाहै अव लग चैन       | ०   |

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि 'आँ' और 'ए' वाले रूप अपभ्रंश परंपरा के हैं। 'मे' प्राकृत परंपरा से मध्ये > मज्जे > माँझ > माँहि > मे से आया है, जो पहले इस रूप में नहीं मिलता। एक नई विशेषता जो आधुनिक राजस्थानी में विकसित हुई है, अविकरण में शून्य प्रत्यय का योग है। उपर्युक्त उदाहरणों में 'घर', 'गोठ', 'डोढी', 'गल' और 'रण' पद अधिकरण में हैं, पर इनके आगे अधिकरण सूचक विभक्ति नहीं है। आधुनिक राजस्थानी में 'आँ' चलता है—'घराँ चालो' जैसे वाक्य नित्य बोलचाल की राजस्थानी में मिलते ही हैं। परन्तु परसर्ग का प्रचलन ही अब अधिक है

ओल्, यू—

थारी ओल्, यू

धीमै धीमै

हालतै पाणी मे

(जागती जोत, पृ० ५०)

मे के अतिरिक्त 'माय' का भी प्रयोग होता है 'उणरै माय'। तब भी यह कहना पड़ेगा कि 'मे' का ही प्रयोग अधिक होता है या फिर शून्य का।—आँ वाले प्रयोग भी मिलते हैं, पर 'मे' की तुलना में कम।

उपर्युक्त विभक्ति प्रत्यय और परसर्गों में से परसर्गों की परिगणना इस प्रकार की जा सकती है इनका प्रयोग प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में होता रहा है

कर्म नई, प्रति, रहई

करण - करि, नई, पाहिँ, साथि सिउँ

संप्रदान कन्हई (कनै) नई, माटई (माटै)

अपादान कन्हई, लउ, थउ, थकउ, थाकी, थी, पासइ, लगइ,

लगी, हुँतउ, हुँती

सवध केरउ, तणउ, नउ

अधिकरण ताँई, पासइ, मझारि, माझि, माँ, माहि

इन्हीं से विकसित रूप आधुनिक राजस्थानी में प्रयुक्त होते हैं। अतएव इस दृष्टि से प्राकृत—अपभ्रंश का प्रभाव निर्विवाद है।

## क्रियापद

अपभ्रंश व्याकरण में हेमचन्द्र ने तिङ् रूपों से सवद्ध केवल सात सूत्र दिए हैं। इनमें से ५ वर्तमान काल का विधान करते हैं तथा दो भविष्य और आज्ञा का निर्देश करते हैं। भूतकालिक प्रयोग के लिए अपभ्रंश में कृदन्त रूपों का प्रयोग होता रहा। पूर्वकालिक और तुमुनन्त अर्थ में अनेक प्रत्यय प्रयुक्त होते थे। वर्तमानकालिक कृत् प्रत्ययों से निष्पन्न रूप विशेषणवत् भी प्रयुक्त हुए हैं और क्रिया के स्थान पर भी।

अस्तिवाचक सहायक क्रिया। इसकी व्युत्पत्ति 'भू' और ऋच्छ धातु से हुई है। 'भू' धातु से होवऊँ और ऋच्छ से अछवउँ (प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी)। 'भू' धातु से बनने वाले रूप निम्नलिखित हैं

सामान्य वर्तमान काल

अन्य पुरुष एकवचन हुइ, होइ (सभवति > अप होइ) प्राकृत में हुवइ मिलता है। आधुनिक मारवाड़ी में हुवइ वही प्रयुक्त होता है।

अन्य पुरुष बहुवचन हुइँ, हुइ, होइँ, होइ

संयुक्त वर्तमान काल की रचना में 'हुइ' के साथ सहायक क्रिया छवउँ का वर्तमान कालिक रूप जोड़ा जाता है हुइ छइ = होता है।

आजाबोधक मे अन्य पुरुष एकवचन, 'हुउ' ग = भवतु > अप० होउ > हुउ है। विधि मे उत्तम पुरुष मे हुजिउँ, मध्यम पुरुष मे होइजे, अन्य पुरुष मे हुए, मध्यम-पुरुष बहुवचन होयो।

भविष्यकाल मे 'होइसि', हुएसि, हुइसिइ, होसि, आदि रूप बनते हैं।

वर्तमानकालिक कृदन्त का सर्वाधिक प्रचलित रूप है—हुँतउ। अपभ्रंश मे भूतकालिक कृत् प्रत्यय 'उ' है जिससे हुअउ, हुयउ बने।

अछवउँ द्वितीय क्रिया है, परन्तु यह मुख्य और सहायक दोनों प्रकार से प्रयुक्त होती थी। यह स ऋच्छति से अपभ्रंश मे अच्छइ हुई है। पिशेल के अनुसार आदि 'अ' प्रायः लुप्त होकर 'छइ' रूप बनते हैं जो वचन और पुरुष के अनुसार बदलते हैं। यह छई ही छै, छो, छी के रूप मे आधुनिक राजस्थानी मे सहायक क्रिया के रूप मे प्रयुक्त होता है।

राजस्थानी मे धातु से निष्पन्न क्रिया रूपो मे अपभ्रंश का प्रभाव विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अपभ्रंश व्याकरण के अनुसार अन्य पुरुष की एक व० द्वि व० और व० व० की विभक्ति को विकल्प से 'हि' आदेश होता है। (त्यादेराद्यत्रयस्य सवधिनो हि न वा) इसी प्रकार मध्यम पुरुष एक व० की विभक्ति को 'हि' आदेश होता है। बहुवचन मे 'हु' आदेश होता है (बहुत्वे हु) उत्तमपुरुष एक व० मे 'उ' और बहुवचन मे हु होता है। इन्ही रूपो से आधुनिक राजस्थानी के रूपो की सिद्धि होती है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानो के रूप तो अपभ्रंश जैसे ही है

	अपभ्रंश	प्रा० प० रा०	राजस्थानी
{ अन्य पुरुष एकवचन	कर्अइ	कर्अइ	करइ > करै
{ „ „ व० व०	कर्अहिँ	कर्अइँ	करइ > करै
{ मध्य „ एकवचन	कर्अहि	कर्अइ	करइ
{ „ „ व० व०	कर्अहु	कर्अउ	करो
{ उत्तम „ एकवचन	कर्अउँ	कर्-अ-उँ	करूँ
{ „ „ व० व०	कर्अहुँ	कर्अउँ	कराँ
		अउँ > आँ	कराँ

'वेलि किसण एकमणी री' मे वर्तमान काल के अन्य पुरुष एक व० (सकर्मक) (१) मूकै (२) मूकई (३) मूकति, आदि रूप मिलते हैं, इनमे से प्रथम और द्वितीय तो अपभ्रंश से प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी की परंपरा से आए हैं। द्वितीय सस्कृत के 'पठति' के सादृश्य पर निर्मित लगता है।

स्त्रीलिंग मे भी मूकै रूप ही चलता है। मध्यम पुरुष एक व० मे 'मूकै', मूकई, मूक तथा स्त्रीलिंग मे भी यही प्रचलन है। उत्तम पुरुष एकवचन मे 'मूकू' और बहुवचन मे 'आँ' वाला रूप 'मूकाँ' चलता है, जिसकी परंपरा अपभ्रंश दिखलाई है। वेलि मे इस काल रचना के उदाहरण निम्नलिखित हैं

- १ आलोचै आपो आप सू (५३) अन्य पुरुष एकवचन पुल्लिंग  
 २ सीखावि सखी राखी आखै सुजि (७६) ,, ,, ,, स्त्रीलिंग  
 ३ धू ढलियै ऊकसै धड (१२१) ,, ,, ,, ब० व० पुल्लिंग  
 ४ रतधण

ऊँच छिछ ऊछलै अति (१२५) ,, ,, ,, ,,

५ कहै वेलि वर लहै कुमारी (२८१) ,, ,, ,, स्त्रीलिंग

६ काई रे मन कलपसि कृपणा (२८६) मध्य पु० ,, पुल्लिंग

७ किसन पधार्या लोक कहन्ति (७२) अन्य पु० व० व० ,,

अतः वेलि की भाषा में वर्तमान काल में वही रूप चलते हैं, जो अपभ्रंश की परंपरा से आये हैं। 'कलपसि' जैसे लट् लकार के मध्यम पुरुष एक वचन के अनुवर्ती हैं। 'कहन्ति' आदि संस्कृत के 'पठति' के सादृश्य पर बनाए गए हैं।

वीरसतसई में भी वर्तमान में इन्ही रूपों का प्रयोग हुआ है

१ झूरै डम रंगरेजणी कूडा ठाकुर काम (८५) अ० पु० ए० व० स्त्री०

२ चून सलूणौ सेर ले, मोल समण्यै सीस (१००) ,, व० व० पु०

३ रुण्ड हुवा जीवै जिके, सदा न हेरै साथ (१०१) अ० पु० ,, ,,

४ पग पग पाछा देण रौ, हुलसै अच्छर हेत (१०७) ,, ,, ए० व०

५ भोला की चहरौ भडा ईखौ धारण ऐण (१२२) म० पु० व० व० पु०

६ घावा कत पधारिया, पावा हूत प्रणाम (११७) अ० पु० ए० व० पु०

७ पय निहारै पाहुणा, गीध बिहारै गैण (१२१) अ० पु० व० व० पु०

आधुनिक राजस्थानी में

ज्यू मोर खुजालै पाखा अ० पु० ए० पु०

हलवो हेंवण नै नारवै

आ बिणी तराजै ओलू अ० पु० ए० स्त्री

(जुगजुगानी रूप ही हिलोरा लेवै) अ० पु० ए० पुल्लिंग

अतएव धातु से निष्पन्न वर्तमानकालिक रूपों की धारा आधुनिक राजस्थानी में भी अपना मूल स्रोत अपभ्रंश से ही ग्रहण किये हैं, यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है।

मामान्य भविष्य काल के रूप भी अपभ्रंश से ही प्रेरित हैं। हेमचंद्र ने भविष्यकाल से सवद्ध एक सूत्र दिया है 'वत्स्यति स्यस्य स' अर्थात् अपभ्रंश में भविष्यत् अर्थ में 'स्य' के स्थान पर 'स' आदेश होता है

ज अच्छइ त माणिअइ होसइ करतु म अच्छि

इस पंक्ति में 'होसइ' भविष्यत् अर्थ में है। अपभ्रंश में भविष्यकालिक क्रिया की रूप सारिणी निम्नलिखित है

	ए० व०	व० व०
अन्य पु०	करिम-/करिहइ	करिमहि/करिहिहि
मध्यम पु०	करिहिसि/करिहिहि	करिमहु/करिहिहु
उत्तम पु०	करीसु/कीसु	करिसहु/करिउ

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में भी अपभ्रंश के यही मूलभूत रूप भविष्य ज्ञान के लिए प्रयुक्त होते हैं। कुछ उदाहरण ये हैं - -

जाइसु, बोलिसु, धरिसिउँ	}	उत्तम पु०	ए० व० व० में
बोलिसिउँ, करिस्थिउँ, उपजिस्थाँ		" "	व० व० में
जाइसि, हुइसिइ	}	मध्यम पु०	क० व० में
थाइसिउ, जीमिस्थउ		" "	व० व० में
कहिसिइ, देमिइ, करिसउ	}	अन्य पु०	ए० व० में
कहिसिँ, धरस्थउ		" "	व० व० में

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में लउ > लो वाले रूपों के उदाहरण अत्यल्प हैं। आधुनिक राजस्थानी के पूर्वी रूप में यही चलते हैं तथा लिंग, वचन और पुरुष से प्रभावित होते हैं। वर्तमान निश्चयार्थ से भी भविष्य की प्रतीति होती - 'मू अवार नी मरु' (मैं अभी नहीं मरूंगा) यह स्थिति प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में भी थी और आज भी है। वेलि में 'स' वाले रूप प्रयुक्त हुए हैं

पूजा मिसि आविसि पुरुखोतम (६६) उत्तम पु० ए० व० स्त्री०

कि कहिसु तासु जसु अहि थाको कहि (२७२) " " " पुल्लिंग

वेलि में भविष्यकालिक रूपों की सारणी निम्नलिखित है—

	ए० व०	व० व०
अन्य पु०	मूकिसी, मुकिस्यै	
मध्यम पु० उत्तम पु०	मुकिस्यो	
उत्तम पु० मध्यम पु०	मुकिसि, मुकिस्यो	मूकिस्या, मूकेस्या, मूकस्या

वीरमतसई में भविष्यकाल अर्थ में यही 'म' वाले रूप प्रयुक्त हुए हैं

१ चगताँ धावाँ चैकसी, जे सुणसी बवाल (६२) अ० पु० ए० व० पु०

२ भर खप्पर वालहे रूहिर, देसी कत धपाय (६७) " " " "

३ बलण कढायौ अतर धण, मुहँगौ लेसी कोण (८६) " " " "

४ मुडिया मिलसी गीदवौ बलेन धणरी बाँह (९७) " " " "

आधुनिक राजस्थानी के प्रायः सभी विविध रूपों में यही रूप चलते हैं। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में 'लो' वाले रूप कम प्रयुक्त हुए हैं, आधुनिक राजस्थानी में यह भी 'स' वाले रूपों के सदृश ही चलता है। आधुनिक राजस्थानी के कतिपय उदाहरण निम्नलिखित हैं—

थारी जान री किण विधि खातरी करस्यु

दायजो कठा सूलस्यु



सासरा नै कैया केवटस्यु

X X X

कोई राजकवारी

थारा चितराम कोर-कोर

दूतिथा नै दिखाती होसी

कामण' करती होसी

(जागती जोत, पृ० ३७)

निष्कर्षतः इन रूपों के विषय में कहा जा सकता है कि इनमें पूर्णतः अपभ्रंश की ही परंपरा प्रवहमान है।

अपभ्रंश में आज्ञार्थ मध्यम पु० एकवचन और बहुवचन में इ, उ और ए का वैकल्पिक प्रयोग 'हि स्वयोरिदुदेत्' सूत्र द्वारा निर्दिष्ट है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में यह 'इ' अन्तवाला होता है। कविता में 'ए' वाले रूप भी मिलते हैं। अउ या उ वाले रूप मध्यम पुरुष बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं।

माध्यमिक राजस्थानी में—

एक व०

व० व०

मध्य पु०

सूक, सूकि, सूकहि

सूकी

में मिलते हैं।

आधुनिक राजस्थानी में अकारान्त रूप

थू भण

था भणी

प्रयुक्त होते हैं।

विध्यर्थ

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में विध्यर्थ तीनो पुरुषों में मिलता है।

अन्य पुरुष एक व०

हुये, जोइजे

मध्य „ „ „

करिजे, जाणिजे, जोजे

„ „ व० व०

सुणजो, करज्यो, जाज्यो

उत्तम „ एक व०

हुजिउँ

मारवाडी में 'अजइ, ईजइ,—अज्ये,—अजो' वाले रूप मिलते हैं। लासेन ने इनकी व्युत्पत्ति संस्कृत विध्यर्थ से सकेतित की है। टेसीटोरी के अनुसार यह प्राचीन प्राकृत में भी रही है। प्राकृत वैयाकरणों ने होज्जइ, होज्जसि जैसे रूपों का आख्यान किया है। टेसीटोरी प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के 'हुजिऊँ' की व्युत्पत्ति अपभ्रंश के होज्जउँ से मानते हैं, तथा इसे होज्जामि के समकक्ष प्रतिपादित करते हैं। अर्द्धमागधी और जैन महाराष्ट्री प्राकृत में 'होज्जामि' का प्रयोग होता रहा है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के अन्य रूपों का विकाससूत्र निम्नलिखित है—

अप०	प्रा० प० रा०
होएज्जहि >	होउज्ज
करेज्जहु >	करिज्यो

‘होउज्ज’ और ‘करिज्यो’ कर्मवाच्य के रूप नहीं हैं। क्योंकि कर्मवाच्य रूप में ‘इ’ ह्रस्व नहीं होता। ज्जहि में कर्मवाच्यीय रूप ‘उज्ज’ बनता है। परन्तु, ‘वेनि’ के सपादको ने ‘मण्डिज’ जैसे रूपों को कर्मवाच्य में ही माना है। उग्नित ‘मगलरूप गाइजै माहव’ का अर्थ ‘मगलरूप माधव का गुणानुवाद गाया जाता है’ दिया है। उसका विधिपरक अर्थ होगा - ‘मगलरूप’ माधव का गुणगान करना चाहिए।’

वीरसतसई दोहा मध्या १११ में- ‘रण हालीजै चारणा’ पदबद्ध प्रयुक्त हुआ है। हालीजै, गाइजै के ही समान रूप है। सतसई के सपादको ने ‘हालीजै’ का कर्मवाच्य वाच्यीय अर्थ नहीं किया, वरन् उसे विध्यर्थक मानकर ‘अवयुद्ध में चलो’ अर्थ किया है। इसी प्रकार के अन्य प्रयोग भी हैं

- १ मतवाला दल आविया छोडोजै गलवाह (२३०)
- २ लहेंगे मूझ लुकीजिय बैरी रौ न विसान (७५)
- ३ दरजण लवी अगिया आणीजै अव मूझ (८३)

आधुनिक राजस्थानी में इन रूपों का प्रयोग प्रायः नहीं मिलता वरन् कर, करजो करजो, करज्यो। ‘चाइज/चाईज’ क्रियार्थक सजा रूपों के भाव प्रयोग आधुनिक राजस्थानी में अधिक होता है।

## भूतकाल

अपभ्रंश में भूतकाल की अभिव्यक्ति के लिए कृदन्त रूपों का प्रयोग हुआ है। प्राकृतों में भी अख्यात के स्थान पर कृदन्त रूपों का प्रचलन होने लगा था। अपभ्रंश में ऐसे कृत् प्रत्यय निम्नलिखित थे—

- १ उ थिउ, गउ, धाइउ, किउ, परिगलउ, णीसरिउ आदि
- २ य—भिलिय, भिडिय, लुट्टिय, तुट्टिय, गय आदि
- ३ ओ हिडिओ, सेवियो, भणियो, रमियो
- ४ य पडिय, मणिय, रमिय आदि

प्राचीनपश्चिमी राजस्थानी में भूत कृत् प्रत्ययों की सारणी इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है

- १ इउ, इअउ, यउ करउ जोयउ, थायउ, कहिउ, हुयउ आदि
- २ आणउ उल्हाणउ (बुझा), चपाणउ (चापा हुआ)  
सधाणउ (पूर्ण) आदि
- ३ धउ—कीधउ, साधउ, दीधउ, आदि

४ व्यञ्जनान्त धातुओं में वने त या—न वाले संस्कृत कृदंतों से वने रूप। इनमें एक धातु का अंतिम व्यञ्जन होता है, दूसरा संस्कृत प्रत्यय है। अपभ्रंश में इनका समीकरण हो गया। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में सरलीकरण होकर रूप प्रयुक्त हुए

भागउ, लागउ, छूटउ, दीठउ, आदि  
माध्यमिक राजस्थानी में उ, ए, और 'यो' वाले रूप चलते रहे  
आरँभिया, ऊग्रहिया, औछायो,  
उतारे, काढे, करेउ, आदि

आधुनिक राजस्थानी में यो प्रचलित है  
गयो, पढ्यो, भण्यो कह्यो, आदि  
'धउ' वाला रूप 'घो' में परिवर्तित हो गया है  
कीघो, खाघो, पीघो, दीघो आदि

- १ गोठ गया सब गेहरा (वीर सतसई ६०)
- २ वाप गयो ले माहिरी („ „ ८६)
- ३ पूत महा दुख पालियो („ „ ११५)
- ४ नीराजण बाधावियो („ „ २६)

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि अपभ्रंश के 'उ', 'य' और ओ भूत कृत प्रत्यय ही आधुनिक राजस्थानी में भी भूतकालिक रूपों का निर्माण करते हैं। भूतकृदन्त जब विशेषण की भाँति प्रयुक्त होता है तो इसके साथ सहायक क्रिया का वर्तमान अर्थ में निमित्त कृदन्त 'हूँतउ' का प्रयोग पश्चिमी राजस्थानी में होता है। जैसे गिउ हूँतउ = गया हुआ, इस हूँतउ के स्थान पर थकउ (थिकउ) भी मिलता है, जैसे वड्ठी यकी = बैठी हुई, हपिउ थिकउ = हपित हुआ आदि। अपभ्रंश भूतकृदन्त के ऐसे प्रयोगों के साथ 'रहइ' का प्रयोग होता था। परन्तु यह 'रहइ' सातत्य का बोध कराता था।

भूतकृदन्त से संयुक्तकाल का निर्माण भी होता रहा है, जैसे

- १ आविउ छूँ इहा
- २ निद्रावसि हुई छह वाल
- ३ अख्या छू अम्हे
- ४ लोक भेला थया छइ

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का यह प्रयोग जिसमें—भूतकृदन्त + अछवउँ, से संरचना हुई है, आधुनिक राजस्थानी में पूर्णतः चलता है। आयो छूँ, गयो छै, वा आयी छी आदि बोलचाल की भाषा के प्रयोग हैं। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी से लेकर आधुनिक राजस्थानी तक भूत कृदन्त रूप कर्तारि संरचना में तो आता ही है

- १ प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी हउं वोनिउ — मैं बोला
- २ " " " " करहउ भणिउ = करहा बोला
- ३ बोला मारू रा दूहा ढाढी गाया निसहमरि
- ४ वेलि किसन रुकमणी री हूँ उधरी पाताल हूँ
- ५ आधुनिक राजस्थानी मू वोल्थो, मैं वोल्थो

प्राचीन प्रयोगो और यदा कदा आधुनिक राजस्थानी में कर्मवाच्य मरचना में भूत-कृदन्त के रूपों का प्रयोग होता है

- १ राजकन्या मई दीठी = मैंने राजकन्या देखी
  - २ देवताए दुन्दुभी वजावी = देवताओं ने दुन्दुभी वजाई
- अपभ्रंश में भी ऐसे प्रयोग होते रहे हैं। उपर्युक्त प्रयोगों के अतिरिक्त क्रियार्थक सजा के रूप में भूतकृदन्त के प्रयोग होते हैं—

‘यो काम कर्था विना न चालसी’

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में भी ऐसे प्रयोग हुए हैं

१ पुण्य कर्था विना

२ नीसर्या पछी

## पूर्वकालिक रूप

प्राकृत-अपभ्रंश में पूर्वकालिक अर्थ में ‘इ’, इउ, इवि और अवि ये चार प्रत्यय होते हैं। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में ‘एवि’ और ‘ई’ प्रत्यय से पूर्वकालिक के रूप निष्पन्न होते थे

भणेवि, धरेवि, पणमेवि आदि

लेई, जाई

इन ‘ई’ वाले रूपों के साथ ‘नई’ परसर्ग भी जोड़ा जाता रहा है

करी नई, वाँची नई, छाँडी नई आदि

‘नई’ के स्थान पर ‘करी’ परसर्ग भी प्रयुक्त किया जाता था

तेडावी-करी, देखी करी आदि

‘वेलि’ में ‘अवि’ का प्रयोग किया गया है

परमेसर प्रणवि प्रणवि पुणि सरसति (१)

‘इ’ वाले रूप का उदाहरण यह है—

दसमास उदर धरि वले वरस दस (२)

आधुनिक राजस्थानी में ‘इ’ और ‘इ’ वाले रूपों के साथ ‘नई’ परसर्ग युक्त मरचनाओं का प्रयोग होता है। नई का परिवर्तित रूप ‘नै’ अथवा केवल ‘न’ है। ‘वठै जाई न पछै आऊँ’ अथवा ‘वठै जाइँर आऊँ’ आधुनिक प्रयोग हैं। अपभ्रंश का अंश ‘इ’ में ही रह गया है, परसर्ग वाद का योग है। टैसीटोरी के अनुसार

‘भूतकृदन्त का भावे सप्तमी प्रयोग अपभ्रंश में धड़ल्ले से होता था। यही ढग प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी तथा अन्य सजातीय भाषाओं में भी सुरक्षित रहा। ऐसे ही भावे सप्तमी कृदन्तो से प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के ईवाले पूर्वकालिक कृदन्त उत्पन्न हुए हैं। ‘नइ’ और ‘करी’ सप्तमी परसर्ग हैं। यही ‘नइ’ आधुनिक राजस्थानी में ‘नै’ अथवा ‘न’ रह गया है। संभवतः ‘करी’ का ही संक्षिप्त रूप ‘र’ है।

## क्रियार्थक सज्ञा

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में अण और इवउँ—अवउँ प्रत्ययों से वनी है। यह अपभ्रंश के अण से मिलती जुलती है। राजस्थानी में—अण और—वा रूप प्रचलित है।

१ जीमवा गयो छै

२ देखण गयो

इन्हीं ‘अण’ वाले रूपों के साथ—हार जोड़कर कर्तृवाचक सज्ञा बनाई जाती है। करणहार, भोगणहार आदि रूप इसी प्रकार बने हैं। केवल अण वाले रूप भी मिलते हैं—

१ दमँगल विण अपचौ दियण, वीर धणी रौ धाण (वीरसतसई १०)

२ नहँ डाकी अरि खाबणो आयौ केवल वार।

वधावधी निज खाबणौ, सो डाकी सरदार ॥ ( „ ११)

३ सहणी सवरी हूँ सखी, दो उर उलटी दाह ( „ १४)

४ असिधाबण तो पीव पर, वारी वार अनेक ( „ ४१)

५ इणरा भोगणहार जे आज भिडाणा आय ( „ ४०)

गद्य में भी ‘मायला बदलावा में फूटरापी लखाण रो बदलतौ नजरियो’ जैसे प्रयोग मिलते हैं। आधुनिक राजस्थानी में आलो लगाकर भी क्रियार्थक सज्ञा बनाई जाती है। परन्तु आलो के पूर्व वा वाला रूप होता है। ‘जावाऽलो’ ‘देखवालो’ आदि बोलचाल की भाषा के प्रयोग हैं। अणहार की व्याख्या में टेसीटोरी ने लिखा है “यह प्रणवाली क्रियार्थक सज्ञा के पठ्ठी रूप तथा ‘कार’ (करनेवाला) के सयोग से बना है। अपभ्रंश के पालणह + कार से ‘क’ का लोप होकर ‘पालणहार’ बना।” अतएव यह स्पष्ट होता है कि आधुनिक राजस्थानी की क्रियार्थक सज्ञा का स्रोत भी प्राचीन है और किसी न किसी अंश में अपभ्रंश से जुड़ा है। अपभ्रंश से प्राचीन राजस्थानी में प्रयुक्त होता हुआ ध्वनिपरिवर्तन के साथ आधुनिक राजस्थानी में प्रचलित है।

## कर्मवाच्य

वातु मे ईज और 'इ' जोड़ने से कर्मवाच्य रूप निष्पन्न होता है। अपभ्रंश में इसका द्वित्व रूप 'इज्ज' ही मिलता है। प्राकृत पैगल में 'इज्ज' ही 'ईज' हुआ है। अपभ्रंश में ईअइ जाने रूपों का विधान नहीं है, इससे टेसीटोरी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि ईअइ वाले रूप भी 'इज्ज' के ईजइ रूप से बने हैं-

ईजइ > ईयइ

'य' के निर्वल होने पर 'ईयइ' ही 'ईय' रह गया होगा। आधुनिक राजस्थानी में 'ईज' रूप ही प्रचलित है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में वर्तमान कर्मवाच्य के निम्नलिखित उदाहरण किए जा सकते हैं

अप० कीज्जइ > कीजइ

„ दिज्जइ > दीजइ

„ दीज्जइ > दीयइ

„ कहीज्जइ > कहीयइ

कर्मवाच्य संयुक्त वर्तमान में इन रूपों के साथ 'छइ' जोड़ा जाता है

'कहीअइ छइ' (आदिनाथ चरित्र)

भविष्यत् कर्मवाच्य में 'ईज' और ई ही चलते थे

कीजसी = किया जाएगा

लीजिस्यइ = लिया जाएगा

कहीस्यइ = कहा जाएगा

वखाणीस्यइ = वखाना जाएगा

## आदि

माध्यमिक राजस्थानी में 'इजै' हो गया है। वेलि में निम्नलिखित उदाहरण मिलते हैं

१ कुंअर एकम कहि विमलकथ (११)

और एकम कहे जाते थे।

२ लीवरणण पहिलौ कीजै तिणि (८)

स्त्री का वर्णन पहले करना चाहिए।

३ जगनि जगनि कीजै जष ताप (५०)

४ आगमि सिसुपाल मण्डिजै ऊछव (३८)

५ पटमण्डप छाडजै कुदणपुरि (३८)

६ दूरा नयर कि कोरण दीमै (४१)

उपर्युक्त उदाहरणों में मिथ होता है कि सामान्यतः 'ईजै' वाले रूप प्रयुक्त हुए हैं,

कही 'ई' के परिवर्तित रूप 'ऐ' वाले भी। अतएव कर्मवाच्यीय रूपों को अपभ्रंश स्रोत से ही मानना ठीक है।

### प्रेरणार्थक रूप

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में प्रेरणात्मक क्रिया-रूप निम्नलिखित विधि और प्रत्ययों से निष्पन्न होते हैं

१ स्वरवृद्धि से टेसीटोरी ने इसमें मूल स्वर की वृद्धि मानी है। परन्तु मूल स्वर से उनका तात्पर्य क्या है, यह स्पष्ट नहीं किया गया।

(क) ऊतरइ > ऊतारइ

(ख) पढइ > पाढइ

प्रथम उदाहरण में द्वितीय अक्षर का स्वर दीर्घ हुआ है, द्वितीय में प्रथम अक्षर का स्वर। परन्तु सामान्यतः प्रथम अक्षर का स्वर ही वृद्धिगत होता है।

क्योंकि मरइ > मारइ, मिलइ > मेलइ में यही स्थिति है। 'ऊतरइ' में पहले ही प्रथम स्वर दीर्घ है अतः द्वितीय अक्षर के स्वर की वृद्धि हुई लगती है।

२ आव प्रत्यय से निष्पन्न प्रेरणार्थक रूप

आव प्रत्यय की व्युत्पत्ति अपभ्रंश के आव प्रत्यय से है, बल्कि वही है। प्राकृत में यह प्रत्यय है। इस प्रत्यय के योग में रूपस्वनिमित्त परिवर्तन होता है। क्रिया के प्रथम अक्षर का स्वर ह्रस्व हो जाता है, परन्तु यह सदैव नहीं होता।

आयइ + आव > अपावइ

बोलइ + आव > बोलावइ

मानइ + आव > मनावइ

लिइ + आव > ल्यावइ

एक बात और ध्यातव्य है, यह प्रत्यय क्रिया रूप के बीच में आता है। आ का एक सहरूपि (allomorph) और है—अब जो प्रथम अक्षर में दीर्घ स्वर वाली क्रियाओं के साथ आता है जैसे

मेलइ > मेलवइ

वीनइ > वीनवइ

सीखइ > सीखवइ

यह स्थिति प्राकृत-अपभ्रंश से ही प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में आई है। उपर्युक्त उदाहरणों के मूल प्राकृत रूप 'पठवइ', 'विण्णवइ', 'मेलवइ' आदि हैं, जो 'सिद्धहेम' व्याकरण में मिलते हैं।

३ आड-प्रत्यय से निर्मित रूप

उडाडइ = उडाता है।

जगाडइ = जगाता है।

देखाड = दिखाता है।

४ आर प्रत्यय से निर्मित रूप

घट = घटार = घटाता है।

दिव = दिवार = दिलाता है।

५ आल प्रत्यय से निर्मित रूप-

जैसे, दिखाल = दिखाता है।

मारवाडी में 'र' के विपर्यय से 'दिरावइ' और 'लिरावइ' रूप मिलते हैं, इनके मूल रूप दिवारइ' और 'लिवारइ' हैं। वेलि में

पधरावि त्रिया वामै प्रभणावे (१५७)

(प्रिया को बाँई ओर बिठाकर)

मिलता है—यह रूप 'प्रभणइ' में 'अव' प्रत्यय से बना है। परन्तु प्रत्यय-योग के पूर्व अत्य स्वर 'इ' का लोप हुआ है।

प्रभणइ + अव > प्रभण + अव > प्रभणाव

इस प्रातिपदिक पुरुष और लिंग के प्रत्यय से रूप बनते हैं।

यहाँ कतिपय उन रचनात्मक प्रत्ययों पर भी विचार करना प्रासंगिक होगा जो प्राकृत अपभ्रंश से प्रा० पश्चिमी राजस्थानी में आए हैं और जो आधुनिक राजस्थानी में भी प्रयुक्त हुए हैं।

१ डलउ

अपभ्रंश के डलउ से सरलीकरण होकर प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में प्रचलित रहा

आगिलउ = आगे

पूर्विलउ = पहले का

आधुनिक राजस्थानी में 'लउ' का 'लो' हो गया है, तथा 'आगलो', 'पाछलो' आदि रूप बनते हैं। इसी प्रकार प्रा० प० रा० के माहिलउ आदि से आधुनिक राजस्थानी के मायलो (भीतरी) बीचलो/बिचलो (बीच का) रूप बने हैं। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी और आधुनिक राजस्थानी के रूपों में अंतर अन्त्य 'उ' और 'ओ' का है।

अपभ्रंश अवरिल्लउ से प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में 'ओरिलउ' और फिर ओलिउ बना। इसी प्रकार परिल्लउ से परिलउ और पइलउ। इन्हीं परिलउ से परलो' और पउलउ में 'पैलो' आधुनिक राजस्थानी के रूप निष्पन्न हुए हैं।

२ अलउ

इसी प्रकार एक और प्रत्यय है—अलउ, जो प्रा० प० रा० में आँधलउ और गललउ जैसे रूपों में दिखलाई पड़ता है। अपभ्रंश में भी यह—अलउ रूप में ही मिलता है। आधुनिक राजस्थानी के 'आँधलो' और 'एकलो' जैसे शब्दों के साथ



प्रत्यय लउ > लो परिवर्तन के साथ प्रयुक्त हुआ है।

३ डउ

अपभ्रंश से आगत यह प्रत्यय प्रयोग में भी अपभ्रंश के सदृश है अर्थात् स्वार्थ प्रयुक्त होता है

कागडी, गाँठडी, चाँमडउँ,

आदि में यही प्रत्यय है। कभी-कभी इसके साथ अलउ प्रत्यय और जुड जाता है, जैसे

कूखडनी, माडली

आधुनिक राजस्थानी में भी यह प्रत्यय (स्वार्थ प्रयोगों में आता है गोरडी (गोरी) कुरजडली (कुरज पक्षी) आदि प्रयोगों में यही प्रत्यय है।

ये वे प्रत्यय हैं, जिनका राजस्थानी में धड़लने से प्रयोग होता है और जो सीधे प्राकृत अपभ्रंश स्रोत से राजस्थानी में आए हैं।

### सर्वनाम

जैसे राजस्थानी के रचनात्मक प्रत्यय, पूर्वकालिक क्रिया रूप, भविष्यकालिक क्रिया रूपों में प्राकृत अपभ्रंश का असदिग्ध प्रभाव दिखलाई पड़ता है, वैसे ही सर्वनामों की स्थिति भी है।

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में उत्तम पुरुष एकवचन सर्वनाम का रूप 'हूँ' प्रचलित था। निश्चय ही यह अपभ्रंश 'हउँ' का सकुचित रूप है। हेमचन्द्र ने हउँ का विधान 'सावस्मदो हउँ' सूत्र में किया है। माध्यमिक राजस्थानी में इस उत्तम पुरुष एकवचन सर्वनाम का यही रूप सुरक्षित है ब्रेल में इसके निम्नलिखित रूप मिलते हैं-

कर्ता हूँ

कर्म मूँ, हूँ, मूझ, अह

सवध मूझ, माहरो, मो, मू, अम्हीणो

अधिकरण अह्माँ

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में सवध कारक में 'मझ', 'मुझ' और मूँ मिलते ही हैं। आधुनिक राजस्थानी में 'हूँ', मूँ, म्हारा, म्है, आदि रूपों के प्रयोग हेतु प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

उत्तम पुरुष बहुवचन का रूप अपभ्रंश में—'जसशसोरम्हे, अम्हइ' सूत्र के अनुसार कर्ताकारक में 'अम्हे' और कर्मकारक में 'अम्हइ' होता है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में एकदम यही रूप 'अम्हे' था। मारवाड़ी में यह आदिस्वर लोप के पश्चात् 'म्हे' रह गया है। इसी 'म्हे' से सवध कारकीय रूप 'म्हारा' बनता है।

मध्यम पुरुष एक वचन में अपभ्रंश में 'तु हु' आदर्श होता था। प्रथमा और

द्वितीया व० व० में इसके क्रमशः 'तुम्हे' और तुम्हई रूप होते थे। तृतीया एकवचन, सप्तमी एक वचन और द्वितीया एक वचन में 'पइ' और 'तइ' प्रयोग प्रचलित थे। तृतीया बहुवचन में 'तुम्हेहि', पचमी एक वचन और पष्ठी एक वचन में तउ और तुज्ज आदेशों का कथन हेमचन्द्र ने किया है।

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में अपभ्रंश तुहुँ > तूं हो गया है। मारवाड़ी में तुहुँ का 'ह', 'त' में मिलकर उसे महाप्राण बना देता है, इस प्रकार 'थू' रूप बनता है। बहुवचन में 'तम', यम, तुम्हे, रूप प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में पाए जाते हैं। आधुनिक राजस्थानी में 'था' और 'थे' रूप चल रहे हैं।

अपभ्रंश के प्रश्नवाचक तथा अनिश्चयवाचक सर्वनामों के लिए हेमचन्द्र ने 'किम काइ कवणौ वा' सूत्र दिया है। अर्थात् अपभ्रंश में किम् के स्थान पर काइ और कवण आदेश विकल्प से होते हैं। अपभ्रंश में इनके निम्नलिखित प्रयोग मिलते हैं

कर्ता-कर्म	$\left\{ \begin{array}{l} \text{कवणु} \\ \text{को} \\ \text{कोई, को-वि} \\ \text{काई} \end{array} \right.$	सवध	—कवणह
करण कवणए,		अधिकरण	$\left\{ \begin{array}{l} \text{कवणहिँ} \\ \text{कहिँ} \end{array} \right.$

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में कवण, कउँण, कूण, कुण, काँइ, काँई रूपों के उदाहरण मिलते हैं।

माध्यमिक राजस्थानी की साहित्यिक कृति वेलि में

कर्ता को, कवण, केड, किणि, किणौ, कुण,

कर्म किणि, किणौ

मिलते हैं

१ स्त्रीपति कुण सुमति तूझ गुण जु तवति

तार कवण जु समुद्र तरै।

पखी कवण गयण लागि पहुँचै

कवण रक करि मेरु करै॥ (६)

२ काँइ इवडा हठ निग्रह किया (२८८)

आधुनिक राजस्थानी में 'कवण' का 'कुण' और 'कूण' वाले रूप ही प्रचलित हैं। यह परिवर्तन प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में ही घटित हो गया था। 'वेलि' में भी 'कुण' मिलता है। मेवाड़ी में 'कूण' चलता है, ढूढाड़ी में 'कुण'। 'काँइ' का प्रयोग राजस्थानी के सभी रूपों में किञ्चित् अंतर के साथ किया जाता है। मेवाड़ी में कइ/कई चलता है।

‘कड है’ — क्या है (मेवाड़ी)

काँइ छै = क्या है (ढूढाड़ी)

इसी प्रकार एम, केम रूप अपभ्रंश से प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में आए हैं। माध्यमिक राजस्थानी तक ये रूप ‘इम’, ‘केम’ आदि चलते रहे।

१ स्रम कीधा विणु केम सरै (७)

२ कागल दीघो एम कहि (५६)

आधुनिक राजस्थानी में ‘केम’, ‘एम’ लुप्त हो गए हैं। इसके स्थान पर काँई से बने रूप क्या अथवा ‘कय्याँ’ और ‘अय्याँ’ का प्रयोग होता है। आधुनिक राजस्थानी में ‘केम सरै’ का रूपांतर ‘कय्याँ चालै’ होगा।

उपर्युक्त कतिपय उदाहरणों में राजस्थानी में प्राकृत- अपभ्रंश से किञ्चित् ध्वनिपरिवर्तन के साथ आगत सर्वनामों का स्वरूप संकेतित होता है। इस दृष्टि से यह कहना अनुचित न होगा कि सर्वनामों के ऐतिहासिक विकास की कहानी राजस्थानी के तीनों विकास चरणों में भलीभाँति सुरक्षित है।

## विशेषण

विशेषणों के प्रयोग के विषय में उल्लेखनीय है कि प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में जो स्थिति थी, वही आधुनिक मारवाड़ी में भी है। इनकी रूपरचना सज्ञा शब्दों के सदृश ही होती है तथा ये विशेष्य के लिंग, वचन आदि से प्रभावित होते हैं। स्त्रीलिंग विशेषणों के सदर्थ में ध्यातव्य है कि वचन और कारक संबंधी विशेषता इनमें नहीं होती, तथा ‘ई’ का रूपरचना-रहित रूप ही इनके लिए प्रयुक्त होता है।

प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में यह प्रवृत्ति अपभ्रंश से आई है। पउमचरिउ में

१ दिव्वइँ गन्वोदयाइँ (वाइसवी सधि)

२ सुरसमर सहासेहि दुम्महेण दसरहेण ( " " )

३ वित्तन्तु कहेप्पिणु गिरवसेसु ( " " )

यह प्रवृत्ति सिद्ध है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में

१ विवेक-रूपीउ हायीउ (शीलभद्रचरित)

२ कण्ट रूपिणी सापिणी (कल्याणमंदिर स्तोत्र)

३ धणइ अडवरि (आदिनाथ चरित)

वेलि में

१ पीला भमर किया पहराइत (वेलि ६७)

२ कल मोतियाँ ( " ६१)

प्रयोग मिलते हैं।

कितु जब विशेषण क्रिया० वि० की भाँति प्रयुक्त होते हैं तो

१ नपुसक एकवचन में रहते हुए सभी कारको में अपरिवर्तित रहते हैं।  
अथवा

२ समानाधिकरण विशेषण की तरह लिंग, वचन और कारक के अनुसार रूप-रचना करते हैं।

यह प्रवृत्ति प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में तो है ही, मारवाड़ी में भी जीवित है। टेसीटोरी ने मारवाड़ी में हमें, परो, वरो, दो विशेषणों का उपयोग करके एक प्रकार के Verbal intensives बनाये जाने का उल्लेख किया है।

सस्कृत व्याकरण के अनुसार तुलनासूचक सरचना में जिस वस्तु से तुलना की जाती है उसका वाचक अपादान कारक में होता है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में प्राकृत के तुलनात्मक रूपों को तर, यर प्रत्ययों के साथ प्रयुक्त किया है। तुलना के अर्थ में प्रयुक्त अपादान परसर्ग निम्नलिखित है—

पाहिँ,, पाहन्ति, तथा यकी और यी

### उदाहरण

१ तुझ नईं जी व्या पाहिँ मरण रुडुं तुझे जीवन से अधिक अच्छा मरण है।

२ समुद्र ना पाणी थकउ गाढउ धणउ — समुद्र के पानी से भी घना गाढ़ा।

३ गुरु-थकी ऊँचइ आसनि वइसइ = गुरु से भी ऊँचे आसन पर बैठा है।

परन्तु आधुनिक राजस्थानी में 'सू' और 'उँ' प्रयुक्त होते हैं जो अपादान कारकीय परसर्ग हैं।

१ उण सू चोखो = उनसे अच्छा।

२ उणुं वीच अच्छो है = उनसे अच्छा है।

इन 'सू' और 'उँ' का संवध अपभ्रंश से पहले बतलाया जा चुका है।

ध्वनि के कतिपय और रूपरचना के विविध तत्त्वों के आधार पर यह स्पष्ट किया गया कि राजस्थानी कितने अंश में आज भी प्राकृत-अपभ्रंश की परंपरा को ग्रहण किए हैं। भाषावैज्ञानिकों के मतानुसार 'भाषा चिर परिवर्तनशील है'। यह परिवर्तन सभी स्तरों में घटित होते हैं। यदि परंपरा-स्थापन में हम मूल रूप को ही आधुनिक भाषा में पाने का प्रयत्न करें तो भूल होगी, हाँ परिवर्तित रूप के परिवर्तन—चरणों का क्रमबद्ध सूत्र स्थापन आवश्यक है। भाषा के विकास के दौर में प्रतिवेशिनी भाषाओं के प्रभाववश ऐसे तत्त्व भी आ जाते हैं जिनका मूल भाषा से संवध-स्थापन संभव ही नहीं होता। प्राकृत-अपभ्रंश से राजस्थानी के विकास में इन आगत तत्त्वों का ध्यान रखना आवश्यक है।

पूर्व पृष्ठों में रूप-तत्त्व के आधार पर यह मिश्र किया गया है कि आधुनिक राजस्थानी का साँचा उन विशेषताओं को सुरक्षित रखते हुए ही विकसित हुआ है। चाहे क्रिया रूप हो या सजापद, सभी में सरलीकरण की जो प्रवृत्ति प्राकृत-अपभ्रंश में उत्पन्न हुई थी, आज भी है। विभक्ति लोप सरलीकरण का ही प्रतिदर्श है, इसी को सूत्रबद्ध रूप में हेमचन्द्र ने 'स्यम् जस् शसालुक्' कहा था। यह प्रवृत्ति राजस्थानी में ही नहीं, अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं में भी है, वस्तुतः इसमें और परिवर्तन का अवसर भी नहीं है अतः यथावत् चल रही है। इसी प्रवृत्ति ने प्रातिपदिक और पद का भेद भी लुप्त कर दिया है।

प्रस्तुत निवध में राजस्थानी परिनिष्ठित राजस्थानी की विशिष्ट कृतियों को आधार बनाया गया है। एक तरह से यह विवेचन प्रयोगाश्रित है, यह इसलिए किया गया है कि प्रामाणिक बन सके। और इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि प्राकृत-अपभ्रंश से ही राजस्थानी भाषा के मूल तत्त्व विकसित हुए हैं। अतएव राजस्थानी के सही स्वरूप को समझने में प्राकृत-अपभ्रंश की परंपरा का अव्ययन बहुत आवश्यक है। राजस्थानी के लोकप्रचलित विविध रूपों के तुलनात्मक अध्ययन की भी निरन्तर अपेक्षा है।

### संदर्भ-ग्रंथ

- १ डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, राजस्थानी भाषा।
- २ प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पुरानी हिन्दी
- ३ डा० टेसीटोरी (हिन्दी, अनुवाद डा० नामवरसिंह), पुरानी राजस्थानी।
- ४ श्री भूपतिराम साकरिया, आधुनिक राजस्थानी साहित्य।
- ५ डा० शिवस्वरूप शर्मा, राजस्थानी गद्य साहित्य।
- ६ डा० मनोहर शर्मा (संपादक) 'जागती जीत' का समीक्षा अंक।
- ७ श्री सीताराम लालस राजस्थानी सबद कोश
- ८ गोड, आशिया एव सहल, वीरसतसई (द्वितीय आवृत्ति)
- ९ " " वेलि क्रिसन एकामणी री।
- १० डा० वीरेन्द्र श्रीवास्तव, अपभ्रंश भाषा का अध्ययन
- ११ डा० हेमचन्द्र, सिद्धहेमशब्दानुशासन
- १२ " अपभ्रंश व्याकरण (शालिग्राम उपाध्याय)
- १३ डा० पिशेल प्राकृत भाषाओं का व्याकरण
- १४ डा० प्रेमसुमन जैन, आचार्यप्रवर आनंद ऋषि अभिनंदन ग्रंथ में नकाशित 'राजस्थानी भाषा में प्राकृत अपभ्रंश के प्रयोग' लेख।
- १५ " " कुवलयमाला कहा का सांस्कृतिक अध्ययन, वैशाली, १९७५
- १६ डा० प्रेम सुमन जैन और डा० कृष्ण कुमार शर्मा—अपभ्रंश काव्य-धारा।
- १७ श्री चंद्रसिंह 'बादली'
- १८ डा० नारायणसिंह भाटी, 'साँझ'

१९ Gleason, Descriptive Linguistics

२० „ Linguistics and English grammar

२१ Hockett, Modern Linguistics

२२ Robert A Hall, Introductory Linguistics

३ कृष्णकुमार शर्मा शोध पत्रिका में प्रकाशित 'अपभ्रंश का वर्णनात्मक व्याकरण' लेख ।

४ डा० तगारे 'हिस्टारिकल ग्रामर आव अपभ्रंश'

# संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की आनुपूर्वी में कोशसाहित्य

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

भारतीय वाङ्मय में शब्दकोशों की एक सुदीर्घ परम्परा उपलब्ध होती है। लगभग एक सहस्र से भी अधिक शब्दकोशों की रचना हो चुकी है। ये शब्दकोश भारत की विभिन्न भाषाओं में लिखे हुए मिलते हैं। प्रत्येक भाषा की अपनी भिन्न शब्द-सम्पदा तथा प्रकृति है, जिनके आधार पर अन्य भाषाओं से उसका वैलक्षण्य सूचित होता है। प्रत्येक कोश एक सन्दर्भ ग्रन्थ के समान होता है, जिसमें शब्द-रूपों की परिचिति, उच्चारण, कार्य, व्युत्पत्ति, अर्थ, वाक्यात्मक विन्यास तथा मुहावरे के प्रयोग के साथ शब्दों का वर्णादि क्रम से संयोजन किया जाता है। यथार्थ में शब्दकोश की अपनी विशिष्ट पद्धति है। सिडनी एम० लैम्ब ने शब्दकोश के अन्तर्गत उपलब्ध सभी प्रकार के शब्दों और अर्थों के छह प्रकार के सम्बन्धों का विवेचन किया है<sup>१</sup> (१) अनेकार्थ शब्द, (२) विभिन्न एकार्थक शब्द, (३) सहयोगी विनिश्चयार्थक शब्द, (४) संयोगी शब्दों का अर्थ-निर्णय, जैसे कि ऊष्मान्ताप, विध्वंस-विस्फोट, लूट-खसूट इत्यादि, (५) विपर्यय शब्द, (६) सामान्य गर्भित अर्थ का द्योतन करने वाले शब्द, जैसे पेड़ शब्द में पौधे का भाव भी निहित है। कोश के मुख्य अंग माने गये हैं शब्द-रूप, उच्चारण, व्याकरण-निर्देश, व्युत्पत्ति, व्याख्या, पर्याय, लिंग आदि। यदि कोई भाषा अपने पीछे इतिहास की दीर्घ परम्परा रखती है, तो यह स्वाभाविक है कि वह साहित्य से सामग्रियों का चयन कर प्रचलित साहित्यिक स्तर का भी सन्धान करे। शब्दकोशकार ऐतिहासिक पद्धति के आधार पर कोश का संकलन करता है, किन्तु यह संभव नहीं होता कि बोलियों के प्रकारों को भी वह चित्रित कर सके।<sup>२</sup>

यद्यपि शब्दकोश या कोश का निर्माण शब्दों से होता है, किन्तु कोशगत शब्दों में तथा सामान्य शब्दों में अन्तर किया जाता है। सामान्य शब्द पूर्णतः एक

व्याकरणिक रूप है, किन्तु कोशगत शब्द एक निश्चित अर्थ का वाचक है। उदाहरण के लिए, “मुझे फल खाने की चाह है” इस वाक्य में ‘चाह’ एक कोशीय शब्द है, किन्तु “वह फल खाना चाहता है” में ‘चाहता’ कोशीय शब्द नहीं है। यद्यपि वाक्यरचना में दोनों समान स्थिति में हैं, परन्तु प्रथम ‘चाह’ शब्द मुक्त पदिम है और दूसरे वाक्य में “चाहता” शब्द आवद्ध रूप है, इसलिये दोनों में “चाह” समान होने पर भी अन्तर है।<sup>१</sup> भाषाशास्त्री यह मानकर चलता है कि प्रत्येक सक्रिय अर्थवान् इकाई पद के अर्थ की दृष्टि से स्थिर तथा निश्चित है। वह अपने अर्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ से अन्वित हो सकता है, किन्तु अन्य अर्थ के समान नहीं होता। पदिम का अर्थ ही सक्रिय अर्थ इकाई है। भाषा का प्रत्येक मिश्र रूप पदिमों से निर्मित होता है। पदिमों की रचना ध्वन्यात्मक रूपों से होती है। भाषा का सम्पूर्ण पदिम-भण्डार कोश कहलाता है।<sup>२</sup>

## कोश और व्याकरण

शब्द-मरचना की दृष्टि से कोश एवं व्याकरणिक शब्द-रूपों में समानता लक्षित होती है, किन्तु शब्द-व्यवस्था में दोनों भिन्न हैं। स्पष्टतः भाषिक सकेतों के अर्थवान् लक्षण दो प्रकार के हैं कोशीय रूप, जिनमें ध्वनि-ग्राम और व्याकरणिक रूप एवं व्याकरणिक लक्षण भी व्याप्त हैं। कोशीय रूप व्याकरणिक रूपों से दोनों ओर से सम्बद्ध होते हैं। एक ओर से, सारांश रूप में वह अर्थवान् व्याकरणिक मरचना है और दूसरी ओर से भाषिक रूप में वह वास्तविक उच्चार है जो मदा व्याकरणिक रूप से समन्वित रहता है।<sup>३</sup> भाषा के सम्बन्ध में प्राचीन वैयाकरणों की दृष्टि साधु तथा असाधुता का निर्णय करने में व्यापृत रही है। व्याकरण में शब्दों के शुद्धाशुद्ध रूप सम्बन्धी सिद्धान्तों का निरूपण मिलता है। प्रमुख रूप से उसमें सत्य-असत्य तथा साधु-असाधु का विवेचन पाया जाता है।<sup>४</sup> व्याकरण साधु शब्द का विवेचन इसलिए करता है कि हम असाधु शब्द के प्रयोगों से बचें। कोश की आवश्यकता इसलिये मानी गई है कि उसमें अर्थ का अनुशासन किया जाता है, इसलिये निश्चित अर्थ के बोध के लिए कोश का पठन-पाठन आवश्यक होता है। कुछ टीकाकार व्याकरण को प्रामाणिक मानते हुए भी कोश को विशेष बलवान् मानते हैं। उनके अनुसार जिस शब्द की सिद्धि किसी भी शब्दशास्त्र के वचन में न होती हो, उसके साधुत्व का बोध केवल कोश से किया जा सकता है। उदाहरण के लिये, अकारान्त “मरुत” शब्द की सिद्धि व्याकरण के उणादि भूवों से नहीं होने पर भी इसे साधु माना जाता रहा है, क्योंकि “विक्रमादित्य कोश” में उनका उद्धरण इस प्रकार है “मरुत स्पर्शन प्राण समीरो मारतो मरुत्।” जब तक यह जानकारी नहीं थी, तब तक “मरुत” शब्द को असाधु माना जाता था जो कि एक भ्रान्त धारणा थी।<sup>५</sup> यथार्थ में शब्द के



सम्बन्ध में प्रत्येक प्रकार की जानकारी देने वाला कोश ही प्रामाणिक माना जाता है। कोश केवल शब्दों की सकलना मात्र नहीं है। उसमें शब्द के प्रकृत रूप से लेकर उच्चारण, व्युत्पत्ति, लिंग, धातुगत अर्थ, पर्यायवादी शब्द तथा व्याकरणिक निर्देश यथास्थान किया जाता है।

## शब्दकोश की उत्पत्ति

कोश को संस्कृत-साहित्य में व्यावहारिक साहित्य का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग माना गया है। इस देश में कोशों का अस्तित्व छब्बीस सौ वर्ष से भी अधिक काल का मिलता है।<sup>१८</sup> भारतीय परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल में मौखिक थी। इसलिये यह कहना बहुत ही कठिन है कि यह कब से प्रारम्भ हुई। किन्तु इसे वैदिक तथा शास्त्रीय संस्कृत साहित्य का समकालीन रूप कहा जाता है जो कि सामान्यतः निघण्टुओं के रूप में प्रचलित था।<sup>१९</sup> परवर्ती काल में इसमें परिवर्तन होते रहे। वस्तुतः कोश भाषिक शब्दों का अविच्छिन्न अंग है। इसलिये यह उतना ही प्राचीन है, जितनी कि भाषा।

प्रायः यह समझा जाता रहा है कि प्राकृत जैनो की, पालि बौद्धों की और संस्कृत ब्राह्मणों की भाषा रही है। इस कथन में सचाई भी है। किन्तु जैन ग्रन्थकारों ने भारत की लगभग सभी प्रमुख भाषाओं में साहित्य-सर्जना की और विभिन्न भाषाओं में उनके लिखे हुए शब्दकोश भी सम्प्रति उपलब्ध हैं। अतः युग विशेष की आम प्रचलित भाषा से वर्ग विशेष का सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि जैनो में युग विशेष के अनुरूप साहित्य-रचना की प्रवृत्ति विशिष्ट रूप से लक्षित होती है। जैन साहित्य के इतिहास से यह भी स्पष्ट है कि ईसा की तीसरी शताब्दी के पूर्व कोई भी जैन रचना संस्कृत में लिखी हुई नहीं मिलती।

जैन परम्परा के अनुसार सम्पूर्ण जैन वाङ्मय द्वादशांगवाणी के अन्तर्गत निबद्ध है। अतः कोश-साहित्य की रचनाएँ भी सत्यप्रवादपूर्व और विद्यानुवाद की पाँच सौ महाविद्याओं में से अक्षर विद्या में सन्निविष्ट हैं। प्रारम्भ में एकादश अंगों, चतुर्दश पूर्वों के भाष्य, चूर्णियाँ, वृत्तियाँ तथा विभिन्न प्रकार की टीकाएँ कोश-साहित्य का काम करती रही, किन्तु जब कालान्तर में उनका परिज्ञान न रहा, तब शब्दकोशों की आवश्यकता अनिवार्य हो उठी।<sup>२०</sup> यह कथन सत्य ही है कि निघण्टु तथा शब्दकोशों की प्रारम्भिक परम्परा मौखिक रही है। जैनो में यह परम्परा परवर्ती काल में “नाम माला” के रूप में प्रचलित रही है। वास्तव में यह परम्परा व्यावहारिक आवश्यकता के अनुरूप स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई। आदि तीर्थङ्कर वृषभ के कथानक से यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि के आदि कल्प में उन्होंने जग के प्राणियों के हित के लिए असि, मसि, कृपि, वाणिज्य तथा

विविध प्रकार की विद्याओं की शिक्षा दी थी। सभी कलाओं को उन्होंने सिखाया था।<sup>११</sup>

सस्कृत में शब्दकोश की प्राचीनतम परम्परा वैदिक युग से ही प्रारम्भ हो जाती है। निरुक्तों की गणना वैदिक ग्रन्थ-समुदाय में की जाती है। यद्यपि महर्षि यास्क कृत “निरुक्त” अत्यन्त प्रसिद्ध है, किन्तु उनके पूर्व भी कई निरुक्तकार हो चुके थे। श्री दुर्गाचार्य ने चतुर्दश निरुक्तों का उल्लेख किया है।<sup>१२</sup> उनके रचयिताओं के नाम हैं—आग्रायण, औदुम्बरायण, औपमन्यव, और्णवाम, कात्थक्य, कौष्टिक, गार्ग्य, गालव, तैट्टीकि, यास्क, वाण्ययणि, शतवलाक्षमौद्गल्य, शाकपूणि, स्थौलाष्ठीवि, कौत्स, चर्मशिरा, परुच्छेप, पारस्कर, भारद्वाज, भूताश काश्यप, मुद्गल भार्गव, शाकटायन, शाकपूणिपुत्र, शाकल्य। इन चौबीस निरुक्तारों का उल्लेख यास्क ने अपने निरुक्त में किया है। परन्तु इनमें प्रारम्भ के चतुर्दश निरुक्तकार थे, यह निश्चित है, किन्तु सम्प्रति उनकी कोई कृति उपलब्ध नहीं है। निरुक्त तथा निधण्टु वैदिक कोश रहे हैं। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि वेदों की भाषा शिष्टों की साहित्यिक भाषा है। उसे मानकरूप अवश्य प्राप्त नहीं हुआ था, किन्तु प्रक्रिया सतत चालू थी। अतएव उनकी भाषा में परिवर्तन लक्षित होते हैं। यहाँ तक कि ऋग्वेद के प्रथम मण्डल तथा दशम मण्डल की भाषा में अत्यन्त भेद परिलक्षित होता है। परन्तु प्राकृत में निबद्ध आगम साहित्य के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं होती। इसका मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि आगम सीधे जन-भाषा के प्रवाह रूप में निबद्ध हुए हैं, किन्तु वे वैदिक सस्कृत से सर्वथा अछूते नहीं हैं। पालि पर प्राकृत की अपेक्षा सस्कृत का अधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। ऐतिहासिक तथा भाषावैज्ञानिक प्रमाणों से यह निश्चित है कि वैदिक युग में प्राकृत बोल-बाल की भाषा थी। जब सस्कृत एक पूर्ण तथा साहित्य की भाषा थी, तब भी प्राकृत बोलियाँ थीं।<sup>१३</sup> कालान्तर में जब प्राकृत साहित्य की भाषा बनी, तब सस्कृत वैयाकरणों के आदर्श (मॉडल) पर भाषा का निर्वचन करने के लिए विशेष नियम बनाने पड़े। वैयाकरणों ने ही सस्कृत को प्राकृत भाषा में ढालने के लिए वचन-व्यवस्था का आदेश किया और उन्होंने ही प्राकृत बोलियों को प्राकृत-अपभ्रंश नाम दिए। यही कारण है कि प्रथम, द्वितीय शताब्दी तक प्राकृत बोलियों के प्रचलित रहते शब्दकोश की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। जनता की भाषा जनता समझती थी। जनता के लोक जीवन में प्राकृतें प्रतिष्ठित थीं। किन्तु साहित्य में आरूढ़ होने के अनन्तर धीरे-धीरे उनको समझने में भी कही-कही कठिनाई होने लगी। सस्कृत-साहित्य की स्पर्धा में प्राकृत शब्दों में बहुत तोड़-मरोड़ होने लगी। इसलिए टीकाओं का युग आरम्भ हुआ। किन्तु प्राकृत आगम-ग्रन्थों की टीकाएँ विक्रम की छठी शती से पूर्व की लिखी हुई नहीं मिलती। अतः अनुमान यही किया जा सकता है कि पाँचवी-छठी शताब्दी से पूर्व

प्राकृत में व्याकरण तथा शब्दकोश की रचना नहीं हुई होगी। यही समय निर्युक्तियों तथा चूर्णियों का भी रहा है। लगभग पाँचवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी के मध्य अधिकतर आगम-साहित्य के अन्य सूत्र ग्रन्थों, निर्युक्तियों एवं चूर्णियों की रचना हुई। प्राकृतों के रूढ़ होते ही लगभग छठी शताब्दी से अपभ्रंश अस्तित्व में आ जाती है। अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि आगम ग्रन्थों के लिपिवद्ध होने तक किसी प्रकार की रचना की आवश्यकता नहीं थी। जैन परम्परा के अनुसार जैन आगम ग्रन्थ भगवान् महावीर के ६६३वें वर्ष में सर्वप्रथम वल्लभी में देवधिगणि क्षमाश्रमण ने लिपिवद्ध किए। इतने लम्बे समय तक उन्हें कण्ठस्थ ही रखा जाता रहा और उसका परिणाम भी जो बतलाया गया है, वह वर्तमान में प्राप्त ग्रन्थों की अपेक्षा बहुत ही अधिक था।<sup>१५</sup> इसका अर्थ यह है कि लगभग ईसा की पाँचवीं शताब्दी में जैनागम लिपिवद्ध हुए और तब तक निश्चित रूप से कोई शब्दकोश नहीं रचा गया था। किन्तु संस्कृत में निरुक्त लिखे जा रहे थे। निघण्टु ग्रन्थों की परम्परा प्रचलित थी। अतएव साहित्य-रचना की दृष्टि से संस्कृत-परम्परा प्राचीन है।

### संस्कृत-शब्दकोश की परम्परा

यह पहले ही कहा जा चुका है कि यास्क के निरुक्त में जिन चौबीस नामों का उल्लेख किया गया है, उनमें से एक नाम शाकटायन का भी है। संस्कृत वैयाकरणों में आठ की प्रसिद्धि है<sup>१६</sup> इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, आपिशल, शाकटायन, पाणिनि, अमर, जैनेन्द्र। भट्टोजी दीक्षित ने अमरकोश की टीका में आचार्य आपिशल का एक वचन उद्धृत किया है, जिससे स्पष्ट है कि उनका लिखा हुआ कोई कोशग्रन्थ भी था जो उपलब्ध नहीं है।<sup>१७</sup> इसी प्रकार केशव स्वामी ने “नानार्यार्णव सक्षेप” में शाकटायन के कोश से वचन उद्धृत किए हैं।<sup>१८</sup> किन्तु आज उनका लिखा हुआ कोश उपलब्ध नहीं है। भले ही निरुक्त में अनेक निरुक्तकारों का उल्लेख हुआ हो और उनके उद्धरण भी मिलते हों, किन्तु यास्क के पूर्ववर्ती आचार्यों में शाकटायन, गार्ग्य और औदुम्बरायण ऐसे आचार्य हुए हैं जिन्होंने भाषाशास्त्र की दिशा में मौलिक प्रयोग किए।<sup>१९</sup> इन्हीं शाकटायन का व्याकरण भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन से प्रकाशित हो चुका है। सम्भवतः कोश भी किसी भाण्डागार में दबा पड़ा होगा।

प्राच्यविद्या-विशारद वूलर ने सर्वप्रथम संस्कृत-शब्दकोशों की विवरणिका प्रस्तुत की थी।<sup>२०</sup> संस्कृत में अनेक ऐसे शब्दकोशों का उल्लेख कोशों में तथा टीका ग्रन्थों में मिलता है, जो लुप्तप्राय हैं। इन कोशों में भागुरि, व्याडि, कात्यायन और विक्रमादित्य के शब्दकोश प्राचीन माने जाते हैं। भागुरि कृत शब्दकोश, उत्पलिनी (व्याडि), नाममाला (कात्यायन), शब्दार्णव (वाचस्पति), ससारावर्त

(विक्रमादित्य) आदि कोश लुप्त हो चुके हैं। श्री शिवदत्त मिश्र के शिवकोश की व्याख्या में ५१ कोशों का उल्लेख है। उनके नाम इस प्रकार हैं शब्दार्णव, मेदिनी विश्व, धन्वन्तरि, भावमिश्र कृत, सिंह विरचित, राजनिघण्टु, अमरमाला, कैयदेव रचित, अभिधानचूडामणि, अमर, अजय डल्लण, हृदयदीपक, वाचस्पति, वाप्यचन्द्र, अशोकमल्ल, वाग्भट, मदनविनोद, त्रिकाण्डशेष, हैम, वोपदेव, रभस, लोचन, धर्मिष्ठ, देवल, हलायुध, स्वामी, द्विरूपकोश, नाममाला, हारावली, मदनविनोद, अनेकार्थध्वनिमजरी, केशव, केसरमाला, गालव, गुणरत्नमाला, धरणि, नामगुणमाला, पुरुषोत्तम, मदनपाल, निघण्टु, रत्नकोश, रन्तिदेव, विद्वद्वैद्यवल्लभ, वैजयन्ती, व्याडि, शाश्वतकोश, शिवप्रकाश, शिवदत्त, हृदचन्द्र, हेमाद्रि। प्रकाशित कोशों में “अमरकोश” प्राचीन है। इसका रचना-काल लगभग ५०० ई० कहा जाता है।<sup>११</sup> शाश्वत कृत “अनेकार्थसमुच्चय” इससे भी प्राचीन माना जाता है, किन्तु समय अज्ञात है। हलायुध कृत “अभिधानरत्नमाला” का समय लगभग ९५० ई० है। इसके लगभग सौ वर्ष पश्चात् यादव कृत “वैजयन्ती कोश” लिखा गया। इसका सम्पादन जी० आपर्ट ने किया था जो मद्रास से सन् १८९३ ई० में प्रकाशित हुआ था। महेश्वर कवि कृत “विश्व प्रकाश” ११११ ई० की रचना है। इनकी एक अन्य रचना शब्दमेदप्रकाश है। इनके ही अनुकरण पर “मेदिनी”, “अनेकार्थसंग्रह” आदि कोशों का निर्माण हुआ। मख कवि कृत “अनेकार्थकोश” लगभग ११५० ई० में कश्मीर में निर्मित हुआ था। यह कोश सम्पादित होकर सन् १८९७ ई० में प्रकाशित हो चुका है। “अमरकोश” का पूरक पुरुषोत्तमदेव कृत “त्रिकाण्डशेष कोश” है जो तेरहवीं शताब्दी का रचा हुआ कहा जाता है। उनके रचे हुए दो अन्य ग्रन्थ हैं हारावली और एकाक्षर कोश। महामहोपाध्याय पाण्डेय श्री रामावतार शर्मा ने चार ग्रन्थकारों का विशेष रूप से उल्लेख किया है<sup>१२</sup> रत्नाकर, मल्ल, सोमदेव और भारवि। श्री केशव कृत “कल्पद्रुमकोश” तथा राघव विरचित “नानार्थमजरी” प्रकाशित हो चुके हैं। इसी प्रकार से महीप रचित “अनेकार्थतिलक” भी प्रकाशित हो चुका है। यह कोश चौदहवीं शताब्दी के लगभग रचा गया माना जाता है। कोशकार ने जिन पूर्व रचनाओं के आधार पर कोश की रचना की है उनके नाम हैं<sup>१३</sup> पाणिनि, अहीन्द्र, भागुरि, भोज, भेड, हेमचन्द्र, और अमर इत्यादि। वास्तव में सस्कृत में इतने अधिक कोशों की रचना हुई, इतने अधिक उनके उल्लेख मिलते हैं और अभी इस दिशा में इतना अधिक कार्य अस्पृष्ट पड़ा है कि शोध-अनुसन्धान में सकड़ो वर्ष लग सकते हैं। वैष्णव, जैन और बौद्ध आदि कोई भी ऐसा शाब्दिक सम्भवतः न होगा, जिसने शब्दकोश की रचना न की हो। दक्षिण भारत के भाण्डागारों में भी अनेक अज्ञात एवं अप्राप्त दुर्लभ कोश-ग्रन्थों की सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। अनेकार्थकोश के नाम से ही सस्कृत में लगभग एक दशक रचनाएँ

मिलती है। इसी प्रकार से “शब्दभेदप्रकाश” के नाम से चार-पाँच कोश उपलब्ध होते हैं। उनमें से कुछ प्रकाशित भी हो चुके हैं। उन सब का यहाँ उल्लेख करना इस छोटे-से लेख में सम्भव नहीं है।

## संस्कृत के जैन कोशकार

संस्कृत में जिन जैन आचार्यों ने शब्दकोश-निर्माण का महान् कार्य किया, उनमें शाकटायन का नाम उल्लेखनीय है। शाकटायन का काल पाणिनि से भी पूर्व का है। पाणिनि का समय विक्रम के पाँच सौ वर्ष पूर्व माना जाता है। उन्होंने अष्टाध्यायी में शाकटायन का उद्धरण देते हुए उनके नाम का उल्लेख किया है। यद्यपि कोई उल्लेख नहीं मिलता है, तथापि अनुमान यह है कि आचार्य पूज्यपाद ने कोई कोश ग्रन्थ अवश्य लिखा होगा। उपलब्ध जैन कोशों में आचार्य धनजय कृत ‘नाममाला’ सर्वप्रथम है। महाकवि धनजय का समय आठवीं शताब्दी माना गया है।<sup>१०</sup> इस शब्दकोश की विशेषता यह है कि महाकवि ने २०० श्लोकों में संस्कृत भाषा के प्रमुख शब्दों का सकलन कर गागर में सागर भरने की उक्ति चरितार्थ की है। शब्द से अन्य शब्दान्तर रचने की इनकी अपनी विलक्षण पद्धति है। इस पद्धति से संस्कृत का सामान्य जानकार भी शब्दान्तर रचना कर संस्कृत शब्द-कोश का भाण्डार बढ़ा सकता है। जैसे कि यह एक सामान्य नियम है पृथिवी वाचक शब्दों के आगे ‘धर’ शब्द जोड़ देने से वे पर्वतवाची हो जाते हैं भूधर, महीधर आदि। इसी प्रकार दूसरा नियम है मनुष्य वाचक शब्दों के साथ ‘पति’ शब्द जोड़ देने से वे राजा अर्थ के वाचक हो जाते हैं — नरपति, मानवपति, जनपति आदि। इसी प्रकार वृक्ष वाचक शब्दों के आगे ‘चर’ शब्द जोड़ देने से वे वन्दर अर्थ के वाचक हो जाते हैं तरुचर, पादपचर आदि। इस तरह के अनेक नियम इस कोश में दिए गए हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं

१ आकाश शब्द के साथ ‘चर’ शब्द जोड़ देने से वह विद्याधर का वाचक हो जाता है नभश्चर, नगनचर, मेघपथचर, अभ्रमार्गचर, अन्तरिक्षचर आदि।

२ हल वाचक शब्द के साथ ‘कर’ शब्द जोड़ देने से वलभद्र के वाचक हो जाते हैं जित्याकर, हलिकर, हलकर, सीरकर, लागलकर इत्यादि।

३ जल वाचक शब्द के साथ ‘चर’ शब्द के जोड़ देने से मत्स्य वाची नाम वन जाते हैं, जैसे कि जलचर, नीरचर, पथश्चर, अम्भश्चर, विपचर, जीवनचर, तोयचर, कुशचर इत्यादि।

४ जल वाचक शब्द के साथ ‘प्रद’ शब्द जोड़ देने से मेघवाची नाम वन

जाते हैं, जैसे कि- तोयप्रद, जीवनप्रद, कम्प्रद, वारिप्रद, अप्रद, शरप्रद, सलिलप्रद, कुशप्रद इत्यादि।

५ जल वाचक शब्द के साथ 'उद्भव' शब्द जोड़ देने से कमलवाचक बन जाते हैं और 'धि' शब्द जलवाचक शब्दों के साथ जोड़ देने से वही समुद्र का वाचक बन जाता है।<sup>१५</sup>

इस प्रकार इस कोश के अध्ययन से अत्यन्त सरलता के साथ मस्कृत का शब्द-भाण्डार वृद्धिगत हो जाता है। इस कोश की मौलिकता यह है कि उस युग में शब्दनिर्माण की प्रचलित प्रक्रिया को जो रूढ़ हो चुकी थी, यह प्रस्तुत करता है। वास्तव में शिक्षार्थियों के लिए यह कोश अत्यन्त उपयोगी है। इस कोश में कुल २०३ श्लोक हैं। इस लघुकाय ग्रन्थ में १७०० शब्दों का सकलन किया गया है। सामान्य रूप से विद्यार्थियों के लिए इतना ज्ञान होना आवश्यक है।

महाकवि धनजय की 'नाममाला' के अतिरिक्त 'अनेकार्थ नाममाला' ४४ श्लोकों की लघुतम रचना तथा 'अनेकार्थ-निघण्टु' रचनाएँ भी मिलती हैं जो 'नाममाला सभाष्य' के अन्तर्गत भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुकी हैं। 'अनेकार्थ-निघण्टु' में १५३ श्लोक हैं और १६ श्लोक 'एकाक्षरी नाममाला' के हैं। वास्तव में ये सब नाममाला के ही उपविभाग हैं।

## वस्तु-कोश

केवल उत्तर भारत में ही नहीं, दक्षिण भारत में भी जैनाचार्यों ने मस्कृत और प्राकृत में विशाल साहित्य की रचना की है। कविशिरोमणि नागवर्म द्वितीय ने जहाँ मस्कृत में 'भाषा-भूषण' नामक उत्कृष्ट व्याकरण की रचना की, वहीं 'वस्तु-कोश' की रचना कर कन्नड़ भाषा में प्रयुक्त होने वाले मस्कृत शब्दों का अर्थ परिचायक पद्यमय निघण्टु या कोश की प्रसिद्धि की। यह कोष वररचि, हलायुध, शाश्वत, अमरसिंह आदि के कोशग्रन्थों को देखकर निर्मित हुआ। इसका रचना-काल ११३६-११४६ ई० है।<sup>१६</sup> यह मस्कृत-कन्नड़ का सबसे बड़ा कोश माना जाता है। इसी प्रकार देवोत्तम का 'नानार्थरत्नाकर' भी उल्लेखनीय है।<sup>१७</sup> किन्तु सम्प्रति इस कोश के सम्बन्ध में विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार के अन्य कोश भी हो सकते हैं जो हमारी जानकारी में नहीं हैं।

## अभिधानचिन्तामणि

जैन कोशों में 'अभिधानचिन्तामणि' का एक विशिष्ट स्थान है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने इसमें जैन पारिभाषिक शब्दों का विशेष रूप से उल्लेख किया है। उनके अनेक पर्यायवाची शब्द भी दिए हैं। यह कोश

छह काण्डों में निबद्ध है। प्रथम देवाधिदेवकाण्ड है, जिसमें त्रिकाल चौबीस तीर्थंकरों की नामावली, उनके अन्य उपनाम, माताओं के नाम, शासनदेवता, ध्वजाओं आदि का वर्णन किया गया है। सम्पूर्ण कोश में जैन साहित्य में आगत प्रमुख पारिभाषिक शब्दों का अर्थोल्लेख किया गया है। कोश में कुल १८८६ श्लोक हैं। केवल 'अभिधानचिन्तामणि' में १५४२ श्लोक हैं, शेष श्लोक 'शोपनाम-माला' के हैं। प्रस्तुत कोश में कई मौलिक विशेषताएँ लक्षित होती हैं। प्रथम कोश का विभाजन ही अपनी मौलिक सूझ-बूझ को प्रदर्शित करता है। वास्तव में चार गतियों के आधार पर कवि ने चार काण्डों का नामकरण किया है। प्रथम काण्ड मंगलाचरण रूप में है और अत्रिंशष्ट शब्दों का सकलन सामान्यकाण्ड में किया गया है। वास्तव में चार गतियों में सभी वस्तुएँ और उनके नाम संगृहीत हो जाते हैं। अपनी इस पद्धति का उल्लेख स्वयं कोशकार ने किया है।<sup>१८</sup>

कोशकार की मुख्य प्रतिज्ञा है "रूढयौगिकमिश्राणा, नाम्ना माला तनोम्यहम्" अर्थात् रूढ, यौगिक और मिश्र तीनों प्रकार के शब्दों का सकलन कर उनका विस्तार करूँगा। सैकड़ों वर्षों से जिन शब्दों का प्रयोग रूढ हो चुका था, उनका यथास्थान उसी अर्थ में सकलन करना स्वाभाविक भी था। कोशकार ने इस बात का बराबर ध्यान रखा है कि रूढ शब्दों में से कोई छूटने न पावे। उदाहरण के लिए, अमरकोश, विश्वप्रकाश तथा मेदिनी अनेकार्थक कोशों में "क्षुल्लक" शब्द के दो अर्थों का उल्लेख है "क्षुल्लक स्वल्पनीचयो" थोड़ा, छोटा या नीच। 'अभिधानचिन्तामणि' में यह उल्लेख इस प्रकार है

"क्षुद्रकम्बव शखनका क्षुल्लकाश्च ।" श्लोक १२०५

यद्यपि संस्कृत के सभी कोशों में थोड़े-बहुत देशी तथा लोकभाषा के शब्दों का संग्रह भी मिलता है, जैसा कि होरा, होलक, खट्विकका, कट्टार, खुड, खुड, छाग, डल्लक और घुटक आदि। सामान्यतः संस्कृत में 'क' स्वार्थिक प्रत्यय जोड़ कर अन्य भाषाओं से शब्दों के ग्रहण करने की प्रवृत्ति प्रचलित रही है। अतः टिट्टिहरी के लिए 'टिट्टिभक', मूली के लिए 'मूलक', कटोरा के लिए 'कटोरक', झाझ के लिए 'झल्लक', डलिया के लिए 'डल्लक' और करेला के लिए 'कटिल्लक' आदि देशी शब्द कहे जाते हैं। संस्कृत में अनेकार्थक शब्दों के विकास का भी रहस्य यही प्रतीत होता है। क्योंकि जब चूल्हे के लिए 'मूषक' या 'मूषिक' शब्द प्रचलित था, तब 'उन्दुर या उन्दूर' कहने का क्या कारण था? केवल इतना ही कि जिस समय जो संस्कृतकोश निर्मित हो रहा था, तब ये शब्द विशेष चलन में थे। अतः ऐसे शब्दों को साधारण रूप से कोई भी कोशकार नहीं छोड़ सकता था। फिर भी, इस दृष्टि से 'त्रिकाण्डशेष' कोश विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें मूषक के पर्यायवाची शब्द तीन (उन्दुर, तुटुम और रन्ध्रवन्धु) और छुछुन्दरी के चार पर्यायवाची शब्द दिए गए हैं<sup>१९</sup> चिक, वेश्मनकुल पुवृष और गन्धमूषिक। किन्तु

‘अभिधानचिन्तामणि’ में ‘छछुन्दरी’ शब्द का स्पष्ट अभिधान किया गया है<sup>१०</sup> जो निश्चित ही देश्य भाषाओं से आगत है। ‘अभिधानचिन्तामणि’ कोश में अनेक नवीन शब्दों का समावेश लक्षित होता है जो उसके पूर्व के सस्कृत कोशों में उपलब्ध नहीं होते। उदाहरणार्थ चौल, चोटी, गोणी, हेरिक, कृमिला, समिता, पिण्डोलि, फेली, प्रोज्जासन, फरक, छुरी, ईर्षापय, सवर, इत्मी, तरवालिका, वाटी, झम्फान, खोल, पृपातक, पटाका, टकपति, हैरिक, गन्दुक, मकुट, सिंघाण, सिंघाणक, गोनाम, गोराटी, गोस्त, गोहिर, घुटक, घुटिक, धूकारि, धृतेली, धोणम, धोल, चडिल, चलचचु, चिकिल, चिहुर, चीनक, चीनपिण्ड, चीरिल्लि, छगण, जडुल, जलालोका, जलसर्पिणी, जागुड, जोत्राला, डिंगर, डौकन, तन्तुल, तीर्थकर, तीर्थवाक्, दधन, भरुटक भोलि, मनस्ताल, मिथ्यात्व, मुसटी, मूत्रपुट, मेरक, राटि, रुपा, वड्, खण, वण्ड, वर्चस्क, वाहिक, वोल्नाह, वोहित्य, शूकल, श्वेतकोलक, सर्वभूपक, सर्पि, सार्व, मृपाटिका, स्थलशृंगार, हारहूरा इत्यादि। सम्भव है कि इनमें से कोई एक-दो शब्द किसी प्राचीन शब्दाकोश में हो, जो हमारे देखने में न आए हो। किन्तु जानकारी के अनुसार ये अधिकतर नवीन शब्द हैं। इन शब्दों के अध्ययन से यह भी निश्चय हो जाता है कि आचार्य हेमचन्द्र ने अमरकोश और उसकी परम्परा का अनुगमन किया है। अनेकार्थक कोशों में प्राचीनतम उपलब्ध ‘विश्वप्रकाश’ को आधार मानकर ‘अभिधानचिन्तामणि’ की रचना नहीं हुई। ‘अमरकोश’ के अवश्य अधिकतर शब्दों का सकलन इस कोश में किया गया है, किन्तु वे सस्कृत साहित्य में या लोक-जीवन में भी प्रचलित प्रतीत होते हैं। जैनागम-परम्परा के कई शब्द अमरकोश में मिलते हैं, यथा मिथ्यादृष्टि, मिथ्यामति, मुनि, मुनीन्द्र, जिन, अर्हत्, आश्रव आदि। ‘विश्वप्रकाश’ कोश में कई ऐसे शब्द हैं जो अनेक सस्कृत कोशों में लक्षित नहीं होते। उनमें से कुछ शब्द इस प्रकार हैं जैमुरि, मर्करा, एलावली, दुम्बरिका, चर्माङ्ग, लम्पा, चार्वटीर, कम्बिका, शिराला, कदैवत, वरधू, जराटक, वशकम्बिका आदि। इस कोश में कुछ कोशकार के गढ़े हुए शब्द भी मिलते हैं, जैसे कि—दध्यग्र (दही के ऊपर की मलाई), दुग्धग्र (दूध के ऊपर की मलाई), वेणुमार (वशलोचन), नीरविकार (समुद्रफेन) आदि। ये सब शब्द ‘अभिधानचिन्तामणि’ में भी सकलित नहीं हुए हैं। परन्तु कवि महेश्वर की भाँति आचार्य हेमचन्द्र ने भी कुछ शब्द गढ़े हैं। उदाहरण के लिए कुछ शब्द ये हैं—जलमार्जार (जलविलाव), जलवालिका (विद्युत्), झलक्का (चिन्तारी), वायुवाह (धूम, धुआँ), अग्निवाह (धूम), तैलाटी (वर), वर्षकरी (झींगुर) गृहमृग (कुत्ता), रात्रिजागर (कुत्ता), चक्रमण्डलि (अजगर), मेघसुहृत् (मयूर), अम्बुप (चातक) इत्यादि। कहीं-कहीं ‘मेदिनीकोश’ का भी प्रभाव लक्षित होता है।<sup>११</sup> किन्तु कहीं-कहीं दोनों के अर्थ में भिन्नता भी लक्षित होती है। उदाहरण के लिए, ‘अभिधानचिन्तामणि’ में ‘जगल’



का अर्थ निर्जल है, किन्तु 'मेदिनी' में निर्जन स्थान है।<sup>१३</sup> इसके अतिरिक्त 'अभिधानचिन्तामणि' में सकलित अनेक शब्द 'मेदिनी' में परिलक्षित नहीं होते, जैसेकि—वषाल, तैलपायिका, निशाटनी, पिक्क, विक्क, पारिन्द्र, पारीन्द्र, चिक्कस, गृहोलिका, शूलिको, शलल, शयु, विसार, शल्की, वादाल, शखमुख इत्यादि। इसका एक कारण यह भी है कि 'मेदिनी' अनेकार्थक कोश है।

'अभिधानचिन्तामणि' की एक विशेषता यह भी है कि इसमें पर्यायवाची शब्दों की संख्या बहुत है। एक 'मीन' शब्द के सोलह पर्यायवाची शब्द दिए हुए हैं।<sup>१४</sup> मत्स्य, पृथुरोमा, झष, वैसारिण, अण्डज, सधचारी, स्थिरजित्त्व, आत्माशी, स्वकुलक्षय, विसार, शकली, शल्की, शम्बर, अनिमिष और तिमि। इसी प्रकार १७ प्रकार के धान्यों का वर्णन 'अभिधानचिन्तामणि' में किया गया है। फिर, उनकी पहचान भी बताई है। उदाहरण के लिए, पीला छोटे दाने का चावल 'कयु' कहा गया है।

“कङ्गुस्तु कङ्गुनी कङ्गु प्रियङ्गु पीततण्डुला।” (११७६)

उडद के सम्बन्ध में कहा गया है

“मापस्तु मदनो नन्दी वृष्यो बीजवरो वरा।” (११७१)

इस कोश में सबसे अधिक नाम ११८ पार्वती के सकलित हैं।<sup>१५</sup> इसी प्रकार सुन्दरता के पर्यायवाची २७ शब्द हैं।<sup>१६</sup> निकट के वाचक २० पर्यायवाची शब्द हैं।<sup>१७</sup> अन्य शब्दों के भी इसी प्रकार अधिक-से-अधिक पर्यायवाची शब्दों का सकलन लक्षित होता है। कई महत्त्वपूर्ण शब्दों के भी पर्यायवाची शब्द दिए गए हैं। जैन का पर्यायवाची शब्द अनेकान्तवादी दिया गया है। चार्वाक को लौकायतिक और वैशेषिक को 'कणाद' कहा गया है। अग्नि के २४ पर्यायवाची नामों का उल्लेख किया गया है। मुर्गे के १८ पर्यायवाची नाम और कोयल के ११ नामों का वर्णन किया गया है। 'नारककाण्ड' में इस धरती के नीचे सात भूमियों का नरक के पर्यायवाची शब्द का उल्लेख किया गया है। नरक सात हैं और पर्यायवाची नाम भी सात हैं। अन्य संस्कृत के शब्दकोशों में इन सात नरकों का उल्लेख नहीं मिलता।

आचार्य हेमचन्द्र के इस कोश में संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत भाषा के शब्दों का भी समावेश परिलक्षित होता है। जैसेकि पट्टन, वोहित्य, वप्पीह, खडक्कका, कण्डोलक, चोटी, सिङ्घाण, सिङ्घाणक, झम्पा और गोविन्द आदि। कुछ देशी शब्द भी इस कोश में लक्षित होते हैं। वे इस प्रकार हैं

१ लडह रमणीय। हिन्दी में 'लाड' (लाड-प्यार)।

२ चिल्ल—एक पक्षी। हिन्दी में 'चील'।

३ लड्डुक—मोदक (अभि० १६४०)। हिन्दी में लड्डू, बुदेली में लड्डुआ, राजस्थानी में लाडू गुजराती में लाडु।

- ४ खल्ल चर्ममयी (अभि० १०२५) । हिन्दी में 'खाल' । खल्ला (देशी० २, ६६) ।
- ५ गेदुक गेद (अभि० ६८६) । हिन्दी में 'गेद', व्रज-बुन्देली में गेंद ।
- ६ तरवारि तलवार (अभि० ७८२) । व्रज, बुन्देली, गुजराती में 'तरवार' ।
- ७ चालनी चलनी (अभि० १०१८) । आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में चलनी ।
- ८ खटी खडी मिट्टी (अभि० १०३७) । राजस्थानी 'खडी', वगला, उडिया में 'खडी', मराठी में 'खडी' और गुजराती 'खडी' ।<sup>१३</sup>
- ९ कुरल अमरालक (अभि० ५६६) । प्राकृत कुरल (लट्), जूनी गुजराती में 'कुरल', मराठी में 'कुरल' ।<sup>१४</sup> द्रविड भाषाओं में 'कुरल' ।
- १० तम्बा गाय (अभि० १२६६) । तवा-गौ (देशीनाममाला ५, १) ।
- ११ फुल्ल फूला हुआ (अभि० ११२७) । पालि-प्राकृत 'फुल्ल' । आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में 'फूल' अर्थ है ।<sup>१५</sup>
- १२ वप्पीह पपीहा (अभि० १३२६) । वप्पीह (देशीनाममाला, ६, ६०) ।
- १३ पुत्तिका पतंगिका (श्वेत चीटी, अभि० १२१४) । कन्नड 'पुत्तु' तेलुगू 'पट्ट', परजी (द्राविडी) 'पुटकल' ।

इनके अतिरिक्त कई अन्य ऐसे शब्द भी परिलक्षित होते हैं जिनका निश्चित पता नहीं है, पर वे देशी ही प्रतीत होते हैं । इन शब्दों में कुछ ये हैं

(१) पोटा, (२) वोटा, (३) चुन्दी, (४) पट्टी, (५) चोटी इत्यादि । पाठ इस प्रकार है

सा वारमुध्याथ चुन्दी कुट्टनी शम्भली समा ।

पोटा वोटा च चेटी च, दासी च कुट्टहारिका ॥ अभि०, ५३३-३४

इसी प्रकार से संस्कृत के अन्य शब्दकोशों की भाँति इसमें भी अन्य भाषाओं के परम्परागत शब्दों की भी उचित रूप से सन्निवेश परिलक्षित होता है । अतएव कई दृष्टियों से इस कोश का अध्ययन स्वतन्त्र रूप से शोध खोज का महान् कार्य है । अभी तक इस दिशा में कोई कार्य नहीं किया गया है ।

### अनेकार्थकसंग्रह

आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि का यह कोश 'अभिधानचिन्तामणि' का पूरक है । क्योंकि 'अभिधानचिन्तामणि' में पर्यायवाची शब्दों का सकलन है और इसमें एक शब्द के अनेक अर्थों का आकलन किया गया है । यह कोश सात काण्डों में विभक्त है, जिनमें कुल १६३१ श्लोक हैं । इस कोश में कई नवीन शब्द मिलते हैं, जो 'भेदिनी' में नहीं पाए जाते । उनमें से कुछ ये हैं

घृणि, घोषा, चन्द्रिल, चमरी, चात्वा, चूडाल, चौल, छगली, छल, छत्रा, चास, चित्र, चित्या, चुकी, चुलक, चुलुक, चुल्ल, छित्तर, जलाटनी, जवनी, जिह्वा, झंझरी, झल्लरी, झषा, झिल्ली, झूणि, तण्डक, तण्डुला, तमोनुद्, तल्प, तानित, त्रपु, त्रिगर्ता, त्रिपुटा, त्रिष, दक्षा, दक्षिणा, दण्डयाम, दन्ति, दस्म, दाढा, दाय, दाव, दिष्टि, द्रू, धन्य, धनिक, धवल, धातु, धातू, धाराधर, ध्रुवा, नलिन, नली, नवकलिका, नवाह, निर्नर, पक्षी, फलि, फली फल्गु, फेरव, वद्धशिख, महाधोपा, रस्तागा, रल्लक, लतामर्कटक, वरटा, वरत्ता, वरद, शावर, शिलीन्द्री, शीतशिव इत्यादि ।

यद्यपि विश्वप्रकाश और 'मेदिनीकोश' के आधार पर इस कोश का निर्माण हुआ प्रतीत होता है, किन्तु अनेक औषधियों के नाम तथा अन्य नाम इस कोश में नहीं मिलते । मेदिनीकोश के निम्नलिखित शब्द इस कोश में नहीं हैं

ऋद्धि, कुनटी, चिरटी, चेष्टित, जलतापिक, ज्वलित, जह्नु, जाङ्गूली, जातु, जानपद, जालक, जालिक, जाहक, जीर्ण, टगर, टण्डुक, डिङ्गरी, डिम्बिका, तर्ष, तलुनी, तातगु, तातल, त्रायमाण, व्यक्षर, त्वक्पत्र, दत्त, दन्तधावन, दानु, दान्त, दाह, दाहण, दीना, दीर्ण, दुग्धी, दुच्छक, दूषिका, द्वीपवान्, घट, धूसरी, ध्वजी, नर्मद, नर्मरा, निर्ग्रन्थक, पाल, मसूरी, महाकच्छ, यक्षराट्, यूथिका, रज्जु, वारक, वारकी वारकीर इत्यादि ।

संस्कृत के इन प्रकाशित मूल ग्रन्थों का सम्पादन ठीक से नहीं हुआ है । प्रथम बार यह सम्भव भी नहीं था । अतः कई स्थानों पर अनेक अशुद्ध पाठ रह गये हैं । यह कार्य तभी हो सकता है जबकि विश्वप्रकाश, मेदिनी, अनेकार्थसंग्रह आदि अनेकार्थक कोशों का तुलनात्मक अध्ययन कर प्रामाणिक पाठ निर्धारित किए जाए । उदाहरण के लिए

“पानपात्रं दैत्यभेदे कारू शतयायुधे रजि ।” अनेकार्थ० २, ५६१ ‘अनेकार्थसंग्रह’ की यह पंक्ति ज्यों की त्यों हमें ‘विश्वप्रकाश’ और ‘मेदिनीकोश’ में मिलती है । किन्तु उनमें ‘कारू’ के स्थान पर ‘कासू’ पाठ है । अतः क्या ‘कासू’ होना उचित है ? इसी प्रकार एक अन्य पाठ है

स्याद् गौरिलस्तु सिद्धार्थे लोहचूर्णेऽथ चन्द्रिल । अनेकार्थ० ३, ६८१ ‘चन्द्रिल’ के स्थान पर ‘विश्वप्रकाश’ में ‘चण्डिल’ पाठ है । अनेकार्थसंग्रह की मुद्रित पुस्तक में टिप्पणी में ‘चण्डिल’ पाठ भी है । अतः यही उचित प्रतीत होता है कि ‘चण्डिल’ पाठ ठीक है, चन्द्रिल नहीं । अतएव अनेकार्थसंग्रह का ‘चन्द्रिल’ शब्द चण्डिल होना चाहिए । ऐसे अनेक पाठ हैं जो स्वतन्त्र अध्ययन के विषय हैं । ‘विश्वप्रकाश’ कोश के कई शब्द ‘अनेकार्थसंग्रह’ में लक्षित नहीं होते । कुछ शब्द इस प्रकार हैं

कदला, खण्डाली, विडाली, विशाल, विशाला, विमला, शीवल, विकेशी, वीतसी, भूयस्, क्रूरदूक्, एकसहा, कुटार, नाह, अश्व इत्यादि ।

संस्कृत के अनेकार्थक कोशों के तुलनात्मक अध्ययन से यह निश्चित प्रतीत

होता है कि सभी कोशकार 'विश्वप्रकाश' में किसी-न-किसी रूप में प्रभावित अवश्य रहे हैं। मेदिनी और अनेकार्थ पर उसका विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। उदाहरण के लिए कुछ उद्धरण लिए जा सकते हैं

अन्नः शिरसिजे कोणे म्यादम्य गोणिते श्रुणि । अनेकार्थ ० २,४०५

तरिर्दशाया नौकाया वस्त्रादीना च पेटके । वही, २,४३८

पूर म्यादम्भसा वृद्धो व्रणनशुद्धिग्राययो ।

पोत्र वस्त्रे मुखान्ने, च भूकरस्य हलन्त्य च । वही, २,४५०-५३

होरा तु लग्ने राश्यर्धे शास्त्ररेखाप्रभेदयो । वही, २,४८५

शालु कपायद्रव्ये स्याज्जोरेकान्यौपधेऽपि च । वही, २,५२४

लघ्वी ह्रस्वविवक्षाया प्रभेदे म्पन्दनस्य च । वही, २,५४६

अवध्यमववाहं म्यादनर्थकवचस्यपि । वही, २,५०६

मलयो देश आरामे शैलायो पर्वतान्तरे । वही, २,५३०

विशल्या लाङ्गलीदन्तीगुडूचीन्निपुटानु च । वही, ३,५३८

ऋक्षर वारिधारायामृक्षर पुन ऋत्विजि । वही, ३,५६०

कप्पर कुत्सिते तन्ने — — — वही, ३,५६४

केनार कुम्भिनरके गिर कपालसन्धिषु । वही, ३,५८०

कोटारो नागरे कूपे पुष्करिण्याश्च पाटके । वही, ३,५८१

खिड्खरस्तु शिवाभेदे खट्वाङ्गे वारिवानके । वही, ३,५८४

जम्बीर प्रम्यपुष्पाख्यशाके दन्तशठद्रुमे । वही, ३,५६२

नरेन्द्रो वार्तिके राजि विपवैद्येऽथ नागरम् । वही, ३,६०१

वल्लूर तु वनक्षेत्रे वाहनोपरयोरपि । वही, ३,६३३

वशिर किण्णी सिन्धुलवणे कुम्भकेषु च । वही, ३,६३४

वागरो वारके शाणे निर्णये वाडवे वृके । वही, ३,६३५

शणीर शोणमध्यस्यपुलिने दर्दरीतटे । वही, ३,६४३

शिलीन्ध्र कदलीपुष्पे कवकलिपुटाख्ययो । वही, ३,६४८

सङ्गर तु फले गम्या सम्मार मम्भृती गणे । वही, ३,६५२

सैरन्ध्री परवेशमस्यशिल्पकृत्स्वशस्त्रियाम् ।

वर्णसङ्करसम्भूतस्त्रीमहल्लिकयोरपि । वही, ३,६५६-५७

अङ्गुलि कारशाखाया कणिकाया गजस्य च । वही, ३,६६०

जलाशयमुशीरे स्याज्जलाशयो जलाश्रये ।

तण्डुलीय शाकभेदे विडङ्गतस्ताप्ययो । वही, ४,२२६-३०

अर्ष्कर व्रणकरे भल्लातकफलेऽपि च । वही, ४,२४१

उत्पलपत्रमुत्पलदले स्त्रीणा नखक्षते । अनेकार्थ ० ५,४४

तमालपत्र तिलके तापिच्छे पत्रकेऽपि च । वही, ५,४५

भवेदुद्दण्डपालस्तु मत्स्यसर्पप्रभेदयो । वही, ५, ५१

भवेत्सुरतताली तु दूतिकाया शिरस्त्रजि । वही, ५, ५५

उक्त सभी पक्तियां शब्दशः 'विश्वप्रकाश' कोश में उपलब्ध होती हैं। अतः यही जान पड़ता है कि ये वहाँ से उद्धृत की गई हैं। केवल 'विश्वप्रकाश' से ही नहीं, 'मेदिनी' से भी कुछ उद्धृत है। परन्तु 'मेदिनी' की अपेक्षा 'विश्वप्रकाश' की उद्धृत पक्तियां बहुत अधिक हैं। 'मेदिनीकोश' से उद्धृत कुछ ही पक्तियां हैं जो इस प्रकार हैं

प्रत्युद्गमनीयमुपस्येये धौताशुकद्वये । अनेकार्थ० ६, ६

एककुण्डल इत्येष बलभद्रे यनाधिपे । वही, ५, ५२

रोचना रक्तकल्हारे गोपिते वरयोपिति । वही, ३, ४३४

इस प्रकार यह 'अनेकार्थसंग्रह' कोश पूर्व परम्परागत शब्दों की सकलता का एक सुन्दर कोष है। इतना ही नहीं, इसमें कई देशी भाषा के ऐसे प्रचलित शब्दों का भी समावेश है जो अन्य कोशों में नहीं मिलते। जैसे कि

(१) लच घूस (अनेकार्थ० ३, ७७१) । बुन्देलखड़ी 'लाच' (रिश्वत) ।

(२) गेण्डुक तकिया (अनेकार्थ० ४, १६६) । 'विश्वप्रकाश' में 'गेण्डुक' शब्द है। बुन्देलखड़ में इसे 'गेडुआ' कहते हैं।

(५) गान्धिक गाधी (अनेकार्थ० ३, ३६) । ब्रज, बुन्देली में 'गधी', उडिया, बिहारी और हिन्दी में भी 'गधी'। प्राकृत 'गधिय'।<sup>५१</sup>

(४) वठ मूर्ख, मन्दबुद्धि (अनेकार्थ० ३, ६१५) । वट्ठर, माठर बुन्देली, मालवी और हिन्दी में।

(५) चिल्ल चील (अनेकार्थ० २, ४६७) । कुमायू, नेपाली, बंगाली, उडिया और अवधी में 'चील'।<sup>५२</sup>

(६) वण्ठ अविवाहित (अनेकार्थ० २, ११०, देशीनाममाला ७, ८३) । प्राकृत 'वठ' और उडिया 'वाठिया'।<sup>५३</sup>

'अनेकार्थसंग्रह' में कुछ ऐसे शब्द भी मिलते हैं, जो संस्कृत में तथा प्राकृत में भी समान रूप से प्रचलित रहे हैं, किन्तु अर्थ की दृष्टि से उन शब्दों को तथा रचना की दृष्टि से भी गढ़े हुए होने के कारण देशी कहा जाता है। अर्थ की दृष्टि से यह है कि जब एक शब्द का एक अर्थ नियत है और अधिक-से-अधिक दो-तीन शब्द एक ही अर्थ को बतलाने वाले हैं, तो उसमें दो या दो से अधिक शब्दों की वृद्धि कैसे हुई? निश्चित ही वे शब्द किसी-न-किसी धारा से होकर भाषा विशेष में समा गए होंगे, जो कालान्तर में उस भाषा के अपने बन गये। यह क्रम सैकड़ों-हजारों वर्षों से चला आ रहा है। 'अनेकार्थसंग्रह' में भी इसी परम्परा का पालन दिखलाई पड़ता है। उदाहरण के लिए यहाँ संस्कृत का 'कुट' शब्द लिया जा सकता है। संस्कृत में 'कुट' शब्द के निम्नलिखित अर्थ हैं <sup>५४</sup> कोट, पत्थरफोडी, धडा और

मकान। मूल में यह शब्द द्राविड 'कुट्ट' से निकला है। पालि में यह 'कूट' है और प्राकृत में 'कूड' है। इसका अर्थ लोहे की हथोड़ी है। सिन्धी में इसी अर्थ में 'कुलु' शब्द प्रचलित है।<sup>१०</sup> इसके अतिरिक्त अन्य अर्थों में यह शब्द परिलक्षित नहीं होता। 'कुट' का अर्थ 'कोट' इसलिए शब्दकोशों में आ गया, क्योंकि प्राकृत-बोलियों में 'कुट' और 'कोड' दोनों शब्द प्रचलित रहे हैं। घट और गेह अर्थ के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि ये दोनों ही सादृश्य से सम्बन्धित हैं। संस्कृत में अनेक शब्दों का निर्माण इसी प्रक्रिया से हुआ। आचार्य हेमचन्द्र में यह प्रकृति विशेष रूप से लक्षित होती है।<sup>११</sup> 'अनेकार्थसंग्रह' में भी यही प्रवृत्ति भली-भाँति देखी जा सकती है। यही आगे चलकर आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं तथा बोलियों में कुट्ट, कूटना, कुहा, कूटा आदि शब्दों में धोतित होती है। यह विषय अत्यन्त रोचक तथा शोध-अनुसन्धान का है। इससे भारतीय आर्यभाषाओं की पुनर्निर्माण की प्रक्रिया में कुछ नवीन संकेत भी उपलब्ध हो सकते हैं।

### निघण्टुरोप

आचार्य हेमचन्द्र कृत 'निघण्टुरोप' शब्दकोश-ग्रन्थों में एक विलक्षण रचना है। क्योंकि इसमें एकार्थक और अनेकार्थक दोनों प्रकार के देशी शब्दों का संग्रह किया गया है। स्वयं उन्होंने इस बात का उल्लेख किया है कि जो शब्द शेष रह गए हैं, उनका यहाँ समुच्चय किया गया है।<sup>१२</sup> डॉ० वुल्फर के अनुसार यह एक श्रेष्ठ वनस्पतिकोश है। उनका यह कथन तथ्यपूर्ण है। क्योंकि यह कोश छह काण्डों में विभक्त है। प्रथम वृक्षकाण्ड है, द्वितीय गुल्मकाण्ड, तृतीय लताकाण्ड, चतुर्थ शाक-काण्ड, पंचम तृणकाण्ड और षष्ठ धान्यकाण्ड है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण कोश स्वतन्त्र रूप से एक वनस्पतिकोश है जो 'अभिधानचिन्तामणि' का पूरक प्रतीत होता है। 'अभिधानचिन्तामणि' और 'अनेकार्थसंग्रह' में आ० हेमचन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती जिन अनेकार्थक कोश में उल्लिखित औषधियों तथा वृक्षों आदि के नाम छोड़ दिए थे, उनका पृथक् रूप से इस कोश में सकलन किया है। यह वास्तव में उनकी ही सूक्ष्म-वृक्ष है। आयुर्वेद के निघण्टुओं के अतिरिक्त अन्य इस प्रकार के कोश उपलब्ध नहीं होते। अतः आयुर्वेद के निघण्टु ग्रन्थों की परम्परा में यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसका कारण यह है कि यह कोश कुल ३६६ श्लोकों में निबद्ध होने पर भी वनस्पति-जगत् की लगभग सभी वस्तुओं का उनके पर्यायवाची नामों के साथ अभिधान प्रस्तुत करता है। यद्यपि 'विश्वप्रकाशकोश' तथा 'शिवकोश' एवं 'राजनिघण्टु' आदि कोशों में उल्लिखित सभी अभिधानों का सकलन इस छोटे-से कोश में नहीं है, किन्तु कई अप्रसिद्ध शब्दों की जानकारी के लिए यह अत्यन्त सहायक है। जैसे कि 'गोपकन्या' का अर्थ सारिवा किया गया है। यह अर्थ 'शिवकोश'

(१०७) में भी उपलब्ध है। अतः इसकी प्रामाणिकता का पता चलता है। इसी प्रकार 'बहुसुता' का अर्थ 'शतावरी' किया गया है। यह शब्द 'शिवकोष' में नहीं मिलता। अतएव ऐसे अप्रसिद्ध शब्दों का अर्थ समझने के लिए भी इसकी उपयोगिता निस्सन्देह है। 'निघण्टुशेष' में कई ऐसे अप्रसिद्ध शब्द मिलते हैं जो आयुर्वेद के सामान्य निघण्टुओं में दृष्टिगोचर नहीं होते। उदाहरण के लिए- गोपवल्ली, प्रतानिका, मृदङ्गफलिनी, कुटा, घण्टाली, अजाण्टा, फरण, वुस्तिका, कर्वरी, बर्वरी, अर्जुन घास, उलपू, मुशटी इत्यादि। इनमें से अनेक शब्द देशी प्रतीत होते हैं, जो तत्कालीन लोक बोलियों में प्रचलित थे। अतएव आयुर्वेद के शब्दकोशों में उनका प्रवेश सहज तथा स्वाभाविक था। अतएव कोशकार के वचन सत्य प्रमाणित होते हैं।

### लिङ्गानुशासन

आचार्य हेमचन्द्र प्रणीत 'लिङ्गानुशासन' भी एक स्वतन्त्र लघु रचना है। यह भी एक अभिधानकोश है जो १३८ श्लोको में निबद्ध है। इसमें सात विभाग हैं प्रथम पुलिगाधिकार में १७ श्लोक, द्वितीय स्त्रीलिङ्गाधिकार में ३३ श्लोक, तृतीय नपुसकलिङ्गाधिकार में २४ श्लोक, चतुर्थ पुंस्त्रीलिङ्गाधिकार में १२ श्लोक, पचम पुनपुसकलिङ्गाधिकार में ३६ और ५७ स्त्रीनपुसकलिङ्गाधिकार में केवल ५ तथा स्वतस्त्रिलिङ्गाधिकार में केवल ६ श्लोक हैं। अन्त में पाच श्लोक और है। अन्त में ३८ श्लोको में निबद्ध 'एकाक्षरकोश' भी है, जिसमें केवल एक अक्षरवाले शब्दों के विभिन्न अर्थों का उल्लेख किया गया है।

### विश्वलोचनकोश

श्रीधरसेन कृत 'विश्वलोचनकोश' संस्कृत के सुबन्ध कोशों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका एक अन्य नाम मुक्तावलिकोश भी है। कवि श्रीधरसेन दिगम्बर आम्नाय के सेन सभ की परम्परा के थे। वे स्वयं शास्त्रों के पारगामी कवि और नैयायिक थे। वे स्वयं शास्त्रों के पारगामी कवि और नैयायिक थे। श्रीधरसेन भी अपने गुरुवर के समान विद्वान् तथा महान् राजाओं के द्वारा सम्मान्य थे।

संस्कृत के 'विश्वप्रकाशकोश' की भाँति 'विश्वलोचनकोश' के भी टीका ग्रन्थों में उद्धरण मिलते हैं, जिससे इसके पठन-पाठन तथा लोकप्रियता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। सुन्दरगणि ने अपने ग्रन्थ 'धातुरत्नाकर' में इस कोश के कई उद्धरण दिए हैं।<sup>१०</sup> यह शब्दकोश न अधिक विशाल और न अधिक संक्षिप्त होने के कारण विद्वानों और विद्यार्थियों दोनों के लिए समान रूप से उपयोगी है। विक्रमोर्वशीय की रगनाथ कृत टीका में भी 'विश्वलोचनकोश' का उल्लेख मिलता

है। शैली की दृष्टि से 'विश्वलोचनकोश' पर हैम विश्वप्रकाश और मेदिनी इन तीनों कोशों का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। 'विश्वप्रकाश' का रचनकाल ई० ११११ है, मेदिनी और अनेकार्थसंग्रह आदि का बारहवीं शताब्दी है। अतः इस 'विश्वलोचनकोश' का समय तेरहवीं शताब्दी कहा जाता है।

इस 'विश्वलोचनकोश' में कुल २४५३ श्लोक हैं। अन्य मस्कृत कोशों की भाँति इसमें भी वर्णादिक्रम से शब्दों का सङ्कलन है। यह कोश सन् १८१२ में निर्णयसागर प्रेस में प्रकाशित हुआ था। इसका सम्पादन प० नन्दलाल शर्मा ने किया था। उनके ही शब्दों में "मस्कृत में कई नानार्थ-कोश हैं, परन्तु जहाँ तक हम जानते हैं, कोई भी इतना बड़ा और इतने ही अधिक अर्थों को बतलाने वाला नहीं है। इसमें एक-एक शब्द को जितने अर्थों का वाचक बतलाया है, दूसरों में प्रायः इससे कम ही बतलाया है। उदाहरण के लिए, एक रचक शब्द को ही लीजिए जहाँ तक अमर में इसके चार ब मेदिनी में दश अर्थ बतलाये गये हैं, वहाँ इसमें १२ अर्थ बतलाये गये हैं, यही इस कोश की विशेषता है।" इसके अतिरिक्त इसमें कई शब्दों के ऐसे भी अर्थ मिलते हैं जो सामान्य रूप में मस्कृत के अन्य किसी कोश में नहीं मिलते। अतः सम्भव है कि किसी अन्य प्राचीनतम मस्कृतकोश के आधार पर इस कोश की रचना हुई हो जो आज उपलब्ध नहीं है।

### नाममालाशिलोच

श्री जिनदेवसूरि ने 'अभिधानचिन्तामणिकोश' के पूरक के रूप में वि० स० १४३३ में 'नाममालाशिलोच' की रचना की थी। यह १४८ श्लोकों का लघुतम कोश है। यह कोश 'अभिधानचिन्तामणिकोश' के परिशिष्ट रूप में श्रेष्ठि देवचन्द लालभाई जैनपुस्तकोद्धार संस्था, मुरत से १८४६ ई० में प्रकाशित हो चुका है। इसी ग्रन्थ में आचार्य हेमचन्द्र, कृत "जेपनाममाला" और श्री सुधाकलश विरचित "एकाक्षरनाममाला" भी सङ्कलित हैं।

### जेपनाममाला

आचार्य हेमचन्द्र सूरि का यह कोश पाँच काण्डों में निबद्ध है। इसमें कुल २०८ श्लोक हैं। प्रथम देवाधिदेवकाण्ड में २, द्वितीयकाण्ड में ६०, तृतीय नरकाण्ड में ६५, चतुर्थकाण्ड में ४० और पंचम नारककाण्ड में २ तथा अन्य ६ श्लोक हैं। इन सभी कोशों में लोकप्रचलित शब्दावली का सुन्दर संग्रह परिलक्षित होता है। कई नवीन शब्द भी मिलते हैं। जैसेकि डक्कारी (किनरी), टट्टरी (वाद्य विशेष), मड्डु (वाद्य), तिमिना (वाद्य), किरिकिचिका (वाद्य), फुल्लक (आभूषण) इत्यादि। इसी प्रकार में कई नवीन अर्थों का सूचन भी इस कोश से



मिलता है, जो इसकी अपनी विशेषता है। ऐसे कई नये शब्द हैं जो पर्यायवाची रूप में मिलते हैं।<sup>१३</sup>

## अनेकार्थध्वनिमजरी

महाक्षपणक कृत 'अनेकार्थध्वनिमजरी' के सम्बन्ध में अभी तक विशेष ऊहा-पोह नहीं हो सका है। यह शब्दकोश प्रकाशित हो चुका है। इसका सम्पादन क्षुल्लक सिद्धसागर महाराज ने किया है। उनका कथन है कि यह महाक्षपणक जैन मुनि की रचना है जैसा कि वासठवे श्लोक में जिन शब्द के अर्थ करने से प्रतीत होता है <sup>१४</sup> इसी प्रकार समिति का अर्थ 'समय' और 'स्व' का अर्थ 'आत्म' से भी पता चलता है कि ग्रन्थकार जैन होगा।

'अनेकार्थध्वनिमजरी' एक लघुकाय रचना है। इसमें कुल २२४ श्लोक हैं। यह कोश तीन परिच्छेदों में निबद्ध है। प्रथम श्लोकाधिकार में १०४, द्वितीय अर्द्ध-श्लोकाधिकार परिच्छेद में ८७, और तृतीय पादाधिकार परिच्छेद में ३३ श्लोक हैं। यह एक अनेकार्थक कोश है। इसके प्रथम परिच्छेद में एक श्लोक में एक शब्द के अनेक अर्थों का उल्लेख किया गया है। दूसरे परिच्छेद में केवल अर्द्ध श्लोक में ही शब्द का अर्थ वर्णित किया गया है और तृतीय परिच्छेद में चौथाई श्लोक में एक शब्द के जन्म अर्थ निबद्ध हैं। कुछ नवीन शब्दों का सकलन भी इस कोश में मिलता है। उदाहरण के लिए, चुवर (लोमवस्त्र, ऊनी कपड़ा), तुरायण (क्रियाहीन), तोक (पुत्र), भूकुडी (शूकर, किसान), वासुरा (चलनी, छज्जा), प्रहि (कूप, सरोवर) इत्यादि। सम्भव है कि इस तरह के कुछ शब्द देशज हो जो परम्परा से शब्दकोश में सकलित होकर उन-उन अर्थ के वाचक हो।

## द्विरूपकोशनिबण्ड

इस शब्दकोश के रचयिता हर्ष कवि हैं। कोश संस्कृत श्लोको में निबद्ध है और आज दिन तक अप्रकाशित है। इस कोश में कुल २३० श्लोक हैं। इस ग्रन्थ की ताडपत्रीय प्रति श्री दिगम्बर जैन मठ के शास्त्र-भाण्डार में साउथ आरकाड के जिजी जिला के अन्तर्गत चित्तामूर में सुरक्षित है। इसके १७ ताडपत्र हैं। अनुमान यही किया जाता है कि यह जैन कवि की रचना है। वहाँ पर १४० ताडपत्रीय ग्रन्थ हैं जो सभी जैन विद्वानों की रचनाएँ हैं। उनमें से अधिकतर प्रकाशित हो चुकी हैं। किन्तु कई अज्ञात रचनाएँ भी वहाँ पर उपलब्ध हैं।

## एकाक्षरनाममाला

इसके रचयिता जैन मुनि विश्वशम्भु हैं। यह ११५ श्लोको में निबद्ध लघुकाय

रचना है। दिगम्बर जैन शास्त्र-भाण्डारो में इस की कई हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं।<sup>१५</sup> वर्णादिक्रम से इसमें एक-एक वर्ण का अलग-अलग अर्थ वर्णित किया गया है।

श्री जिनदत्तसूरि के शिष्य अमरचन्द्र कृत 'एकाक्षरनाममाला' भी कही जाती है।<sup>१६</sup> श्री राजशेखर के शिष्य सुधाकलश विरचित 'एकाक्षरनाममाला' के सम्बन्ध में कहा जा चुका है। उक्त कोशकार चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी के जान पड़ते हैं।

### अन्य सस्कृतकोश

सस्कृत के सुप्रसिद्ध कवि तथा कोशकार महेश्वर सूरि कृत 'विश्वप्रकाश' की वृत्ति वि० स० १६५४ में खरतरगच्छ के आचार्य भानुकेश के शिष्य जिनविमल ने रची थी, जो महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इसका प्रकाशन होना अत्यन्त आवश्यक है।

साधुकीर्ति यतिवर के शिष्य साधुसुन्दरगणि ने 'धातुरत्नाकर' नामक बृहत् ग्रन्थ वि० स० १६८० में रचा था। इस में सस्कृत की प्रायः सभी धातुओं का संग्रह किया गया है और उनके रूपाध्यानों का विशद अलिखन किया गया है।<sup>१७</sup> डॉ० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री के अनुसार उन्होंने 'शब्दरत्नाकर' की रचना की थी। इस कोश में कुल १०११ श्लोक हैं। कोश छह काण्डों में विभक्त है।<sup>१८</sup>

संक्षेप में, डॉ० शास्त्री के शब्दों में "राजचन्द्र का देश्यनिदेश-निघण्टु और विमलसूरि का देश्यशब्दसमुच्चय भी महत्त्वपूर्ण हैं।" वि० स० १६४० में विमलसूरि ने 'देश्यनाममाला' के शब्दों का सार ले कर अकारादि क्रम से 'देश्यनिदेश-निघण्टु' की रचना की थी। पुण्यरत्नसूरि का 'द्वयक्षरकोश', अमरकवि का 'नानार्थकोश', रामचन्द्र का 'नानार्थसंग्रह', एवं हर्षकीर्ति की नाममाला की गणना भी उपयोगी कोशों में की जा सकती है। तपागच्छ के आचार्य सूरचन्द्र के शिष्य भानुचन्द्र ने 'नामसंग्रहकोश' की रचना की। हर्षकीर्तिसूरि की 'लघुनाममाला' भी भाषा और साहित्य के अध्येताओं के लिए उपयोगी है।<sup>१९</sup> इनके अतिरिक्त भी सस्कृत के कुछ अन्य कोश जैन शास्त्र-भाण्डारो में मिलते हैं, जिनका विवरण न मिलने से उल्लेख नहीं हो सका है। श्री ज्ञानविमलगणि ने ई० १५६८ में 'शब्दभेदप्रकाश' की रचना की थी।<sup>२०</sup> सम्भवतः उपर्युक्त उल्लिखित जिनविमल कृत वृत्ति वाली यह रचना है। क्योंकि महेश्वरसूरि कृत 'विश्वप्रकाश' और 'शब्दभेदप्रकाश' दोनों रचनाएँ एक ही ग्रन्थ में हैं। अतः दोनों को एक समझना चाहिए। ज्ञानविमलगणि के नाम से कोई 'शब्दभेदप्रकाश' अभी तक हमारे देखने में नहीं आया है।

## प्राकृत के शब्दकोश

यह निश्चित है कि संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत के शब्दकोशों की रचना बहुत बाद में हुई। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। क्योंकि लोकभाषा के लिए व्याकरण, कोश की आवश्यकता नहीं पड़ी। प्राकृत के जिन प्राचीनतम शब्दसंग्रहकारों के उल्लेख मिलते हैं, उनमें अभिमानचिह्न, गोपाल, देवराज, द्रोण, धनपाल और हेमचन्द्र के नाम स्मरणीय हैं। इनके अतिरिक्त कुछ दक्षिण भाषाओं के, विशेष कर कन्नड़ के कोशकारों ने प्राकृत-अपभ्रंश शब्दों का उल्लेख किया है।

## पाडमलच्छीनाममाला

उपलब्ध प्राकृत-कोशों में महाकवि धनपाल कृत 'पाडमलच्छीनाममाला' प्रथम कोश कहा जा सकता है। यह दसवीं शताब्दी की रचना है। वि० स० १०२६ में धारानगरी के अन्तर्गत भानखेड ग्राम में अपनी छोटी बहन सुन्दरी के लिए कवि ने इस शब्दकोश की रचना की थी।<sup>११</sup> यह कोश २७६ गाथाओं में निबद्ध है। विद्यार्थियों के लिए यह अत्यन्त उपयोगी कोश है। उसमें ६६८ शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का सकलन लक्षित होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने "अभिधान-चिन्तामणि" की स्वोपज्ञ विवृति में "व्युत्पत्तिर्धनपालतः" का संकेत कर इनकी प्रशंसा की है। इसका एक कारण यह भी है कि देशी शब्दों का अभिधान करने वाला एक मात्र यही ग्रन्थ उनके सम्मुख था। स्वयं महाकवि धनपाल ने देशी शब्दों के सकलन का उल्लेख किया है।<sup>१२</sup> वास्तव में परम्परा से प्राप्त जो भी शब्द प्रचलित थे (चाहे वे संस्कृत-प्रवाह के हो अथवा लोक-बोलियों के) उनका संग्रह मात्र सरलता से प्रस्तुत किया गया है। अतएव आज भी हमारे बोलचाल के बहुत-से शब्द इस कोश में ज्यो-कै-त्यों मिलते हैं। उदाहरण के लिए . कुपल (कोपल), ओली (अवलि, पत्ति), भुक्खा (मूर्ख), कच्छा, तुद (तोद), दहिज (दही), भडुक्का (भेड़क), विरानीओ (विलाडी, विल्ली), खार्इया (खाई), लचा (लाच, घूस), छल्ली (छाल), गुच्छा (गुच्छा), मामी (मामी), असमजस, गुद (गोद), डल्ल, आल (वाला अर्थ में प्रत्यय) इत्यादि। इसी प्रकार से संस्कृत तथा अन्य भाषाओं से मिश्रित शब्द भी द्रष्टव्य हैं।<sup>१३</sup>

यह वास्तविक तथ्य है कि हजारों वर्षों तक भारतीय जनता को इस बात की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ी कि प्राकृत का भी शब्दकोश होना चाहिए। यद्यपि संस्कृत के शब्दकोशों में कई स्रोतों से देशज शब्दों का समावेश लक्षित होता है, किन्तु उनसे प्राकृत काव्य को समझने में विशेष सहायता नहीं मिलती। हम यह भी नहीं कह सकते कि संस्कृत के कवि अपने साहित्य तक सीमित रहे या उन्होंने प्राकृत की अपेक्षा की। किन्तु वास्तविक यह है कि चाहे संस्कृत के नाटक

हो, ध्रुवा या गीतियाँ हो अपवा दोहे वा गा-याएँ, उनकी प्राकृत इतनी सरल या सस्कृत मिश्रित रही है, जिसका अर्थ जानने के लिए किसी प्राकृत-शब्दकोश को ले कर बैठने की आवश्यकता नहीं थी। यही कारण है कि प्राकृत में इने-गिने चार-पाँच शब्दकोशों की रचना का ही उल्लेख मिलता है। प्राचीन शब्दकोशों से महा-धनपाल कृत कवि “पाड्यलच्छीनाममाला” और आचार्य हेमचन्द्र विरचित “देशीनाममाला” ये दो कोश उपलब्ध हैं।

## देशीनाममाला

‘देशीनाममाला’ भारतीय आर्यभाषाओं के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए एक विशिष्ट कोश है। आठ वर्गों में विभक्त देशी शब्दों का यह एक अपूर्व सकलनात्मक ग्रन्थ है। मूल शब्दकोश प्राकृत में है, जिसकी सस्कृत व्याख्या स्वयं ग्रन्थकार की है। देशी शब्द के सम्बन्ध में कोशकार यह प्रतिज्ञा कर चला है कि जो शब्द न तो व्याकरण से व्युत्पादित हैं और न सस्कृत कोशों में निबद्ध हैं तथा लक्षणा शक्ति से भी जिनका अर्थ प्रसिद्ध नहीं है, उन शब्दों का सकलन इस कोश में किया जा रहा है।<sup>१४</sup> कहने का आशय यह है कि जो शब्द व्याकरण के अनुसार प्रकृति, प्रत्यय आदि विभाग से सिद्ध नहीं होते और सस्कृत के कोशों में जिनकी प्रसिद्धि नहीं है तथा लक्षणा शक्ति से भी जिनका अर्थ वाच्य नहीं है, वे देशी शब्द कहे जाते हैं। ये देशी शब्द प्रादेशिक भाषाओं में प्रसिद्ध रहे हों, जो सख्या में अनन्त हैं, इसलिये उन सर्व का सकलन होना सम्भव नहीं है। ये अनादिकाल से प्रवृत्त तथा प्राकृत भाषा में विशेष रूप से प्रचलित देशी शब्द हैं।<sup>१५</sup> वास्तव में देशी शब्द प्रचलित मुद्रा के समान देशी सिक्के हैं जो समय-समय पर चलन से बाहर होते रहे हैं। किन्तु कुछ-न-कुछ शब्द बराबर प्रत्येक भाषा में प्रचलन में रहे हैं, जिन्हें आज हम देशी शब्द के रूप में जानते हैं। इस कोश में कुल शब्दों की सख्या ३६७८ है। सबसे अधिक शब्दों की सख्या ऐसी है जो प्रकृति-प्रत्यय से निष्पन्न नहीं होते अथवा अव्युत्पादित प्राकृत शब्द हैं। तत्सम शब्दों की सख्या १०० है, गर्भित तद्भव १८५० है, सशय युक्त तद्भवों की सख्या ५२८ है और अव्युत्पादित प्राकृत शब्द १५०० हैं।<sup>१६</sup> वास्तव में प्रो० वनर्जी ने अव्युत्पन्न शब्दों की सख्या कम बताई है, किन्तु है अधिक। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं और उनकी बोलियों में पाये जाने वाले अनेक शब्दों का सीधा सम्बन्ध इन देशी शब्दों में देखा जा सकता है। ऐसे कुछ शब्द निम्नलिखित हैं

(१) अक्का भगिनी (देशी० १, ६)। प्राकृत अपभ्रंश में अक्क और अक्का शब्द मिलते हैं। इनका अर्थ माता और ज्येष्ठ भगिनी दोनों है। मोनियर विलियम्स ने ‘पचतन्त्र’ में आगत ‘अक्का’ शब्द को कोकणी बताते हुए ज्येष्ठ भगिनी अर्थ किया है। टी० वरो ने इसे द्रविड वर्ग का शब्द माना है।<sup>१७</sup> अन्य

विद्वानों ने भी इसे द्रविड भाषाओं से आगत माना है। वास्तव में यह कन्नड आदि भाषाओं से उधार लिया हुआ शब्द है। कन्नड, तमिल, तेलुगु, और तेलु में यह शब्द ज्येष्ठ भगिनी का वाचक है। यह कन्नड में 'अक्क', तमिल में 'अक्का', तेलुगु में 'कोडगु' और तुलु में 'अक्के' है।<sup>१८</sup>

२ कडप्प—ढेर (देशी० २, १३)। प्राकृत-अपभ्रंश में यह 'कडप्प' कलाप अर्थ में मिलता है। यह शब्द भी मूल रूप में द्रविड भाषाओं का माना जाता है। दक्षिण की भाषाओं में यह समूह अर्थ वाचक है। यह कन्नड में 'कलपु', तेलुगु में 'कलपे', तमिल में 'कलप्पड' और तुलु में 'कलप्पु' है। कन्नड में समूह अर्थ का वाचक एक 'कडम्प' शब्द भी है।<sup>१९</sup> प्राकृत में यह 'कडप्प' है, जो मराठी में 'कडप' प्रचलित है।<sup>२०</sup>

३ कुरल कुटिल केश (देशी० २, ६३)। प्राकृत-अपभ्रंश में यह देशी शब्द अत्यन्त प्रसिद्ध है। भारत की लगभग सभी भाषाओं में यह प्रचलित रहा होगा। इसका मूल स्रोत द्रविड वर्ग की भाषाएँ माना जाता है। कन्नड में यह 'कुरल' है, तमिल में कुरल-कुरल है, मलयालम में 'कुरल' है और तेलुगु में 'कुरलु' है। जूनी गुजराती में यह 'कुरल' है और मराठी में 'कुरल' है।<sup>२१</sup>

४ गोड, गोडी मजरी, वीर (देशी० २, ६५)। ये दोनों ही शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ में प्राकृत-अपभ्रंश में प्रचलित रहे। यह कन्नड में 'गोण्डे', 'गुडि', तेलुगु, मलयालम में 'कोण्डे' है।<sup>२२</sup> यह द्रष्टव्य है कि प्राकृत में भी 'गोड' के स्थान पर 'कोड' शब्द प्रसिद्ध रहा। महाकवि पुष्पदन्त के अपभ्रंश महाकाव्य 'महापुराण' में (६६, ४, ३) भी 'गोड' शब्द मिलता है। अभिमानमेरु पुष्पदन्त मान्यखेड (हैदराबाद) के थे, इसलिये उनकी भाषा में इस शब्द का होना स्वाभाविक है।

५ चिक्क, चिक्का अल्प, स्तोक (देशी० ३, २१)। टी० वरो ने इसे द्रविड शब्द बताया है।<sup>२३</sup> कन्नड में यह 'चिक्क' है और अर्थ भी अल्प है। मराठी में 'चिके' इसी अर्थ का वाचक है। खोवार (दक्षिण) भाषा में भी 'चिक्' का अर्थ अल्प कहा जाता है।<sup>२४</sup>

६ चिच्चि अग्नि (देशी० ३, १०)। चिच्चि या चिच्ची द्रविड शब्द माना गया है। तेलुगु में यह 'चिच्चु' है और कन्नड में 'किच्चु' है। अपभ्रंश के 'महापुराण' में भी 'चिच्चि' शब्द अग्नि अर्थ में लक्षित होता है।<sup>२५</sup>

७ छाण गोवर (देशी० ३, ३४)। यह भी द्रविड शब्द माना गया है। तमिल में यह 'छाणि' है और गुजराती में 'छाण' है। छत्तीसगढ़ी बोली में गोवर से बने हुए 'कडे' को 'छेणा' कहा जाता है जो 'छाण' से विकसित है। अपभ्रंश के 'महापुराण' (५७, १०, ११) में भी 'छाण' शब्द का प्रयोग उक्त अर्थ में ही परिलक्षित होता है।

८ तण्णाय गीला (देशी० ५, २)। यह प्राकृत-अपभ्रंश में भी मिलता है।

वैसे यह भी द्रविड शब्द माना जाता है। कन्नड में 'तण्ण' शब्द का अर्थ ठंडा है। तमिल में 'तण्णि' का अर्थ आर्द्र है।

६ तलार कोतवाल (देशी० ५, ३)। प्राकृत-अपभ्रंश और द्रविड भाषाओं में 'तलार' और 'तलवर' दोनों शब्द उपलब्ध होते हैं। कन्नड में यह 'तलवार' शब्द है जिसका अर्थ है नगररक्षक। द्रविड शब्द 'तलेयारि' का भी उल्लेख मिलता है।<sup>१६</sup> अपभ्रंश के महापुराण (३०, १७, १०) में 'तलवर' शब्द का प्रयोग मिलता है।

१० पोट्ट पेट (देशी० ६, ६०)। यह द्रविड शब्द है। प्राकृत-अपभ्रंश में यह शब्द बहुत प्रचलित रहा है। इसी शब्द से 'पोट्टल' बना। तेलुगु में 'पोट्ट' ही है। प्राकृत में इसके अतिरिक्त 'पिट्ट' शब्द भी पेट अर्थ का वाचक है। इसी शब्द से संस्कृत का पेटक, पेटा शब्द आदि निर्मित हुए प्रतीत होते हैं। पश्चिमी पहाड़ी और उसकी बोलियों भद्रवाही और भलेसी में 'पैट', कुमायू, नेपाली और असमी में 'पेट' है। बंगला में भी यह 'पेट' है। उडिया में इसके लिए 'पेटा' है और प्राचीन मारवाड़ी में भी यही है। अवधी और उसकी बोली लखीमपुरी में, हिन्दी, भोजपुरी तथा गुजराती में यह 'पेट' ही है। मैथिली में इसे 'पेट' बोलते हैं।<sup>१७</sup> सिन्धी और उसकी बोलियों में भी यह प्रचलित है। इस प्रकार नव्य भारतीय आर्य भाषाओं में यह सर्वाधिक प्रचलित शब्द है।

इस प्रकार के अनेक शब्द जो केवल द्रविड भाषाओं में ही नहीं, सिनो-तिब्बती कोल-मुण्डा या आस्ट्रिक वर्ग की भाषाओं के शब्द भी 'देशी' शब्द के रूप में उपलब्ध होते हैं। भारोपीय भाषाओं से उक्त अन्य वर्गों की भाषाओं का निकट संबंध होने से उनके शब्द प्रवेश पा गये। इन सभी वर्गों में द्रविड वर्ग महत्त्व का है। विशेष कर उसके ही शब्द 'देशीनाममाला' में मिलते हैं। अतः देशी शब्दों का सम्बन्ध द्रविड भाषाओं की शब्द-सम्पदा से मानना चाहिए। कुछ अन्य शब्द हैं जेसर (देशी० ४, ४४,) सूर्य। कन्नड 'नैमृ' (रवि), तमिल 'नैहर' (रवि-किरण), मलयालम 'नैर' (दिवसप्रकाश), पुल्ली (देशी० ६, ७६) व्याघ्र। प्राकृत-अपभ्रंश 'पुलिन', कन्नड 'पुलि', तमिल, तेलुगु, मलयालम, तुलु, 'पिलि' (व्याघ्र), पावो (देशी० ६, ३८) सर्प। कन्नड 'पावु' तेलुगु 'पामु', तमिल 'पामवु' सर्प इत्यादि।<sup>१८</sup>

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं और उनकी बोलियों में आज भी घर में, खलिहान में, वर्ग विशेष में ऐसे देश्य शब्दों का चलन है, जिसका सीधा सम्बन्ध हमें देशीनाममाला में सकलित शब्दों में दिखलाई पड़ता है तथा जिनके अध्ययन से हम सरलता से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन देश्य शब्दों का विकास प्राकृत तथा इन देशी शब्दों से हुआ है। डॉ० गुप्त ने ऐसे सैकड़ों शब्दों का विवरण दिया है, जो कृषि जीवन में प्रचलित हैं और जिनको देशी कहा गया है।<sup>१९</sup> इसी प्रकार में डॉ० वैद्य

ने अपने निबन्ध में अनेक मराठी शब्दों को देश्य बताते हुए कहा है कि इन शब्दों का मूल प्राचीन महाराष्ट्री प्राकृत है।<sup>१०</sup> डॉ० चटर्जी ने निश्चित रूप से इन देशी शब्दों का मूल स्रोत द्रविड भाषाएँ मानी हैं और यह सम्भावना व्यक्त की है कि विशिष्ट शब्द आर्योत्तर भाषाओं के हैं, सम्भवतः वे द्राविड तथा आस्ट्रिक-पूर्व की भाषाओं में भी विद्यमान रहे हों।<sup>११</sup> यथार्थ में ऐसे ही शब्द प्राकृत के मूल हैं जो वैदिक काल से बोलियों में प्रचलित चले आ रहे हैं। इनका मूल स्रोत संस्कृत न होकर प्राथमिक प्राकृत है। अमृत रो ने ऐसे ही कुछ शब्दों का साम्य द्रविड भाषाओं की शब्दावली से स्थापित कर देशी को द्रविड, पारसी आदि कई भाषाओं से आगत शब्द माने हैं।<sup>१२</sup> डॉ० उपाध्ये ने प्राकृत नाटक में तथा 'देशीनाममाला' में आगत देशी शब्दों का सम्बन्ध कन्नड, मराठी आदि दक्षिण की भाषाओं से माना है।<sup>१३</sup> यद्यपि आचार्य हेमचन्द्र की 'देशीनाममाला' के देशी शब्दों के सम्बन्ध में कई शोध-निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें कई महत्वपूर्ण तथ्य व्यक्त किए जा चुके हैं। स्वतन्त्र शोध-प्रबन्ध के रूप में डॉ० श्रीमती रत्नाश्रियन् का शोध-प्रबन्ध 'एस्टडी ऑफ़ देश्यवर्ड्स फ्रॉम द महापुराण ऑफ़ पुण्यदन्त' इस दृष्टि से अध्ययन करने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। परन्तु मेरी दृष्टि में अभी भी नवीन शोध अनुसन्धानों के प्रकरण में 'देशीनाममाला' का अध्ययन आर्य तथा आर्योत्तर भाषाओं के सम्बन्ध में तुलनात्मक अध्ययन कर प्रस्थापित किया जाना चाहिए। केवल इस एक अध्ययन से ही इन भाषाओं के विकास पर एक प्रामाणिक तथा महत्वपूर्ण भूमिका प्रकाश में आ सकेगी। इसी प्रकार तत्सम, तद्भव और देशज पर भी नये प्रकाश की आवश्यकता है। यह कार्य अत्यन्त श्रमसाध्य होने पर भी विशिष्ट महत्व का है। इस प्रकार के अध्ययन से ही 'देशीनाममाला' की वास्तविक उपयोगिता प्रकट हो सकेगी।

### उक्तिव्यक्तिप्रकरण

यद्यपि प्राकृत के प्राचीन शब्दकोशों में 'पाइयलच्छी नाममाला' तथा 'देशीनाममाला' इन दो का ही उल्लेख किया जाता है, किन्तु प० दामोदर कृत 'उक्तिव्यक्ति-प्रकरण' को भी देश्यशब्दसंग्रह के अन्तर्गत परिगणित किया जाना चाहिए। केवल इसे ही नहीं, 'उक्तिरत्नाकर' को भी देश्यभाषा के शब्द-संग्रह ग्रन्थों में महत्वपूर्ण मानना चाहिए। 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' बारहवीं शताब्दी की रचना मानी जाती है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि तत्कालीन लोकवोली का सम्यक् परिचय देता है। प० दामोदर बनारस के निवासी थे। उन्होंने विद्यार्थियों को शिक्षा देने के लिए इस रचना का निर्माण किया था। डॉ० चटर्जी इस रचना की भाषा प्राचीन कौशल देश की बोली कौशली मानते हैं।<sup>१४</sup> जनपदीय भाषा का व्याकरण की दृष्टि से कैसा संवध है और किस प्रकार देश्य शब्दों का संस्कार करने से संस्कृत का शुद्ध

रूप बनता है, यह बहुत अच्छी तरह से इस रचना में समझाया गया है। इस ग्रन्थ में केवल प्राचीन कौशली भाषा का नमूना ही हमें नहीं मिलता है, अपितु व्याकरण-शास्त्र विषयक कई अन्य महत्व की बातों का भी इसमें उल्लेख है।<sup>८५</sup>

### उक्तिरत्नाकर

‘उक्तिरत्नाकर’ के रचयिता साधु सुन्दरगणि १७वीं शताब्दी के जैन विद्वान् थे। इसमें देश्यभाषा के सभी प्रकार के उक्तिमूलक प्रयोगों का संग्रह मिलता है। जैसे ‘उक्तिव्यक्तिप्रकरण’ का दूसरा नाम ‘प्रयोग प्रकाश’ है, वैसे ही इसका दूसरा नाम ‘औक्तिप्रकाश’ भी है। देश्य शब्दों के सस्कृत-रूप जानने के लिए यह अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। कुछ देश्य शब्द और उनके सस्कृत-रूप इस प्रकार हैं

असोई (उपश्रुति), चोज (चोद्यम्), छावडउ (शावक), रीसालू (ईर्ष्यालु), माखण (अक्षण), हिडकी (हिक्रा), पान्ही (पाणि), हेरु (हैरिक) पडहू (प्रतिभू), कारू (कारु), खलहाण (खलघान), पासी (पाशिका), भाठ (भाष्ट्र), तूरी (तुवरी), नीमी (नीवी) आदि। इनमें से कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके सस्कृत रूप होने से अर्थ-निर्धारण में सुगमता हो जाती है। जैसे ध्रोव (दूर्वा), खूणउ (कोणक), सीरख (शीतरक्षिका), ईडउ (अण्डक), धाहडी (धातकी) आदि। किन्तु कुछ शब्द ऐसे हैं कि उन से ठीक अर्थ समझ में नहीं आता। जैसाकि तगोटी (तगपटी), खीचडी (क्षिप्रचटिका), राख (रक्षा), वूव (वुम्बा), गोफाटी (गोफणी) इत्यादि। इसमें सस्कृत के अनेक गढ़े हुए शब्द भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ गादी (गव्दिका), मिठाई (मृष्टादिका), मूखडी (सुखादिका), वडी (वटिका), कडुछउ (कटुच्छक), वानी, वानगी (वर्णिका), टार (टार), डर (दर), टसर (तसर) तथा लाच (लचा) आदि।

आधुनिक युग में प्राच्य विद्याओं के अध्ययन के परिणामस्वरूप भारतीय भाषाओं तथा साहित्य के समानान्तर प्राकृत का भी अध्ययन होने लगा। किन्तु सस्कृत की अपेक्षा प्राकृत की ओर बहुत बाद में विद्वानों की दृष्टि पहुँच पायी। सस्कृत-नाटकों के प्राकृत अंशों को देख कर बहुत समय तक केवल यही अनुमान किया जाता रहा कि यह सस्कृत की कोई उपभाषा रही होगी। सर्वप्रथम प्राकृत भाषा और साहित्य की ओर जर्मन विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में ही जर्मनी में प्राकृत भाषा का अध्ययन प्रारम्भ हो गया था। सर्वप्रथम प्राकृत भाषा पर होएफर ने ‘डे प्राकृत डिअलेक्टो लिब्रिदुओ’ (१८३६ ई०) निबन्ध में अपने विचार प्रकट किए थे। लगभग इसी समय लॉरसन और ऑल्सडोर्फ ने प्राकृत भाषा व वोलियों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निबन्ध लिख कर शोध व अनुसन्धान किया था।<sup>८६</sup> प्राकृत भाषा का परिचय मिलते ही उनका महत्व जान कर भाषाविदों का तुरन्त ध्यान प्राकृत के अन्दकोषों की ओर गया।



डॉ० व्युल्लर ने इस दिशा में अग्रसर हो दो निबन्ध लिखे, जिनमें आचार्य हेमचन्द्र कृत 'देशी नाममाला' और धनपाल कृत 'पाइयलच्छीनाममाला' पर प्रकाश डाला।<sup>१०</sup> इतना ही नहीं, सन् १८७९ में उन्होंने स्वयं 'पाइयलच्छीनाममाला' का सम्पादन कर उसे गॉटिंगन से प्रकाशित कराया। इस प्रकार प्राकृत भाषा, व्याकरण और कोष आदि के प्रति पाश्चात्य जगत् विमुग्ध भाव से आकृष्ट हुआ। किन्तु प्राकृत साहित्य में उपलब्ध शब्दों का अर्थ संस्कृतज्ञों के लिए दुरूह एवं दुर्बोध था। अतः यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि कोई अच्छा प्राकृत-शब्दकोश तैयार किया जाए जो साहित्य-जगत् के लिए उपयोगी हो। इसी आवश्यकता से प्रेरित होकर इटली के विद्वान् डॉ० ल्युइजी स्वाली ने सन् १९१२ में प्राकृतकोष निर्माण करने की अपनी अभिलाषा प्रकट की।<sup>११</sup> किन्तु उसी समय विश्वयुद्ध की विभीषिका चल पड़ी, जिससे वह कार्य नहीं हो सका। भारत में यह कार्य मुनि श्री विजयरामेन्द्र सूरिश्वर ने वि० सं० १९४६ में प्रारम्भ किया था। ६३ वर्ष की वृद्धावस्था में इस महान् कार्य का आरम्भ कर लगभग चौदह वर्षों तक वे अनवरत जुटे रहे। सूरिप्रवर की महान् साधना से आठ हजार शब्दों का विशाल संग्रह 'अभिधान राजेन्द्र कोश' के रूप में हुआ। प्राकृत का यह बृहत्कोश सात भागों में निबद्ध है। इसका प्रथम भाग १९१३ ई० में, द्वितीय भाग १९१० में, तृतीय भाग १९१४ में, चतुर्थ १९१३ में, पंचम १९२१ में, षष्ठ १९३४ में और सप्तम भाग १९३४ में मध्यप्रदेश के रतलाम नगर से प्रकाशित हुए।

इसी बीच इन्दौर के श्री सरदारीमल भण्डारी के पिता श्री केशरीचन्द्र ने सन् १९१० ई० में प्राकृत-कोश-निर्माण का कार्य आरम्भ किया। उन्होंने निरन्तर श्रम कर लगभग चौदह हजार शब्द भी शीघ्र सकलित कर लिये थे। किन्तु दुर्दैव से यह कार्य आगे नहीं चल सका। अन्त में मुनिश्री रत्नचन्द्र जी म० के अथक प्रयत्न से यह पवित्र कार्य "सचित्र अर्धभागधीकोश" के रूप में सामने आया। इसका प्रथम भाग सन् १९२३ ई० में श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फेन्स की ओर से इन्दौर से प्रकाशित हुआ। इसके चार वर्षों के पश्चात् वि० सं० १९८३ में इस कोश का द्वितीय भाग, वि० सं० १९८६ में तृतीय भाग, १९८८ में चतुर्थ भाग और वि० सं० १९९५ में पंचम भाग प्रकाशित हुआ।

इसी अवधि में कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राकृत के प्राध्यापक पण्डित हरगोविन्ददास त्रिकेमचन्द सेठ ने "पाइअ-सद्-महण्णवो" नामक बृहत्कोश तैयार किया, जिसका प्रकाशन सन् १९२८ में हुआ। इस कोश के निर्माण की प्रेरणा सन् १९१३ के लगभग लेखक को श्री विजयधर्मसूरिश्वर म० से प्राप्त हुई थी। यह एक संयोग की बात थी कि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही देश-विदेशों में प्राकृत-शब्दकोश की खलने वाली अभाव की पूर्ति हेतु निर्माण की दिशा में कार्य प्रारम्भ हुआ था।

## अभिधानराजेन्द्रकोश

आज तक प्राकृत के जो भी शब्दकोश लिखे गये, उन सब का भिन्न-भिन्न उद्देश्य रहा है। 'पाड्यलच्छीनाममाला' प्राकृत के प्राथमिक विद्यार्थियों को ध्यान में रख कर लिखी गयी प्रतीत होती है। अतएव इसमें लगभग एक हजार शब्दों और उनके पर्यायवाची नामों का सकलन मिलता है। 'देशी नाममाला' में अधिकतर देशी शब्दों का संग्रह उपलब्ध होता है। इन दोनों ही कोशों में न तो जैनागमों में आगत शब्दों के दर्शन होते हैं और न जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्दों को समझने के लिए उस समय तक हमारे पास कोई कोश जैसा माध्यम था। 'अभिधान-राजेन्द्रकोश' ने निस्सन्देह इस अभाव की पूर्ति बहुत कुछ अंशों में की। अतः इस विशाल कोष के प्रकाशन पर प्राच्यविद्या-जगत् के मुप्रसिद्ध विद्वान् सिल्वा लेवी ने उच्छ्वसित भाव से ये उद्गार प्रकट किए थे

“अभिधान-राजेन्द्र” के पाँच वर्षों तक सतत स्वाध्याय के अनन्तर मैं यह कह सकता हूँ कि प्राच्यविद्या का कोई जिज्ञासु इस आश्चर्यजनक ग्रन्थ की अनदेखी नहीं कर सकता। अपने विशेष क्षेत्र में उसने कोशविद्या के रत्न पीटर्सवर्ग कोश को भी अतिक्रांत कर दिया है। इस कोश में प्रमाण और उद्धरणों से पुष्ट न केवल सारे शब्द ही आकलित हैं, अपितु शब्दों से परे जो विचार, विश्वास अनुश्रुतियाँ हैं, उनका सर्वेक्षण भी इस में है।<sup>१३</sup> 'अभिधान-राजेन्द्र-कोश' का कई दृष्टियों से विस्तृत अध्ययन किया जा सकता है। इस कोश में अनेक ऐसे प्रचलित शब्दों की विस्तार से व्याख्या की गई है, जो केवल जैनो के सांस्कृतिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। आज भी ये शब्द परम्परागत रूप से प्रचलित हैं। जैसेकि थुड (स्तुति), समइ, सामाड्य (सामायिक), पडिक्कमण (प्रतिक्रमण), समायारी (समाचारी), पडिलेहणा (प्रतिलेखना), थाणग, थानक (स्थानक), सघाड (सिघाडा), किरिया (क्रिया, भाव) सथार (सथारी), इत्यादि।<sup>१४</sup>

एक-एक शब्द की व्याख्या इतने विस्तार से इस कोश में की गई है कि आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। उदाहरण के लिए, 'श्रमण' शब्द सातवें भाग में निबद्ध है। इसी खण्ड में “सम्मत्” (सम्यक्त्व, पृष्ठ ४८२-५०३), सरीर (शरीर, पृष्ठ ५३४-५५८), सिद्ध (पृष्ठ ८२१-८४५) सुय (श्रुत, पृष्ठ ६६६-६६८) व्याख्यायित है। इतना ही नहीं, कई शब्दों की व्याख्या में सन्दर्भ पुराण कथाओं का भी वर्णन है। साथ ही शब्दों की सुन्दर निरक्तियों से कोश भरपूर है।<sup>१५</sup> जैनागमों की भाषा का अध्ययन करने की दृष्टि से यह कोश नितान्त महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक शब्द के साथ ग्रन्थकार ने व्याकरणादि व्युत्पत्तियों तथा तद्विषयक सूत्रों का भी निर्देश किया है। ऐसा प्राकृत का शब्दकोश आज तक निर्मित नहीं हो सका। वास्तव में बीसवीं शताब्दी की यह महोपलब्धि है, जिससे जैन वाङ्मय कृतार्थ हुआ है। गत

दो दशकों में इस ओर जैन विद्वानों का बराबर लक्ष्य रहा है। अतएव श्री जिनेन्द्र वर्णीकृत—‘जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश’ चार भागों में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुआ और ‘जैनलक्षणावली’ कोश तीन भागों में वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली से प्रकाशित हो चुका है। अपनी-अपनी दृष्टि से इन सभी कोशों का महत्त्व है। किन्तु सभी प्रकार के प्राकृत के विशाल वाङ्मय को प्रत्येक प्रकार के शब्दों के रूप में संकलित व आकलित करने वाले ‘विशालशब्द-सागर’ की आज भी आवश्यकता बनी हुई है। सम्प्रति हमारी दृष्टि में प्राकृत-शब्दकोश की दिशा में दो प्रकार के प्रकाशनों का होना अत्यन्त अनिवार्य है। प्रथम ‘अभिधान-राजेन्द्र-कोश’ पुनः सुसम्पादित होकर प्रकाशित हो। द्वितीय एक ऐसे स्वतन्त्र कोश का निर्माण हो जो ‘बृहत्हिन्दीकोश’ की भाँति एक लाख से अधिक शब्दों का न अत्यन्त संक्षिप्त और न विस्तृत कोश हो। क्योंकि भारी-भरकम कोश विद्यार्थियों, अध्यापकों तथा सामान्य शिक्षितों तक नहीं पहुँच पाते हैं। यह एक ऐसा बुनियादी कार्य है जिससे आगमों की सच्ची सेवा होगी।

## पाइयसद्बुहि

‘पाइयसद्बुहि’ या ‘प्राकृतशब्दाब्जबुधि’ के रचयिता भी श्रीमद् विजय-राजेन्द्रसूरि थे। इस ग्रन्थ का रचना-काल १८६६ ई० है। १८६० ई० में ‘अभिधान-राजेन्द्र’ का सम्पादन-संकलन का सूरजपात हुआ था। उसके लगभग नौ वर्षों के उपरान्त ‘पाइयसद्बुहि’ का निर्माण हुआ। वास्तव में यह शब्दकोश बृहत् ‘अभिधान-राजेन्द्र’ का ही लघु संस्करण है। हमारी जानकारी में यह अध्यावधि अप्रकाशित है। जैनशासन के धरोहरों को चाहिए कि वे अविलम्ब इसका सम्पादन करा कर प्रकाशन करायें, जिससे एक तपस्वी की प्राणवती आकांक्षा पूर्तिमान् हो सके। ग्रन्थ सम्मुख न होने से उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता।

## अर्द्धमागधी-कोश

प० मुनि रत्नचन्द्र जी शतावधानी महाराज जैनागमों के अच्छे स्वाध्यायी प्रखर विद्वान् थे। उन्होंने प्राकृत भाषा के हजारों शब्दों का संकलन कर ‘अर्द्धमागधी-कोश’ का निर्माण किया था। यह कोश विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। किन्तु चार भागों में विभक्त होने के कारण सामान्य अध्यापकों के लिए यह सुलभ नहीं था। अतएव इस दृष्टि से मुनिश्री ने एक संक्षिप्त कोश भी तैयार किया था जो सन् १९२६ में ‘जैनागम शब्दकोश के नाम से प्रकाशित हुआ। जहाँ ‘अभिधान-राजेन्द्र’ में व्याकरण, रूप-रचना आदि सभी विषयों का समावेश हुआ है, वहीं ‘अर्द्धमागधी-कोश’ केवल प्राकृत-संस्कृत

अभिधानों का ही परिचय मात्र दिया गया है। यथास्थान शब्दों के लिंग, वचन आदि का भी निर्देश किया गया है। कोशगत सभी सामग्री प्रामाणिकता की दृष्टि से यथोचित सचित्त की गयी है। यही इस कोश की विशेषता है।

### पा३अ-सद्-महण्णवो

“पा३अ-सद्-महण्णवो” या “प्राकृत-शब्द-महार्णव” के कर्ता कलकत्ता-विश्वविद्यालय के संस्कृत, प्राकृत और गुजराती भाषा के अध्यापक पण्डित हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द्र सेठ थे। अकेले ही पण्डित जी ने बिना किसी की सहायता के लगभग चौदह वर्षों तक कठोर श्रम करके इस प्रामाणिक कोश का सम्पादन किया। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जैन एवं जैनोत्तर प्राकृत ग्रन्थों से लेकर अपभ्रंश तक के प्राकृत भाषाओं के विस्तीर्ण शब्दों के विशाल संग्रह का सकलन कर संस्कृत प्रतिशब्द, हिन्दी अर्थ तथा सभी आवश्यक उद्धरणों तथा प्रामाणिक सामग्री से भरपूर कर इस शब्दकोश को सम्पादित किया। एक अकेले व्यक्ति का यह महान् कार्य आश्चर्यकारी है। ‘अभिधानराजेन्द्र’ के सम्बन्ध में उनका कथन है “अभिधानराजेन्द्र कोश का निर्माण केवल पचहत्तर से भी कम प्राकृत जैन पुस्तकों के ही, जिनमें अर्धमागधी के दर्शन विषयक ग्रन्थों की बहुलता है, आधार पर किया गया है और प्राकृत की ही इतर मुख्य शाखाओं के तथा विभिन्न विषयों के अनेक जैन तथा जैनोत्तर ग्रन्थों में से एक का उपयोग नहीं किया गया है। इससे यह कोश व्यापक होकर प्राकृत भाषा का भी एकदेशीय कोश हुआ है। इसके सिवाय प्राकृत तथा संस्कृत ग्रन्थों के विस्तृत अंशों को और कहीं-कहीं छोटे-बड़े सम्पूर्ण ग्रन्थ को ही अवतरण के रूप में उद्धृत करने के कारण पृष्ठ-संख्या में बहुत बड़ा होने पर भी शब्द-संख्या में ऊन ही नहीं, बल्कि आधारभूत ग्रन्थों में आए हुए कई उपर्युक्त शब्दों को छोड़ देने से और विशेषार्थहीन अतिदीर्घ सामाजिक शब्दों की भरती से वास्तविक शब्द-संख्या में यह कोश अतिन्यून भी है।’ यथार्थ में किसी भी शब्दकोश का महत्त्व व मूल्य शब्दों की सकलना मात्र से नहीं आका जा सकता। उसका सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है प्रमाणपूर्वक अर्थ का विनिश्चय कराना तथा सभी ज्ञातव्य तथ्यों का यथास्थान निर्देश करना। इस दृष्टि से “पा३अ-सद्-महण्णवो” प्राकृत का श्रेष्ठ कोष है। इसकी श्रेष्ठता को ध्यान में रख कर ही सन् १९६३ में इसका द्वितीय संस्करण ‘प्राकृत ग्रन्थ परिपद्, वाराणसी से प्रकाशित हुआ। यह सभी दृष्टियों से प्राकृत भाषा का एक अच्छा कोश कहा जा सकता है। किन्तु जिस समय सन् १९२८ में इसका प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था, उस समय तक बहुत कम प्राकृत-साहित्य प्रकाश में आ सका था। कई ग्रन्थों का विधिवत् सम्पादन तक नहीं हुआ था। अतएव प्राकृत की विशाल शब्द-सम्पदा अभी तक शब्दकोशों में निबद्ध होने से वंचित है। यद्यपि

“पाइअ-सद्-महण्णव” के द्वितीय संस्करण में अपभ्रंश भाषा के अनेक शब्दों को सम्मिलित कर दिया गया है, फिर भी “अपभ्रंश-कोश” की आवश्यकता विशेष रूप से कचोट रही है। लेखक स्वयं इस प्रकार के कोश-निर्माण की दिशा में कार्य रत है, किन्तु कई प्रकार की कठिनाइयाँ सम्मुख हैं।

### अपभ्रंश-कोश

यह अत्यन्त विचित्र बात है कि जिस भाषा में पाँच सौ से अधिक काव्य ग्रन्थ मिलते हैं और जिससे आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का विकास हुआ हो तथा जो राष्ट्रभाषा हिन्दी की जननी हो उस भाषा का आज तक छोटा-बड़ा किसी भी प्रकार का शब्दकोश उपलब्ध नहीं होता। न तो मध्यकाल में और न आधुनिक काल में ‘अपभ्रंश-कोश’ लिखने का कोई प्रयत्न किया गया। अपभ्रंश-साहित्य का अध्ययन करते समय बार-बार यह विचार मेरे सामने आया कि इस भाषा का एक शब्दकोश अवश्य होना चाहिए। किन्तु मेरे अग्रज तथा गुरुजन यही समझाते रहे कि अलग से अपभ्रंश-कोश की आवश्यकता नहीं है, प्राकृत में ही अपभ्रंश गर्भित हो जाती है। उनका यह तर्क सदा खटकता रहा है। किन्तु उत्साह भले ही मन्द हुआ हो, पर मैं हतोत्साह नहीं हुआ। क्योंकि मेरी इस धारणा को सदा बल मिला है कि अपभ्रंश प्राकृत से एक भिन्न भाषा है, इसलिये उसका शब्दकोश भी भिन्न होना चाहिए। अपभ्रंश भाषा में अधिकतर प्राकृत-शब्द-सम्पदा लक्षित होती है। किन्तु उनका कई स्थलों पर अर्थ-निर्धारण करते समय पता चला है कि एक ही शब्द का जो अर्थ प्राकृत में है, वह अपभ्रंश में नहीं है। ऐसे पाँच सौ से भी अधिक शब्द मिलते हैं, जिनका अर्थ प्राकृत में कुछ है और अपभ्रंश में कुछ और दूसरा है। उदाहरण के लिए, प्राकृत में ‘णाहल’ शब्द का अर्थ म्लेच्छ की एक जाति है, किन्तु अपभ्रंश में व्याघ्र या नाहर है। प्राकृत में ‘डमर’ का अर्थ विप्लव तथा कलह है किन्तु अपभ्रंश में भय है। इसी प्रकार प्राकृत में “जत्त” का अर्थ जय या उद्योग है और अपभ्रंश में यात्रा है।<sup>२२</sup> इस तरह के अनेक शब्द हैं, जिनके आधार पर एक पूरी पुस्तक लिखी जा सकती है। इनके अतिरिक्त कुछ मात्रा-भेद से समानार्थी होने पर भी कोश में उल्लेखनीय हैं, जैसेकि पसुलि-पसुली, णास-णासा, विहल-विहाल, णालि-णाली, मड्ड-मड्डा इत्यादि। मात्रा-भेद के कारण कही-कही बहुत अन्तर परिलक्षित होता है। ‘पाइअ-सद्-महण्णव’ में मड्ड शब्द मर्दन अर्थ में एक सकर्मक क्रिया है, किन्तु देशी ‘नाममाला’ में उसका अर्थ बलात्कार है। बलात्कार अर्थ में “पाइअ-सद्-महण्णव” में “मड्डा” शब्द आया है। इस शब्द से साम्य रखने वाला ‘मड’ शब्द का प्रयोग-‘पउमचरिउ’ तथा ‘अविसयत्तकहा’ में मिलता है। किन्तु पुष्पदन्त के ‘महापुराण’ में (१३, २, ३) में “मड्ड” का अर्थ नारिकेलवन (‘माड’ मराठी)

है। “मड्” का अर्थ भी “महापुराण” (३०, १४, ११) में नारियल है। उसी प्रकार व्यजन-भेद होने पर भी कहीं-कहीं अर्थसाम्य लक्षित होता है। जैसेकि फाडिम-फाडिय, वुक्कण-वुक्कण, खोह-खोभ, हडण-मडण, खोय-खोद, ठाम-ठाय-ठाव, ठिय-ठिउ, ढक-ढख, वोल-वोल, पार-पाल, दहुर-दहुरउ, भुवक-भुवक, मूरविअ-मूरविउ इत्यादि।

अपभ्रंश भाषा के ७० शब्द प्राकृत-साहित्य में उपलब्ध नहीं होते। अतएव प्राकृत-शब्दकोश में वे कहाँ से आ सकते हैं? सम्प्रति उनकी निश्चित सध्या बताना संभव नहीं है। अनुमानत चालीस प्रतिशत शब्द ऐसे हैं जो प्राकृत के शब्दकोशों में नहीं हैं और लगभग दस प्रतिशत शब्द ऐसे हैं जो संस्कृत के शब्दों से घिसकर विकसित हो अपभ्रंश में आ गये। ये शब्द अधिकतर प्राकृत-कोशों में नहीं मिलते अथवा भिन्न अर्थ में मिलते हैं। उदाहरण के लिए कुछ शब्द निम्न-लिखित हैं

विमुउ---विद्युत	खामोयरि	क्षामोदरी	सावया	सापदा
रण्ण	राज्ञा	केई	केकी	सेउ श्रेय
छम	छद्म, छल	तण्णग	तन्वगी	णिरध निष्पाप
हिय	हुत	पउत्त	प्राप्त	विडोउ विडौजा, इन्द्र
अलाउ	आलाप	पडिलाहिय	प्रतिगाहिता	वहूव वभूव (हुआ था)
पहुत्त	प्रभुत्व	वेयलय	वेत्तलता	पन्नीरहि कथय (कहो)
आसेसण	आश्लेषण	णाइणिलय	नाकलिय	(स्वर्ग निलय)
कोय	कोक (चक्रवाक)	अलीढ	अलिप्त	आहि अह्नि, दिन
ललणिज्ज	ललनीय	वटुअ	वटुक (बालक)	वच्छायण वात्स्यायन
वयोहर	वृत्तधर	वाअ---वाक्		विउण द्विगुण
विव्कार	विकार			वीसमण विश्राम
वेसावाड	वेश्यावाट	व्वण	व्रण	सइत्त सचित
सकडं	सक्रान्त	संठविय	संस्थापित	सथउ सार्थवाह
सम्भउ	सम्भव	सलद्ध	सालव्व	सन्निह सन्निभ
सालत्तय	सालवत्तक	वग्गा	वल्गा (लगाम)	गुक्ककी गुर्वी
हुलि	प्रहरण विशेष	सुअरिसण	सुदर्शन	सिरउड शिरपुट
सवाह	ताम्बूल	अणिविण्ण	अनिविण्ण	अभेय अभेद
कक्कर	पर्वत-शिखर	कजय	कज, कमल	कउ कौन
काव	काव्य	कुहर	पर्वत	कोइ कोई
तग्गय	तद्गत	तो वि	तो भी	क वि कभी
भइय	भय	महराय	गहाराज	मितइय गैत्री
महाडइ	महाटवी	वइयागरण	वैयाकरण	खिज्जइ दिया जाता

जेही जैसी ददुदुरउ टीला घियऊरि घृतपूर  
पइहिदुउ प्रहृष्ट पाहोह पाथोद(समुद्र) पहुल्ल प्रकुल्ल, फूल

इस प्रकार के शब्दों का अध्ययन बुद्धि का पूर्ण व्यायाम करा देता है। यह निश्चय करना बहुत कठिन है कि ये शब्द संस्कृत के अष्ट रूप हैं अथवा प्राकृत के शब्दों का संस्कृत के साहित्य में संस्कृतीकरण किया गया। पीटर्सन के विचार में प्राकृत और वैदिक संस्कृत समानान्तर रूप में प्रवाहित रही है।<sup>१३</sup> डा० पुसालकर का यह कथन भी विचारणीय है कि भारतीय पुराणों की भाषा विषयक अनियमितताओं को देखते हुए यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जन-बोलियों से प्रभावित ये संस्कृत के पुराण आद्य के लगभग प्राकृतत्व को सहेजे हुए हैं। इनके अध्ययन से यह निश्चय किया जाता है कि मौलिक रूप में पुराण प्राकृत में लिखे गये थे, जिन्हें ठोत् संस्कृत में अनूदित किया गया। प्राकृत भाषा को अपनाने की प्रवृत्ति का प्रभाव वैदिक ग्रन्थों में लक्षित होता है। परवर्ती काल में प्राकृतों का यह प्रभाव धार्मिक ग्रन्थों, महाकाव्यों और पुराणों पर भी परिलक्षित होता है।<sup>१४</sup> यह पहले ही कहा जा चुका है कि वेदों के समय में प्राकृत बोली रूप में थी। बोलियों के प्रवाह से आगत अनेक शब्द वेदों में दृष्टिगोचर होते हैं। ऋग्वेद में आगत कुछ प्राकृत शब्द इस प्रकार हैं

सञ्जासञ्ज वचसी (सत्यासत्य वचन, म० ७, सू० १०४, म० १२), दुलभ (दुर्लभ, ४, ६, ८), चरु<sup>१५</sup> (काष्ठपात्र, ६, ५२, ३)- पत्तो (१०, २७, १३), अजगर (ऋक्प्रातिशाख्य, ५, ४, २२), मेह (नियुक्त, २, ६, ४), इत्यादि। श्री चोकसी की यह मान्यता है कि प्राकृत का विकास शास्त्रीय संस्कृत से न होकर वैदिक संस्कृत से हुआ। भारतीय वैयाकरण इसी तथ्य को स्वीकार करते हैं।<sup>१६</sup> किन्तु भाषाविद् इस मान्यता से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि द्वितीय स्तर की प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति वैदिक या लौकिक संस्कृत से न होकर प्रथम स्तर की प्राकृतों से हुई है।<sup>१७</sup> इस कथन की सचाई अब नवीन शोध व अनुसन्धानों से प्रमाणित हो चुकी है। प्राकृतों में “ऋ” के स्थान पर जो “रि” मिलती है, उसका मूल निश्चित रूप से वैदिकयुगीन लोक बोलियों में रहा है। दक्षिण भारत के अनेक शिलालेखों में “ऋ” के स्थान पर “रु” मिलता है।<sup>१८</sup> आज भी दक्षिण तथा महाराष्ट्र के विद्वान् “संस्कृत” का उच्चारण ‘सस्करत’ रूप में करते हैं। यह लोक-बोली के प्रवाह में आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है। किन्तु प्रातिशाख्याकार ने इस उच्चारण को सदोष माना है।<sup>१९</sup> यही स्थिति ‘रि’ की है। किन्तु प्राचीन पाण्डुलिपियों तथा विदेशी भाषाओं में लिखे गए संस्कृत-शब्दों के उच्चारण से ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में भी ‘ऋ’ का उच्चारण अशत ‘रि’ के समान होता था।<sup>२०</sup> उत्तरकालीन भारतीय भाषाओं में संस्कृत ‘ऋ’ के स्थान पर इकार तथा उकार वाली ध्वनियों के विकास से प्रतीत होता है कि

अति प्राचीन काल से 'ऋ' के उच्चारण में दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ विद्यमान रही होगी, यथा-धृत-घी, ऋगाल-सियार, ऋक्ष-रीछ, परन्तु वृक्ष-रूख, पृच्छा-पूछ वृद्ध-वूढ़। कतिपय वैदिक शाखाओं में 'ऋ' का उच्चारण गत 'रे' के सदृश भी किया जाता था।<sup>१०१</sup> वस्तुतः उच्चारण भिन्नता का कोई कारण अवश्य होता है। यह भिन्नता बोलियों में विशिष्ट रूप से लक्षित होती है। इसी प्रकार ऋग्वेद में आगत 'लागल' शब्द को जॉ प्रजिलुस्की मुण्डा भाषा का शब्द मानते हैं।<sup>१०२</sup> संस्कृत का 'पिप्पल' तथा 'पिप्पलि' ग्रीक शब्द है। आज भी भारतीय ग्रामों में 'पीपर' शब्द प्रचलित है जो कि ग्रीक 'पेपरी' से साम्य रखता है।<sup>१०३</sup>

इस प्रकार के शब्दों का समावेश विभिन्न संस्कृतियों के आदान-प्रदान तथा भारतीय श्रेष्ठियों के विदेश-व्यापार के कारण हुआ। ऋग्वेद का शाल्मलि (सेमल का वृक्ष, १०, ८५, २०) और शिम्बल (सेमल का फूल, ३, ५३, २२) मुण्डा भाषा के शब्द माने जाते हैं। पक्षियों में 'कपोत' (ऋग्वेद १०, १६५, १) जो दुर्भाग्यदाता अर्थ में प्रयुक्त है, मुण्डा भाषा का शब्द है। यही हाल 'मयूर' (ऋक् १, १६१, १४) का है।<sup>१०४</sup> सम्भवतः इसी ओर लक्ष्य कर शंकर मुनि ने कहा था कि जिन शब्दों का आर्य लोग किसी अर्थ में प्रयोग नहीं करते, किन्तु जिनका म्लेच्छ लोग प्रयोग करते हैं, जैसे कि—पिक, नेम, सत, तामरक आदि, उन शब्दों में सन्देह है।<sup>१०५</sup> भौगोलिक दृष्टि से शिक्षा ग्रन्थों में म्वरभक्ति का उच्चारण जिस क्षेत्र में निर्दिष्ट किया गया है, यह अर्धमागधी और अपभ्रंश का क्षेत्र है।<sup>१०६</sup> इस प्रकार के अन्य तथ्यों का भी निर्देश किया जा सकता है, जिन सब के अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि प्राकृत बोलियों का प्रवाह निश्चित ही भिन्न रहा है। वे किसी शास्त्रीय भाषा से कदापि विकसित नहीं हुई। डॉ० आल्सडोर्फ के अनुसार भारतीय आर्यभाषा की सबसे प्राचीनतम अवस्था वैदिक ऋचाओं में परिलक्षित होती है। कई प्रकार की प्रवृत्तियों तथा भाषागत स्तरों के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि बोली ही विकसित होकर संस्कृत काव्यों की भाषा के रूप में प्रयुक्त हुई। अतएव उसमें छवि-प्रक्रिया तथा अन्य अनेक शब्द बोलियों के लक्षित होते हैं। शास्त्रीय संस्कृत का विकास-काल चौथी शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी तक रहा है, किन्तु उन पर प्राकृतों का प्रभाव निःसन्देह रूप से है।<sup>१०७</sup>

### आ० आर्यभाषाओं को प्राकृत की देन

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विकास में प्राकृतों की भूमिका अत्यन्त गौरवपूर्ण रही है। प्राकृतों के भाषा सम्बन्धी सर्वेक्षण की सुविधा के लिए हम उनके तीन विभाग कर सकते हैं प्रथम आगमों की प्राकृत, द्वितीय साहित्यिक प्राकृत और तृतीय उत्तरकालिक प्राकृत या अपभ्रंश भाषा। सर्वप्रथम हम जनागमों



की प्राकृत के कुछ शब्दों के आधार पर आधुनिक भाषाओं तथा बोलियों के शब्दों के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। ये शब्द हैं

**खुड्ड** यह एक देशी शब्द है। ओछे, नीच के अर्थ में इसका प्रयोग उत्तराध्ययन सूत्र (१, ६) में मिलता है। देशीनाममाला (२, ७४) में यह लघु अर्थ में वर्णित है। तमिल भाषा में “कुट्टुड” शब्द इसी अर्थ का वाचक है। “खुड्ड” का विकास तमिल शब्द से माना जाता है।

**कीड** संस्कृत के “कीट” से विकसित कीडा अर्थ में प्रयुक्त है। यह शब्द प्रायः सभी आगम ग्रन्थों में मिलता है। दशवैकालिकसूत्र में (४, १) भी यह शब्द है। इस शब्द का सीधा सम्बन्ध हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं में प्रयुक्त कीड, कीडा शब्द से है।

**बाप** यह शब्द दशवैकालिक (७, १८) में मिलता है, जिसका अर्थ बाप है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं से इसका सीधा सम्बन्ध है।

**छत्त** यह शब्द भी दशवैकालिक (३, ४) में मिलता है। इसका अर्थ छत्ता है। यह कोई देशी शब्द प्रतीत होता है। इसी से हिन्दी में “छाता” तथा “छत्ता” शब्द प्रचलित हैं।

**थिंगल** यह शब्द भी दशवैकालिक (५, १, १५) में मिलता है। इसका अर्थ थिंगली है। ‘थिंगल’ से ही थिंगली का विकास हुआ।

**खलुका** यह शब्द उत्तराध्ययन सूत्र (२७, ८) में प्रयुक्त है। इसका अर्थ जुता हुआ अयोग्य बेल किया जाता है। इस शब्द के सम्बन्ध में विशेष कुछ नहीं मिलता। सम्भवतः कोई देशी शब्द रहा होगा।

**पेडय** यह शब्द उत्तराध्ययन की सुखबोधा टीका (पत्र ८४) में मिलता है। इसका अर्थ समूह है। प्राकृतकोश में भी यही अर्थ है। बिहारी, हिन्दी आदि भाषाओं में भी यह शब्द अपने विकसित रूप पेर, पेरा आज भी इसी अर्थ में प्रचलित है।<sup>१०८</sup>

कुछ अन्य शब्द इस प्रकार हैं

**छिपाय** (जवूद्धीप० ३) छिपी, छीपा, दर्जी। बुन्देली में ‘छिपी’।

**मोरग** (निशीथचूर्णि ११, ३७००) कर्णभूषण, हिन्दी ‘मुरकी’।

**मुइंग** (मुयिंग, निशीथभाष्य २६१) चीटी, मराठी ‘मुगी’। देशी ‘मुअगी’ (देशीनाममाला ६, १६४) कीटिका, कीडी (चीटी)।

**रुंद** बृहत्कल्पभाष्य २३७५— विस्तीर्ण। मराठी ‘रुद’। देशी ‘रुदो’ (देशीनाममाला ७, १४)—विपुल।

**वरंङग** (बृहत्कल्पभाष्य ४८२४) वरामदा। बुन्देली, हिन्दी ‘वरडा’।

**ढिकुण** (बृहत्कल्पभाष्य ५३७६) खटमल। मराठी ‘ढेकूण’। देशी ‘ढकुण’ (देशीनाममाला ४, १४) खटमल।

भञ्जय (वृहत्कल्पभाष्य ४११५) भागिनेय । मराठी 'भाचा' ।

सङ्गिभय (वृहत्कल्पभाष्य १५३६) पडौसी । मराठी 'शेजाटी' ।

ददर (पिडनिर्युक्ति ३६४) — जीना । गुजराती 'दादर' ।

पोत्तुल्लय (आवश्यकचूर्णि पृष्ठ ५४०) गुडिया । हिन्दी 'पुतली,' बुन्देली 'पुतरिया,' मराठी 'पुतला' ।

थिल्ली (जवूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका २) थोडे का जीन यादो थोडो की वगधी । यह कोई देशी शब्द है । पाइअसद्महण्णव 'मे' 'थिल्ल' शब्द है ।

सेडिया (आचारागसूत्र २, १, ६, ३) सफेद मिट्टी, खडिया । सस्कृत 'सेटिका' ।

पेडण (वृहत्कल्पभाष्य ४६३८) गोरपख । कोई देशी शब्द प्रतीत होता है ।

पोआल (व्यवहारभाष्य २, ७१) साड । मराठी 'पोल' । यह एक देशी शब्द है । देशीनाममाला में 'पोआल' (६, ६२) बैल अर्थ का वाचक है ।

पोञ्जड (निशीथभाष्य ३७०४) मैल । मराठी 'पोचड' । 'पाइअसद्महण्णव' में यह देशी शब्द है, जिसका अर्थ मलिन किया गया है ।

फल्ल (वृहत्कल्पभाष्य ५६६८) सूती वस्त्र । यह कोई देशी शब्द है ।

फेल्ल (निशीथभाष्य ३७२६) दरिद्र । यह शब्द देशीनाममाला (६, ८५) में इसी अर्थ में आया है ।

उञ्जूल (औपपातिक सूत्र ३०) झूल । यह कोई देशी शब्द है ।

गिल्ल (राजप्रश्नीय ३) अम्बारी । पाइअसद्महण्णव में यह देशी कहा गया है । इसका अर्थ हाथी का हौदा है ।

चिक्खल्ल (वृहत्कल्पभाष्य ११७३) चीखल, कीचड । मराठी 'चिखल' । कोकणी 'चिक्खोल' ।

चोप्पाल (वृहत्कल्पभाष्य ४७७०) चौपाल । हिन्दी चौपाल, ।

क्षक्षडिया (निशीथ० ३७०४) झझट करने वाला । कलही व्यक्ति ।

ढक्कण (वृहत्कल्पभाष्य २६४२) — ढक्कन । आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में ढकनु, ढकना, ढक्कन आदि ।

डिक्करुय (रिट्ठेमि० १३, १०, ६) छोरका । गुजराती दीकरो ।

पलक्क (रिट्ठेमि० ५, १०, ७) लम्पट ।

मोट्टियार (रिट्ठेमि० १४, १३, ५) नवयुवक । मारवाडी, गुजराती 'मोट्टियार' ।

दाढिया (दाढी), पत्थर, भड्ड (छुरा), मोरड (तिल आदि के लड्डू), रोट्ट (चावल का आटा), चोप्पड्य (चुपड कर), वियाया (प्रसूता, व्याना) इत्यादि ।<sup>१०</sup> बुन्देलखण्डी भाषा में सहस्रो ऐसे शब्द हैं जो व्युत्पत्ति की दृष्टि से

प्राकृत से सम्बद्ध हैं और जिनका विकास निश्चित रूप से प्राकृत-अपभ्रंश से हुआ है। उदाहरण के लिए कुछ शब्द इस प्रकार हैं

बुन्देली 'उसीसो' (तकिया) प्राकृत के 'ऊसय' (गुजराती ओसीसा) शब्द से विकसित हुआ है। इसी प्रकार प्राकृत के 'ओसरिआ' शब्द से बुन्देली 'उसारी' विकसित हुआ, जिसके लिए 'देशीनाममाला' (१, १४०) में 'ऊसारो' शब्द मिलता है। इसी प्रकार बुन्देली कदुआ, खटीक, चुटैया, छुई, झुरैया, जड्ड, झख, टाक, निराट, ठट्ठ, दारी, रक्सा, खड्ड, कची, खदरा, खतना, खिल्ली, गडबड, धाम, झामर, डुकरिया, तिड्डा, थई, पगल और बियार प्राकृत के क्रमशः कदुइया, खट्टिक, चोट्टिया, छुरिया, झूर, जड्ड, झख, टका, निराय, थट्ट, दारिया, करीस, खड्ड, कची, खड्डा, खत्त, खेल्लिअ, गड्ड-बड्ड, धम्म, झामर, डोक्करी, तेड्ड, थइया, पगल और विआलिउ शब्दों से विकसित है।<sup>१०</sup> इनके अतिरिक्त बुन्देली में छुहारा को 'खारक' कहते हैं जो प्राकृत के 'खारिक्क' शब्द से विकसित है। पशु के लिए 'ढोर' शब्द आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में प्रचलित है जो मूल में प्राकृत है। हिन्दी के लूला, घुघरू, ढाक, समीसा, लूट, लुटेरा, गवार, छीक, फेनी, कचोला, कटोरा, गाडी, खोर खोल, खोल्ली, गवार, कचरा, कतवार, कछोट्टी, कटार, कड-कड, तबला, दाव, पाखर, असरार आदि शब्दों का विकास प्राकृत के लुल्ल, घुघुरु, ढख, समीसिय, लुट्ट, लुट्टार, गयार, चिक, फेणिय, कप्पोल, कट्टोरग, गड्ड, गड्डिय, खोर, खोल्ल, खोल्लिय, गयार, कप्परा, कत्तर, कच्छोट्टी, कट्टार, कड-यड, दाय, पक्खर, असराल आदि का विकास स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।<sup>११</sup> इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे शब्द मिलते हैं जो ठेठ प्राकृत तथा अपभ्रंश में ही मिलते हैं, उन सबकी सूची देना सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए कुछ शब्दों का उल्लेख इस प्रकार है

बड्डा	बडा	झमाल	झमेला	छेडी	छेंडी, छिडिया, गली
चोक्ख	चोखा	गोव्वर	गोवर	कोइला	कोयला
उक्खल	ओखली	चोट्टियाउ	चोटी	वडिय	बडी मगोडी
गूडर	गूदड, गुदडी	खज्जा	खाजा	टोप्प	टोपी
		(मिठ्ठान्न)			
टोप्पर	टोप	टिविला	तवला	भज्जिय—भाजी	
		(अरबी)			
वड्गण—वैगन		हुड्ड	होड	उज्जड	उजाड
डल्ल	डाल	ठक्कुर	ठाकुर	चोज्ज—चोज (आश्चर्य)	
भड	भाटा	लाडुय	लाडू, लड्डू	पटोल	पटोल
(वैगन)					
विट्टी	वेटी	वेड	वेडा	वोक्कड	वकरा



मखण मखन मखपा मखन मखणु लोणी माखण माखन X  
माखन (असमिया)

चकलय चकला X चकला चकला चकुलो चकलो चाकी X  
चकलु (कश्मीरी)

कुंदीर कुदरु कुदरु कुदरु X X X X कुदुरि  
वाङ्गण वैगन वैगण वैगन वाङ्गण वागे रीगुण वेगुन वाङ्गण  
वागुन (कश्मीरी), वेडेना (असमिया)

चोर चोर चोर चोर चोर चोर चोर चोर चोर  
चूर (कश्मीरी), चोर (असमिया)

पाणिअ पानी पाणी पानी पाणी पाणी पाणी जल पाणि  
पानी (असमिया)

वदल वादल बद्दल वादल ककर ढग वादलु मेघ मेघ  
घोड़ घोडा घोडा घोडा घोडो घोडा घोडो घोडा घोडा  
घोराँ (असमिया), गुरंभु (तेलुगु)

इसी प्रकार 'वलद्' (वलद), 'वधार' (वधार), 'खट्टा' (खट्टा), 'गिल्ल' (गीला), 'पाहुण' (पाहुना) और 'विहल' (विटाल, अस्पृश्य) आदि शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय भाषाओं के सम्यक् अध्ययन व अनुसन्धान के लिए प्राकृत-अपभ्रंश भाषाओं का अध्ययन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

## संदर्भ

- १ ए०ए० हिल (स०) लिग्विस्टिक्स, १९६६ पृ० ४५।
- २ कवे, सुमित्र भगेश लेक्सिकोग्राफी, १९६५, पृ० १२
- ३ मेरियो पेई इन्विटेशन टु लिग्विस्टिक्स, लन्दन, १९६५, पृ० ६६
- ४ लिओनार्ड ब्लूमफील्ड लैंग्वेज, लन्दन, १९५८, पृ० १६२
- ५ वही, पृ० २६४-६५
- ६ "साधुत्व ज्ञानविषया संपा व्याकरणस्मृति ।"—वाक्यपदीय (भट्टहरि)
- ७ भट्टाचार्य, रामशंकर संस्कृत भाषा में कोष प्रामाण्य, हिन्दी अनुशीलन,  
पौष-फाल्गुन, वि०स० २०१०, पृ० २१-२६
- ८ डा० हेमचन्द्र जोशी 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित लेख, अक्टूबर, १९६०, पृ० २३१
- ९ कवे, सुमित्र भगेश लेक्सिकोग्राफी, १९६५, पृ० ५
- १० डा० नेमिचन्द्र जैन जैन कोश-साहित्य, आचार्य भिक्षु स्मृति-ग्रन्थ, कलकत्ता १९६१,  
द्वितीय खण्ड, पृ० १८६
- ११ त णिगुणवि वयणु जगन्सारउ सयल—कलउ दक्खवइ भठारउ ।  
अण्हु असि मसि किसि वाणिज्जउ अण्हु विविह पयारउ विज्जउ ॥  
—पद्मचरित, २, ८-६

- १२ महर्षि यास्क कृत निरुक्त टीका, १ अ० १३ खण्ड ।
१३. वित्तन, ग्रेहम (म०) ए लिग्विस्टिक रीडर, न्यूयार्क, १९६७, पृ० ८७
- १४ वही, पृ० ८७
- १५ दसवेआलिय, वाचना-प्रमुख आचार्य तुलसी । सपादक और विवेचक मुनि नथमल ।  
भूमिका पृ० २६-२७
- १६ इन्द्रध्वज काशकृत्स्नापिशली शाकटायन ।  
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिका ॥
- १७ अमरकोश-टीका, १ १ ६६
- १८ चौखम्बा से प्रकाशित 'अभिधानचिन्तामणि' की प्रस्तावना, पृ० ६
- १९ गैरोला, वाचस्पति अक्षर अमर रहे वाराणसी, १९५६, पृ० ६३
- २० Zachariae in Die Indischen wörterbücher in Bühler's Encyclopaedia. 1897
- २१ आर्थर ए० मेकडानल ए हिस्ट्री ऑफ सस्कृत लिटरेचर, दिल्ली, पाचवा सस्करण, १९५८, पृ० ४३३
- २२ 'वाडमयाणव' की भूमिका, पृ० २३, वाराणसी, १९६६
- २३ पाणिन्यहीन्द्रगुरुभागुरिभोजमेड,  
हेमामरादिसमुदीरितशास्त्रसारात् ।  
नानार्थरत्नतिलक स च सिद्धशब्द,  
रत्नाकर समतनोत्सुमतिर्महीप ॥ अनेकार्थतिलक, २१२
- २४ महेन्द्रकुमार जैन नाममाला सभाष्य की प्रस्तावना, पृ० ११
- २५ तत्पर्यायचरो मत्स्यस्तत्पर्यायप्रदो धन ।  
तत्पर्यायोद्भव पद्म तत्पर्यायिष्ठिरम्बुधि ॥ नाममाला, १६
- २६ प० परमानन्द शास्त्री जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, द्वितीय भाग, पृ० २१४
२७. द्रष्टव्य है—मुनि श्रीहजारीमल स्मृति-ग्रन्थ, चतुर्थ अध्याय, पृ० ८६०
- २८ देवाधिदेवा प्रथमे काण्डे देवा द्वितीयके ।  
नरास्तृतीये तिर्यचस्तुर्य एकेन्द्रियादय ॥  
एकेन्द्रिया पृथिन्यम्बुतेजोवायुमहीरुह ।  
कृमिपीलकलूताद्या, स्युद्विचित्रतुरिन्द्रिया ॥  
पचेन्द्रिया एव देवा, नरा नैरयिका अपि ॥  
नारका पचमे सागा पष्ठे साधारणा स्फुटम् ।  
प्रस्तोष्यन्तेऽन्यथाश्याम, त्वन्तायादी न पूर्वगौ ॥ अभिधानचिन्तामणि, १, २०-२३
- २९ उन्दुस्तुदुभो रन्ध्रवद्भुदीना तु मूपिका ।  
स्याच्चिको वेश्मनकुल पुवृपो गन्धमूपिक । त्रिकाण्डशेष, २, १०-११
- ३० मूपिको मूपको वज्रदशन खनकोन्दुरो ।  
उन्दुश्च वृष आखुश्च, सूच्यास्त्यो वृषलोचन ॥  
छन्दुरो गन्धमूप्या—अभिधानचिन्तामणि, १३००, १३०१
३१. 'जलोच्छ्वास' (नहर) शब्द के लिए द्रष्टव्य है  
“परीवाहो जलोच्छ्वासे महीमृद्योग्यवस्तुनि ।”  
यही पन्ति 'विश्वप्रकाश' में भी है ।  
“परिवाहा जलोच्छ्वासा, कूपकास्तु विदारका ।”

मेदिनी, ३४, ३३

अभिधान०, १०८८

- ३२ “जङ्गलो निर्जलो नूपोऽम्बुमान्”—अभिधानचिन्तामणि, ६५३  
 “जङ्गल निर्जनस्थाने०”—मेदिनीकोश, २८, ६३
- ३३ मत्स्यो मीन पृथुरोमा, भूपो वैसारिणोऽण्डज ।  
 मङ्घचारी स्थिरजिह्व, आत्माशी स्वकूलक्षय ।  
 विसार शकली शाल्की, शम्बरो निमिषस्तिभि ॥ अभि०, १३४३-४४
- ३४ अभिधानचिन्तामणि, तिर्यक्काण्ड १५६१ १६०३,  
 ३५ वही, तिर्यक्काण्ड, १४४४-४५  
 ३६ वही, तिर्यक्काण्ड, १४५०  
 ३७ “लङ्घ रमणीय च” अभि० १८७६  
 “लट्टयलङ्घा कुसुमरम्भेसु ।”—देशीनाममाला, ७, १७
- ३८ खल्लो वस्त्रप्रभेदे स्याद् गर्तं चर्मणि चातके । मेदिनी, २८, १२  
 ३९ टर्नर, आर०एल० एकम्पेरेटिव डिक्शनरी ऑव द इण्डो आर्यन लैंग्वेज, लन्दन, १९६६, पृ० १६८  
 ४० वही, पृ० १७१  
 ४१ वही, पृ० ५११  
 ४२ वही, पृ० ४६८ तथा—टी० वरो ट्रान्सलेशन ऑव द फिलालॉजिकल सोसायटी, लन्दन, १९४५, १११  
 ४३ टर्नर, आर०एल० एकम्पेरेटिव डिक्शनरी ऑव द इण्डो-आर्यन लैंग्वेज, लन्दन १९६६, पृ० २२१  
 ४४ वही, पृ० २६२  
 ४५ वही, पृ० ६५५  
 ४६ “कुट कोटे शिलाकुट्ट घटे गेहे” अनेकार्यसंग्रह, २, ८५  
 ४७ टर्नर, आर०एल० एकम्पेरेटिव डिक्शनरी ऑव द इण्डो-आर्यन लैंग्वेज, १९६६, लन्दन, पृ० १७५  
 ४८ पण्डित, प्रबोध वे० ‘हेमचन्द्र एण्ड द लिग्विस्टिक ट्रेडिशन’, श्री महावीर जैन विद्यालय सुवर्णमहोत्सव ग्रन्थ, भाग १, १९६८, पृ० २१२  
 ४९ विहितकार्यनानायादेश्यशब्दसमुच्चय ।  
 निघण्टुशेष वक्ष्येऽह, नत्वाऽर्हत्पादपकजम् ॥ १८६०  
 तथा  
 शास्त्राणि वीक्ष्य श्रुतश्रो, धन्वन्तरिनिमित्त निघण्टु च ।  
 लिगानुशासनानि च क्रियतेऽनेकार्थटीकेयम् ॥ टीका में
- ५० द्रष्टव्य है—पीटर्सन कृत ग्रन्थ-सूची, भाग ५, पृ० १६२  
 ५१. ‘जैन-सिद्धान्त भास्कर’, भाग ४, किरण १, पृ० ६  
 तथा  
 डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ‘जैन कोश-साहित्य’, आचार्य भिक्षु स्मृति-ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ० १९६
- ५२ शर्मा, प० नन्दलाल (स०) विश्वलोचनकोश की प्रस्तावना, पृ० ५  
 ५३ वाराणसीचरणौ, मयूरे चित्रपिङ्गल ।  
 नृत्यप्रिय स्थिरमद, खिलखिलो गरजत ॥  
 माजरिकण्ठो मरुको, मेघनादानुलासक ।  
 मयूको बहुलश्रीवो, नगावासश्म चन्द्रकी ॥ १७३०-३१

- ५४ वीतरागो जिन प्रोक्तो जिनो नारायण स्मृत ।  
कन्दर्पहा जिनरचैव जिन सामान्यकेवली ॥६२॥
- ५५ कासनीवाल, डा० कस्तूरचन्द (स०) राजस्थान के जैन शास्त्र-भाण्डारो की ग्रन्थ सूची,  
भाग २, पृ० २६७
- ५६ शास्त्री, डा० नेमिचन्द्र जैन 'जैन कोश-साहित्य', आचार्य भिक्षु स्मृति-ग्रन्थ, पृ० १६६
- ५७ मुनि जिनविजय 'उक्तिरत्नाकर' की प्रस्तावना, पृ० ६
- ५८ आचार्य भिक्षु स्मृति-ग्रन्थ, पृ० १६६
- ५९ वही, पृ० १६६
- ६० अफेष्ट, थ्योडर (स०) कैटालोगम केटेलोगोरम, भा० १, १९६२, जर्मनी, पृ० ६३३
- ६१ विक्कमकालस्स गए अउणत्तीसुत्तरे सहस्सम्मि ।  
मालवनरिदधाडीए लूडिए मन्तखेडम्मि ॥  
घारानयरीए परिट्टिएण मग्गे ठियाए अणवज्जे ।  
कज्जे कण्ठिवहिणीए 'सुन्दरी' नामधिज्जाए ॥ अन्तिम प्रशस्ति
- ६२ कइओ अघ जणकिवा कुसल त्ति पयाणमतिमा वण्णा ।  
नामम्मि जस्स कम सो तेणेसा विरइया देसी ॥ वही
६३. 'पोओ वहण सवरा य किराया'—पाइयलच्छी० २७४
- ६४ जे लक्खणे ण सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेषु ।  
ण य गउणलक्खणासत्तिसमवा ते इह णिवद्धा ॥ देशी० १, ३
- ६५ देसविसेसपसिद्धीइ मणमाणा अणन्तया हुत्ति ।  
तम्हा अणाइपाइअपयट्टमासाविसेसओ देसी ॥ वही, १, ४
- ६६ वनर्जी, मुरलीधर देशीनाममाला की भूमिका, पृ० ३३
- ६७ वरो, टी० बुलेटिन ऑव द स्कूल ऑव ओरियन्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज, लन्दन,  
जिल्द १२ पृ० ३६५
- ६८ श्रियन् रत्ना एन० 'सम फौरिन लोन वर्ड्स इन पुष्पदन्ताज अपभ्रंश', 'भारतीय  
विद्या', जिल्द २५, स० १-२, पृ० २७
- ६९ वही, पृ० २८
- ७० टर्नर, आर०एल० ए कम्पेरेटिव डिक्शनरी ऑव द इण्डो-आर्यन लैंग्वेजेज, लन्दन,  
१९६६, पृ० १३२
- ७१ वही पृ० १७१
- ७२ द्रष्टव्य है 'भारतीय विद्या', जिल्द २५, स० १-२, पृ० २९
- ७३ वरो, टी० बुलेटिन ऑव द स्कूल ऑव ओरियन्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज, लन्दन,  
जिल्द १२, पृ० ३७९
- ७४ टर्नर, आर०एल० ए कम्पेरेटिव डिक्शनरी ऑव द इण्डो-आर्यन लैंग्वेजेज, लन्दन,  
१९६६, पृ० २५९
- ७५ महाकवि पुष्पदन्त कृत महापुराण, ३, १४, ११ ।
- ७६ 'देशीनाममाला' के परिशिष्ट में सलग्न शब्दकोष, पृ० ४७
- ७७ टर्नर, आर०एल० ए कम्पेरेटिव डिक्शनरी ऑव द इण्डो-आर्यन लैंग्वेजेज, लन्दन १९६६,  
पृ० ४७५
- ७८ श्रियन्, डा० रत्ना 'ए स्टडी ऑव देश्य वर्ड्स फॉम द महापुराण ऑव पुष्पदन्त', द  
जर्नल ऑव द यूनिवर्सिटी ऑव वाशिंग्टन, जिल्द ३१, भाग २, सित०, १९६२, पृ० १०३



- ७६ गुप्त, डा० हरिहर प्रसाद 'देशीनाममाला में कृषि-शब्दावली', हिन्दुस्तानी, भाग १६, अंक ३, जुलाई-सितम्बर १९५८, पृ ८१-१०५
- ८० वैद्य, डा० पी०एल० 'आब्जर्वेशन्स ऑन हेमचन्द्राज देशीनाममाला', एनएस ऑव द भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जिल्द ८, पृ० ६३-७१
- ८१ चटर्जी, डा० सुनीतिकुमार - प्रकाशित लेख 'तमिल कल्चर', जिल्द ८, स० ४, अक्टूबर-दिसम्बर, १९५६, पृ० ३०६
- ८२ रो, अमृत 'द द्राविडियन एलीमेन्ट इन प्राकृत' इण्डियन एन्टिक्वेरी, जिल्द ४६, १९१७, पृ० ३३-३६
- ८३ उपाध्ये, डा० आ० ने० 'कनारीज वर्ड्स इन देशी लेक्सिकन्स', एनएस ऑव द भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जिल्द १२, भाग २ १९३१, पृ० १३२-१६३ तथा 'मराठी एलीमेन्ट्स इन ए प्राकृत ड्रामा', इण्डियन लिग्विस्टिक्स, भाग १६, १९५५, पृ० १४७-१५२
- ८४ चटर्जी, डा० सुनीतिकुमार 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' की प्रस्तावना, पृ० ६ तथा "ततो देशे देशे प्रतिविषय लोका पामरजनो यथा यथा गिरापभ्रष्टया यत् किञ्चित् अभिधेय वस्तु वक्ति व्यवहरति सापभ्रश भाषा।"—उक्तिव्यक्तिप्रकरण, श्लो० ७ की विवृति।
- ८५ मुनि जिनविजय 'उक्तिरत्नाकर' की प्रस्तावना, पृ० ७
- ८६ शास्त्री, डा० देवेन्द्रकुमार अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध-प्रवृत्तियाँ, १९७२, पृ० ५५-५६
- ८७ व्यूहलर, डा० जे०एच० द देशी शब्दसंग्रह ऑव हेमचन्द्र, इण्डियन एन्टिक्वेरी जिल्द २, १८७३, पृ० १७-२१ तथा— 'ऑन ए प्राकृत ग्लॉसरी इनटाइटल्ड पाइयलच्छी, इण्डियन एन्टिक्वेरी, जिल्द २, भाग १८, जून १८७३
- ८८ Zeitschrift der Deutschen Morgenlandischen Gesellschaft, १९१२, पृ० ५४४
- ८९ द्रष्टव्य है—'तीर्थंकर' का श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर विशोषाक, १९७५, पृ० ५६
- ९० शास्त्री, डा० देवेन्द्रकुमार 'जैन दर्शन पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से', वही, श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर विशोषाक, पृ० १२६-१३१
- ९१ वही, पृ० १४७-१५१
- ९२ शास्त्री, देवेन्द्रकुमार 'अपभ्रंश कोश एक परिचय', हिन्दुस्तानी, भाग ३१, अंक १-२, पृ० २१-२२
- ९३ पीटर्सन 'वैदिक संस्कृत एण्ड प्राकृत', जर्नल ऑव द अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी, जिल्द ३२, १९१२, पृ० ४२३
- ९४ पुसालकर, ए०डी० 'वेयर द पुराणाज ओरिजनली इन प्राकृत', आचार्य ध्रुव स्मारक ग्रन्थ, भाग ३, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, पृ० १०३
- ९५ पुष्पदन्त कृत महापुराण, २६, २४, ११
- ९६ चौकसी, वी०जे० कम्परेटिव प्राकृत ग्रैमर, अहमदाबाद, १९३३, पृ० ८
- ९७ पाश्च-सह महण्णव का उपोद्घात, पृ० २२, द्वितीय संस्करण, १९६३

- ६८ इपिग्राफिका इण्डिका, ८, ३५६, ५, ३२
- ६९ ऋग्वेदप्रातिशाख्य, १४, ३८
- १०० जेकब, वाकरनागन आल्टडण्डियो ग्रानातिका, भा० १, १८६६, पृ० ३१
- १०१ डा० रामगोपाल वैदिक व्याकरण, प्रथम भाग, दिल्ली, १९६५, पृ० ५ से उद्धृत ।
- १०२ द्रष्टव्य है प्रि आर्यन एण्ड प्रि-ट्रैवेडियन, पृ० ६
- १०३ डा० मोतीचन्द्र सार्थवाह, पृ० ४४
- १०४ मिश्र, डा० हरिमोहन 'ऋग्वेदीय भारत की भाषा-स्थिति', परिपद-पत्रिका, वर्ष ८, अंक ३४, भाषा-सर्वेक्षणक, पृ० ५२ से उद्धृत
- १०५ 'अथ याजुर्वेदान् आर्या न कस्मिन्चिदर्थे आचरन्ति  
भ्लेच्छास्तु कस्मिन्चिन् प्रयुज्यन्ते, यथा—पिक-नेम-सत-ताभरस आदि प्राग्वातेषु मन्वेह ।'  
अवरमाप्य, अ० १ पा० ३, सू० १०, अ० ५
- १०६ वर्मा, सिद्धेश्वर द फोनेटिक आब्जर्वेसन्स आफ इण्डियन ग्रामेरियन्स, दिल्ली, १९६१, पृ० ५०
- १०७ आल्मडोर्फ, लुडविग 'द ओरिजन आव द न्यू-इण्डो-आर्यन स्पीचेज', अनु० एम०एन० घोपाल, जर्नल ऑव द ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बडोदा, जिल्द १०, सं० २, दि० १९६०, पृ० १३२-३३
- १०८ टर्नर, आर०एल० ए कम्पेरेटिव डिविजनरी ऑव द इण्डो आर्यन लैंग्वेजेज, १९६६, पृ० ४७५
- १०९ जैन, डा० जगदीशचन्द्र जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, परिशिष्ट ३
- ११० द्रष्टव्य है—प्रोमीडिस ऑव द सेमिनार ऑव स्कालर्स इन प्राकृत एण्ड पालिस्टडीज, मगध युनिवर्सिटी, बोधगया, १९७१, पृ० ६१
- १११ शास्त्री, डा० देवेन्द्रकुमार 'मगवान् महावीर की मूल वाणी का भाषा-वैज्ञानिक महत्त्व', द विक्रम जर्नल ऑव द विक्रम-युनिवर्सिटी, उज्जैन, जिल्द १८, सं० २-४, मई-नव० १९७४, पृ० १५५-५६
- ११२ शास्त्री, डा० देवेन्द्रकुमार 'कन्द्रीव्युशन ऑव अपग्रस टू इण्डियन लैंग्वेजेज', कन्द्रीव्युशन ऑव जैनियम टू इण्डियन कल्चर, १९७५, पृ० ७६

# आधुनिक जैन कोश-ग्रन्थों का मूल्यांकन

डॉ० श्रीमती पुष्पलता जैन

किसी भाषा और उसमें रचित साहित्य का सम्यक्-अध्ययन करने के लिए तत्सम्बद्ध कोशों की नितान्त आवश्यकता होती है। वेदों और संहिताओं को समझने के लिए निघण्टु और निरुक्त जैसे कोशों की रचना इसीलिए की गई कि जन-साधारण उनमें सन्निहित विशिष्ट शब्दों का अर्थ समझ सकें। उत्तरकाल में इसी आधार पर संस्कृत पालि और प्राकृत के शब्दकोशों का निर्माण आचार्यों ने किया। अमरकोश विश्वलोचनकोश, नाममाला, अभिधानपदीपिका, पाड्यलब्धीनाममाला आदि जैसे अनेक प्राचीनकोश उपलब्ध हैं। इनमें कुछ एकाक्षर कोश हैं और कुछ अनेकार्थक शब्दों को प्रस्तुत करते हैं। कुछ देशी नाममाला जैसे भी शब्दकोश हैं जो देशी शब्दों के अर्थ को प्रस्तुत करते हैं।

प्राचीन कोश-साहित्य के अध्ययन से हम कोशों को कुछ विशेष वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। उदाहरणतः व्युत्पत्ति कोश, पारिभाषिक कोश, पर्यायकोश, व्यक्तिकोश, स्थान-कोश, एकभाषा कोश, बहुभाषा कोश आदि। इन कोशों के माध्यम से साहित्य की विभिन्न विधाओं एवं उनमें प्रयुक्त विशिष्टशब्दों के आधार पर भाषावैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक इतिहास की संरचना भी की जा सकती है।

आधुनिक कोशों का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी से माना जा सकता है। इन कोशों की रचना-शैली का आधार पाश्चात्य विद्वानों द्वारा लिखित शब्दकोश रहा है। उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में प्राकृत और जैन साहित्य तथा दर्शन के विद्वानों ने भी कुछ कोशग्रन्थों का निर्माण किया है। अध्येताओं के लिए उनकी उपयोगिता निर्विवाद रूप से सिद्ध हुई है। ऐसे कोशग्रन्थों में हम विशेष रूप से अभिधान राजेन्द्र कोश, पाड्यसङ्ग्रहणव, अर्धमागधी डिक्सनरी, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

तथा जैन लक्षणावली का उल्लेख कर सकते हैं। यहाँ हम संक्षेप में इन कोशग्रन्थों का मूल्यांकन करने का प्रयत्न करेंगे।

## १ अभिधानराजेन्द्रकोश

इस कोश के निर्माता श्री विजय राजेन्द्र सूरि का जन्म म० १८८३, पीप खुल मप्तमी, गुरुवार (सन् १८२६) को भरतपुर में हुआ। आपका बाल्यावस्था का नाम रत्नराज था, पर स० १९०३ में स्थानकवासी सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर रत्न विजय हो गया। बाद में उन्होंने व्याकरण दर्शन आदि का अध्ययन किया। सन् १९२३ में वे मूर्ति पूजक सम्प्रदाय में दीक्षित हुए और विजय राजेन्द्र सूरि के नाम से आचार्य पदवी प्राप्त की। उन्होंने अनेक मंदिर बनवाये और उनकी प्रतिष्ठाये करायी। वे अच्छे प्रवक्ता और शास्त्रार्थकर्ता थे। उपाध्याय बालचंद जी से उनका शास्त्रार्थ हुआ और वे विजयी हुए। आपकी विद्वत्ता के प्रमाण स्वरूप आपके अनेक ग्रंथ हैं जिनमें अभिधान राजेन्द्र कोश, उपदेश रत्न सार, सर्वसंग्रह प्रकरण, प्राकृत-व्याकरण विवृति, शब्द कौमुदी, उपदेश रत्न सार, राजेन्द्र सूर्योदय आदि प्रमुख हैं। उनके ग्रंथों से उनकी विद्वत्ता स्पष्ट रूप से झलकती है। श्री सूर्य का अंत काल ३१ दिसम्बर सन् १९०६ में राजगढ़ में हुआ।

अभिधान राजेन्द्र कोश के लेखक विजय राजेन्द्र सूरि ने जैन साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के दौरान यह अनुभव किया कि एक ऐसा जैन-आगम कोश होना चाहिए जो समूचे जैन दर्शन को अकारादि क्रम से मयोजित कर सके। लेखक ने अपने कोशग्रंथ की भूमिका में लिखा है कि “इस कोश में अकारादि क्रम से प्राकृत शब्द बाद में उनका संस्कृत में अनुवाद, फिर व्युत्पत्ति, लिंग निर्देश तथा जैन आगमों के अनुसार उनका अर्थ प्रस्तुत किया गया है। लेखक का दावा है कि जैन आगम का ऐसा कोई भी विषय नहीं रहा जो इस महाकोश में न आया हो। केवल इस कोश के देखने से ही सम्पूर्ण जैन आगमों का बोध हो सकता है। इसकी श्लोक संख्या साढ़े चार लाख है और अकारादि वर्णानुक्रम से साठ हजार प्राकृत शब्दों का संग्रह है।”

लेखक के ये शब्द स्पष्ट संकेत करते हैं कि उनका उद्देश्य इसे सही अर्थ में महाकोश बनाने का था। इस महाकोश के मुख्य पृष्ठ पर लिखा है

श्री सर्वज्ञप्रवृत्ति गणधर निर्वर्तिताऽद्य श्रीनोपलभ्यमानाऽशेष — सूनन्दवृत्ति  
भाष्य निर्मुक्ति चूर्णादि निहित सकल दार्शनिक सिद्धेन्तेतिहास शिल्प  
वेदान्त न्याय वैशेषिक भीमासादि प्रदर्शितपदार्थयुक्तायुक्तत्व निगमिक।  
वृहद् भूमिको पोद्घात प्राकृतव्याकृति प्राकृत शब्द रूपा-बल्यादि परिशिष्ट  
नहित।

इससे पता चलता है कि कोशकार ने प्राकृत-जैन आगम, वृत्ति, भाष्य, निर्युक्ति

चूर्णि, आदि में उल्लिखित सिद्धान्त, इतिहास, शिल्प, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा आदि का संग्रह किया गया है। इसका प्रकाशन जैन प्रभाकर प्रिन्टिंग प्रेस रतलाम से सात भागों में हुआ। इसकी भूमिका में लिखा है कि “इस कोश में मूलसूत्र प्राचीन टीका, व्याख्या तथा ग्रन्थान्तरो में उसका उल्लेख बताया गया है। यदि किसी भी विषय पर कथा भी उपलब्ध है तो उसका भी उल्लेख है। तीर्थ और तीर्थंकरों के बारे में भी लिखा गया है।”<sup>२</sup> यह महाकोश यद्यपि सात भागों में समाप्त हुआ है परन्तु भूमिका में चार भागों की ही विषय सामग्री का उल्लेख है। इसे हम संक्षेप में इस प्रकार देख सकते हैं

१ प्रथम भाग	अ वर्ण	पृष्ठ ८६४	प्रकाशन काल सन् १९१०
२ द्वितीय भाग	आ से ऊ वर्ण तक	,, ११७८	सन् १९१३
३ तृतीय भाग	‘ए’ से ‘क्ष’ वर्ण तक	,, १३६४	सन् १९१४
४ चतुर्थ भाग	‘ज’ से ‘न’ वर्ण तक	,, २७७८	सन् १९१७
५ पंचम भाग	‘प’ से ‘भ’ वर्ण तक	,, १६३६	सन् १९२१
६ षष्ठ भाग	म से ‘व’ वर्ण तक	,, १४६६	सन् १९२३
७ सप्तम भाग	स से ह वर्ण तक	,, १२४४	सन् १९२५

इन सातों भागों के प्रकाशन में लगभग पन्द्रह वर्ष लगे और कुल १०५६० पृष्ठों में यह महाकोश समाप्त हुआ। इसमें अच्छेर, अहिंसा, आगम, आधाकम्म, आयरिय, आलोचना, ओगाहणा, काल, क्रिया, केवलिपण्णति, गच्छ, चारित्त, चेइय, जोग तित्थयर, पवज्जा, रजोहरण, वत्थ, वसहि, विहार, सावय, हेउ, विनय, सद् पट्टावलि, पच्चक्खाण, पडिलेहणा, परिसह, वधण, भावणय, मरण मूलगुण, मोक्ख, लोग, वत्थ, वसहि, विणय, वीर, वेयावच्च, सखडि सच्च, सामाइय इत्यादि जैसे मुख्य शब्दों पर विशेष विचार किया गया है। इसी तरह अचल, अज्जचन्दणा, अणुत्रेलधर, अभयदेव अरिद्धनेमि, आराहणा, इलादत्त, इसिभद्दुत्त, उदयण काकदिय, कासीराज चक्कदेव, दयदेत्त, धणसिरि, धणवइ, मूलदत्ता, मूलसिरी, मेहधोस रयनेमि, रोहिणी, समुद्दपाल, विजयसेन, सीह, सावत्थी, हरिभद् आदि जैसी महत्त्वपूर्ण कथाओं का विस्तार से उल्लेख किया गया है।

यह महाकोश अवश्य है परन्तु महाकोश के प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर पाया। प्रथम तो इसे हम मोटे रूप में अर्धमागधी महाकोश कह सकते हैं जिसमें अर्धमागधी प्राकृत जैन आगमों को छोड़कर शेष प्राकृत साहित्य का उपयोग नहीं किया गया और दूसरी बात यह है कि यह मात्र उद्धरणकोश बन गया। ये उद्धरण इतने लम्बे रख दिये कि पाठक देखकर ही घबड़ा जाता है। कहीं-कहीं तो ग्रन्थों के समूचे भाग प्रस्तुत कर दिये हैं। फिर इसके बाद उनका संस्कृत रूपांतर और भी बोज़िल

वन गया। पाश्यमद्वयमहणव के लेखक प० हरगोविन्द दाम मेठ ने उनकी जो सटीक आलोचना की है वह इस मन्दर्भ में दृष्टव्य है।

“परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि इसमें कर्ता को सफलता की अपेक्षा निष्फलता ही अधिक मिली है और प्रकाशक के धन का अपव्यय ही विशेष हुआ है। सफलता न मिलने का कारण भी स्पष्ट है इस ग्रन्थ को थोड़े गौर से देखने पर यह सहज ही मालूम होता है कि इसके कर्ता को न तो प्राकृत भाषाओं का पर्याप्त ज्ञान था और न प्राकृत शब्दकोश के निर्माण की उतनी प्रबल इच्छा, जितनी जैन दर्शन शास्त्र और तर्कशास्त्र के विषय में अपने पांडित्य प्रस्थापन की धुन। इसी धुन ने अपने परिश्रम को योग्य दिशा में ले जाने वाली विवेक बुद्धि का भी ह्रास कर दिया है। यही कारण है कि इस कोश का निर्माण केवल ७५ में भी कम प्राकृत जैन पुस्तकों के ही, जिनमें अर्धमागधी के दर्शन विषयक ग्रन्थों की बहुलता है, आधार पर किया गया है और प्राकृत की ही इतर मुख्य शाखाओं के तथा विभिन्न विषयों के अनेक जैन तथा जैनतर ग्रन्थों में एक का भी उपयोग नहीं किया गया है। इससे यह कोश व्यापक न होकर प्राकृत भाषा का एकदेशीय कोश हुआ है। इसके सिवा प्राकृत तथा संस्कृत ग्रन्थों के विस्तृत अंशों को और कहीं-कहीं तो छोटे बड़े सम्पूर्ण ग्रन्थों की अवतरण के रूप उद्धृत करने के कारण<sup>१</sup> पृष्ठ सख्या में बहुत बड़ा होने पर भी, शब्द सख्या में ऊन ही नहीं, बल्कि आधारभूत ग्रन्थों में आये हुए कई उपयुक्त शब्दों को छोड़ देने में और विशेषार्थहीन अतिदीर्घ सामासिक शब्दों की भर्ती से वास्तविक शब्द सख्या में यह कोश अति न्यून भी है। इतना ही नहीं, इस कोश में आदर्श पुस्तकों की, असावधानी की, और प्रेस की तो अमूल्य अशुद्धियाँ हैं ही, प्राकृत भाषा के अज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली भूलों की भी कमी नहीं है और सबसे बढ़कर दोष इस कोश में यह है कि वाचस्पत्य, अनेकान्त जय पताका, अष्टक, रत्नाकरावतारिका आदि केवल संस्कृत के और जैन इतिहास जैसे केवल आधुनिक गुजराती ग्रन्थों के संस्कृत और गुजराती शब्दों पर से कोरी निजी कल्पना से ही बनाये हुए प्राकृत शब्दों की इसमें खूब मिलावट की गयी है, जिससे इस कोश की प्रामाणिकता ही एकदम नष्ट हो गयी है। ये और अन्य असंख्य दोषों के कारण साधारण अभ्यासी के लिए इस कोश का उपयोग जितना आमक और भयकर है, विद्वानों के लिए भी उतना ही क्लेशकर है।”

अभिधान राजेन्द्र कोश के कोशकार विजय राजेन्द्र सूरि तथा सशोधक दीपविजय और यतीन्द्र विजय हैं। उनके अभिधान राजेन्द्र कोश के मन्दर्भ में सेठ की यह आलोचना निःसन्देह अर्थपूर्ण प्रतीत होती है। कोश के निर्माण की सार्थकता यहाँ पूरी नहीं हो सकी इसके बावजूद इस विशालकाय कोश को विष्कुल निरर्थक भी नहीं कह सकते। जिस समय इस कोश का निर्माण हुआ है उस समय अर्धमागधी आगमों का प्रकाशन अधिक नहीं हुआ था और जो हुआ भी था वह सभी सुसंपादित

नहीं था। अनुसंधाता को एक ही स्थान पर सम्बद्ध विषय की जानकारी मिल जाती है। इस दृष्टि से उसका विशेष उपयोग कहा जा सकता है।

विजयराजेन्द्रसूरि ने एक और कोश लिखा था जिसका नाम उन्होंने शब्दाबुधि कोश रखा था परन्तु इसका प्रकाशन नहीं हो सका। इसमें लेखक ने अकारादि क्रम से प्राकृत शब्दों का संग्रह किया था और साथ ही संस्कृत और हिन्दी अनुवाद दिया था किन्तु अभिधानराजेन्द्र कोश की तरह शब्दों पर व्याख्या नहीं की गई।<sup>१</sup> यह कोश कदाचित् अधिक उपयोगी हो सकता था परन्तु न जाने आज वह पांडुलिपि के रूप में कहा पड़ा होगा।

## २ अर्धमागधीकोश

इस कोश के रचयिता मुनि रत्नचन्द्र लीम्वडो-सम्प्रदाय के स्थानकवासी साधु थे। उन्होंने जैन-जैनेतर ग्रन्थों का अध्ययन कर बहुश्रुत व्यक्तित्व प्राप्त किया था। उनके द्वारा कुछ और भी ग्रन्थों की रचना हुई है जिनमें अजरामरस्तोत्र (सं० १९६९), श्रावकव्रतपत्रिका (सं० १९७०), कर्ताव्यकौमुदी (सं० १९७०), भावनाशतक (सं० १९७२), रत्नधर्मालंकार (सं० १९७३), प्राकृत पाठमाला (सं० १९८०), प्रस्तर रत्नावली (सं० १९८१), जैनदर्शन मीमांसा (सं० १९८३), रेवतीदान समालोचना (सं० १९८१), जैनसिद्धान्त कौमुदी (सं० १९८४) — अर्धमागधी का सटीक व्याकरण प्रमुख है।

यह अर्धमागधी कोश मूलतः गुजराती में लिखा गया और उसका हिन्दी तथा अंग्रेजी रूपांतर प्रीतमलाल कच्छी आदि अन्य विद्वानों से कराया गया। इस कोश के रचने में लेखक को मुनि उत्तमचंद जी, उपाध्याय आत्माराम जी, मुनि माधवजी तथा मुनि देवचन्द्रजी का भी सहयोग मिला है। डॉ० वनारसीदास जी एव डॉ० वेलवेलकर ने भी इसमें सहयोग दिया। इन सभी विद्वानों के सहयोग से प्रस्तुत कोश इस रूप में प्रकाशित हो सका है। डॉ० वूलर की विस्तृत प्रस्तावना और सरदारमल भडारी की विस्तृत अंग्रेजी भूमिका के साथ यह कोश चार भागों में इस प्रकार प्रकाशित हुआ।

भाग १	‘अ’ वर्ण	पृ० ५१२	प्रकाशन काल सन् १९२३
भाग २	‘अ’ से ‘ण’ वर्ण तक	पृ० १००२	” ” सन् १९२७
भाग ३	‘त’ से ‘व’ वर्ण तक	लगभग पृ० १०००	” ” सन् १९२९
भाग ४	‘भ’ से ह वर्ण तक	पृ० १०१५	” ” सन् १९३२
(परिशिष्ट सहित)			

इस प्रकार लगभग ३६०० पृष्ठों में यह कोश समाप्त हो जाता है। इसे हम पंच भाषा कोश कह सकते हैं क्योंकि यह प्राकृत के साथ ही संस्कृत गुजराती हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं में रूपांतरित हुआ है। लगभग सभी शब्दों के साथ यथावश्यक

मूल उद्धरणों को भी इसमें सम्मिलित किया गया है। ये उद्धरण सक्षिप्त और उपयोगी हैं। उनमें अभिधान राजेन्द्र कोश जैसी वोझिलता नहीं दिखती। अभिधान राजेन्द्र कोश की अन्य कमियों को भी परिमार्जित करने का प्रयत्न किया गया है। इस कोश में आगम साहित्य तथा आगम से निकटतम सबध रखने वाले विशेषावश्यक भाष्य, पिंड, निर्युक्ति, ओचनिर्युक्ति आदि ग्रंथों का उपयोग किया गया है साथ ही शब्द के साथ उसका व्याकरण भी प्रस्तुत किया गया है। अर्धमागधी से अतिरिक्त प्राकृत बोलियों के शब्दों को भी इसमें कुछ स्थान दिया गया है। इसके चारों भागों में कुछ परम्परागत चित्र भी संयोजित कर दिये गये हैं जिनमें आवलिकावध विमान, आसन्, ऊर्ध्वलोक, उपशमश्रेणी, कनकावली, कृष्णराजी, कालचक्र, क्षपकश्रेणी, घन रज्जु, घनोदधि, १४ रत्न, चन्द्रमंडल, जम्बूद्वीप नक्षत्रमंडल, भरत, मेरु, लवणसमुद्र, लोम, विमाण आदि प्रमुख हैं। इस कोश का संपूर्ण नाम An Illustrated Ardha-Magadhi Dictionary है और इसका प्रकाशन S S Jama Conference इन्दौर द्वारा हुआ है।

इस कोश के परिशिष्ट के रूप में सन् १९३८ में पंचम भाग भी प्रकाशित हुआ। इसमें अर्धमागधी, देशी तथा महाराष्ट्री शब्दों का संस्कृत, गुजराती, हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं के अनुवाद के साथ संग्रह हुआ है। परन्तु उनका यहाँ व्याकरण नहीं दिया जा सका। यह भाग भी लगभग ६०० पृष्ठों का है।

मुनि रत्नचंद्र जी का यह संपूर्ण कोश छात्रों और शोधकों के लिए उद्धरण ग्रंथ-सा बन गया है। मुनिजी का जन्म स० १९३६ वैशाख शुक्ल १२ गुरुवार को कच्छ के भारोरा नामक ग्राम में हुआ। आपका विवाह १३ वर्ष की अवस्था में हुआ और स० १९५३ में पत्नी की मृत्यु के बाद मुनि दीक्षा ले ली। इसके बाद उन्होंने संस्कृत और प्राकृत ग्रंथों का गहन अध्ययन किया और जीवन के उत्तरकाल में ग्रंथ-निर्माण का कार्य हाथ में लिया। वे शतावधानी भी थे और तपस्वी भी।

### ३ पांड्य-सद्-महण्णव

इस कोश के लेखक प० हरगोविन्ददास त्रिकमचंद सेठ का जन्म वि० स० १९४५ में राधनपुर (गुजरात) में हुआ। उनकी शिक्षा-दीक्षा बहुत कुछ यशोविजय जैन पाठशाला, वाराणसी में हुई। यही रहकर उन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषा का अध्ययन किया। प० वेचरदास डोसी उनके सहाध्यायी रहे हैं। दोनों विद्वान् पालि का अध्ययन करके श्रीलंका भी गये और बाद में वे संस्कृत, प्राकृत और गुजराती के प्राध्यापक के रूप में कलकत्ता विश्वविद्यालय में नियुक्त हुए। न्याय-व्याकरणतीर्थ होने के कारण जैन-जैनेतर दार्शनिक ग्रंथों का गहन अध्ययन हो चुका था। यशोविजय जैन ग्रंथमाला से उन्होंने अनेक संस्कृत-प्राकृत ग्रंथों का संपादन भी किया। लगभग ५२ वर्ष की अवस्था में ही स० १९९७ में वे कालकवलित हो



गये। अपने इस अल्पकाल में ही उन्होंने अनेक ग्रन्थों का कुशल संपादन और लेखन किया।

सेठजी के ग्रन्थों में पाइयसद्महण्णव का एक विशिष्ट स्थान है। इसकी रचना उन्होंने सभवतः अभिधानराजेन्द्रकोश की कमियों को दूर करने के लिए की। जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, सेठजी ने उपर्युक्त ग्रन्थ की मार्मिक समीक्षा की और उसकी कमियों को दूर कर नये प्राकृत कोश की रचना का सकल्प किया। उन्होंने स्वयं लिखा है "इस तरह प्राकृत के विविधभेदों और विषयों के जैन तथा जैनतर साहित्य के यथेष्ट शब्दों से सकलित, आवश्यक अवतरणों से युक्त, शुद्ध एवं प्रामाणिक कोश का नितान्त अभाव बना ही रहा है। इस अभाव की पूर्ति के लिए मैंने अपने उक्त विचार को कार्यरूप में परिणत करने का दृढ सकल्प किया और तदनुसार शीघ्र ही प्रयत्न भी शुरू कर दिया गया। जिसका फल प्रस्तुत कोश के रूप में चौदह वर्षों के कठोर परिश्रम के पश्चात् आज पाठकों के सामने उपस्थित है।"<sup>६</sup>

लेखक के इस कथन से यह स्पष्ट है कि कोश के तैयार करने में उन्होंने पर्याप्त समय और शक्ति लगायी। प्रकाशित संस्करणों को शुद्ध रूप में अंकित करने का एक दुष्कर कार्य था, जिसे उन्होंने पूरा किया। इतना ही नहीं बल्कि उन्होंने इस वृहत्काय कोश का सारा प्रकाशन-व्यय भी स्वयं उठाया। कोशकार ने आधुनिक ढंग से लगभग ५० पृष्ठ की विस्तृत प्रस्तावना भी लिखी, जिसमें प्राकृत भाषाओं का इतिहास तथा भारतीय भाषाओं के विकास में उनके योगदान की विशेष चर्चा की। इस ग्रन्थ के निर्माण में उन्होंने लगभग ३०० ग्रन्थों का उपयोग किया जो प्रायः श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं। लगभग प्रत्येक शब्द के साथ किसी ग्रन्थ का प्रमाण भी दिया गया है। इस दृष्टि से यह कोश अधिक उपयोगी हो सका है। एक शब्द के जितने सम्भावित अर्थ हो सकते हैं उनका भी कोशकार ने उल्लेख किया है। सदिग्र पाठ को कोष्ठक में प्रश्नचिह्न के साथ प्रस्तुत किया गया है। यह व्यवस्था उनकी विद्वत्ता और सावधानता को सूचित करती है।

#### ४ पुरातन-जैन-वाक्य-सूचि

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार प्राचीन जैन विद्या के प्रसिद्ध अनुसन्धाता रहे हैं। उन्होंने वीर सेवा मंदिर जैसे शोध-संस्थान और उसके अनेकान्त जैसे शोध-पत्र की स्थापना और उसका सम्यक् संचालन कर जैन विद्या के अनुसंधान क्षेत्र में महत्वपूर्ण योग दिया है। श्री मुख्तार स्वयं भी एक वरिष्ठ अनुसन्धाता रहे हैं। उन्होंने अपनी अवस्था के लगभग ५० वर्ष इसी कार्य में व्यतीत किये हैं। उनके ग्रन्थों में स्वयंभूस्तोत्र, स्तुति-विद्या, युक्त्यनुशासन, समीचीन धर्मशास्त्र, अध्यात्म, रहस्य, जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, देवागम

स्तोत्र आदि संपादित और अनुवादित ग्रंथ तथा शताधिक शोध-निबन्ध शोधको के लिए मार्गदर्शक बने हुए हैं।

पुरातन-जैन, वाक्य-सूचि वस्तुतः एक ढग का कोशग्रंथ है, जिसमें ६४ मूलग्रन्थों के पञ्च-वाक्यों की अकारादिक्रम से सूचि है। इसी में ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत प्राकृत-पद्य भी संगृहीत कर दिये गये हैं। कुल मिलाकर ५००-५०० हज़ार तीन सौ बावन प्राकृत-पद्यों की अनुक्रमणिका के रूप में इस ग्रंथ को तैयार किया गया है। इसके आधारभूत ग्रंथ विशेषतः दिगम्बर सम्प्रदाय के हैं। जहाँ तहाँ आचार्य 'उक्तच' लिखकर अपने पूर्वाचार्यों के पद्यों का उल्लेख करते रहे हैं जिनका खोजना कभी-कभी कठिन हो जाता है। इस दृष्टि से यह ग्रंथ शोधको के लिए अत्यधिक उपयोगी बन जाता है। इसके संपादन में डॉ० दरबारीलाल कोठिया और प० परमानन्द शास्त्री ने विशेष सहयोग दिया है। इसका प्रकाशन वीरसेवा मंदिर से सन् १९५० में हुआ। इस ग्रंथ की प्रस्तावना १६८ पृष्ठों की है, जिसमें मुस्तार सा० ने सम्बद्ध ग्रन्थों और आचार्यों के समय और उनके योगदान पर गभीर चिंतन प्रस्तुत किया है।

## ५ जैनग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह

इसका दो भागों में वीरसेवा मंदिर से प्रकाशन हुआ है। प्रथम भाग का संपादन प० परमानन्दजी के सहयोग से श्री जुगलकिशोर मुस्तार ने सन् १९५४ में किया। इसमें संस्कृत प्राकृत भाषाओं के १७१ ग्रन्थों की प्रशस्तियों का सकलन किया गया है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है। इन प्रशस्तियों में सद्यः, गण, गच्छ, वंश, गुरुपरम्परा, स्थान, समय आदि का संकेत मिलता है। इस भाग में कुछ परिशिष्ट भी दिये गये हैं जिनमें प्रशस्तिगत भौगोलिक नामों, मध्यों, गणों, गच्छों, स्थानों, राजाओं, राजमन्त्रियों, विद्वानों, आचार्यों, भट्टारकों तथा श्रावक-श्राविकाओं के नाम की सूची को अकारादिक्रम से दिया गया है। प० परमानन्दजी द्वारा लिखित ११३ पृष्ठों की प्रस्तावना विशेष महत्वपूर्ण है।

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह के दूसरे भाग के सम्पादक हैं प० परमानन्द शास्त्री जो जैनशोध क्षेत्र में इतिहास और साहित्य के सर्वमान्य विद्वान् हैं। आपने वीरसेवा मंदिर के अनेकान्त पत्र का लगभग प्रारम्भ से ही सम्पादन का भार उठाया और शताधिक शोध-निबन्धों को स्वयं लिखकर प्रकाशित किया। विद्वद् जगन् परमानन्दजी की सूक्ष्मेक्षिका से भलीभाँति परिचित हैं। उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी के अनेक आचार्यों का काल-निर्धारण किया एवं उनके कृतित्व व व्यक्तित्व पर असाधारण रूप से शोध-खोजकर प्रथमतः प्रकाश डाला। उनका एक नवीनतम ग्रंथ जैनधर्म का प्राचीन इतिहास अपने बृहदाकार में देहली से प्रकाशित हुआ है, जो उनकी विद्वत्ता का परिचायक है।

इस द्वितीय भाग में विशेष रूप से अपभ्रंश ग्रन्थों की १२२ प्रशस्तियाँ दी गयी हैं, जो साहित्य और इतिहास के साथ ही सामाजिक और धार्मिक रीति रिवाज पर अच्छा प्रकाश डालती हैं। इन प्रशस्तियों को हस्तलिखित ग्रन्थों पर से उद्धृत किया गया है और अधिकांश अप्रकाशित ग्रन्थों को ही सम्मिलित किया गया है। इसमें कुछ उपयोगी परिशिष्ट भी जोड़ दिए गये हैं जिनमें भौगोलिक ग्राम, नगर, नाम, सघ, गण, गच्छ, राजा आदि को अकारादिक्रम से रखा गया है। लगभग १५० पृष्ठ की संपादक की प्रस्तावना शोध की दृष्टि से और भी अधिक महत्वपूर्ण है। इसका प्रकाशन वीरसेवा मंदिर, देहली से सन् १९६३ में हुआ। एक अन्य प्रशस्ति संग्रह श्री के० भुजवली शास्त्री के संपादन में जैन सिद्धान्त भवन आरा से वि० सं० १९०९ में प्रकाशित हुआ था। इसमें शास्त्री जी ने ३९ ग्रन्थकारों की प्रशस्तियाँ दी हैं और साथ ही हिन्दी में उनका संक्षिप्त सारांश भी दिया है।

## ६ लेश्या-कोश

इसके संपादक श्री मोहनलाल वाठिया और श्रीचन्द चोरडिया हैं और इसके प्रकाशन-कार्य का गुस्तर भार श्री वाठिया ने उठाया है, जो कलकत्ता से सन् १९६६ में प्रकाशित हुआ। ये दोनों विद्वान् जैनदर्शन और साहित्य के सशोधक रहे हैं। संपादकों ने संपूर्ण जैन वाङ्मय को सारभौमिक दशमलव वर्गीकरण पद्धति के अनुसार १०० वर्गों में विभक्त किया और आवश्यकता के अनुसार उसे यत्न-तत्न परिवर्तित भी किया। मूल विषयों में से अनेक विषयों के उपविषयों की भी सूचि इसमें सन्निहित है। इसके संपादन में तीन बातों को आधार माना गया है—(१) पाठों का मिलान (२) विषय के उपविषयों का वर्गीकरण तथा (३) हिन्दी अनुवाद। मूल पाठ को स्पष्ट करने के लिए संपादकों ने टीकाकारों का भी आधार लिया है। इस सकलन का काम आगम-ग्रन्थों तक ही सीमित रखा गया है। फिर भी संपादन, वर्गीकरण तथा अनुवाद के कार्य में नियुक्ति, चूर्णि, वृत्ति, भाष्य आदि टीकाओं का तथा सिद्धान्त ग्रन्थों का भी यथास्थान उपयोग हुआ है। दिगम्बर ग्रन्थों का इसमें उल्लेख नहीं किया जा सका। संपादक ने दिगम्बर लेश्या कोश को पृथक् रूप से प्रकाशित करने का सुझाव दिया है। कोश-निर्माण में ४३ ग्रन्थों का उपयोग किया गया है।

## ७ क्रिया-कोश

इसके भी संपादक श्री मोहनलाल वाठिया और श्री श्रीचन्द चोरडिया हैं और प्रकाशन किया है जैनदर्शन सीमित कलकत्ता ने सन् १९६९ में। श्री वाठिया जैनदर्शन के सूक्ष्म विद्वान् हैं। उन्होंने जैन विषय-कोश की एक लम्बी परिकल्पना बनाई थी और उसी के अन्तर्गत यह द्वितीय कोश क्रिया-कोश के नाम से प्रसिद्ध

हुआ। इस कोश का भी सकलन दशमलव वर्गीकरण के आधार पर किया गया है और उनके उपविषयों की एक लम्बी सूची है। क्रिया के साथ ही कर्म विषयक सूचनाओं को भी इसमें अंकित किया गया है। लेश्या-कोश के समान ही इस कोश के सम्पादन में भी पूर्वोक्त तीन बातों का आचार लिया गया है। इसमें लगभग ४५ ग्रंथों का उपयोग किया गया है, जो प्रायः श्वेताम्बर आगम ग्रंथ हैं। कुछ दिगम्बर आगमों का भी उपयोग किया गया है।

संपादक ने उक्त दोनों कोशों के अतिरिक्त पुद्गल-कोश, दिगम्बर-लेश्या कोश और परिभाषा कोश का भी सकलन किया था परन्तु अभी तक उनका प्रकाशन नहीं हो सका है। इस प्रकार के कोश जैनदर्शन को समुचित रूप से समझने के लिए निःसंदेह उपयोगी होते हैं।

## ८ जैन जेम डिक्शनरी

Jaina Gem Dictionary का संपादन जैनदर्शन के मान्य विद्वान् जे० एल० जैनी ने सन् १९१९ में किया था, जो आरा से प्रकाशित हुआ है। श्री जैनी ने Heart of Jainism जैसे अनेक ग्रंथों को स्वतन्त्र रूप से तैयार किया और तत्त्वार्थ सूत्र जैसे मान्य ग्रंथों का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया। जैनधर्म को अंग्रेजी के मध्यम से प्रस्तुत करने में सी० आर० जैन और जे० एल० जैनी का नाम अविस्मरणीय रहेगा।

श्री जैनी का यह कोश जैन-पारिभाषिक शब्दों को समझने के लिए एक प्रस्थान ग्रंथ कहा जा सकता है। भूमिका में उन्होंने स्वयं लिखा है—“यह मुझे अनुभव हुआ कि एक ही जैन शब्द के विभिन्न अनुवादों में विभिन्न अंग्रेजी पर्याय प्रयुक्त हो सकते हैं। इससे एकरूपता समाप्त हो जाती है और ग्रंथों के जैनैतर-पाठकों के मन में दुविधा का कारण बन जाता है। इसलिए सबसे अच्छा उपाय सोचा गया कि अत्यंत महत्वपूर्ण जैन पारिभाषिक शब्दों को सावधानी से रखा जाय और जैनदर्शन के आलोक में सही अर्थ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाय। निश्चय ही इस तरह के कार्य को अंतिम कहना उपयुक्त न होगा। यह उत्तम प्रयास है कि जैन पारिभाषिक शब्दों को वर्ण-क्रमानुसार नियोजित किया जाय और उनका अनुवाद अंग्रेजी में दिया जाय।”

इस कोश का आचार प० गोपालदास वरैया द्वारा रचित जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रतीत होता है। एक अन्य कोश श्री वी० एल० जैन और श्री शीतल-प्रसाद जैन ने ‘वृहज्जैन-शब्दार्णव’ नाम से सन् १९२४ और १९३४ में दो भागों में वाराणसी से प्रकाशित किया था। इसी प्रकार का आनंद सागरसूरि द्वारा लिखित ‘अल्पपरिचित-सैद्धान्तिक शब्दकोश’ भाग १, सूरत से सन् १९५४ में प्रकाशित हुआ था जिसमें जैन सैद्धान्तिक शब्दों को संक्षेप में समझाया गया है।

## ६ जैनेन्द्र-सिद्धान्त-कोश

इसके रचयिता क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी हैं, जिन्होंने लगभग २० वर्ष के सतत अध्ययन के फलस्वरूप इसे तैयार किया है। इसमें उन्होंने जैन तत्त्वज्ञान, आचार-शास्त्र, कर्मसिद्धान्त, भूगोल, ऐतिहासिक तथा पौराणिक व्यक्ति, राजे तथा राजवंश, आगम, शास्त्र व शास्त्रकार, धार्मिक तथा दार्शनिक सम्प्रदाय आदि से सम्बद्ध लगभग ६००० शब्दों तथा २१०० विषयों का सागोपाग विवेचन किया है। सम्पूर्ण सामग्री संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में लिखित प्राचीन जैन साहित्य के १०० से अधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक ग्रंथों से मूल सदर्थों, उद्धरणों तथा हिन्दी अनुवाद के साथ सकलित की गयी है। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण सारणियाँ और रेखाचित्र भी जोड़ दिये गये हैं, जिससे विषय अधिक स्पष्ट होता गया। हर विषय को मूल शब्द के अन्तर्गत ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। साथ ही यह ध्यान रखा गया है कि शब्द और विषय की प्रकृति के अनुसार उसके अर्थ, लक्षण, भेद-प्रभेद, विषय-विस्तार, शका-समाधान व समन्वय आदि में जो-जो और जितना-जितना अपेक्षित हो वह सब दिया जाय। प्रस्तुत शब्द कोश भारतीय ज्ञानपीठ से चार भागों में ८ और १० प्वाइंट में प्रकाशित हुआ है। मुद्रण की दृष्टि से भी इसमें अन्य कोषों की अपेक्षा वैशिष्ट्य है। टाइप की भिन्नता से विषय की भिन्नता को पहचाना जा सकता है। मूल उद्धरणों को दे देने से इस ग्रंथ की उपयोगिता और अधिक बढ़ गयी है। वस्तुतः यह सही अर्थ में सदर्थ ग्रंथ बन गया है। इसमें अधिकांश दिगम्बर ग्रंथों का उपयोग किया गया है। इसके चार भाग इस प्रकार हैं

भाग १	'अ' से 'औ' वर्ण तक	पृष्ठ ५०४	प्रकाशन काल सन् १९७०
भाग २	'क' से 'न' वर्ण तक	" ६३४	" " १९७१
भाग ३	'प' से 'व' वर्ण तक	" ६३८	" " १९७२
भाग ४	'स' से 'ह' वर्ण तक	" ५४४	" " १९७३

इतने छोटे टाइप में मुद्रित २३२० पृष्ठों का यह महाकोश निस्संदेह वर्णी जी की सतत साधना का प्रतीक है। उनका जन्म १९२१ में पानीपत में हुआ। आपके पिता जयभगवान एडवोकेट जाने-माने विचारक और विद्वान् थे। आपकी जिजीविषा ने ही सन् १९३८ में आपको क्षयरोग से बचाया तथा इसी कारण एक ही फेंफड़े से आज भी अपनी साधना में लगे हुए हैं। एम० इ० एस० जैसी उच्च उपाधि प्राप्त करने के बावजूद प्रवृत्ति पथ में उनका मन नहीं रम सका और फलतः १९५७ में घर से सन्यास ले लिया और १९६३ में क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। प्रकृति से अध्यवसायी, मृदु और निस्पृही वर्णीजी के कुछ अन्य ग्रंथ भी प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं, जिनमें शांतिपथ-प्रदर्शक, नये दर्पण, जैन-सिद्धान्त-

शिक्षण, कर्म-सिद्धान्त, श्रद्धा-विन्दु, द्रव्य-विज्ञान, कुन्दकुन्द-दर्शन आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं।

## १० जैनलक्षणावली

प्रस्तुत ग्रंथ के संपादक प० बालचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री हैं, जिन्होंने अनेक कठिनाइयों के बावजूद इस ग्रंथ का संपादन किया। उनका जन्म सं० १९६२ में सोरड (झासी) में हुआ और शिक्षा का बहुततर भाग स्याद्वीर विद्यालय वाराणसी में पूरा हुआ। सन् १९४० से लगातार साहित्यिक कार्य में जुटे हुए हैं। डॉ० हीरालाल जी के साथ उन्होंने पट्खण्डागम (धवला) के छह से सोलह भाग तक का संपादन और अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त जीवराज जैनग्रन्थमाला से आत्मानुशासन, पुण्याश्रव, कथाकोश, तिलोपपण्णत्ति और पद्मनन्दपर्वविशतिका हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हुए। लक्षणावली के अतिरिक्त वीर सेवा मंदिर से ध्यानशतक भी विस्तृत प्रस्तावना के साथ प्रकाशित हुआ है। आप मौन सावक और कर्मठ अध्येता हैं।

लक्षणावली एक जैन पारिभाषिक शब्दकोश है। इसमें लगभग ४०० दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रंथों से ऐसे शब्दों का सकलन किया गया है, जिनकी कुछ न कुछ परिभाषा उपलब्ध होती है। सभी सम्प्रदायों में प्रायः ऐसे पारिभाषिक शब्द उपलब्ध होते हैं। उनका ठीक-ठीक अभिप्राय समझने के लिए उन-उन ग्रंथों का आश्रय लेना पड़ता है। जैनदर्शन के मदर्भ में इस प्रकार के पारिभाषिक शब्दकोश की आवश्यकता थी जो एक ही स्थान पर विकास-क्रम की दृष्टि से दार्शनिक परिभाषाओं को प्रस्तुत कर सके। इस कमी की पूर्ति लक्षणावली ने भलीभाँति कर दी। इसमें परिभाषाओं के साथ ही संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद भी कुछ भिन्न काटे टाड़प में दिया गया है। अनुवादित ग्रंथ भाग का क्रम भी साथ में अंकित किया गया है। अनेक वर्षों के परिश्रम के बाद इस ग्रंथ का मुद्रण हो पाया है। लगभग १०० पृष्ठों की शास्त्री जी द्वारा लिखित प्रस्तावना ने इसे और भी अधिक सार्थक बना दिया। श्री जुगलकिशोर मुख्तार और बाबू छोटेलाल की स्मृतिपूर्वक इस ग्रंथ का प्रकाशन हुआ है। अभी इसके दो भाग क्रमशः १९७२ और १९७५ई० में प्रकाशित हुए हैं जिनमें लगभग ७५० पृष्ठ मुद्रित हैं। तृतीय भाग मुद्रणाधीन है।

## ११ ए डिक्शनरी ऑफ प्राकृत प्रापर नेम्स

A Dictionary of Prakrit Proper names का सकलन और सम्पादन डॉ० मोहनलाल मेहता और डॉ० के० आर० चन्द्र ने संयुक्त रूप में किया है और एल० डी० इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद ने उसे सन् १९७२ में दो भागों में प्रकाशित

किया है। डॉ० मेहता और डॉ० चन्द्र प्राकृत और जैन क्षेत्र के लिए अज्ञात नहीं। दोनों विद्वानों के अनेक शोधग्रन्थ और निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं। डॉ० मेहता के द्वारा लिखित ग्रन्थों में प्रमुख हैं Jaina Psychology, Jaina Culture, Jaina Philosophy जैन आचार, जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, जैन-धर्म-दर्शन आदि। डॉ० चन्द्र ने विमलसूरि के पञ्चमचरिय का अंग्रेजी में अध्ययन प्रस्तुत किया है जो प्रकाशित हो चुका है। इन दोनों विद्वानों ने उपर्युक्त कोश की रचना डॉ० भलाल शेखर के "A Dictionary of Pali-Proper names के अनुकरण पर की है। जैन साहित्य, विशेषतः आगमों में उल्लिखित व्यक्तिगत नामों के सदर्थ में यह कोश अच्छी जानकारी प्रस्तुत करता है।

## १२ Jaina Bibliography . (Universal Encyclopaedia of Jain-References)

लगभग २५ वर्ष पहले बाबू छोटेलालजी ने एक Jaina Bibliography प्रकाशित की थी जो आज उपलब्ध नहीं है। वीर सेवा मंदिर दिल्ली की ओर से एक और Jaina Bibliography प्रकाशित हो रही है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये के संपादन में इसके लगभग दो हजार पृष्ठ मुद्रित हो चुके हैं। शेष भाग का कार्य डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर, नागपुर कर रहे हैं। इस वर्ष के अंत तक उसके सम्पूर्ण प्रकाशित हो जाने की आशा है। प्रस्तुत Bibliography में देश-विदेश में प्रकाशित ग्रन्थों और पत्रिकाओं से ऐसे सदर्थों को विषयानुसार एकत्रित किया गया है जिनमें जैनधर्म और सस्कृति से सम्बद्ध किसी भी प्रकार की सामग्री प्रकाशित हुई है। इसमें निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत विषय सामग्री सकलित की गई है। Encyclopaedias, Dictionaries Bibliographies, gazetteers, Census Reports and guides, Historical and Archaeological accounts, Archaeology (including Museum), Archaeological Survey, History, Geography, Biography, Religion, Philosophy and Logic, Sociology, Ethnology, Educational statistics, Languages, Literature, general works इन समस्त शीर्षकों को आठ विभागों में विभाजित किया गया है। लगभग २०० पृष्ठों के word Index का प्रकाशन होना बाकी है। इस बृहदाकार ग्रन्थ में देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा लिखित लगभग ३००० पुस्तकों और निबन्धों आदि का उपयोग किया गया है फिर भी कुछ आवश्यक सामग्री सकलित होने से रह गयी है। इसके बावजूद यह ग्रन्थ निर्विवाद रूप से प्राचीन भारतीय सस्कृति, विशेषतः जैन सस्कृति के मशोधन के लिए अत्यंत उपयोगी सन्दर्भ ग्रन्थ कहा जा सकता है।

### १३. अन्य कोश

उपर्युक्त कोशों के अतिरिक्त कुछ और भी छोटे मोटे कोश जैन विद्वानों ने तैयार किये हैं। उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं। श्री वनशी छगननाथ का 'जैन कवको' अहमदाबाद में सन् १८१२ में प्रकाशित हुआ था, जिसमें प्राकृत शब्दों का गुजराती में अनुवाद दिया गया था। इसी तरह एच० आर० कापडिया का English-Prakrit Dictionary के नाम से एक कोश सूरत में सन् १९४१ में प्रकाशित हुआ था। यहाँ हम डॉ० मागचन्द्र जैन भास्कर द्वारा मकनित और सम्पादित 'विद्वद्विनोदिनी' का भी उल्लेख कर सकते हैं, जिसमें उन्होंने सस्कृत, पालि, प्राकृत हिन्दी और गुजराती साहित्य में उपलब्ध प्रहेलिकाओं का संग्रह किया है। इसका प्रकाशन अमोल जैन जानानाथ, धूलिया की ओर से सन् १९६८ में हुआ था। इसमें सस्कृत, प्राकृत साहित्य में उपलब्ध कुछ और भी प्रहेलिकाओं का संग्रह कर आकार को कुछ और भी बढ़ाकर दिया जाता तो कदाचित् वह अधिक उपयोगी हो जाता।

इस प्रकार आधुनिक युग में अनेक जैन विद्वानों ने विविध प्रकार के कोश-ग्रन्थों को तैयार किया, जो अध्येताओं के लिए अनेक प्रकार में उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। यहाँ हमने कतिपय कोशग्रन्थों का ही उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त कुछ और भी छोटे-मोटे अनेक कोश ग्रन्थों की रचना जैन विद्वानों ने की होगी पर उनकी जानकारी हमें नहीं हो सकी। यहाँ विशेष रूप से ऐसे कोश-ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है जिनका सबंध प्राकृत और जैन साहित्य में रहा है। सस्कृत, हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी आदि भाषाओं के जैन विद्वानों द्वारा लिखित कोश इस सीमा से बाहर रहे हैं। जैनग्रन्थ सूचियों को भी हमने जानबूझकर छोड़ दिया है क्योंकि आधुनिक दृष्टि से वे कोशों की परिधि में नहीं आती। हाँ, यदि हम कोश का सर्कीर्ण अर्थ न कर उसका प्रयोग विस्तृत अर्थ में करें तो निस्संदेह कोशकार एवं कोशग्रन्थों की एक लम्बी सूची तैयार हो सकती है।

### संदर्भ

- १ अभिधान राजेन्द्रकोश, भूमिका, पृ० १३
- २ वही।
- ३ जैसे 'चेदय' शब्द की व्याख्या में प्रतिमानशतक नामक सटीक सस्कृत ग्रन्थ को बाद में अत तक उद्धृत किया गया है। इस ग्रन्थ की श्लोक संख्या करीब पाँच हजार है।
- ४ पाड्यसद्धमहण्यव, द्वितीय संस्करण, भूमिका, पृ० १३-१४
- ५ अभिधान राजेन्द्रकोश, भूमिका पृ० १३-१४
- ६ पाड्यसद्धमहण्यव, भूमिका, द्वितीय संस्करण, पृ० १४
- ७ जैनेन्द्र-सिद्धान्त-कोश, भाग १, प्रास्ताविक।



## १९वीं २०वीं शताब्दी के जैन कोशकार और उनके कोशों का मूल्यांकन

डा० नेमीचन्द जैन

१ शब्दज्ञान की परम्परा वैदिक युग से अविच्छिन्न चली आ रही है। 'निघण्टु' और 'निरुक्त' इसके स्पष्ट साक्ष्य हैं। शब्द और अर्थ रूढ़ सम्बन्धी हैं। अर्थ-बोध, अर्थ-निर्णय और अर्थ-संप्रेषण की समस्याएँ लेखक-पाठक तथा वक्ता-श्रोता के मध्य सदैव जीवन्त रही हैं। कोश-रचना की पृष्ठभूमि पर सम्यक् अर्थ-संप्रेषण का लक्ष्य ही सर्वत्र सक्रिय रहा है। सही अर्थ और सही सदर्थ खोजने के यत्न में ही कोश बने हैं और उन पर भारतीया मनीषा ने अटूट वस्तुनिष्ठा से कार्य किया है। जैन कोश आज जिस रूप में उपलब्ध हैं, वह रूप, पद्धति और परम्परा बहुत प्राचीन नहीं है, उसने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही आकार ग्रहण किया है। भारत में अंगरेजों के आगमन<sup>१</sup> (१६०० ई०) से इस तरह के विशिष्ट अध्ययन को प्रेरणा मिली। यद्यपि अंगरेजों का भारतीय भाषाओं के अध्ययन का लक्ष्य आरम्भ से पवित्र नहीं था, क्योंकि वस्तुतः वे यहाँ के निवासियों की भाषाएँ सीखकर उनपर अपना साम्राज्यवादी पञ्जा और अधिक दृढ़ करना चाहते थे, तथापि उनकी इस प्रवृत्ति के भी अन्ततोगत्वा बड़े सुखद परिणाम निकले। हिन्दुस्तानी को लेकर अंगरेजों ने कई शब्दकोश और शब्दसंग्रह (डिक्शनरिया और व्होक्युलरिया) संपादित किए, किन्तु ये सब अंगरेजी में ही थे। जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने अपने भाषा सर्वे में इस तरह के कोशों और शब्दावलिओं की एक व्यापक तालिका दी है।<sup>२</sup> इस सूची में अंगरेजी में तैयार कोश ही अधिक हैं, कहना चाहिए कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ होते ही अंगरेजों का ध्यान इस महत्वपूर्ण कार्य की ओर गया और उन्होंने अपने प्रशासनिक सुभीतों के लिए उक्त प्रकार की शब्दावलि बनाई। इस तरह तैयार कुछ व्यक्तिगत टीपे उपयोगी दस्तावेजों के रूप में भी प्रकाशित हुई हैं।<sup>३</sup> कैप्टेन जोसेफ डेलर और

विलियम हटर के नाम इस दृष्टि में उल्लेख्य है। हिन्दी में हिन्दीभाषा-कोश १८६२ ई० में छपा।<sup>१</sup> संभवतः सबसे पहले हिन्दीभाषा-कोश — जिसमें रोमन लिपि में हिन्दी-अंग्रेजी, अंग्रेजी-हिन्दी शब्दार्थ दिए हैं (फर्गुसनकृत) अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लंदन से प्रकाशित हुआ<sup>२</sup> और तदनन्तर यह परम्परा लगभग अटूट चलती रही है। मन् १८६४ ई० में 'श्रीधरभाषाकोश' प्रकाशित हुआ।<sup>३</sup> इसके चार वर्ष पूर्व 'अभिधान-राजेन्द्र' का सियाणा नगर में सूत्रपात हो चुका था।<sup>४</sup> वैसे यूरोप में कोश-रचना एन्सायक्लोपीडिया ब्रिटैनिका के साथ आरम्भ हुई।<sup>५</sup> इसके बाद यह परम्परा अविच्छिन्न बनी रही, जिसने आगे चलकर भारतीय कोश-परम्परा को प्रभावित किया। इस परम्परा में हिन्दी में कई विशिष्ट कोश बने। जिसारस (पर्याय-कोश) की परम्परा भारत में नई नहीं है, किन्तु इधर आधुनिक पद्धति पर पर्याय-कोशों के क्षेत्र में प्रशस्त प्रयत्न हुए हैं।<sup>६</sup> विख्यात हिन्दी-कोशकार स्व० रामचन्द्र वर्मा ने वर्षों पर्यायिकी विज्ञान पर काम किया है। अंग्रेजी ने तो शब्दकोशों के क्षेत्र में अद्वितीय काम किया है, उन्होंने भारतीय चार और दलाल-भाषाओं (आर्गट्स) तक के कोश बनाए हैं। ग्रियर्सन ने अपने भाषा सर्वे में इनकी चर्चा की है।<sup>७</sup>

२ जैन कोश-परम्परा का आविर्भाव १९वीं शताब्दी के नवें दशकान्त से मानना चाहिए। इस दृष्टि से 'अभिधान-राजेन्द्र' प्रथम मानक पूर्वज ठहरता है। इसके बाद कई कोश आए, किन्तु इतना बृहत् कोश नहीं बनाया जा सका। प्राकृत-अर्द्धमागधी के इस प्रथम पारिभाषिक शब्दकोश के आरम्भिक पृष्ठ हिन्दी में है किन्तु शब्द-विवृतियाँ सस्कृत में हैं।<sup>८</sup> प्रश्न उठ सकता है कि आखिर इतने शब्दकोशों की आवश्यकता ही क्यों हुई? बात यह है कि किसी भी शब्द के कई प्रयोगार्थ हो सकते हैं। एक ही शब्द विभिन्न प्रकरणों और मदर्थों में भिन्न-भिन्न अर्थ रख सकता है, वस्तुतः शब्द की इस तरह से विकसित आर्थी छवियों और भगिमाओं को भली-भाँति समझना अतीव दुष्कर कार्य है। शब्द-व्यक्तित्व कई-कई काल-पतों में दबा रहता है। उसकी इन आर्थी विवक्षाओं को कोश की अनुपस्थिति से जानना कठिन ही होता है। कोश जब भी प्रकाश में आता है अपनी पूर्ववर्ती साहित्य-संपदा को स्वीकार करता है। उसकी सामग्री का प्रधान स्रोत यही होता है। इसके बिना वह एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। इस तरह वह अपने पूर्व कालीन और समकालीन प्रयोगार्थों पर ही अवलम्बित रहता है। किसी कोश को शब्दों का एक व्यापक सूचीकरण मात्र मान लेना बहुत बड़ी भूल है, क्योंकि शब्दों की तालिका देना कोश नहीं है, वस्तुतः एक कोशकार को शब्द की अन्तरात्मा में गहरे पैठना होता है और उसके अन्तर्मुख व्यक्तित्व के जाने-अजाने सारे अशो, मुद्राओं और भगिमाओं को देना होता है।

३ शब्दकोशों की अनुपस्थिति में अर्थसंप्रेषण लगभग असंभव ही होता है,

इसीलिए विशिष्ट ज्ञान-क्षेत्रों में विशिष्ट अध्ययन के निमित्त विशिष्ट शब्दकोशों की जो विषय-कोष ही होते हैं आवश्यकता बनी रहती है। जो अर्थविज्ञान के अध्येता हैं, वे अर्थ की जटिलताओं को भली-भाँति जानते हैं, और इस तथ्य से परिचित होते हैं कि किसी भी शब्द का अर्थ सुस्थिर नहीं रहता, उसमें कमोवेश अर्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया सक्रिय रहती ही है। जो शब्द कल शाम तक एक विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त था, संभव है किसी पारिभाषिकता के कारण वही दूसरी शाम अपने अर्थ में सीमित हो उठे। अर्थ-संकोच, अर्थ-विस्तार और अर्थ-परिवर्तन की कुछ प्रमुख दिशाएँ हैं। अर्थविज्ञान का क्षेत्र विभिन्न परिवर्तनों पर विचार करना है, किन्तु जहाँ तक धर्म या दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली का सवाल है, वह रूढ़ होती है और उस पर अर्थ की परिवर्तनशीलता का मदगामी प्रभाव पड़ता है। कई ऐसे शब्द हैं, जो लोकव्यवहार में कुछ और, विशिष्ट ज्ञानक्षेत्र में कुछ अन्य अर्थ रखते हैं, उदाहरणतः 'सधि', 'गुण', 'रस', 'वृद्धि', 'वासना', 'प्रयोग', 'योग', 'ग्राम', 'आगम', ऐसे शब्द हैं जो व्याकरण, राजनीति, आयुर्वेद, काव्य, पाकशास्त्र, गणित, विज्ञान इत्यादि में एक और लोक में उससे जुदा अर्थ रखते हैं। वास्तव में शब्द के सम्यग्ज्ञान के बिना कई गलतफहमियाँ होना संभव हैं।<sup>३३</sup> कई बार धर्म और दर्शन के क्षेत्र में यही हुआ है। इस दृष्टि से जैन दर्शन के शब्दों का अध्ययन हुआ है। उसके कई शब्द अन्य भारतीय दर्शनों में प्रयुक्त शब्दार्थ से भिन्न हैं, यथा—'धर्म', 'आकाश', 'उपयोग', 'अणु', 'आरभ', 'उल्लेखना', 'सम्यक्', 'अनुप्रेक्षा', 'शिक्षा'। अतः आवश्यक है कि ऐसे शब्दों की कालानुक्रमिक आर्थी मुद्राओं को स्पष्ट रूप में व्याख्यापित किया जाए। एक कोशकार ही यह कार्य कर सकता है, वह वस्तुनिष्ठा से शब्दार्थ-अध्ययन करता है। वह शब्दार्थों का सकल्यिता या संपादक होता है, अपनी ओर से न तो वह कोई अतिरंजन करता है, और न ही अतिरिक्त प्रवेश। वह तो तथ्यों को ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत करने वाला व्यक्ति, विश्वसनीय और-प्रामाणिक होता है, इसलिए शब्दकोशों और कोशकारों का समाज को जो बहुमूल्य प्रदेय है, उसके प्रति अपार कृतज्ञता व्यक्त किये वगैर कोई विकल्प हमारे पास नहीं है।

४ आधुनिक पद्धति पर जैन कोशों की रचना का कार्य उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में शुरू हुआ, किन्तु प्रकाशन बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में ही संभव हो सका। 'अभिधान-राजेन्द्र' संकलित १८६० ई० से १९०३ ई० के मध्य हुआ, किन्तु उसका प्रकाशन-कार्य १९१० ई० से पहले शुरू नहीं हो सका। इस कोश के संपादन-संकलन से पूर्व ही अंगरेज भारत में पूरी तरह स्थापित हो चुके थे, स्वभावतः इस पर अंग्रेजी कोश-पद्धति का प्रभाव है। यह कहना तो कठिन ही होगा कि राजेन्द्रसूरी वर और उनके सहयोगी कोशकार अंगरेजी जानते थे, किन्तु यह सच है कि जो लोग कोश के प्रकाशन-सहयोग में तत्पर थे, वे अंग्रेजी भाषा

और साहित्य के किसी-न-किसी रूप में जुड़े हुए थे। वैसे 'अभिधान-राजेन्द्र' स्वयं में परिपूर्ण कोश नहीं है, उसकी भी अपनी सीमाएँ और विवशताएँ हैं, किन्तु वह उस तक हुए प्रयत्नों में सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ है। एक तो वह मस्कृत में है, स्वभावतः इस कारण उसकी व्याप्ति सीमित हो गई है, दूसरे वह उद्धरणों और साक्ष्यों में भरा पड़ा है। श्री शाह ने जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ५ में लिखा है कि कहीं-कहीं तो अवतरणों में पूरे ग्रन्थ तक दे दिये हैं<sup>१३</sup> जो हो वह महाकोश अद्वितीय है और जैन तथा प्राच्य विद्या का एक बहुमूल्य सदर्भ है। इसमें प्रथम भाग के आरम्भ में दिये गये ३ परिशिष्टों<sup>१४</sup> में प्राकृत में सवधित व्याकरणिक सामग्री संयोजित है। इसी तरह उपोद्घात<sup>१५</sup> में भी कई तथ्यों को योजित किया गया है। "आवश्यक कतिपय संकेत" शीर्षक से सहयोगी कोशकार उपाध्याय श्रीमोहनविजयजी ने प्रस्तावना में कई आवश्यक और उपयोगी विषयों पर प्रकाश डाला है<sup>१६</sup>। इस पर रोमनलिपि में 'जैन एन्सायक्लोपीडिया' छपा गया है। वस्तुतः 'डिक्शनरी' और 'एन्सायक्लोपीडिया' में अन्तर है। एक विश्वकोश और शब्दकोश में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि विश्वकोश में विविध शीर्षकों के अन्तर्गत व्यापक जानकारी का आकलन होता है, जबकि एक शब्दकोश में शब्द-विवृतियाँ ही होती हैं<sup>१७</sup>। इस दृष्टि से हम 'अभिधान राजेन्द्र' या उससे मिलते-जुलते कोशों के लिए एक नया अभिधान 'विश्वकोशीय शब्दकोश (एन्सायक्लोपीडिक डिक्शनरी)' चुन सकते हैं। इसमें शीर्षक और शब्द दोनों विवृत हैं।

५ वस्तुतः आधुनिक पद्धति से जैन कोशों की सकलता का कार्य १८६० ई० से आरम्भ हुआ। 'अभिधान-राजेन्द्र' को इस क्षेत्र में हुए प्रयत्नों में मानक और सर्वप्रथम माना जा सकता है। इसके बाद जे० एल० जैनी की 'जैन जेम डिक्शनरी १९१८ ई० में प्रकाश में आयी। इसकी भी अपनी सीमाएँ हैं, स्वयं श्री जैन ने इसे अन्तिम नहीं माना है। उसमें श्री जैनी ने पारिभाषिक शब्दों के अंगरेजी-पर्याय-शब्दों में एकरूपता रखने की बात कही है<sup>१८</sup> क्योंकि उनका अनुभव है कि इन पारिभाषिक या लाक्षणिक शब्दों के अनेक अंग्रेजी पर्याय रखने से पाठक या अध्यक्ता द्विविधा में फँस जाता है, अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि एक तो ऐसे पर्याय-शब्दों का उपयोग किया जाए जो बहुअर्थी न हों और दूसरे सर्वसम्मत हों। श्री जैनी के कोश के बाद १९२३ ई०-१९३२ ई० की कालावधि में श्रीरत्नचन्द्रजी शतावधानी द्वारा पाँच भागों में संपादित 'एन इलस्ट्रेटेड अर्धमागधी डिक्शनरी' नामक कोश प्रकाशित हुआ। इसकी भी अपनी सीमाएँ हैं, समीक्षक मानते हैं कि इसमें कई पर्याय शब्द और कई आर्थी त्रिविधाएँ स्पष्ट नहीं हैं। वही अंगरेजी-पर्याय-शब्दों की एकरूपता की समस्या यज्ञ भी बनी हुई है। अमल में अंगरेजी-पर्याय देनेवाली डिक्शनरियों की यह सीमा तब तक रहेगी जबतक हम एक सर्वसम्मत मस्कृत-प्राकृत अर्धमागधी-हिन्दी-अंगरेजी पर्याय शब्दकोश का प्रकाशन नहीं कर लेते। इसके लिए

किसी विशिष्ट विद्वन्मंडल को योजनाबद्ध कार्य करना चाहिये। इसके बाद १९२४ ई०-१९३४ ई० की समयावधि में श्री बी० एल० जैन द्वारा अबद्ध और श्री शीतलप्रसादजी द्वारा समाप्त 'बृहज्जैन शब्दार्णव' (२ भाग) प्रकाशित हुआ।<sup>११</sup> यह काफी उपयोगी कोश है। और यदि एक ही व्यक्ति की निष्ठा और लगन का परिणाम है तो सचमुच विस्मयजनक है। इसके बाद १९५४ ई० में आनन्दसूरि का 'अल्पपरिचित सैद्धान्तिक शब्दकोश, भाग १' प्रकाशित हुआ, जिसमें जैन सैद्धान्तिक शब्दों को हिन्दी में दिया गया है। इस कोश की अपनी जुदा किस्म की उपयोगिता है।

६ इन कोशों के बाद — जो अपने लक्ष्य में व्यापक और उदार थे — १९६६ ई० में कलकत्ता से एक महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय प्रयत्न हुआ। बाठिया और चौरडिया बन्धुओं ने विषय-कोशों की व्यापक परिकल्पना की। उन्होंने जैन विषयों की एक बृहद् तालिका तैयार की और उसे दशमिक पद्धति पर व्यवस्थित किया।<sup>१२</sup> जैन कोशों के क्षेत्र में यह एक वैज्ञानिक आरम्भ था, किन्तु इस प्रयत्न के अन्तर्गत प्रकाशित 'क्रियाकोश, १९६६' के उपरान्त इसके सबन्ध में कोई समाचार नहीं मिला। उक्त योजना को मात्र जैन-कोश-विज्ञान ही नहीं वरन् सपूर्ण कोश-विज्ञान के क्षेत्र की एक अपूर्व घटना कहा जाना चाहिये। यद्यपि 'लेश्या-कोश' के सामग्री स्रोत विशुद्ध श्वेताम्बर ग्रन्थ है तथापि पद्धति की दृष्टि से इस कोश का प्रकाशन एक ऐतिहासिक प्रसंग है। इससे दिशा ग्रहण कर अधिक वैज्ञानिक कार्य किया जा सकता है। वस्तुतः विषय-कोशों की रचना का कार्य एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, जिसे एक बड़े पैमाने पर उठाया जाना चाहिए। इसके बाद १९७० ई० में 'जैनेन्द्र-सिद्धान्त-कोश' का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। इस कोश का मेरुदण्ड प० गोपाल दास बरैया प्रणीत 'जैन-सिद्धान्त-प्रवेशिका (१९०० ई०)' है।<sup>१३</sup> बरैयाजी की यह गुटकानुमा पुस्तक एक किस्म की जेबी एन्सायक्लोपीडिक डिक्शनरी ही है, जिसमें जैन सिद्धान्तों को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। असल में इस तरह की जेबी डिक्शनरियों का सकलन-संपादन भी युगापेक्षित है। 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' अपने नाम से ही एक पारिभाषिक शब्दकोश है, जिसमें सर्वांगी विषयों को बड़े विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है। 'अभिधान-राजेन्द्र' के उपरान्त यह उसी शृंखला का एक महत्त्वपूर्ण लाक्षणिक शब्दकोश है। इसके सकलयिता हैं क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी। इसके तीन और भाग क्रमशः १९७१, १९७२ और १९७३ में प्रकाशित हुए हैं। इसके बाद जैन सिद्धान्तों को कोश के रूप में प्रस्तुत करने वाला एक कोश वीर सेवा मंदिर, दिल्ली ने प्रकाशित किया है। इसका प्रथम भाग १९७२ और द्वितीय १९७३ में प्रकाशित हुआ है। 'जैन लक्षणावली' अपने पूर्ववर्ती पारिभाषिक शब्द-कोशों से अधिक सार्थक, सफल और वैज्ञानिक है। यह इतनी समस्त है कि इसने 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' की पगडडियों पर चलकर संक्षेप या सारणियों के रूप में

विषयो की पुनरावृत्तियां नहीं की हैं। हिन्दी अनुवाद सटीक और चुने हुए हिस्सों के ही दिये गये हैं। लक्षणावली में दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों संप्रदायों के सामग्री-स्रोतों का यथासम्भव उपयोग और दोहन किया गया है। इसके परिशिष्ट<sup>२३</sup> पर्याप्त उपयोगी हैं, जिनके अन्तर्गत ग्रन्थ, ग्रन्थकार, और कालानुक्रम से अनुक्रमणिकाएँ दी गयी हैं। विद्वान् कोशकार हैं वालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री। एल० डी० इस्टीट्यूट ऑफ़ इंडोलोजी द्वारा 'लक्षणावली' के समानान्तर वर्षों में प्रकाशित 'प्राकृत व्यक्ति वाचक सज्ञा कोश'<sup>२३</sup> भी एक महत्वपूर्ण सदर्थ है। यह अंग्रेजी में है, और श्वेताम्बर सामग्री-स्रोतों पर आधारित है। इसकी सकलना में प्रकाशित-अप्रकाशित सभी प्राकृत ग्रन्थों का उपयोग किया गया है। सकलनकर्त्ता हैं डा० मोहनलाल मेहता और ऋषभ के० चन्द्रा। 'श्रमण' मासिक वाराणसी ने जनवरी १९७६ के अंक में 'जैन-आगम-पदानुक्रम' कोश का प्रकाशन आरम्भ किया है। इसके संपादक हैं डॉ० मोहनलाल मेहता, जमनालाल जैन।<sup>२४</sup>

आगम-शोध-कार्य के वाचना-प्रमुख आचार्य श्री तुलसी तथा संपादक और विवेचक, आगममूर्ति मुनि श्री नथमलजी के निर्देशन में जैन आगम कोश निर्माणाधीन है। इसमें शब्दों के साथ-साथ आगम-ग्रन्थों के सन्दर्भ भी रहेंगे। छह आगमों का कार्य संपन्न हो चुका है। यह जैन विश्व भारती, लाडणू द्वारा प्रकाश्य है।

७ नीचे प्रकाशन-वर्ष-क्रम से कोशों तथा कोशकारों की सारणी प्रस्तुत है

वर्ष	कोश-नाम	भाग	कोशकार	प्रकाशक
+१९१३	अभिधानराजेन्द्र	१ ७	राजेन्द्रसूरि	श्री अभिधानराजेन्द्र कार्यालय, रतलाम
१९१८	जैन जैम डिकशनरी		जे० एल० जैनी	आरा
१९२३	एन इलस्ट्रेटेड अर्द्धमागधी डिकश- नरी (१९२३-३२)	१ ५	रतनचन्द्रजी शातावधानी	अजमेर-बबई
१९२४	वृहज्जैन शब्दार्णव (१९२४-३४)	१, २	वी० एल० जैन और शीतलप्रसाद	वाराणसी-सूरत
१९५४	अल्प परिचित मैद्धान्तिक शब्दकोश	१	आनन्दसागरसूरि	सूरत

+ इस कोश का संपादन १८९० ई० में आरम्भ हुआ और समापन १९०३ ई० में। इसका प्रथम भाग १९१३ और द्वितीय १९१० में प्रकाशित हुआ, संपूर्ण कोश १९१० से १९३४ ई० की समयावधि में प्रकाशित हुआ। राजेन्द्रसूरिजी ने १८९६ ई० में 'पाश्यसद्बुद्धि' का संपादन भी किया था, जो अप्रकाशित है।

१९६६	लेश्याकोश		मोहनलाल बाठिया	१६ सी डोवर लेन
			श्रीचन्द चौरडिया	कलकत्ता-६
१९६६	क्रियाकोश		" "	" "
१९७०	जैनेन्द्र सिद्धान्त- कोश (१९७०-७३)	१-४	क्षु० जिनेन्द्र वर्णी	भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली-१
१९७०	ए डिक्शनरी ऑफ प्राकृत प्राँपर नेम्स (१९७०-७२)	१ २	मोहनलाल मेहता के० रिपभ चन्द्रा	एल० डी० इस्टी- ट्यूट आफ इडोलोजी, अहमदाबाद-६
*१९७२	जैन लक्षणावली (१९७२-७३)	१ २	बालचन्द्र सि०शा०	वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली-६
+१९७५	जैनागम-पदानुक्रम		मोहनलाल मेहता जमना लाल जैन	पार्श्वनाथ विद्याश्रम, शोध संस्थान वाराणसी-५

क आगे अधोलिखित कोशों का संक्षिप्त परिचय एवं मूल्यांकन दिया जा रहा है

- (क) अभिधानराजेन्द्र, ७ भाग राजेन्द्रसूरि अभिधान-राजेन्द्र कार्यालय, रतलाम १९१०-१९३४।
- (ख) लेश्याकोश मोहनलाल बाठिया, श्रीचन्द चौरडिया १६ सी डोवर लेन, कलकत्ता-६ १९६६।
- (ग) जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश, ४ भाग क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी भारतीय ज्ञानपीठ, वी-४५/४७, कनाट प्लेस, नयी दिल्ली-१ १९७०-१९७३।
- (घ) ए डिक्शनरी ऑफ प्राँपर नेम्स, २ भाग मोहनलाल मेहता, के रिपभ चन्द्रा एल० डी० इस्टीट्यूट आफ इडोलॉजी, अहमदाबाद-६ १९७०-१९७२।

\* इसके २ भाग प्रकाशित हो चुके हैं, एक प्रकाश्य है।

+ यह पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी के तत्त्वावधान में प्रकाशित शोध मासिक 'श्रमण' के जनवरी १९७५ से प्रकाशित है। अक्टूबर १९७६ के अंक तक ('अवाहिरिय' शब्द तक) इसका प्रकाशन हुआ है। 'धारावाहिक कोश-प्रकाशन' की दिशा में यह एक स्वस्थ प्रयोग है। नवम्बर, दिसम्बर १९७६ के अंकों में इसका प्रकाशन नहीं हुआ है।

(घ) जैनलक्षणावली, २ भाग वालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागज, दिल्ली-६ १९७२-१९७३।

६ अभिधानराजेन्द्र यह १९वीं शताब्दी के अन्त में संपादित प्राकृत-मागधी शब्दों का एक बृहद् मानक कोश है, जिसकी शब्द-विवृतियाँ संस्कृत में हैं और प्राथमिक जानकारीयों हिन्दी में दी गई हैं। जब यह कोश अपने सकलन-संपादन के दौर में गुजर रहा था तब हिन्दी शब्दकोशों की परम्परा का आरम्भ हुआ-हुआ ही था। हिन्दी में भी उन्नीसवीं शताब्दी में कोश के लिए 'अभिधान' पर्याय प्रयुक्त था। श्रीधरभाषाकोष (१८९४ ई०) की भूमिका में एक वाक्य आया है 'एक भाषा का अभिधान लिखना समयानुसार उचित है'<sup>२५</sup>। प्रसन्नता की बात है कि 'अभिधान-राजेन्द्र' की प्रस्तावना हिन्दी भाषा में लिखी गयी है।<sup>२६</sup> आभारप्रदर्शन, ग्रन्थकर्ता का परिचय, आवश्यक कतिपय संकेत इत्यादि भी हिन्दी में ही दिये गये हैं। इसमें इस तथ्य की सूचना नहीं है कि प्रस्तावना कब लिखी गयी किन्तु लगभग तब ही है कि यह बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशकादि में कभी लिखी गयी है। इससे ऐसा लगता है कि तब तक हिन्दी में कोश-रचना की परम्परा इतनी प्रशस्त नहीं हो पायी थी कि 'अभिधान-राजेन्द्र' जैसे महाकोश को वह झेल पाती, इसलिए संभवतः इसकी रचना हिन्दी की अपेक्षा संस्कृत में हुई है, संभव है और भी कारण रहे हों किन्तु प्रमुख कारण यही प्रतीत होता है। लगता है मुद्रण-संबंधी या संपादन संबंधी किसी कारण से भी ऐसा हुआ हो। कोई धार्मिक कारण भी हो सकता है। प्रकाशन संबंधी एक आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि इसका द्वितीय भाग प्रथम की अपेक्षा ज्येष्ठ है प्रथम १९२३ ई० और द्वितीय १९१० में प्रकाशित हुआ है। संभव है इस घटना की पृष्ठभूमि पर कोई संपादन या मुद्रण-संबंधी कठिनाई रही हो। इस महाकोश का सम्पादन श्रीमद्विजयरजेन्द्रमूरि द्वारा सिधायण (राजस्थान) में आश्विन शुक्ल २, वि० सं० १९४६ में हुआ और १४ वर्षों के अविश्रान्त परिश्रम के बाद चैत्रशुक्ल १३, वि० सं० १९६० को सूरत, गुजरात में समापन सम्पन्न हुआ। यह ७ बृहद् जिल्दों में प्रकाशित एक विशाल कोश है। महाकोश-काल की हिन्दी कैसी थी, इसका एक नमूना ग्रन्थकर्ता की जीवनी से प्रस्तुत है "श्रीविजयरत्नसूरिजी" महाराज तक तो कोई आचार्य पालखी में न बैठे, परन्तु 'लघुक्षमासूरिजी' बृद्धावस्था होने से अपने शिथिलाचारी साधुओं की प्रेरणा होने पर बैठने लगे। अतः रीति कायम रखी कि गाम में आते समय पालखी से उतर जाते थे, तदन्तर 'दयामूरिजी' तो गांव नगर में भी बैठने लगे।"<sup>२७</sup> इस हिन्दी-शैली की तुलना 'श्रीधरभाषाकोष' की भूमिका के अन्तिम अंश से करें "प्रकट हो कि सिवाय मेरे उक्त कोष गोवर्द्धन उपनाम मान त्रिपाठि कान्यकुब्ज निवासी की द्वैत नजीरावाद शहर लखनऊ में भी ग्राहक जनो को मूल्य प्रेषित करने पर प्राप्त हो नकेगा।"<sup>२८</sup>



‘अभिधानराजेन्द्र’ के सबध में अन्य उपयोगी तथ्य इस प्रकार हैं कोशकर्त्ता श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरि (१८२७ ई० १९०६ ई०) हैं, जो श्वेताम्बर समाज के त्रिस्तुतिक वर्ग के एक क्रान्तिनिष्ठ साधु थे। ये सौधर्मबृहत्पागण्डीय आचार्य-परम्परा में ६७वें आचार्य थे जिन्होंने उक्त कोश के अलावा सन् १८६६ में ‘पाइयसद्बुद्धि’ की रचना भी की थी और तत्कालीन यतियों में व्याप्त शिथिला-चार के विरुद्ध एक व्यापक सुधारवादी क्रान्ति की। प्रस्तुत कोश सुपर रायल १।४ २५ सेंटीमीटर चौड़े और ३५ मीटीमीटर लम्बे आकार में छपा हुआ है। इसके मुद्रण में २६ पाइंट ग्रेट न० १ और १२ पॉ० पैका न० १ का उपयोग हुआ है। इसमें तीन प्राचीन भाषाएँ प्रयुक्त हैं प्राकृत, अर्द्धमागधी, संस्कृत। शब्द प्राकृत-अर्द्धमागधी के हैं और शब्दविवृतियाँ संस्कृत में। इसकी रचना में प्रयुक्त सदर्थ ग्रन्थों की संख्या ६७ है और विवृत शब्द ६० हजार हैं। इस महाकोश के सबध में तत्कालीन भारतीय विद्वानों ने ही नहीं अपितु विदेशी विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। जार्ज ग्रियर्सन ने लिखा है “यह विश्वकोश एक सदर्थ-ग्रन्थ की भाँति तथा जैन प्राकृत के अध्ययन के निमित्त अतीव मूल्यवान है।” प्रो० सिल्वा लेवी, आर० एल० टर्नर जैसे भाषाशास्त्रियों ने भी इस कोश की उन्मुक्त प्रशंसा की है। इस कोश का ऐसा कोई परवर्ती कोश नहीं है, जिसने इसका उपयोग न किया हो। यद्यपि इसकी नकलना में श्वेताम्बर सामग्री-स्रोतों का ही उपयोग हुआ है तथापि कोशकार की दृष्टि व्यापक और उदार है। कोश का रूपाकार पर एक विहंगम दृष्टि इस प्रकार संभव है

भाग	प्रकाशन-वर्ष	पृष्ठसंख्या	विवृत शब्दक्रम
प्रथम	१९१३	१४४ + ८६३	अ अहोहिय
द्वितीय	१९१०	११८७	आ—ऊहापन्नत
तृतीय	१९१४	१६३३ + १	ए—छोह
चतुर्थ	१९१३	१४०४	ज नोमालिया
पंचम	१९२१	१६२७	प भोल
षष्ठम	१९३४	१४६८	म त्रासु
सप्तम	१९३४	१२५२	श ह्व
७	२४	६३३६	अ—ह्व ६०,०००

ग्रन्थ की कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार हैं

- १ यह १६वीं शताब्दी का सर्वप्रथम मानक पारिभाषिक कोश है, जो जैन विद्या का एक समग्र चित्र प्रस्तुत करता है। जैन प्राकृत-अर्द्धमागधी पारिभाषिक शब्दों के लिए तो यह एकमेव सदर्थ है।

- २ इसका संपादन १६वीं शताब्दी के अन्त तक विकसित कोशपद्धति के अनुसार तो हुआ ही है, भारतीय कोश-परम्परा का भी इसमें समावेश और निर्वाह हुआ है।
- ३ साधनों के कम होते हुए और जैन ग्रन्थों के मुद्रित रूप में उपलब्ध न होते हुए भी इसकी सकलना जैन ग्रन्थागारों में उपलब्ध पाटुलिपियों के माध्यम से हुई है। निश्चय ही इसकी सकलना में अपार श्रम हुआ है, दुर्लभ सामग्री-स्रोतों के दोहन की दृष्टि से इस महाकोश ने एक अप्रतिम कीर्तिमान स्थापित किया है।
- ४ जैन साधु कितने अध्ययनशील होते हैं, श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरि ने यतियों में से शिथिलाचार समाप्त करने के लिए महाकोश की सकलना का किस तरह का उपयोग किया कि उनका समकालीन यति वर्ग उनके साथ इस काम में प्राणपण से जुट गया, किस तरह यातायात और सचार-साधनों की कमी के बावजूद धर्मसाधना करते हुए जैन साधुओं ने इस महान् कार्य को सफलतापूर्वक संपन्न किया, प्रस्तुत कोश इस सबका एक सर्वोत्तम प्रामाणिक दस्तावेज है।

१० **लेश्याकोश** यह जैन वाङ्मय का श्वेतावर सामग्री-स्रोतों पर आधारित सर्वप्रथम विषय-कोश है। यद्यपि कोशकारों की योजना है कि वे दिगम्बर सामग्री-स्रोतों पर आधारित एक अन्य लेश्या-कोश संपादित करें, तथापि उनकी इस परिकल्पना ने अभी कोई आकार ग्रहण नहीं किया है। प्रस्तुत कोश जैन कोश-विज्ञान के क्षेत्र में एक ऐतिहासिक आरम्भ है। समग्र कोश वैज्ञानिक विधि से संपादित है, इसीलिए इसे हम केवल लेश्या-संबन्धी शब्दों की विवरणिका नहीं कहेंगे, वरन् एक ठोस कोश-रचना का अभिधान देंगे। विद्वान् कोशकारों ने प्रस्तावना में कोश-रचना पद्धति मेंथाडोलोजी पर भी विशद प्रकाश डाला है। संपूर्ण योजना, जिसके अन्तर्गत कई महत्वाकांक्षी सकल्प घोषित हैं, भारतीय कोश-रचना के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण देन है। कोशकारों के शब्दों में 'लेश्या-कोश हमारी कोश-परिकल्पना का परीक्षण ट्रायल है, अतः इसमें प्रथमानुभव की अनेक त्रुटियाँ हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।'<sup>११</sup>

प्रस्तुत कोश एक विशिष्ट कोश है। इन दिनों तीन प्रकार के कोश सामने आये हैं (१) विषय-कोश, (२) ग्रन्थ-कोश, (३) ग्रन्थकार-कोश। कोश-संपादकों ने अनुसंधित्सुओं और अध्येताओं की उन कठिनाइयों का भी ध्यान रखा है, जो किसी विषय के गहन अध्ययन अनुसंधान में व्यवधान उत्पन्न करती हैं। उन्होंने इस तरह के दो-तीन सस्मरण भी प्रस्तावना में दिये हैं।<sup>१२</sup> वैसे कोशकारों ने विशिष्ट पारिभाषिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक विषयों की एक व्यापक सूची बनायी थी और तदनुसार १००० विषय भी चुने थे, किन्तु बाद में इस तालिका

को सीमित कर लिया गया और कुल १०० विषय ही निश्चित कर लिये गये। इन्हें विवृति के लिए दार्शनिक पद्धति से योजित किया गया है। सकलना में तीन बातों का विशेष ध्यान रखा गया है—पाठों का मिलान, विषय के उपविषयों का वर्गीकरण हिन्दी-अनुवाद। इन सावधानियों से कोश अधिक उपयोगी बन गया है। प्रस्तावना केवल 'लेश्या-कोश' के अनुभवों और कोशकारों की प्रयोगधर्मिता का ही विवरण नहीं है, अपितु इसके द्वारा कोशकारों ने अपनी संपूर्ण योजना (प्रोजेक्ट) को भी प्रस्तुत कर दिया है। वस्तुतः उक्त कोश के संपादन में कोशकारों का दृष्टिकोण सुस्पष्ट, निश्चित और वैज्ञानिक है। जैन विद्या के क्षेत्र में यह पहला कोश है, जिसने दार्शनिक पद्धति से विषयों का वर्गीकरण प्रतिपादन किया है। कोश-रचना की प्रक्रिया वैज्ञानिक, प्रयोगधर्मी और समीचीन तो है ही, रोचक और सुविधाजनक भी है। कोश १९६६ ई० में प्रकाशित हुआ है। संपादक परम्परावादी नहीं हैं, प्रयोगधर्मी हैं। कोश रायल आकार में मुद्रित है, इसमें कुल ४० + २९६ = ३३६ पृष्ठ हैं। आरम्भ में एक सार्थक प्रस्तावना है, जिसमें कोशकारों ने कोश की उपादेयता, पद्धति, प्रक्रिया और उपयोगिता पर प्रकाश डाला है, साथ ही उस परिकल्पना को भी स्पष्ट किया है जो कोश की जननशीलता जेनरेटिव्हनेस का द्योतक है। इस तरह यह कोश एक पडाव है, अन्तिम गन्तव्य नहीं है। मूलतः कोशकारों की एक बृहत् योजना है, प्रस्तुत कोश जिसकी एक नगण्य किस्त है। प्रस्तावना से लगा हुआ श्री नथमल टाटिया का प्राक्कथन है, जिसमें उन्होंने कोश की उपयोगिता और उसकी विशिष्टताओं का उल्लेख किया है। हीराकुमारी वोथरा ने आमुख लिखा है, जिसमें अनेक सभावनाओं, योजनाओं और परिकल्पनाओं को दिया गया है। आमुख का व्यक्तित्व समीक्षात्मक है। कुल मिलाकर 'लेश्या-कोश' एक ऐसा संदर्भग्रन्थ है, जिसने न केवल जैनविद्या अपितु प्राच्यविद्या को भी अलंकृत समृद्ध किया है। इसी शृंखला में १९६९ ई० में 'क्रियाकोश' प्रकाशित हुआ है, किन्तु इसके बाद क्या हुआ, वह अविदित है।

**११ जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश** इसे भारतीय ज्ञानपीठ जैसी विख्यात प्रकाशन संस्था ने ४ भागों में प्रकाशित किया है। १९७० ई० — १९७३ ई० की मध्यावधि में प्रतिवर्ष इसका एक भाग प्रकाश में आता रहा है। कोश में जैन तत्त्वज्ञान, आचार-शास्त्र, कर्मसिद्धान्त, भूगोल, इतिहास, पुराण, तत्संबंधी व्यक्ति, राजे-राजवंश, आगम, शास्त्र, शास्त्रकार, धर्म और दर्शन के विविध संप्रदाय इत्यादि से संबन्धित ६००० शब्दों और २१,००० विषयों का सागोपाग विवेचन किया गया है। विद्वान् संपादक क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी और उनकी सहयोगी ब्र० कु० कौशल ने इसकी सकलना में अपरपार परिश्रम किया है। इसमें सकलित सामग्री १०० से अधिक ग्रन्थों से सदोहित है। आरम्भ में संपादकीय है, फिर प्रास्ताविक और संकेत-सूची। प्रास्ताविक में शब्दसकलन और विषय-विवेचन में अनुसृत पद्धति पर प्रकाश डाला

गया है, इसी में सारणियो, चित्रो और मुद्रणाक्षरो के गवन्ध में भी विवरण दिये गये हैं। कोश में सारणियो द्वारा विषय सक्षेप में रूपरेखात्मक शैली में प्रस्तुत किये हैं तथा हिन्दी-अनुवाद भी दिये गये हैं। प्रधान संपादकीय में कोश की परिकल्पना की एक इतिहासिक झलक दी गयी है, कहा गया है कि इस ग्रन्थ का मूल आधार १९०६ ई० में प्रकाशित स्व० प० गोपालदाम वरैया कृत 'जैनसिद्धान्त प्रवेशिका' है। यह कोश द्रव्य, करण, चरण और प्रथमानुयोगो के अन्तर्गत परिगणित विषयो-व्यक्तियों की वर्णक्रमानुसार विवेचना करने वाला एक बहुमूल्य वृहत् कोश है। इसके रूपाकार पर एक विहंगम दृष्टि इस प्रकार सम्भव है

भाग	प्रकाशन-वर्ष	शब्दक्रम	पृष्ठ
प्रथम	१९७०	अ औ	५०३
द्वितीय	१९७१	क न	६३४
तृतीय	१९७२	प-- व	६३७
चतुर्थ	१९८३	श ह	५४४
४	४ वर्ष	अ ह	२३१८

१२ ए डिक्शनरी ऑफ प्राकृत प्राप्पर नेम्स अंगरेजी यह भी एक विशिष्ट कोश है, जिसे एल० डी० इस्टीट्यूट ऑफ इडोलोजी, अहमदाबाद जैसी यशस्विनी संस्था ने दो भागों में प्रकाशित किया है। पहला भाग १९७० ई० और दूसरा १९७२ ई० में प्रकाश में आया है। यह भी प्राच्यविद्या के क्षेत्र का एक अप्रतिम सदस्यग्रन्थ है। दोनों भागों में १०१४ पृष्ठ हैं और ८,००० व्यक्तिवाचक पदों को विवृत किया गया है। संस्था के निदेशक प० दलसुख मालवणिया ने अपने प्राक्कथन में कहा है कि इसकी मूल प्रेरणा 'वैदिक डिकेस' और "डिक्शनरी आफ पालि प्राप्पर नेम्स" से मिली है। यद्यपि "वैदिक डिकेस" और "पालि प्राप्पर नेम्स" को तैयार करना इसलिए सरल-सहज था कि इनके सारे सामग्री-स्रोत लगभग प्रकाश में आ चुके थे किन्तु प्राकृत के लगभग अधिकांश ग्रन्थ अप्रकाशित ही हैं, अतः संपादकों को अनेक पांडुलिपियों से अपना न्यास जुटाना पड़ा है। इसमें केवल श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों से ही पदों का चयन किया गया है तथा आगममूलों के अलावा प्रकाशित टीकाओं, निर्युक्तियों, भाष्यों, चूर्णियों से भी सामग्री आकलित की गयी है। कोश-संपादन में केवल एक दो व्यक्तियों ने नहीं वरन् एक पूरे विद्वन्मण्डल ने काम किया है। कार्ड-विवरण तैयार हो जाने के बाद डा० मेहता और डा० चन्द्रा ने कोश को अन्तिम रूप दिया है। प्राक्कथन यद्यपि बड़ा नहीं है, किन्तु उसमें प्रायः सभी महत्वपूर्ण मुद्दों पर प्रकाश डाल दिया गया है। कोश के प्रथम भाग में अड्ड से फेणामालिणी तथा द्वितीय में वडस से होलिया तक पद संकलित हैं, दोनों में कुल १०१४ पृष्ठ हैं और अन्त में एक शब्दानुक्रमणिका

है। इस तरह इस्टीमेट का यह प्रदेय “लेख्या-कोश” की भाँति ही एक बहुमूल्य प्रदेय है।

**१३. जैनलक्षणावली :** अब तक इसके दो भाग प्रकाश में आये हैं, तीसरा प्रस्तावित अथवा मुद्रणाधीन है। ‘जैनलक्षणावली’ एक पारिभाषिक शब्दकोश है। इसके प्रथम भाग में अ और और द्वितीय में कवचशील पौष्णकाल तक सकलित और व्याख्यायित हैं। प्रथम भाग के आरम्भ में प्राक्कथन अगरेजी, दो शब्द, प्रस्तावना, प्राकृत शब्दों की विकृति वा उनका रूपान्तर इत्यादि हैं, लक्षणावली में कुल ७३० पृष्ठ हैं, जिनमें से प्रथम भाग में १—३१२ और द्वितीय में ३१६—३७० है। प्रस्तावना में विद्वान् कोशकार ने “जैन लक्षणावली” की उपादेयता, उपयोगिता, उसमें स्वीकृत पद्धति, उपयुक्त ग्रन्थों के परिचय, लक्षण वैशिष्ट्य के अन्तर्गत विभिन्न पारिभाषिक शब्दों की बहुविध भूमिमात्रों पर विचार इत्यादि हैं। ग्रन्थान्त में उपयुक्त ग्रन्थों की एक सागोपाग विवरणयुक्त अनुक्रमणिका है, जिसमें ३५१ ग्रन्थ विवृत हैं। इसके तुरन्त बाद ग्रन्थकारानुक्रमणिका है, जिसमें १३७ ग्रन्थकारों के विवरण हैं, तदनन्तर कालानुक्रम से ग्रन्थकारानुक्रमणिका दी गयी है। इस तरह इन तीनों अनुक्रमणिकाओं में महत्त्व की सामग्री संयोजित है। संपादकीय में “जैनलक्षणावली” की परिकल्पना पर प्रकाश डाला गया है। उक्त कोश में दिगम्बर एवं श्वेताम्बर संप्रदायों के लगभग ४०० प्राकृत एवं संस्कृत ग्रन्थों से पारिभाषिक शब्दों की प्रामाणिक सकलना की गयी है। “लक्षणावली”, इस तरह, न केवल जैन विद्या वरन् संपूर्ण प्राच्य जगत् का एक महत्त्वपूर्ण सदस्य ग्रन्थ बन पड़ा है। इसकी परिकल्पना १९३६ ई० में की गई थी, किन्तु आकार १९७२ ई० में दिया जा सका। कोशकार ने जिस अन्त प्रेरणा से कार्य किया है, वह है, कि “अब तक श्वेताम्बर ग्रन्थों के आधार अर्द्धमागधी और प्राकृत शब्दकोश थे, किन्तु ऐसा कोई कोश नहीं था, जिसमें दोनों संप्रदायों के प्रमुख सामग्री-स्रोतों का उपयोग करते हुए किसी कोश की रचना की गई हो, प्रस्तुत कोश में दोनों सांप्रदायिक स्रोतों का उपयोग किया गया है। प्रस्तुत कोश की प्रमुख विशेषता यह है कि न तो यह विशालकाय है और न ही इसमें अधिक जटिलता है, हिन्दी-अनुवाद भी किसी एक चुने हुए अंश का, जो अधिक अस-दिग्ध और सार्थक दिखायी दिया है, किया गया है। कोशकार ने अपने पूर्ववर्ती कोशकारों के अनुभवों का अच्छा उपयोग किया है, यही कारण है कि यह कोश अन्य कोशों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण, सुबोध और उपयोगी है।

१४ उक्त अध्ययन के बाद, जिसमें प्रमुख जैन कोश और कोशकार मूल्यांकित हैं, हम नीचे उन संभावनाओं पर विचार कर रहे हैं, जिन्हें मूर्त रूप दिया जा सकता है। कोशों को हम मुख्यतः ४ कोटियों में विभाजित कर सकते हैं १—शब्दकोश, २ विषय-कोश, ३ ग्रन्थ-कोश, ४ ग्रन्थकार-कोश। अभी

जैन विद्या के क्षेत्र में शब्द और विषय-कोश ही अविक प्रकाश में आये हैं, ग्रन्थकोश और ग्रन्थकार-कोश नहीं ही हैं। विषय-कोशों के अन्तर्गत लेख्या-कोश और क्रिया-कोश उल्लेखनीय हैं। इनके द्वारा एक वैज्ञानिक परम्परा का सूत्रपात हुआ है, जिसे किसी भी स्थिति में अधुणा-अविच्छिन्न रखना चाहिए। अद्यतन जो भी कोश निर्मित हुए हैं, वे लाक्षणिक यानी पारिभाषिक ही हैं, किन्तु इस नीक से हटकर किसी अन्य परम्परा का विकास हम नहीं कर पाये हैं। अंगरेजी, और अब हिन्दी में भी, ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार-कोशों की निर्मिति की ओर कोशकारों का ध्यान गया है। अंगरेजी में गेक्सपीअर इत्यादि पर पृथक् कोश हैं, कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर भी अलग से कोश प्रकाशित हुए हैं। हिन्दी में तुलसी, सूरदास इत्यादि पर अलग से स्वतन्त्र कोश नपादित हुए हैं। प्रसाद-कोश, मूरज-कोश इसी तरह के कोश हैं। जैनवाङ्मय के क्षेत्र में भी अब इस तरह के ग्रन्थकोश और ग्रन्थकारकोश बनाये जाने चाहिये। ---कुन्दकुन्दाचार्य पर स्वतन्त्र कोश बनाया जा सकता है, इसी प्रकार विभिन्न अगमूत्रों पर अलग-अलग कोश-मकलनाएँ संभव हैं। इससे अध्येताओं और अनुसन्धानकर्ताओं को अध्ययन की सुविधाएँ उपलब्ध हो सकेंगी।

१५ इस दृष्टि से ऐसे ग्रन्थों की एक वृहत्तालिका बनायी जाए, जो बड़े हैं, महत्त्व के हैं, और जिनका स्वतन्त्र अध्ययन आवश्यक है। इनमें धवला, महावला, समयसार, मोक्षशास्त्र, महापुराण इत्यादि को सम्मिलित किया जा सकता है। इनके आविर्भाव से ग्रन्थों के अन्तर्मुख अध्ययन के द्वार खुल जाएंगे और कोश-रचना के क्षेत्र में कुछ नये क्षितिज उद्घाटित हो सकेंगे।

१६ ग्रन्थकार-कोशों की दृष्टि से कुछ ऐसे ग्रन्थकारों, जिनमें विभिन्न आचार्य तो होंगे ही, को चुना जाए जिनका जैन विद्या के क्षेत्र में विपुल प्रदेय है। प्राचीन मध्य और आधुनिक युगों में चुने गये इन ग्रन्थकारों की शब्दमपदाओं के स्वतन्त्र सकलन, अध्ययन और संपादन होने चाहिये, जिनमें शब्द-विवृतियाँ तो हो ही सत्रन्धित पात्रों, स्थानों, प्रवृत्तियों, पारिभाषिक शब्दों इत्यादि की भी जानकारीयाँ हों। जहाँ-जहाँ जैन चैयर स्थापित हुई हैं, वहाँ-वहाँ इस-इस तरह की योजनाओं को हाथ में लिया जाना चाहिए, ग्रन्थकोशों और ग्रन्थकारकोशों के माध्यम से तुलनात्मक अध्ययन के नये क्षितिज उजागर होंगे और अनुसन्धान को प्रोत्साहन मिलेगा।

१७ इनके अलावा कुछ तुलनात्मक कोश भी बनाये जाने चाहिये। उदाहरणतः श्वेताम्बर और दिगम्बर संप्रदायों के साम्य और अ-साम्य पर आधारित कुछ वस्तु-मुख और वैज्ञानिक कोश बनने चाहिये। इससे जहाँ एक ओर दोनों संप्रदायों के मध्य एक सेतु स्थापित हो सकेगा, वही दूसरी ओर विशिष्ट अध्ययनों के लिए नयी संभावनाएँ भी जन्म ले सकेंगी। ऐसे कोश विशुद्ध वस्तुनिष्ठा के साथ तैयार होने चाहिये, जिनमें अतिरंजन, अनुरंजन, या तथ्यों को दावने की हीन

प्रवृत्ति को कोई महत्त्व न दिया गया हो। विशुद्ध तथ्यान्वेषणा की दृष्टि से ही ऐसी योजनाओं का सूत्रपात किया जाना चाहिये।

१८ जिस तरह १६०६ ई० में प० गोपालदास वरैया की 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' प्रकाशित हुई उससे कही अधिक वैज्ञानिक विधि से कुछ "जैत्री विश्वकोशीय कोश" प्रकाशित होने चाहिये। ये कोश आकार में लघु हो, किन्तु इनकी प्रामाणिकता और पूर्णता अनदिग्ध हो। अंग्रेजी में 'एन्सिक्लो' कोशों की परम्परा है, हम भी इस तरह की परम्परा का श्रीगणेश कर सकते हैं। ये जैत्री कोश सभी कोटि के हो सकते हैं शब्दकोश, विषय-कोश, ग्रन्थ-कोश, ग्रन्थकार-कोश,। इस तरह के लोकप्रिय कोशों के प्रकाशन की योजनाओं को मूर्तरूप देते समय बड़े उत्तरदायित्व की भावना से काम करना चाहिये, वस्तुतः एक बारह मासी कोश-विभाग ही किसी जैन शोध संस्थान में स्थापित करना चाहिये, जिसमें कोश-संकलन, संपादन, मशोधन, परिवर्धन के अलावा कोई काम हो ही नहीं।

१९ भारत से बाहर कई देशों में कोश-निर्माण को बड़ी गंभीरता से लिया जाता है। कई ऐसे कोश हैं जिनके संपादन के लिए योग्य संपादक नियुक्त हैं, जो आगामी संस्करणों की तैयारी में लगे रहते हैं। ये संपादक अधुनातन प्रकाशनों का अध्ययन करते हैं और जो भी शब्दसंपदा उन्हें सकलनीय दिखाई देती है, उस पर उत्तरदायी भावना से विचार करते हैं और फिर उसे भावी संस्करणों में स्थान देते हैं। ऐसे शब्दों को जो अप्रयुक्त होते हैं, नये संस्करणों में से निकाल लिया जाता है। लेखक को विश्वास है कि किसी संस्था अथवा विश्वविद्यालय के जैन विद्या विभाग में एक ऐसी शाखा स्थापित होगी, जो सतत कोश-रचना का अध्ययन करेगी और एक ऐसा सर्वसम्मत मानक कोश प्रकाशित करेगी, जिसके अभिनव संस्करणों की जैन विद्या जगत् को बराबर प्रतीक्षा बनी रहे। यदि हम कर सके तो यह एक अप्रतिम और अविस्मरणीय कार्य होगा।

## संदर्भ

- 1 Linguistic Survey of India, vol 1A, part 1 G A Grierson  
Summary of important dates, p 11
- 2 Ibid Section II, pp 16-27
- 3 Ibid p 18
- 4 Ibid p 25 Baiju Das, Baba, Bibek Kosh (A Hindi  
Dictionary in Hindi) Bankipore, 1892
- 5 Ibid p 17, London 1773
- ६ श्रीधरभाषाकोष प० श्रीधर त्रिपाठी नजीरावाद, लखनऊ १८९४।
- ७ कोशकला रामचन्द्र वर्मा साहित्यरत्न-माला कार्यालय, २० धर्मकूप, वाराणसी १९४८।

- ८ पालिकोससगहो डा० भागचन्द्र जैन भास्कर आलोक प्रकाशन, गांधीचौक, सदर, नागपुर १९७४
- ९ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५ पञ्चलाल प्रेम्शाह पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी ५ १९६६।
- १० अभिधानराजेन्द्र राजेन्द्रसूरि श्री अभिधान-राजेन्द्र कार्यालय, रतलाम १९१०-भाग १-७-१९३४।
- ११ लेश्याब्जोश मोहनलाल वाठिया, श्रीचन्द्र चौरडिया, १६-सी, डोवर लेन, कलकत्ता-६ १९६६।
- १२ जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग १-४ जिनेन्द्र वर्णी भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली १९७० १९७३।
- १३ जैनलक्षणावली, भाग १-२ वानचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली १९७२ १९७३।
- १४ बृहत् पर्यायवाची कोश मोलानाथ तिवारी किताब महल प्राइ० लिमि०, ५६ ए जी रोड, इलाहाबाद प्र० १९५४, द्वि० १९६२।
- १५ 'तीर्थंकर' मासिक, इन्दौर राजेन्द्रसूरीश्वर विशेषांक हीरा मैया प्रकाशन, ६५, पत्तकार कालोनी, कनाडिया रोड, इन्दौर-१ जून-जुलाई १९७५।
- १६ शब्दार्थ-दर्शन रामचन्द्र वर्मा रचना प्रकाशन, इलाहाबाद १९६८।
- १७ Dictionaries Kenneth whittaker Asia Publishing House, Bombay 1966
- १८ Linguistic Survey of India, vol ix part 1 G A Grierson Motilal Benarasidas, Delhi 1916, reprint 1963
- १९ Prakrit Proper, Part I & II, compiled by Mohan Lal Mehta, K Rishbhachandra L D Institute of Indology, Ahmedabad-9 1970, 1972.



## शब्दकोश की प्राचीन पद्धति

मुनि दुलहराज

जैन आगम साहित्य में द्वादशांगी का प्रथम स्थान है। आचार्य, सूयगणो आदि अंग हैं। वारहवा अंग है दृष्टिवाद। चौदह पूर्व इसी के अन्तर्गत हैं। सत्यप्रवाद और विद्याप्रवाद ये दो पूर्व शब्दों के अनुशासन से सबधित हैं। जब तक पूर्वधर रहे, तब तक अन्य शब्दानुशासन की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। काल के प्रवाह में दृष्टिवाद की परंपरा लुप्त हो गई। केवल ग्यारह अंग शेष रहे। वे लिपिबद्ध नहीं थे। वह प्रवचन-काल था। सारा ज्ञान प्रवचन के माध्यम से सुरक्षित रखा जाता था। गुरु-शिष्य की परंपरा सुदृढ़ थी। काल बीतता गया। आगम-युग का अन्त हुआ। आगमों को समझना-समझना दुर्लभ-सा होने लगा। अतः व्याख्या-साहित्य लिखा जाने लगा। प्राकृत भाषा चल ही रही थी। लोग इसको समझते थे। आचार्यों ने प्राकृत भाषा में निर्युक्तियाँ और भाष्य लिखे।

प्राकृत के युग का दीप टिमटिमा रहा था। आगम की प्राकृत-व्याख्याएँ समझना भी कष्टसाध्य हो गया। संस्कृत का युग प्रारम्भ हो रहा था। कतिपय आचार्यों ने प्राकृत और संस्कृत इन दो भाषाओं का मिश्रण कर चूर्णि-साहित्य रचा।

उस समय तक कोश की परंपरा नहीं थी। आगमों के साथ ही साथ शब्द-ज्ञान भी करा दिया जाता था। किन्तु जब ऐसे आचार्यों की परंपरा विलुप्त हो गई तब कोश या व्याकरण को अलग से सिखाने की आवश्यकता महसूस हुई।

जैन परंपरा में चूर्णिकाल तक कोश-ज्ञान के लिए अलग ग्रन्थों का निर्माण नहीं हुआ था। चूर्णिकार व्याख्या के साथ-साथ शिष्य को पर्यायवाची शब्दों का भी ज्ञान करा देते थे। शिष्य को पर्यायवाची शब्दों के लिए अन्यत्र भटकना नहीं पड़ता था। यह एक बात है।

दूसरी बात है कि जैन आगम अर्धमागधी प्राकृत में लिखे गए हैं। इन सबका लिपिकाल है भगवान् महावीर के निर्वाण की दसवीं शताब्दी का अन्त। अर्धमागधी प्राकृत में अठारह देशी भाषाओं का सम्मिश्रण है—यह विद्वत्-मम्मत तथ्य है। जैन श्रमणों का विहार भारतवर्ष के विभिन्न अंचलों में होता रहा। विभिन्न प्रदेशों के मुमुक्षु जैन श्रमण बने। उनकी अपनी बोली थी। भगवान् महावीर के प्रवचनों की मूल भाषा में उन बोलियों के शब्द मिश्रित होते गए। हजारो-हजारो शब्द आगम साहित्य में आ गए। उन स्थलों की व्याख्या करते समय बहुश्रुत आचार्य शब्दों के पर्यायवाची शब्द देते गए। इसका तात्पर्य है कि वे विभिन्न पर्यायवाची शब्दों के माध्यम से विभिन्न बोलियों के शब्द प्रस्तुत कर तद्-तद्-देशीय श्रमणों की जिज्ञासाओं को समाहित करते गए। उन नानादेशीय शब्दों को एकार्यक कह कर सकलन कर दिया जाता था। इसे शब्दकोश के निर्माण का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है।

माना जाता है कि लगभग एक हजार शब्दकोश निर्मित हुए हैं। प्रकाश में आनेवाला सबसे पहला संस्कृत शब्दकोश है अमर कोश। इससे पूर्व कोई शब्दकोश प्रकाशित नहीं हुआ था। विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न कोशों के उद्धरण प्राप्त होते हैं किन्तु उनका समग्र रूप आज अप्राप्त है। वे कभी प्रचलित रहे होंगे, किन्तु आज वे लुप्तप्राय हैं।

जैन परंपरा में शब्दकोश का मूल आगम-साहित्य, निर्युक्ति, भाष्य और चूर्ण में उपलब्ध होता है। भगवती सूत्र में कोश की उत्पत्ति के विषय में सुन्दर चर्चा प्रस्तुत है। गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा 'भते ! क्या ये नौ पद एकार्यक, नाना धोष और नाना व्यंजन वाले हैं अथवा अनेकार्यक, नाना धोष और नाना व्यंजन वाले हैं ?

भगवान् महावीर ने कहा 'गौतम ! इनमें से प्रथम चार पद एकार्यक, नाना धोष और नाना व्यंजन वाले हैं और शेष पांच पद अनेकार्यक, नाना धोष और नाना व्यंजन वाले हैं।'

वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि ने इस विषय में चार विकल्प प्रस्तुत किए हैं

१. एकार्यक, एक व्यंजन वाले यथा क्षीर क्षीर, आदि।
२. एकार्यक, अनेक व्यंजन वाले यथा क्षीर, पय आदि।
३. अनेकार्यक, अनेक व्यंजन वाले—यथा अर्कक्षीर, गव्यक्षीर, महिषक्षीर आदि।

४. नानार्थक, नाना व्यंजन वाले यथा घट, पट, लकुट आदि।  
इनमें दूसरा और चौथा विकल्प कोश की उत्पत्ति का मूल है।

चलमान चलित, उदीर्यमाण उदीरित, वेद्यमान वेदित और प्रहीयमाण

प्रहीण ये चार पद उत्पाद-पर्याय की अपेक्षा से एकार्थक, नानाघोष और नाना-व्यजन वाले हैं।

छिद्यमान छिन्न, भिद्यमान भिन्न, दह्यमान दग्ध, त्रियमाण मृत और निर्जिर्यमाण निर्जीर्ण ये पाच पद विनाश की अपेक्षा से नानार्थ, नानाघोष और नाना व्यजन वाले हैं। इनका नानार्थ इस प्रकार है

- छिद्यमान छिन्न यह कर्मों के स्थिति-वध की अपेक्षा से है।  
इसमें स्थिति का विनाश है।
- भिद्यमान भिन्न—यह कर्मों के अनुभाग-वध की अपेक्षा से है।  
इसमें अनुभाग का विनाश है।
- दह्यमान दग्ध यह कर्मों के प्रदेश-वध की अपेक्षा से है।  
इसमें प्रदेश का विनाश है।
- त्रियमाण मृत यह कर्मों के आयुष्य-वध की अपेक्षा से है।  
इसमें आयुष्य का विनाश है।
- निर्जिर्यमाण निर्जीर्ण यह कर्मों के समग्र अभाव की अपेक्षा से है।

जीव के अभिवचन भगवती सूत्र में 'जीव' शब्द के अनेक अभिवचन एकार्थ शब्द बतलाए हैं, जैसे

जीवे (जीव), पाणे (प्राण), भूए (भूत), सत्ते (सत्त्व), विण्णू (विज्ञ), जेया (जेता), आया (आत्मा), रगण (रगण), हिंदुए (हिंदुक), पोग्गले (पुद्गल), माणवे (मानव), कत्ता (कर्त्ता), विकत्ता (विकर्त्ता), जत्तू (जन्तु), जोणी (योनि), सयभू (स्वयभू), ससरीरी (सशरीरी), नायए (नायक), अतरप्पा (अन्तरात्मा) आदि।<sup>१</sup>

आकाश के अभिवचन आग्गासे (आकाश), गगणे (गगन), नभे (नभ), समे (सम), विसमे (विषम), खहे (ख), विहे (विह), वीथी (वीथि), विवरें (विवर), अवरे (अम्बर), छिड्डे (छिद्र), मग्गे (मार्ग), विमुहे (विमुख), आधारे (आधार), वोमे (व्योम), भायणे (भाजन), अतलिकखे (अतरिक्ष), अगमे (अगम), फलिहे (स्फटिक, परिघ), अणत्ते (अनन्त) आदि।<sup>२</sup>

क्रोध के एकार्थक शब्द कोहे (क्रोध), कोवे (कोप), रोसे (रोष), दोसे (दोष), अखमा (अक्षमा), सजलणे (सज्वलन), कलहे (कलह), चडिक्के (चाडिक्क), झडणे (झडन), विवादे (विवाद)।<sup>३</sup>

मान के एकार्थक शब्द माणे (मान), मदे (मद), दप्पे (दर्प), थमे (स्तम्भ), गव्वे (गर्व), अत्तुक्कोसे (अत्युत्कर्ष), परपरिवाए (परपरिवाद), उक्कोसे (उत्कर्ष), अवक्कोसे (अपकर्ष), उण्णत्ते (उन्नत), उण्णामे (उन्नमन), दुण्णामे (दुर्नाम)।<sup>४</sup>

माया के एकार्थक शब्द—माया (माया), उवही (उपधि), नियडी (निकृति),

वलए (वलय), गहणे (गहन), णूमे (णूम), कक्के (कल्क), कुएए (कुरक), जिम्हे (जिम्ह), किव्विसे (किल्विप), आयरण्या (आदरण), गूहण्या (गूहन), वचण्या (वचन), पलिउचण्या (परिकुचन) सातिजोगे (साचियोग) ।<sup>१</sup>

लोभ के एकार्यक शब्द— लोभे (लोभ), डच्छा (डच्छा), मुच्छा (मूच्छा), कखा (काक्षा), गेही (गृद्धि), तण्हा (तृष्णा), भिज्जा (भिध्या), अभिज्झा (अभिध्या), आसासण्या (आश्वासन), पत्थण्या (प्रार्थना), लालप्पण्या (लालपन) कामासा (कामाशा), भोगासा (भोगाशा), जीवियासा (जीविताशा), मरणासा (मरणाशा), नदिरागे (नदिराग) ।<sup>२</sup>

प्रश्नव्याकरण दसवा अंग है। इसमें भी एकार्यक शब्दों का अनेक स्थलो पर निर्देश हुआ है। वहा प्राणवध (हिंसा) के तीस पर्याय नाम बताए हैं। उनमें से कुछेक ये हैं

अवीसभो (अविश्रभ), अकिज्ज (अकृत्य), घायणा (घातन), मारणा (मारण), वहणा (वध), उद्दवणा (उद्रवण), मच्चू (मृत्यु), असजमो (असयम), दुग्गतिप्पवाओ (दुर्गतिप्रपात), पावकोवो (पापकोप), पावलोभो (पापलोभ), वज्जो (वर्ज्य), आदि ।<sup>३</sup>

इसी सूत्र में असत्य के तीस नाम गिनाए हैं। उनमें से कुछेक ये हैं

अलिय (अलीक), सठ (शठ), अणज्ज (अनार्य), कक्कणा (कल्कन), वचना (वचना), साती (साचि), अट्ट (आर्त), अम्मवखाण (अभ्याख्यान), किव्विस (किल्विप), अप्पज्जओ (अप्रत्यय), असमओ (असमय), नूम (नूम), आदि-आदि ।<sup>४</sup>

अब्रह्मचर्य के तीस नामों में से कुछेक ये हैं

अवभ (अब्रह्म), मेहुण (मैथुन), सकप्पो (सकल्प), दप्पो (दर्प), मोहो (मोह), मणसखोभो (मन सक्षोभ), अणिग्गहो (अनिग्रह), विव्वमो (विश्रम), अधम्मो (अधर्म), वेर (वैर), रहस्स (रहस्य), कामगुणो (कामगुण) ।<sup>५</sup>

परिग्रह के तीस नामों में से कुछेक ये हैं

परिग्गहो (परिग्रह), सचयो (सचय), चयो (चय), उवचयो (उपचय), निहाण (निधान), दव्वसारो (द्रव्यसार), महिच्छा (महेच्छा), कलिकरडो (कलिकरड), अणत्थो (अनर्थ), सत्थवो (सस्तव), अमुत्ती (अमुक्ति), तण्हा (तृष्णा), आसत्ती (आसक्ति), असतोसो (असतोप) ।<sup>६</sup>

अहिंसा के साठ पर्यायवाची नामों में से कुछेक ये हैं

अहिंसा (अहिंसा), दीवो (द्वीप), ताण (त्तान), सरण (शरण), निव्वाण (निर्वाण), रती (रति), विरती (विरति), विसुद्धी (विशुद्धि) ।<sup>७</sup>

आगमों के व्याख्या-साहित्य में निर्युक्तियों का प्रथम स्थान है। आचार्य भद्रबाहु द्वितीय ने अनेक आगमों पर निर्युक्तियाँ लिखीं। वे पद्यमय हैं। उनकी

भाषा है प्राकृत। निर्युक्तियों में अनेक स्थलों पर एकार्थक शब्दों की चर्चा है।

- प्रवचन के एकार्थक शब्द सुयधम्म (श्रुतधर्म), तित्थ (तीर्थ), मग्ग (मार्ग), पावयण (प्रावचन), पवयण (प्रवचन)।
- सूत्र के एकार्थक शब्द सुत्त (सूत्र), तत्त (तत्त), गथ (ग्रन्थ), पाढो (पाठ), सत्थ (शास्त्र)।<sup>१२</sup>
- अनुयोग (अर्थ) के एकार्थक शब्द अणुयोग (अनुयोग), नियोगो (नियोग), भास (भाषा), विभासा (विभाषा), वत्तिय (वातिक)।<sup>१३</sup>
- सामायिक शब्द के पर्याय सामाइय (सामायिक), समइय (समयिक), सम्मावाओ (सम्यग्वाद), समास (समास), सखेवो (सक्षेप), अणवज्ज (अनवद्य), परिण्णा (परिज्ञा), पण्यक्खाने (प्रत्याख्यान)।<sup>१४</sup>  
साम (साम), सम (सम), सम्म (सम्यक्), इग (इक)<sup>१५</sup>। समयो (समता), समात्त (सम्यक्त्व), पसत्थ (प्रशस्त), सत्ति (शान्ति), सुविहिअ (सुविहित), सुह (शुभ), अर्निद (अर्निन्द), अदुगुछिअ (अजुगुप्सित), अगर्हिअ (अगर्हित), अणवज्ज (अनवद्य)।<sup>१६</sup>

जैन आगमों के व्याख्या-साहित्य में चूर्णियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनेक आगमों पर चूर्णियाँ लिखी गईं। ये सब संस्कृत + प्राकृत में लिखी गईं। इनका रचनाकाल विक्रम की पाचवी-सातवी शताब्दी है। जिनदास महत्तर चूर्णिकारों में अग्रणी हैं। उनकी अनेक चूर्णियाँ आज उपलब्ध हैं। दशवैकालिक सूत्र पर एक प्राचीन चूर्ण जैसलमेर भंडार में मुनि पुण्यविजय जी को प्राप्त हुई थी। उन्होंने उसके फोटो प्रिन्ट करवाए। वह अगस्त्यासिंह स्थविरकृत है और उसका काल विक्रम की तीसरी से पाचवी शताब्दी का अन्तराल माना जाता है। वह अभी-अभी प्रकाशित हुई है। उसका सर्वप्रथम उपयोग हमने 'दसवेआलिय' के संपादन तथा विवेचन के समय किया है। इन चूर्णियों में अनेक शब्दों के पर्याय-नाम उल्लिखित हैं। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं

- मग्गतोत्ति वा पिट्ठउत्ति वा।<sup>१७</sup>
- अप्पियववहारियत्ति वा विसेसादिट्ठत्ति वा एगट्ठा।<sup>१८</sup>
- भाणत्ति वा परिच्छेदोत्ति वा गहणपगारोत्ति वा एगट्ठा।<sup>१९</sup>
- अभिप्पायोत्ति वा बुद्धिनिवा एगट्ठ।<sup>२०</sup>
- उज्जोत करेतीत्ति प्रकटन करोतीत्ति प्रकाशयतीत्यर्थ।<sup>२१</sup>
- खमत्ति वा तित्तिक्खत्ति वा कोहनिरोहत्ति वा।<sup>२२</sup>

आचार शब्द के पर्यायवाची नाम—

- आयारो (आचार), आचाले (अचाल),
- आगालो (आगाल), आगारो (आगार),
- आसासो (आश्वास)।<sup>२३</sup>

- सातति वा सुहति वा अभयन्ति वा परिणिष्ठाति वा एगट्ठा ।<sup>३४</sup>
- असातति वा अपरिणिष्ठाति वा महम्भयति वा एगट्ठा ।<sup>३५</sup>
- तसतित्ति वा उव्वयति वा सकुयति वा वीभिति वा एगट्ठा ।<sup>३६</sup>
- वग्धो वक्खोडो वधणति वा एगट्ठा ।<sup>३७</sup>
- विजयो विचारणा मग्गणा एगट्ठा ।<sup>३८</sup>
- मूल प्रतिष्ठा आधारा वा एगट्ठा ।<sup>३९</sup>
- सुरेत्ति वा वीरेत्ति वा सत्ति एत्ति वा एगट्ठा ।<sup>४०</sup>
- समणेत्ति वा माहणेत्ति वा मुणित्ति वा एगट्ठा ।<sup>४१</sup>
- सगोत्ति वा विग्थोत्ति वा वक्खोडित्ति वा एगट्ठा ।<sup>४२</sup>
- अज्झत्थित ऊहित गुणित चित्तित्ति एगट्ठा ।<sup>४३</sup>
- फुसिते दुज्झोस एत्ति वा एगट्ठा ।<sup>४४</sup>
- आणत्ति वा नाणत्ति वा पडिलेहित्ति वा एगट्ठा ।<sup>४५</sup>
- कखति पत्थत्ति गच्छति एगट्ठा ।<sup>४६</sup>
- वसित्तु वा पालित्तु वा एगट्ठा ।<sup>४७</sup>
- पज्जवोत्ति वा भेदोत्ति वा गुणोत्ति वा एगट्ठा ।<sup>४८</sup>
- णाणत्ति वा सवेदणत्ति वा अधिगमोत्ति वा चेतणत्ति वा भावत्ति वा एते सद्वा एगट्ठा ।<sup>४९</sup>
- परिगिज्झत्ति वा पत्थणत्ति वा गिद्धित्ति वा अभिलासोत्ति वा लेप्पत्ति वा करवत्ति वा एगट्ठा ।<sup>५०</sup>
- विउस्सग्गोत्ति वा विवेगोत्ति वा अधिकिरणत्ति वा छड्डणत्ति वा वोसिरणत्ति वा एगट्ठा ।<sup>५१</sup>
- चिक्कणत्ति वा दासणत्ति वा एगट्ठा ।<sup>५२</sup>
- गुणोत्ति वा पज्जतोत्ति वा एगट्ठा ।<sup>५३</sup>
- णामतिवा ठाणत्ति वा भेदोत्ति वा एगट्ठा ।<sup>५४</sup>
- मलति वा पावति वा एगट्ठा ।<sup>५५</sup>
- मुणित्ति वा नाणित्ति वा एगट्ठा ।<sup>५६</sup>
- लगलति वा हलति वा एगट्ठा ।<sup>५७</sup>
- कित्ति-वण्ण-सद्-सिलोगट्ठया एगट्ठा ।<sup>५८</sup>

ये उदाहरण शब्दकोश के निर्माण का प्रारम्भिक रूप प्रस्तुत करते हैं। मूल आगम और उनके व्याख्या-ग्रन्थ इन उदाहरणों से भरे पडे हैं। इस एकार्थक शब्द-सकलना से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये अनेक भाषाओं में व्यवहृत देशीय शब्द शिष्यों के लिए शब्दकोश का कार्य करते और विभिन्न प्रान्तों के शिष्यों के लिए भगवद् वाणी को समझने में सहयोगी बनते।



३८	"	"	पृ० ४३ ।
३९	"	"	पृ० ४४ ।
३०	"	"	पृ० ८३ ।
३१	"	"	पृ० ९३ ।
३२	"	"	पृ० १७० ।
३३	"	"	पृ० १७१ ॥
३४	"	"	पृ० १७३ ।
३५	"	"	पृ० १९८ ।
३६	"	"	पृ० २०५ ।
३७	"	"	पृ० २०९ ।

३८ दशवैकान्तिक चूणि (जिनदासकृत) पृ० ४ ।

३९	"	"	पृ० १० ।
४०	"	"	पृ० ३० ।
४१	"	"	पृ० ३७ ।
४२	"	"	पृ० २३२ ।
४३	"	"	पृ० २६६ ।
४४	"	"	पृ० ३५३ ।
४५	"	"	पृ० २९४ ।
४६	"	"	पृ० ३२४ ।
४७	"	"	पृ० २५४ ।
४८	"	"	पृ० ३२८ ।



## संस्कृत के जैन पौराणिक काव्यों की शब्द-सम्पत्ति (पद्मपुराण, हरिवंशपुराण आदिपुराण तथा उत्तर- पुराण के सन्दर्भ में)

डा० रमाकान्त शुक्ल

संस्कृत के जैन पौराणिक-काव्यों की शब्द-सम्पत्ति पर विचार करते समय महाकवि माधव का यह वाक्य सहसा ध्यान में आ जाता है “शब्दार्थौ सत्क-  
विरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।” पौराणिक काव्यों की सर्जना करते समय जैन-कवि  
शब्दों के प्रयोग में बड़ा जागरूक रहा है। अपने युग के सम्पूर्ण जीवन तथा  
चिन्तन को, शब्दों के माध्यम से, वह एक ही काव्य में अन्तर्भुक्त करके प्रस्तुत  
करना चाहता है और अपने पाठक को ‘कान्तासम्मिततयोपदेश’ देने के साथ-साथ  
उसके सामान्य और विशिष्ट ज्ञान में परिवर्द्धन भी करना चाहता है। वह अपने  
पाठक को केवल कल्पना-लोक-विचरण का ही अवसर देने में अपने कर्तव्य की  
इतिश्री नहीं समझ लेता अपितु उससे अपेक्षा रखता है कि वह अपने देश-काल  
से परिचित रहे एवं लोक से अपने को कटा हुआ न अनुभव करे। वह अपने समय  
तक विद्यमान लोक तथा शास्त्र को अपने शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत करता है।  
संस्कृत के जैन पौराणिक काव्यों में प्रयुक्त महान् अर्थवैभव के व्यञ्जक शब्दों का  
अनुशीलन करने के लिए पाठक को भी लोक और शास्त्र की व्यापक और गम्भीर  
पैठ अपेक्षित है। जैन-चार्य रविषेणकृत ‘पद्मपुराण’ पुत्राटसघी जिनसेनाचार्यकृत  
‘हरिवंशपुराण’ भगवज्जिनसेनाचार्य विरचित ‘आदिपुराण’ तथा गुणभद्रकृत  
‘उत्तरपुराण’ ऐसे ही संस्कृत के जैन पौराणिक काव्य हैं जिनकी शब्द-सम्पत्ति  
पर हम, प्रस्तुत लेख में स्थान-सापेक्ष विचार करना चाहते हैं।

इन चारों ग्रन्थों को हमने ‘पुराण’ न मानकर ‘पौराणिक काव्य’ माना है।  
हमारी इस धारणा को इन चारों ग्रन्थों की रचना-पद्धति पुष्ट करती है। ‘पुराण’  
नाम रखने पर भी इनके कवि इन्हे काव्योचित गुणों से सम्पन्न रखना चाहते हैं।  
रविषेण बाणभट्ट तथा कालिदास की शैली में ‘पद्मपुराण’ की रचना करते हैं।

‘हरिवंशपुराण’ के कर्ता ‘पर्वो’ के स्थान पर सर्गों-से अपनी कृति का विभाजन करते हैं तथा अपनी रचना को ‘काव्य’ स्वीकार करते हैं।<sup>१</sup> कही विपरीत लक्षणा से इसकी काव्यात्मकता व्यञ्जित होती है।<sup>२</sup> ‘आदिपुराण’ के कर्ता तो स्पष्ट कवि, कविता, काव्य तथा अलंकार आदि की चर्चा करते हुए अपने ग्रन्थ को ‘महाकाव्य’ स्वीकार करते हैं।<sup>३</sup> गुणभद्र भी ‘अपह्मन्ति तान्यकाव्य और ‘मिव्या-कविदर्पदलन’ आदि पदों से अपनी रचना को काव्य स्वीकार करते हैं।<sup>४</sup> गुणभद्र के शिष्य लोकसेन भी जिनसेन, गुणभद्र तथा स्वयं को ‘कवि’ कहते हैं।<sup>५</sup> इन सभी कवियों ने पौराणिक कथ्य को काव्य-शिल्प में मवलित करके अपने साम्प्रदायिक और धार्मिक दायित्व के साथ-साथ साहित्यिक और सांस्कृतिक दायित्व का निर्वह किया है। ‘पुराण’ नामधारी होने से इन ग्रन्थों के प्रति श्रद्धा होना स्वाभाविक है और श्रद्धापूर्वक इनका पारायण करने पर पाठक इनमें एक ही स्थान पर इतना कुछ पा लेता है जितना और कई स्थानों पर मिलना अशभव है।<sup>६</sup> न तज्ज्ञानं न तच्छिल्प न सा विद्या न सा कला। जायते यन्न काव्यागमहो भारो महान् कवे: ॥<sup>७</sup> जैसी उक्तियाँ इन काव्यों के विषय में अन्वर्थ सिद्ध होती हैं। लगभग २०० वर्षों के अन्तराल (६८० ई० से ८६७ ई०) में आनुपूर्वी से रचित इन पौराणिक काव्यों का सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषावैज्ञानिक, शैली शास्त्रीय, धार्मिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोणों से अभी तक उतना अध्ययन नहीं हो पाया जितना कि होना चाहिए। अध्ययन की अनेक तरंगों से इनके विषय में महत्वपूर्ण परिणाम निकल सकते हैं।

प्रस्तुत निम्नवध में हम इन काव्यों की शब्द-सम्पत्ति का एक सर्वेक्षणात्मक परिचय देने का प्रयत्न करेंगे। इन चारों ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उत्तरवर्ती ग्रन्थ पूर्ववर्ती का पूरक है। साहित्य, समाज, जीवन, कला, दर्शन, धर्म, देश-काल आदि से सम्बद्ध जिस शब्द-सम्पत्ति का उपयोग पूर्ववर्ती कवि ने किया है उसमें उत्तरवर्ती कवि ने अपने काल तक वृद्धिगत शब्द-सम्पत्ति को और जोड़ दिया है। उदाहरणार्थ, रविपेण ‘समवसरण’ का वर्णन करते समय जिन पारिभाषिक शब्दों को छोड़ गये थे उनका ‘हरिवंशपुराण’ कार<sup>८</sup> तथा ‘आदिपुराण’ कार<sup>९</sup> ने उपयोग किया। रविपेण के कथा की कलाओं की चर्चा करते हुए संगीत-शास्त्रपरक शब्दावली<sup>१०</sup> में जिन शब्दों को निविष्ट नहीं कर पाये उनका प्रयोग जिनसेन ने अपने ‘हरिवंशपुराण’<sup>११</sup> में किया है। सामुद्रिक-शास्त्र परक शब्दावली का प्रयोग रविपेण नहीं कर पाये थे, जिनसेन ने ‘हरिवंशपुराण’ में उसका प्रयोग किया।<sup>१२</sup> क्रियामन्त्र तथा कर्मकाण्ड परक जिस शब्दावली का प्रयोग ‘पद्मपुराण’ तथा ‘हरिवंश पुराण’ में नहीं हो सका उसका प्रयोग ‘आदिपुराण’ में दृष्टिगत होता है।<sup>१३</sup> क्षेत्र-काल-परक शब्दावली का जितना प्रयोग ‘पद्मपुराण’ में हुआ उससे कहीं अधिक ‘हरिवंशपुराण’ और ‘आदिपुराण’ में हुआ है। नामपरक

शब्दावली के प्रयोग में भी यही स्थिति देखने को मिलती है। चौरासी गणधरो के नामों का निर्देश रविपेण नहीं कर पाये थे तो इस कार्य को जिनसेन ने 'हरिवंशपुराण' में पूरा कर दिखाया।<sup>१४</sup> जिनेन्द्र के एक सहस्र आठ नामों को पद्मपुराणकार और हरिवंशपुराणकार नहीं गिना सके तो उन्हें आदिपुराणकार ने गिना दिया।<sup>१५</sup>

वर्णश्रम-स्थिति, पट्कर्म तथा ग्रामनगरसन्निवेशपरक शब्दावली का रविपेण पूर्ण प्रयोग नहीं कर पाये तो इसे जिनसेन ने आदिपुराण में कर दिखाया।<sup>१६</sup> इस प्रकार हम देखते हैं कि शब्द-सम्पदा के प्रयोग में चारों कवियों में एक ताल-मेल है। प्रत्येक कवि ने पूर्व-परम्परा-प्राप्त शब्द-निधि को अपना योगदान देकर समृद्ध करने की चेष्टा की है।

इन चारों कवियों में विभिन्न क्षेत्रों से सम्बद्ध शब्दों का चयन करके प्रसंगानुसार एक साथ ही उनका प्रयोग करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। शब्द-प्रयोग के प्रति ये जागरूक हैं। अवसरानुसार अपने शब्द-वैभव का ये अपने काव्य में नियोग करते हैं अथवा अपने शब्द-वैभव का उपयोग करने के लिए ये अवसर निकाल लेते हैं भले ही काव्य की सरसता कहीं-कहीं धवरा उठे? उदाहरणार्थ स्थानवाची शब्दों का परिगणनात्मक शैली में सभी कवियों ने एक स्थान पर उल्लेख किया है

## १ रविपेण

(अ) सन्ध्याकार सुवेलश्च मनोल्लादो मनोहर ।  
हसद्वीपो हरिर्योध समुद्र काञ्चनस्तथा ॥  
अर्धस्वर्गोत्कटश्चापि निविशा स्वर्गसन्निभा ।  
गीर्वाणरक्षस पुत्रैर्महाबुद्धिपराक्रमै ॥  
आवतविधटाम्भोदा उत्कटस्फुटदुर्गहा ।  
तटतोयावलीरत्नद्वीपाश्चाभान्ति राक्षसै ॥<sup>१७</sup>

(आ) पुरखेटमटम्बेन्द्रा विषयादीश्वराश्च ये ।  
वशत्वे स्थापितास्ताम्या कांश्चित्तान् कीर्तयामि ते ॥  
ऐते जनपदा केचिदार्या म्लेच्छास्तथा परे ।  
विद्यमानद्वया केचिद् विविधाचारसम्मतता ॥  
भीरवो यवना कक्षाश्चारवस्त्रिजटा नटा ।  
शककेरलनेपाला मालवारूलशर्वरा ॥  
वृषाणवैद्यकाश्मीरा हिण्डवावष्टवर्वरा ।  
त्रिशिरा पारशैलाश्च गौशीलोसीनरात्मका ॥

सूर्यरिका सनतशिख खशा त्रिन्ध्या शिखापदा ।  
 मेखला शूरसेनाश्च वात्तीकोलूककोसला ॥  
 दरीगान्धारसीवीरा पुरीकौवेरकोहरा ।  
 अन्धकालर्कलिगाद्या नानाभाषा पृथग्गुणा ॥

## २ हरिवंशपुराणकार जिनसेन

(अ) दशोत्तरशत तेषा नगराणि खगामिनाम् ।  
 पण्डितरमागे स्यु पचाशदक्षिणे पुन ॥  
 आदित्यनगर रम्य पुर गगनवल्लभम् ।  
 पुरीचमरचम्पा च पुर गगनमण्डलम् ॥  
 विजय वैजयन्त च शक्रजयमरिजयम् ।  
 पद्माल केतुभाल च रद्राश्व च धनजयम् ॥  
 वस्वौक सारनिवह जयन्तमपराजितम् ।  
 वराह हस्तिन सिंह सौकर हस्तिनायकम् ॥  
 पाण्डुक कौशिक वीर गौदिक मानव मनु ।  
 चम्पा काञ्चनमैशान मणिवज्र जयावहम् ॥  
 नैमिष हस्तिविजय खण्डिका मणिकाञ्चनम् ।  
 अशोक वेणुमानन्द नन्दन श्रीनिकेतनम् ॥  
 अग्निज्वाल महाज्वाल माल्य तत्पुरनन्दिनी ।  
 विद्युत्प्रभ महेन्द्र च विमल गन्धमादनम् ॥  
 महापुर पुष्पमाल मेघमाल शशिप्रभम् ।  
 चूडामणि पुष्पचूड हसगर्भ वलाहकम् ॥  
 वशालय सौमनस तथैव परिकीर्तितम् ।  
 विजयाधोत्तरश्रेण्या पण्डिरिष्टा इमा पुर ॥  
 रथनूपुरमानन्द चक्रवालमरिज्जयम् ।  
 मण्डित बहुकेत्वाख्य नगर शकटामुखम् ॥  
 पुर गन्धसमृद्ध च नगर शिवमन्दिरम् ।  
 वैजयन्त रथपुर श्रीपुर रत्नसचयम् ॥  
 आपाढ मानव सूर्य स्वर्णनाभ शतहृदम् ।  
 अगावर्त्त जलावर्त्त तथावर्त्त बृहद्गृहम् ॥  
 शखवज्र च नाभान्त मेघकूट मणिप्रभम् ।  
 कुञ्जरावर्त्तनगर तथैवासितपर्वतम् ॥

सिन्धुकक्ष महाकक्ष सुकक्ष चन्द्रपर्वतम् ।  
 श्रीकूट गौरिकूट च लक्ष्मीकूट धराधरम् ॥  
 कालकेशपुर रम्य पार्वतेय हिमाक्षयम् ।  
 किन्नरोद्गीतनगर नभस्तिलकनामकम् ॥  
 मगधामारनलका पाशुमूल पर तथा ।  
 दिव्यौषध चार्कमूल तथैवोदयपर्वतम् ॥  
 विख्यातामृतधार च मातंगपुरमेव च ।  
 भूमिकुण्डलकूट च जम्बूशकुपुर परम् ॥  
 श्रेण्या तु दक्षिणस्या हि पुराण्येतानि पर्वते ।  
 शोभया स्वर्गनुत्थानि पञ्चाशच्चैव सख्यया ॥ ९

(आ) सुकुमारै कुमारैस्तैर्भव्यसिंहै सदैव हि ।  
 ज्ञेयानि व्यक्तदेशाना नामानीमानि पण्डितै ॥  
 कुरुजागलपाचालसूरसेनपटच्चरा ।  
 तुर्लिंगकाशिकौशल्यमद्रकारवृथार्यका ॥  
 सोल्वावृष्टिगतिश्च कुशाग्रो मत्स्यनामक ।  
 कुणीयाम् कोशलो मोको देशास्ते मध्यदेशका ॥  
 वाल्मीकाश्रेयकाम्बोजा यवनाभीरमद्रका ।  
 क्वाथितोयश्च शूरश्च वाटवानश्च कैकय ॥  
 गान्धार सिन्धुसौवीरभारद्वाजदशेका ।  
 प्रास्थालास्तीर्णकर्णश्च देशा उत्तरत स्थिता ॥  
 खड्गाङ्गारकपौण्ड्राश्च मल्लप्रवकमस्तका ।  
 प्राद्योतितश्च वगश्च मगधो मानवतिक ॥  
 मलदो भार्गवश्चामी प्राच्या जनपदा स्थिता ।  
 वाणमुक्तश्च वैदर्भी माणव सककापिरा ॥  
 मूलकाश्मकदाण्डीककलिङ्गासिककुन्तला ।  
 नवराष्ट्रो माहिषक पुरुषो भोगवर्धन ॥  
 दाक्षिणात्या जनपदा निरुध्यन्ते स्वानामभि ।  
 माल्यकल्लीवनोपान्तदुर्गसूपरिकर्बुका ॥  
 काक्षिनासारिकागर्ता ससारस्वततापसा ।  
 माहेष्मो भरुकच्छश्च सुराष्ट्रो नर्मदस्तथा ॥  
 एते जनपदा सर्वे प्रतीच्या नामभि स्मृता ।  
 दशार्णकेति किष्किन्धस्त्रिपुरावर्त्तनैपथा ॥  
 नेपालोत्तमवर्णश्च वैदिशान्तपकौशला ।  
 पत्तनो विनिहातश्च विन्ध्यावृष्ठनिवासिन ॥

भद्रवत्सविदेहाश्च कुशभगाश्च सैतवा ।  
वज्रखण्डिक इत्येते मध्यदेशाश्रिता मता ॥<sup>२०</sup>

### ३ आदिपुराणकार जिनसेन

(अ) तेपा च नामनिर्देशो भवेदयमनुक्रमात् ।  
पश्चिमा दिशमारम्य यावत् पण्डितम् पुरम् ॥  
अर्जुनी वारुणी चैव सकलासा च वारुणी ।  
विद्युत्प्रभ किलिकिल चूडामणिशशिप्रभे ॥  
वशाल पुष्पचूल च हसगर्भवलाहकौ ।  
शिवकर च श्रीहर्म्य चमर शिवमन्दिरम् ।  
वसुमत्क वसुमती नाम्ना सिद्धार्थक पुरम् ।  
शत्रुजय तत केतुमालाख्य च भवेत्पुरम् ॥  
सुरेन्द्रक्रान्तमन्यत् स्यात्ततो गगननन्दनम् ।  
अशोकान्या विशोका च वीतशोका च सत्पुरी ॥  
अलका तिलकाख्या च तिलकान्त तथाम्बरम् ।  
मन्दिर कुमुद कुन्दमतो गगतवल्लभम् ॥  
द्युभूमितिलके पुय्यो पुर गन्धर्वसाह्वयम् ।  
मुक्ताहार सनिमिष चाग्निज्वालमत परम् ॥  
महाज्वाल च विज्ञेय श्रीनिकेतो जयाह्वयम् ।  
श्रीवासो मणिवज्राख्य भद्राश्व सधनजयम् ।  
गोक्षीरफेनमशोभ्य गिर्यादिशिखराह्वयम् ।  
धरणो धारणो दुर्गं दुर्धराख्य सुदर्शनम् ॥  
महेन्द्राख्यपुर चैव पुर विजयसाह्वयम् ।  
सुगन्धिनी च वज्रार्धतर रत्नाकराह्वयम् ॥  
भवेद्रत्नपुर चान्त्यमुत्तरस्या पुराणि वै ।  
श्रेण्या स्वर्गपुरश्रीणि भान्त्येतानि महान्त्यलम् ॥<sup>२१</sup>

(आ) कोसलादीन् महादेशान् साकेतादिपुराणि च ।  
सारामसीमनिगमान् खेटादीश्च न्यवेशयत् ॥  
देशा सुकोसलावन्ती पुण्ड्रोग्राश्मकरम्बका ।  
कुरुकाशीकर्लिगागवगसुह्या समुद्रका ॥  
काश्मीरोशीनरानर्त्तवत्सपाचालमालवा ।  
दशार्णा कच्छमगधा विदर्भा कुरुजागलम् ॥  
करहाटमहाराष्ट्रसुराष्ट्रामीरकोकणा ।  
वनवासान्द्रकर्णाटकोसलाश्चोलकेरला ॥

दार्वाभिसारसौवीरशूरसेनापरान्तका ।  
 विदेहसिन्धुगान्धारयवनाश्चेदिपल्लवा ॥  
 काम्बोजारट्टवाह्लीकपुष्कशककैकया ।  
 निवेशितास्तथान्येऽपि विभक्ता विषयास्तदा ॥<sup>२२</sup>

#### ४ उत्तरपुराणकार गुणभद्र

अमी च विषया कच्छसुकच्छपरिभाषितौ ।  
 महाकच्छा तथा कच्छकावत्यावर्तलागला ॥  
 पुष्कला पुष्कलावत्यो वत्सा नाम्ना च कीर्तिता ।  
 सुवत्सा च महावत्सा विख्याता वत्सकावती ॥  
 रम्या च रम्यकाख्या रमणीया मगलावती ।  
 पद्मा सुपद्मा महापद्मा पद्मावत्यभिख्यया ॥  
 शखा च नलिनान्या च कुमुदा सरिता परा ।  
 वप्रा सुवप्रा च महावप्रा वप्राकावती ॥  
 गन्धा सुगन्धा गन्धावत् सुगन्धा गन्धमालिनी ।  
 एताश्च राजधान्योऽत्र कुमारालोकयस्कुटम् ॥  
 क्षेमा क्षेमपुरी चान्याऽरिष्टाऽरिष्टपुरी परा ।  
 खड्गाख्या च मञ्जूषा चौषधी पुण्डरीकिणी ॥  
 सुसीमा कुण्डला सार्द्धमपराजितसञ्जया ।  
 प्रभकराकवत्याख्या पद्मावत्यभिघोदिता ॥  
 शुभा शब्दाभिधाना च नगरी रत्नसञ्जया ।  
 अश्वसिंहमहापुर्यो विजयादिपुरी परा ॥  
 अरजा विरजश्चैवमशोका वीतशोकवाक् ।  
 विजया वैजयन्ती च जयन्ती चापराजिता ॥  
 अथ चक्रपुरी खड्गपुर्ययोध्या च वर्णिता ।  
 अवध्येत्यथ सीतोत्तराभाभागान्मेरुसन्निधौ ॥<sup>२३</sup>

इसी प्रकार विद्या-सम्बन्धी शब्दावली के एकत्र सन्निवेश का उदाहरण लिया जा सकता है। रविषेण और जिनसेन ने अपने 'पद्मपुराण' और 'हरिवंशपुराण' में विद्यापरक पारिभाषिक शब्दावली का अवसर निकालकर परिगणनात्मक शैली में उल्लेख किया है

#### रविषेण

सक्षेपण करिष्यामि विद्याना नामकीर्तनम् ।  
 अर्यसामर्थ्यतो लब्ध भवावहितमानस ॥

नभसचारिणी कायदायिनी कामगामिनी ।  
 दुर्निवारा जगत्कम्पा प्रजप्तिभानुमालिनी ॥  
 अणिमा लघिमा क्षोभ्या मनस्तम्भनकारिणी ।  
 सवाहिनी सुरध्वसी कौमारी वधकारिणी ॥  
 सुविधाना तपोरूपा दहनी विपुलोदरी ।  
 शुभप्रदा रजोरूपा दिनरात्रिविधायिनी ।  
 वज्रोदरी समाकृष्टिदर्शन्यजराभरा ।  
 अनलस्तम्भनी तोयस्तम्भनी गिरिदारिणी ॥  
 अवलोकन्यरिध्वसी धोरा धीरा भुजगिनी ।  
 वारुणी भुवनावध्या दारुणा मदनाशिनी ॥  
 भास्करी भयसम्भूतिरैशामी विजया जया ।  
 बन्धनी मोचनी चान्या वराही कुटिलाकृति ॥  
 चित्तोद्भवकरी शान्ति कौवेरी वशकारिणी ।  
 योगेश्वरी वलोत्सादी चण्डा भीति प्रवर्षिणी ॥  
 एवमाद्या महाविद्या पुरासुकृतकर्मणा ।  
 स्वल्पैरेव दिनै प्राप दशग्रीव सुनिश्चल ॥<sup>३४</sup>

(हरिवंशपुराणकार) जिनसेन

षोडशाना निकायानामिमा विद्या प्रकीर्तिता ।  
 सर्वविद्याप्रधानत्व या प्रपद्य व्यवस्थिता ॥  
 प्रजन्ती रोहिणी विद्या विद्या चाङ्गारिणीरिता ।  
 महागौरी च गौरी च सर्वविद्याप्रकपिणी ॥  
 महाश्वेताऽपि मायूरी हारी निर्वजशाड्वला ।  
 सातिरस्करिणी विद्या छायासक्रामिणी परा ॥  
 कूष्माण्डगणमाता च सर्वविद्याविराजिता ।  
 आर्यकूष्माण्डदेवी च देवदेवी नमस्कृता ॥  
 अच्युतार्यवती चापि गान्धारी निर्वृति परा ।  
 दण्डाध्यक्षगणश्चापि दण्डभूतसहस्रकम् ॥  
 भद्रकाली महाकाली काली कालमुखी तथा ।  
 एवमाद्या समाख्याता विद्या विद्याधरेशिनाम् ॥  
 एकपर्व द्विपर्व च त्रिपर्व दशपर्विका ।  
 शतपर्व महन्त्राख्या लक्षपर्वविलक्षिता ॥  
 उत्पातिन्यश्च ता मर्वास्त्रिपातिन्यस्तथापि च ।  
 धारिण्यन्तर्विचारिण्यो जलाग्निगतिदक्षिणा ॥



निशेखेसु निकायेसु नानाशक्तिसमन्विता ।  
 नानानगनिवासिन्यो नानौखधिविदस्तथा ॥  
 सर्वार्थसिद्ध सिद्धार्था जयन्ती मगला जया ।  
 सङ्क्रामिष्य प्रहाराणामशय्याराधनी तथा ॥  
 विशल्यकारिणी चैव व्रणसरोहिणी तथा ।  
 सवर्णकारिणी चैव मृतसजीवनी परा ॥<sup>१५</sup>

इसी प्रकार अन्य अनेक विषयों से सम्बद्ध शब्दावली के एकत्र प्रयोग सभी कवियों की रचनाओं में हुए हैं। नाम, आख्यात, उपसर्ग और नियत शब्दों के जुड़ एक साथ देखने हो तो संस्कृत के इन जैन पौराणिक काव्यों का पारायण परम लाभकारी है। इन कवियों के द्वारा प्रयुक्त शब्दों में बहुत से पूर्वपरम्परा प्राप्त हैं और बहुतों का निर्माण इन कवियों ने स्वयं भी किया है।

नामिक शब्दों की कल्पना में इन कवियों का मेधा-विलास देखने के योग्य है। कहीं कहीं छन्द के अनुरोध से एक सशपद कई खण्डों में विभक्त हो जाता है यथा 'समवशरण', 'शरण समवादिकम्'<sup>१६</sup> तथा कहीं 'रूढ' पद भी 'योग'-पद हो जाते हैं। कहीं-कहीं व्यक्तिवाचक नाम भी पर्याय रूप में अथवा परिवर्तित रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इनकी सगति के लिए आधारग्रन्थों का अवलोकन आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के लिए रविषेण के द्वारा प्रयुक्त 'अर्ककीर्ति' शब्द लिया जा सकता है जो 'आदित्ययशा' का पर्याय है।<sup>१७</sup> जो व्यक्ति विमलसूरि के 'पञ्चमचरिय' में प्रयुक्त व्यक्तिवाची नाम 'आञ्चजस' से परिचित है यह तो 'अर्ककीर्ति' का अर्थ 'आदित्य (अर्क) यशा (कीर्ति)' लगा लेगा किन्तु जिसे इसका ज्ञान नहीं है वह यही निर्धारण करता रह जाएगा कि उस व्यक्ति का मूल नाम क्या है 'अर्ककीर्ति' या 'आदित्ययशा' ? ऐसे ही शब्दों की श्रेणी को बढ़ाते हुए रविषेण 'भानुकर्ण' के लिए 'भास्करकर्ण'<sup>१८</sup> 'भास्करश्रवण'<sup>१९</sup> तथा 'आदित्यश्रवण'<sup>२०</sup>, 'दशानन' के लिए 'विशत्यर्धमुख'<sup>२१</sup>, 'अशनिर्वग' के लिए 'अशनिरहा'<sup>२२</sup>, 'विजयपर्वत' के लिए 'जयपर्वत'<sup>२३</sup>, 'त्रिलोकमण्डल' के लिए 'त्रिजगद्भूषण'<sup>२४</sup> का प्रयोग करते हैं। विमलसूरी के द्वारा 'पञ्चमचरिय' में प्रयुक्त व्यक्तिवाचक नामावली और रविषेण के द्वारा 'पद्मपुराण' में प्रयुक्त नामावली की तुलना करने पर कई स्थलों पर दोनों में बड़ा अन्तर मिलता है। यदि मूल आधार ग्रन्थ को न पढ़ा जाये तो व्यक्तिवाचक नामों का किसी और रूप में ही प्रयोग होने लगे।

नामिक शब्दों के निर्माण में, इन कवियों के द्वारा अनेक प्रक्रियाओं का अंगीकार किया गया है। कहीं एक ही शब्द से आरम्भ होने वाले नामों की रचना की गयी है तो कहीं एक ही शब्द से अन्त होने वाले नामों की। कहीं एक ही उपसर्ग से प्रारम्भ होने वाले अनेक नामों की उद्भावना की गयी है तो कहीं एक

ही परसर्ग से अन्त होने वाले नामों की । उदाहरणार्थ

(१) एक ही शब्द से प्रारम्भ होने वाले नाम

विश्वभू, विश्वात्मा, विश्वलोकेश, विश्वतश्चसु, विश्वविद्, विश्वविद्येश, विश्वयोनि, विश्वदृश्, विश्वेश, विश्वलोचन, विश्वव्यापी, विश्वतोमुख, विश्वकर्मा, विश्वमूर्ति, विश्वदृक्, विश्वभून्तेश, विश्वज्योति, विश्वरीश, विश्वशीर्ष, विश्वभृद्, विश्वसृङ्, विश्वेत्, विश्वभुक्, विश्वनायक, विश्वाशी, विश्वरूपात्मा, विश्वजित् ।<sup>३५</sup>

महातपा, महातेजा, महोदके, महायशा, महाधामा, महासत्त्व, महाधृति, महाधैर्य, महावीर्य, महासम्पत्, महाबल, महाशक्ति, महाज्योति, महाभूति, महाद्युति, महामति, महानीति, महाक्षान्ति, महादय, महाप्राज्ञ, महाभाग, महानन्द, महाकवि, महामहा, महाकीर्ति, महाकान्ति, महावपु, महादान, महानान, महायोग, महागुण, महामहपति, महाप्रभु, महाप्रातिहार्य, महेश्वर, महामुनि, महामौनी, महाध्यान, महादम, महाक्षम, महाशील, महायज्ञ, महामख, महाव्रतपति, महाकान्तिधर, महामैत्रीमय, महोपाय, महोमय, महाकारुणिक, महामत्त, महायति, महानाद, महाघोष, महेश्वर, महसा पति, महाध्वरधर, महोदर्य, महात्मा, महाक्लेशाकुश, महाभूतपति, महापराक्रम, महाक्रोधरिपु, महाभवाब्धिसत्तारी, महामोहाद्रिसूदन, महागुणाकर, महायोगीश्वर, महाध्यानपति, महाधर्मा, महाव्रत, महाकर्मा, महादेव, महेशिता आदि ।<sup>३६</sup>

वज्रजघ, वज्रसेन, वज्रदष्ट, वज्रध्वज, वज्रायुध, वज्र, वज्रभृत्, वज्राभ, वज्रबाहु, वज्रसज्ज, वज्रास्य, वज्रपाणि, वज्रजातु, वज्रवान् आदि ।<sup>३७</sup>

२ एक ही शब्द से अन्त होने वाले नाम चन्द्रमश्चूड, एकचूड, द्विचूड, त्रिचूड, वज्रचूड, भूरिचूड, अर्कचूड ।<sup>३८</sup>

ऋक्षरजा, सूर्यरजा ।<sup>३९</sup>

३ एक ही उपसर्ग से प्रारम्भ होने वाले नाम विभय विभव, विशोक, विजर, विराग, विरत, विविक्त, वीतमत्सर वियोग ।<sup>४०</sup>

सुगति, सुश्रुत, सुवाक् आदि ।<sup>४१</sup>

४ एक ही परसर्ग से अन्त होने वाले नाम सहिष्णु, प्रभविष्णु, प्रभूविष्णु, भ्राजिष्णु, अभूष्णु, स्वयम्भूष्णु आदि ।<sup>४२</sup>

कही आदि का शब्द तो समान है किन्तु अन्त का शब्द समानार्थक है यथा महामख, महायज्ञ, महेश्वर, महाध्वरधर आदि ।<sup>४३</sup>

नामिक-शब्द विधान में आदिपुराणकार जिनसेन ने कमाल कर दिखाया है । उन्होंने 'विष्णुमहत्तमनाम' की कड़ी को आगे बढ़ाते हुए 'जिनसहस्रनाम' की

रचना की है और एक स्थान पर ही एक हजार आठ नामों की उद्भावना की है। व्यक्तिवाची नामों के रूप में विशेषण कैसे परिवर्तित हो जाते हैं इस सहस्रनाम में यह देखते ही बनता है। इन नामों की व्याख्या के लिए पर्याप्त स्थान और समय अपेक्षित है।

व्यक्तिवाची नामों के अतिरिक्त भौगोलिक शब्दावली में भी इन कवियों का कल्पना-विलास तथा शब्द-निर्माण-कौशल देखने को मिलता है। शोधकों द्वारा भूगोलपरक स्थान-पर्वत-वन-नदियों का अस्तित्व सिद्ध होना न होना अलग बात है जिससे हमारा यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। हमारा उद्देश्य तो कवियों के शब्द-निर्माण-कौशल का प्रत्यायन करना है जो अपने में एक रोचक विषय है।

सज्ञापदों के अतिरिक्त विशेषणपरक शब्दावली भी अत्यन्त समृद्ध है। विशेषणों के निर्माण में जिन प्रक्रियाओं का अवलम्बन इन कवियों ने किया है उनका अध्ययन भी रोचक हो सकता है। इन पौराणिक काव्यों की पद्यमयता को ध्यान में रखते हुए परिमित मात्राओं तथा अक्षरों में विशेष्य की विशेषताओं को प्रकट करने वाले विशेषण-पदों की रचना में ये जैन कवि अत्यन्त सिद्धहस्त हैं। विशेषणमालाओं का प्रयोग करते हुए रविशेण ने 'रण' और 'विपिन' के साक्षात् चित्र उपस्थित कर दिये हैं

### रणपाक विशेषण

“कणदशवसमुद्यूढस्यन्दनोन्मुक्तचीत्कृतम् ।  
 तुरगजवविक्षिप्तभटसीमन्तिताविलम् ॥  
 नि क्रामद्रुधिरोद्गारसहितोरुभटस्वनम् ।  
 वेगवच्छस्त्रसम्पातजातवल्लिकगोत्करम् ॥  
 करिशूकृतसम्भूतसीकरासास्त्रालकम् ।  
 करिदारितवक्षस्कभटसकटभूतलम् ॥  
 पर्यस्तकरिसरुद्धरणमार्गाकुलायतम् ।  
 नागमेघपरिष्व्योतन्मुक्ताफलमहोपलम् ॥  
 मुक्तासारसमाघातविकट कर्मरगकम् ।  
 नागोच्छालितपुन्नागकृतखेचरसगमम् ॥  
 शिरःक्रीतयशोरत्न भूच्छाजनिन विश्रमम् ।  
 मरणप्राप्तनिर्वाण वभूव रणमाकुलम् ॥”

### (वनपरक विशेषण)

ततस्ते भूमहीघ्राग्रघ्रावघ्रातमुककशम् ।  
 महातरुसमारुढवल्लीतालसमाकुलम् ॥

क्षुदतिकुद्धशादूलनखविक्षतपादम् ।  
 सिंहाहतद्विपोद्गीर्णरक्तमौक्तिकपिच्छलम् ।,  
 उन्मत्तवारणस्कन्धतष्टस्कन्धमहातरुम् ।  
 केसरिध्वनिविवस्तसमुत्कीर्णकुरगम् ।  
 सुप्ताजगरनिश्वासवायुपूरितगह्वरम् ।  
 वराहयूथपोताग्रविपमाकृतपल्लवम् ॥  
 महामहिषशृगाग्रभग्नवल्मीकसानुकम् ।  
 ऊर्ध्वोक्तमहाभोगमचरद्भोगिभीषणम् ॥  
 तरक्षुक्षतसारगरुधिरभ्रान्तमसिकम् ।  
 कण्टकासक्तपुच्छाग्रप्रताम्यज्वमरीगणम् ॥  
 दर्पसम्पूरितश्वाविन्मुक्तसूचीविचित्रितम् ।  
 विषपुष्पन्तोत्राणयूणितानेकजन्तुकम् ॥  
 खड्गखड्गसमुल्लीढतरस्कन्धच्युतद्रवम् ।  
 उद्भ्रान्तगवयव्रातभग्नपल्लवजालकम् ॥  
 नानापक्षिकुलक्रूरकूजितप्रतिनादितम् ।  
 शाखामृगकुलाक्रान्तचलत्प्राग्भारपादपम् ॥  
 तीव्रवेगगिरिलोतशतनिर्दारितक्षमम् ।  
 वृक्षाग्रविस्फुरत्स्फीतदिवाकरकरोत्करम् ॥  
 नानापुष्पफलाकीर्णविचित्रामोदवासितम् ।  
 विविधौषधिसम्पूर्णवनसस्यसमाकुलम् ॥  
 कृचिन्नीलं कृचित्पीतं कृचिद्रक्तहरित्क्वचित् ।  
 पिंजरच्छायमन्यत्रविविशुर्विपिनमहत् ॥<sup>१५</sup>

अनेक मूल शब्दों से निर्मित इन विशेषणपदों में सयोजनजन्य सामूहिक अर्थ-व्यञ्जकता निहित है। इनका अर्थस्फोट शैलीशास्त्री और साहित्यशास्त्री विद्वानों के लिए रोचक विषय हो सकता है। छोटे-बड़े मञ्जरी विशेषणों की महती निधि इन पौराणिक काव्यों में निहित है, जिसके अन्वेषण की आज भी आवश्यकता बनी हुई है। कौन से विभक्तियों को उभारने के लिए किस स्वर और व्यञ्जन से सवलित किस शब्द का एवं किस समासपद्धति का विशेषण-निर्माण में अवलम्बन किया गया है यह परखना अभी भी बाकी है।

सर्वनामों के प्रयोग में कम प्रचलित किन्तु सटीक 'त्वयका' 'तके' आदि के प्रयोग यथावमार इन कवियों ने किये हैं। पञ्चपुराण में रविषेण, वरुण के नगर की स्त्रियों को बन्दी बनाने वाले आनुकर्ण को फटकारते हुए रावण के मुख से, 'त्वयका' (कुत्सितेन त्वया) का प्रयोग कराते हैं—

“खलीकारमिमा येन त्वयका प्रापिता मुधा।”<sup>४६</sup>

इसी प्रकार आदिपुराण में जिनसेन ने ‘कुत्सिता ते’ के अर्थ में ‘तके’ का प्रयोग किया है

“अकरां भोक्तुमिच्छन्ति गुरुदत्तामिमा तके।”<sup>४७</sup>

आख्यात-पदों के समस्त सभावित रूपों की छटा इन काव्यों में देखने को मिलती है। कुछ अनुरागात्मक क्रियाओं का निर्माण भी इन कवियों ने किया है जिस पर प्राकृत का प्रभाव है। जिस प्रकार विमलसूरि ने अपने ‘पञ्चमचरिय’ में ‘कडकडकडेन्ति’,<sup>४८</sup> ‘कढकढकडेन्ति’,<sup>४९</sup> ‘कणकणकणन्ति’,<sup>५०</sup> ‘किलिकिलिकिलत’,<sup>५१</sup> ‘खणखणखणति’,<sup>५२</sup> ‘गुमगुमाय’,<sup>५३</sup> ‘गुमुगुमुमुमत’,<sup>५४</sup> ‘गुमुगुमुमुमेन्त’,<sup>५५</sup> ‘गुलगुलगुलन्त’,<sup>५६</sup> ‘गुलगुलायन्त’,<sup>५७</sup> ‘गुलगुलगुलेन्त’,<sup>५८</sup> ‘धुधुधुधुधुधेन्त’,<sup>५९</sup> ‘धुलहुलवहन्त’,<sup>६०</sup> ‘चडचडचडन्त’,<sup>६१</sup> ‘छिमिछिमिछिमन्त’,<sup>६२</sup> ‘तडतडतडत्ति’,<sup>६३</sup> ‘भुगुभुगेन्त’<sup>६४</sup> आदि अनुरणनात्मक शब्दों का प्रयोग किया है। उसी प्रकार रविषेण ने अपने पद्मपुराण में किया है। उदाहरणार्थ

(अ) “तपत्तपायतेऽन्यत्र तथा दमदमायते।

छमाछमायतेऽन्यत्र तथा पटपटायते ॥

छलछलायतेऽन्यत्र टट्टट्टायते तथा।

तट्टट्टायतेऽन्यत्र तथा चटचटायते ॥

घग्घग्घगायतेऽन्यत्र रण शस्त्रोत्थिते स्वरे ॥”<sup>६५</sup>

(आ) भवन्मृदगनिस्वनात् ववचिद् गुलगुलायते।

भुभुद्भुम्भायतेऽन्यत्र कृचिपटपटायते ॥”<sup>६६</sup>

इन कवियों की यह बलवती इच्छा रही है कि इनके पाठकों को एक ही स्थान पर एक श्रेणी के शब्दों का सघात मिल जाये। रविषेण ने एक ही स्थान पर लट्‌लकार के प्रथमपुरुष बहुवचन की क्रियाओं का भव्य संयोजन किया है। आख्यातपदों का यह प्रयोग यह देखने योग्य है

“चक्रवत्परिवर्तन्ते व्यसनानि महोत्सवैः।

शनैर्मर्यादयो दोषा प्रयान्ति परिवर्द्धनम् ॥

क्रिश्यन्ते द्रव्यनिर्मुक्ता म्रियन्ते बालतासु च।

पूर्तोपात्तायुपि क्षीणे हेतुना चोपसहते ॥

नाना भवन्ति तिष्ठन्ति निघ्नन्ते शोचयन्ति च।

रुदन्त्यदन्ति बाधन्ते विवदन्ति पठन्ति च ॥

ध्यायन्ति यान्ति वल्लग्नन्ति प्रभवन्ति वहन्ति च।

गायन्त्युपासतेऽश्नन्ति दरिद्रति नदन्ति च ॥

जयन्ति रान्ति मुञ्चन्ति राजन्ते विलसन्ति च।

तुष्यन्ति शासति क्षान्ति स्पृह्यन्ति हरन्ति च ॥

लयन्ते त्रान्ति मज्जन्ति दूयन्ते कूटयन्ति च ।  
 मार्गयन्तेऽभिधावन्ते कुहयन्ते मृजन्ति च ॥  
 क्रीडन्ति स्यन्ति यच्छन्ति शीलयन्ति वसन्ति च ।  
 लुप्यन्ति मान्ति सीदन्ति क्रुध्यन्ति विलयन्ति च ॥  
 तुष्यन्त्यर्चन्ति वञ्चन्ति सान्त्वयन्ति विदन्ति च ।  
 मुह्यन्त्यर्वन्ति नृत्यन्ति स्निह्यन्ति विनयन्ति च ॥  
 नुदन्त्युच्छन्ति कर्षन्ति भृज्जन्ति विनयन्ति च ।  
 दीव्यन्ति दान्ति शृण्वन्ति जुह्वत्यगन्ति जाग्रति ॥  
 स्वपन्ति विभ्यतीङ्गन्ति श्यन्ति दन्ति तुदवि च ।  
 प्रान्ति सुन्वन्ति सिन्वन्ति रुन्धन्ति विरुवन्ति च ॥  
 सीव्यन्त्यटन्ति जीर्यन्ति पिबन्ति रचयन्ति च ।  
 वृणते परिमृद्नन्ति विस्तृणन्ति पृणन्ति च ॥  
 मीमासन्ते जुगुप्सन्ते कामयन्ते तरन्ति च ।  
 चिकित्स्यन्त्यनुमन्यन्ते वारयन्ति गृणन्ति च ॥  
 एवमादिक्रियाजालमततव्याप्तमानस ।

बुभाशुभसमासत्ता व्यतिक्रामन्ति मानवा ॥”<sup>१७</sup>

इसी प्रकार क्रियाविशेषणो, उपसर्गो, नियातो, अव्ययो के एकत्र सन्निधि के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ‘सहार्यक’ अव्ययो की एक-साथ प्रस्तुति का एक उदाहरण प्रस्तुत है

“रयिनो रथिभिः सौख्यं तुरगास्तुरगैरमा ॥”<sup>१८</sup>

साक गजैर्गजाः सत्रा पादातत्त पदातिभिः ॥”

कही-कही शब्दों का लयात्मक और सगीतात्मक दृष्टि से भी योजन और निर्माण किया गया है। एक ही लय की पदशय्या के लिए ‘वृत्तगन्धि गद्य’ की शैली का आश्रय लिया गया है।<sup>१९</sup>

सक्षेपत, सवेदना, युगबोध तथा शिल्प की दृष्टि से इन जैन पौराणिक काव्यों में महत्त्वपूर्ण शब्दयोजना की गयी है। इनके शब्दों में अपने समय का देशकाल और शब्दप्रयोग का इतिहास समाया हुआ है जिसके साक्षात्कार के लिए अन्तर्दृष्टि और अध्यवसाय अपेक्षित है।

वस्तुतः संस्कृत के जैन पौराणिक काव्यों की शब्द सम्पत्ति’ योजना पर सर्वांगीण कार्य कर लेना एक व्यक्ति के दूते की बात नहीं है। एक-एक शब्द से परम्परा, प्रयोग, इतिहास, समाज, संस्कृति, धर्म, दर्शन, व्याकरण, व्याकरण भाषा-विज्ञान, विम्वयोजना, अप्रस्तुत-विधान, शिल्प तथा सवेदना के विविध आयाम जुड़े हुए हैं जिनका उद्घाटन अनेक विषयों के विद्वान् एक साथ बैठकर कर सकते हैं। इस कार्य के लिए शान्त मन स्थिति, लगन, समय तथा साधन अपेक्षित है।

प्रक्रान्त चारो पौराणिक काव्यों की शब्द-सम्पत्ति पर अभी तक थोड़ा ही कार्य हो पाया है। 'हरिवंशपुराण'<sup>७०</sup> आदिपुराण'<sup>७१</sup> एवं 'उत्तरपुराण'<sup>७२</sup> के परिशिष्ट रूप में सुधी सम्पादक प० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य ने पारिभाषिक, भौगोलिक, विशिष्ट तथा व्यक्तिवाचक सज्ञापदों की सूचियाँ दी हैं तथा उनके स्थानानुरोधी अर्थ भी दिये हैं किन्तु रविषेणकृत 'पद्मपुराण'<sup>७३</sup> के परिशिष्ट के रूप में ये सूचियाँ नहीं दी गयी हैं। रविषेणक 'पद्मपुराण' की शब्दावली पर स्वतन्त्र रूप से कोई कार्य हमारे देखने में नहीं आया है। इस दिशा में इस लेख का लेखक 'रविषेणकृत पद्मपुराण की शब्दावली का परिशीलन'<sup>७४</sup> शीर्षक से कुछ विचार कर रहा है।

प० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य के कार्य ने, निःसंदेह, आगामी शोधार्थियों के लिए एक मसृण मार्ग तैयार कर दिया है। अकारादिक्रम से मूची बनाकर सज्ञा शब्दों का अर्थ दे देना अपने में एक श्रमसाध्य कार्य है। किन्तु इस कार्य की अपनी कुछ सीमाएँ हैं।

उदाहरण के लिए 'आदिपुराण' के दो स्थलों को हम लेते हैं। पहला स्थल वाईसवे पर्व से और दूसरा सोलहवे पर्व से उद्धृत है। वाईसवे पर्व में 'समवसरण' रचना से सम्बद्ध ये सज्ञा तथा विशेषण शब्द, प्रमुखतः, प्रयुक्त हुए हैं — आस्थान-मण्डल (२२।७५), शिलि (२२।७६), आरब्धपराध्वरचनाशत (२२।८६) (२२।७६), द्विपङ्कजविस्तार (२२।७७), हरितोलमहारत्नघटित विलसत्तल (२२।७७), समवृत्त (२२।७८), मगलादर्श (२२।७८), पर्यन्तभूभाग (२२।८१), धूलीसाल (२२।८१), वलयाकृति (२२।८२), कटिसूत्र (२२।८३), जिनास्थान भूमि (२२।८३), अजन्तपुञ्जाम (२२।८४), चामीकरच्छवि (२२।८४), विद्रुमसच्छाय (२२।८४), रत्नपाशु (२२।८४), चन्द्रक्रान्तशिलाचूर्ण (२२।८६), मरकत (२२।८७), अम्भोजराग (पद्मराग) (२२।८७), कलम्बित (२२।८७), हेमस्तम्भाग्रलम्बिततोरण (२२।९१), मकारास्योदरत्नमाला (२२।९१), हाटकनिर्मितमानस्तम्भ (२२।९२), चतुर्गोपुरसंवद्धसाललितयवेष्टित जगतीनाथ-स्तम्भान्मृगपवित्तित जगती (२२।९३), हैमपोडशसोपानस्वमध्यापितपीठिका (२२।९४), न्यस्तपुष्पीपहारार्चा (२२।९४), नृसुरदानव (२२।९४), घण्टा (२२।९६), चामर (२२।९६), ध्वज (२२।९६), दिक्चतुष्टय (२२।९७), स्तम्भचतुष्टय (२२।९७), जिनानन्तचतुष्टय (२२।९७), हिरण्मयी जिनेन्द्रार्चा (२२।९८), क्षीरोदाम्भोभिषेचन (२२।९८), नित्यातोद्य-महावाद्य (२२।९९) नित्यमगीतमगल (२२।९९), नित्यप्रवृत्तनृत्य (२२।९९), पीठिका (२२।१००), त्रिमेखल (२२।१००), पीठ (२२।१००), छत्रत्रय (२२।१०१), इन्द्रध्वज (२२।१०१), प्रसन्नसलिला वापी (२२।१०३), स्तम्भपर्यन्तभूभाग (२२।१०३), मणिसोपान (२२।१०७), स्फटिकोच्चतटी (२२।१०७), जैनेशजय (२२।१०८), जिनस्तोत्र (२२।१०९), नन्दोत्तरादिनाम

(२२१११०), पादप्रक्षालनाकुण्ड (२२१११०), वीथी (२२११११), जलखातिका (२२११११), जिनजयोत्सव (२२१११५), प्रथम प्राकार (२२११२८), हिरण्मय निपद्य (२२११२८), साल (२२११२९), चक्रवालाद्रि (२२११२९), उपरितल (२२११३१), मौक्तिकावली (२२११३१), विद्रुममघात (२२११३२), पद्मरागाशु (२२११३२), द्विपहरिव्याघ्ररूपमिथुन (२२११३५), विचित्ररत्ननिर्माण-मनुष्य-मिथुन (२२११३६), उपसर्पत्प्रतिध्वनि (२२११३७), गोपुर (२२११३९), मृगारकलशादि अष्टोत्तरशतमगलद्रव्यसम्पत् (२२११४३), रत्नाभरणभाभारपरिपिजरिताम्बर तोरण (२२११४४), अनु तोरण उद्वद्धाभरण (२२११४५), शखादिनवनिधि (२२११४६), महावीथी (२२११४८), उभयभाग (२२११४८), नाट्यशालाद्वय (२२११४८), नाट्यमण्डपरग (२२११५१), सुर्योजित (२२११५४), किन्नर (२२११५५), धूपघट (२२११६२), वीर्यन्तर (२२११६२), चतस्तो वनवीथय (२२११६२), त्रिकोण चतुरस्त्रिका वापी (२२११७४), स्तनकुकुम (२२११७४), पुष्करिणी (२२११७५), कृतकाद्रि (२२११७५), हर्म्य (२२११७५), आक्रीडमण्डप (२२११७५), प्रेक्षागृह (२२११७५), चित्रशाला (२२११७६), एकशाला (२२११७६), द्विशाला (२२११७६), महाप्रासादपक्ति (२२११७६), वनचतुष्टय (२२११७८), जम्बूद्वीप (२२११८६), रणदालम्बिधण्डा (२२११८२), भूर्भुवस्वर्जय (२२११८२), ध्वजाशुक (२२११८३), मुक्तालम्बन-भूषित छत्रत्रय (२२११८४), बुध्नभाग (२२११८५) जिनेश्वरप्रतिमा (२२११८५), गधस्त्रधूपरीपार्धा (२२११८६) नित्यार्चन (२२११८६), क्षीरोदोष्कधीतागी हिरण्मयी अर्हतामर्चा (२२११८७), वनवेविका (२२१२०५), घण्टाजाल (२२१२०६), अष्टमगल (२२१२१०), ध्वजपक्ति (२२१२११), संगीतातोद्यनृत्य (२२१२१०), रत्नाभरण तोरण (२२१२१०), ध्वजस्तम्भ (२२१२१२), मणिपीठ (२२१२१२), अष्टाशीत्यगल-रुद्रत्व (२२१२१३), पञ्चविंशतिकोदण्डअन्तर (२२१२१३), सिद्धार्थ चैत्यवृक्ष (२२१२१४), प्राकारवनवेदिका (२२१२१४), स्तूप (२२१२१४), कैतव (२२१२१४) तीर्थकृदुत्सेध (२२१२१५), दशभेदक ध्वज (२२१२१६), अष्टोत्तरशत कैतन (२२१२२०), स्त्रग्ध्वज (२२१२२२), श्लक्षणाशुकध्वज (२२१२२३), वहिध्वज (२२१२२४), पद्मध्वज (२२१२२५), हस्तध्वज (२२१२२८), गरुत्मध्वज (२२१२२९), विनायक (२२१२२९), मृगेन्द्रकैतन (२२१२३१), वृषभ (उक्षा) ध्वज (२२१२३३), इभ (गाजाधिप) ध्वज (२२१२३४), चक्रध्वज (२२१२३५), अशातियुक् महस्तध्वजा (२२१२३८), शून्यद्वित्रिकसागर ध्वज (२२१२३८), अर्जुननिर्माण द्वितीय साल (२२१२३९), कल्पभरुहवन (२२१२४६), दशप्रभेद कल्पतरु (२२१२४६), उदक्कुष्ठ (२२१२४६), ज्योतिष्क (२२१२४६), ज्योतिरङ्ग



(२२१२४६), दीपाग (२२१२४६), कल्पज (२२१२४६), स्तनगग (२२१२४६), भावनेन्द्र (२२१२४६), सिद्धार्थपादप (२२१२५१), कल्पद्रुम (२२१२५२), सभागृह (२२१२५३), प्रतली (२२१२५६), परिवीथी (२२१२५६), सुरशिल्पिनिर्मित प्रासादतन्त्रित (२२१२५६) अधिष्ठानवन्धन (२२१२५७), कान्तभित्ति (२२१२५७), रत्नचित्रित (२२१२५७), सहर्म्य (२२१२५८), द्वितल (२२१२५८), त्रिचतुस्तल (२२१२५८), चन्द्रशाला (२२१२५८), वर्त्मभिच्छन्दशोभी (२२१२५८), कूटागार (२२१२५८), गन्धर्व (२२१२६१), सिद्ध (२२१२६१), विद्याधर (२२१२६१), पन्नग (२२१२६१), किन्नर (२२१२६१), गान (२२१२६२), वादित्तवादन (२२१२६२), सगीतन्टत्यगोष्ठी (२२१२६२), नवस्तूप (२२१२६३), सिद्धार्हप्रतिविम्बौघचित्रमूर्ति (२२१२६४), नवकेवललब्धि (२२१२६६), भव्य (२२१२६६), नभस्फटिकसाल (२२१२७०), सद्बृत्त (२२१२७०), खगेन्द्र (२२१२७१), द्वारोपान्त (२२१२७४), सताल (२२१२७५), सुप्रतिष्ठक (२२१२७५) गदादिपाणि-भौमभावनकल्पज (२२१२७६), महावीर्यन्तरा षोडश भित्ति (२२१२७७) श्रीमण्डप (२२१२८०), गुह्यक (२२१२८३), योजनप्रमित (श्रीमण्डप) (२२१२८६), देव (२२१२८६), देव (२२१२८६), दानव (२२१२८६), वैदूर्य रत्ननिर्माण प्रथमा पीठिका (२२१२८०), षोडशसोपान मार्ग (२२१२८१), षोडशान्तर (२२१२८१), सभाकोष्ठप्रवेश (२२१२८१), धर्मचक्र (२२१२८२), यक्षमूर्धा (२२१२८२), सहस्रार (२२१२८३), हिरण्मय द्वितीय पीठ (२२१२८४), सिद्धाष्टगुणनिर्मलध्वज (२२१२८६), सर्वरत्नमय तृतीय पीठ (२२१२८८), गिमेदवल पीठ (२२१२८८), सिद्धपरमेष्ठी (२२१३०४), विभाग (२२१३१२), जिनास्थायिका (२२१३१२), कैवल्यपूजा (२२१३१५), अमर-निकाय (२२१३१५), समवसरण भूमि (२२१३१५), आस्थानभूमि (२२१३१६) ।

प० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य के द्वारा दी गयी सूचियों में इन सभी शब्दों का समावेश नहीं हो पाया है। आस्थानमण्डल, मंगलादर्श, कटिसूत्र, जिनास्थानभूमि, मरकत, हेमस्तम्भाग्रलम्बित तोरण, स्तम्भचतुष्टय, पीठिका, त्रिमेखल पीठ, छत्रत्रय, जलखातिका, प्रथम प्राकार, द्विपहरिव्याघ्ररूप मिथुन, गोपुर, अनु तोरण उद्बद्धाभरण, नवनिधि, महावीथी, कैतवा, चतस्त्रोवनवीथय, आक्रोडमण्डप, वनचतुष्टय, स्तम्भध्वज, अर्जुननिर्माण, द्वितीय साल, अधिष्ठानवन्धन, नवस्तूप, त्रिमेखल पीठ तथा समवसरणभूमि आदि अनेक शब्द इन सूचियों में स्थान नहीं पा सके हैं जबकि ये विशिष्ट, पारिभाषिक एवं महत्त्वपूर्ण हैं और अपने सांस्कृतिक और प्रासंगिक आशय का स्पष्टीकरण चाहते हैं। इन शब्दों के इन सूचियों में समावेश न होने के कारणों में सम्पादक महोदय के लिए इन शब्दों का साधारणत्व अथवा अनुवाद के समय इनका अर्थ-विधान कर देने पर यह पुनरुक्ति

की व्यर्थता अथवा सूचीदेव्याशिका आदि हो सकते हैं जो सर्वथा मनोवैज्ञानिक हैं। वस्तुतः साहित्यशास्त्रियों के लिए रस, भाव, छन्द, अलंकार, रीति, गुण आदि शब्द जैसे रोजमर्रा के शब्द हो जाते हैं और उनके पदे-पदे अर्थ-स्कोट की, उनके लिए कोई समस्या नहीं होती वैसे ही जैन वाङ्मय और जैन धर्म-दर्शन से परिचित व्यक्ति के लिए उपर्युक्त शब्द नये नहीं लगते। किन्तु उस परम्परा से अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए ये साधारण से शब्द भी विशिष्ट, पारिभाषिक एवं महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। इन शब्दों का इस प्रसंग में अपना इतिहास है जिसमें लोकरीति, विश्वास, शिल्प, धर्म, दर्शन तथा सन्कृति छिपी हुई है। कवि ने बड़े कोशल से इस वैभव को शब्दों में छिपाकर पाठकों को समर्पित कर दिया है जिसकी पहचान उसे करनी है और अपने अतीत और अनागत से वर्तमान को जोड़कर उसका तुलनात्मक आस्वाद लेने का अवसर प्राप्त करना है।

दूसरा उदाहरण आदिपुराण के सोलहवें पर्व से लिया जा सकता है। १४४वें श्लोक से २६३वें श्लोक तथा पट्कम, वर्णाश्रमस्थिति तथा ग्रामगृहादिसंस्थाय से सम्बद्ध शब्दावली प्रयुक्त हुई है जिसके अनेक शब्दों का इन सूचियों में समावेश नहीं हो पाया है। वर्णाश्रमस्थिति (१६।१४४),<sup>५६</sup> स्वोच्चस्य ग्रह (१६।१४६), वप्र (१६।१६२), प्राकार (१६।१६२), परिखा (१६।१६२), गोपुर (१६।१६२), अट्टालक (१६।१६२), साराम (१६।१६४), तत्कर्तृभोक्तृनियम (१६।१६८), योगक्षेमानुचिन्तन (१६।१६८), असि (११।७६), मसि (१६।१७६), कृषि (१६।१७६), विद्या (१६।१७६), वाणिज्य (१६।१७६), शिल्प (१६।१७६), क्षत्रिय (१६।१८३), वणिज (१६।१८३), शूद्र (१६।१८३), प्रजानाह्य (१६।१८६), वर्णसंकीर्ण (१६।२४८) तथा मात्स्यन्याय (१६।२५२) आदि अनेक पारिभाषिक शब्द ऐसे हैं जो साधारण पाठक के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और व्याख्यासापेक्ष हैं। जैन मान्यता के सन्दर्भ में 'वर्णाश्रम' की कुछ और सकल्पना है। 'वप्र', 'प्राकार', 'परिखा', 'गोपुर' तथा 'अट्टालक' आदि शब्द वास्तुशास्त्र में सम्बद्ध हैं। 'क्षत्रिय', 'वणिज' तथा 'शूद्र' शब्दों की आदिपुराणकार ने विशेष व्युत्पत्ति दी है। 'असि' का अर्थ, इस प्रसंग में, केवल तलवार न होकर शस्त्रकर्म है। 'मसि' का अर्थ केवल स्याही न होकर लेखन-कर्म है। किस व्यक्ति को कौनसा शस्त्र दिया जाता था और किससे कौनसा लेख अपेक्षित था इसका भी कुछ विचार अवश्य होता होगा। 'शिल्प' का क्या अर्थ है और उसके कितने प्रकार हैं आदि प्रश्नों का उत्तर भी 'शिल्प' शब्द की प्रसंग विशेष में व्युत्पत्तिपरक और प्रवृत्तिपरक व्याख्या करने से ही मिल सकता है। 'वर्णसंकीर्ण' की सकल्पना के पीछे कवि की क्या मनास्थिति और वारणा रही है तथा 'मात्स्यन्याय' शब्द का प्रचलन इस अर्थ में कब से हो रहा है आदि प्रश्नों के उत्तर पाठक को चाहिए। वस्तुतः ये शब्द अपनी यात्रा के दौरान पारिभाषिक

तथा विशिष्ट बन गये हैं जिनका उल्लेख इन सूचियों में रहता तो और अच्छा रहता ।

ऐसे अनेक शब्द हैं जो इन सूचियों में स्थान प्राप्त करने से वञ्चित रह गये हैं, जिनका समावेश करके एक बृहत् सज्ञा शब्द सूची तैयार करने की आवश्यकता बनी हुई है । सज्ञा शब्दों के अतिरिक्त, भाषाशास्त्रीय और शैलीशास्त्रीय दृष्टि से, आख्यातपदों, निपातों, उपसर्गों तथा पदबन्धादिकों की सूची की भी आवश्यकता है जिसके आधार पर शब्दावली का व्युत्पत्तिपरक और प्रवृत्तिपरक अध्ययन किया जा सके ।

किन्तु इतने पर भी इन पौराणिक काव्यों की शब्दावली के सम्बन्ध में प० पन्नालाल जैन के कार्य का अपना महत्त्व है । जिज्ञासुओं के लिए ये परिशिष्ट अवलोकनीय और सहायक हैं । पुनरुक्ति से बचने के लिए हम, हरिवंशपुराण, आदिपुराण और उत्तरपुराण की शब्दावली को न देकर, केवल 'पद्मपुराण' की विविध-विषय-परक शब्दावली को ही प्रस्तुत कर रहे हैं । इस शब्द-सम्पत्ति को देखकर शब्द-मर्मज्ञों को रविषेण के विशाल 'लोक-शास्त्रिकाव्याख्येक्षण' का आभास मिल सकेगा । हरिवंशपुराण तथा उत्तरपुराण के परिशिष्टों में सकलित शब्द पद्मपुराण के उत्तरवर्ती हैं । हम अकारादिक्रम की उपेक्षा करते हुए विषयानुसार शब्दों की सूची उसी आनपूर्वी से दे रहे हैं जिससे रविषेण ने उनका प्रयोग किया है । चूँकि समस्त शब्दों का समावेश प्रस्तुत लेख में नहीं हो सकता था अतः अकारादिक्रम से शब्द-सूची अधिक उपयोगी नहीं प्रतीत हुई । नाही परिमित स्थान में सभी विषयों से सम्बद्ध शब्दों का उल्लेख किया जा सकता है, अतः मुख्यविषयानुसारी शब्दसूची ही यहाँ दी जा रही है । उसमें भी प्रधानतः सज्ञापदों एवं कुछ विशेषणपदों को ही लिया गया है । इस लेख में इन शब्दों की निर्माण-प्रक्रिया तथा अर्थवैभव का भी संकेत नहीं किया जा सकता, उसके लिए स्थानाधिक्य अपेक्षित है । वस्तुतः यह लेख, उत्तरवर्ती पौराणिककाव्यज्ञेयों की शब्द के विद्यमान रहते, पूर्ववर्ती पौराणिक काव्य-पद्मपुराण की शब्द-सूची निर्माण की पूर्वपीठिका है । चारों ग्रन्थों की शब्दसूची बन जाने पर इनकी शब्दावली का तुलनात्मक अध्ययन करने में कुछ सुविधा संभव होगी ।

'पद्मपुराण' की शब्द-सम्पत्ति की चर्चा करते समय हमें सात होता है कि रविषेण ने समाज और जीवन के विशाल क्षेत्र से सम्बद्ध शब्दों का चयन किया है । रविषेण ने 'पद्मपुराण' में राम (पद्म) की कथा कहने के वहाने समयानुसार समयसरण जिनेन्द्रमन्दिर, जिनपूजा, शास्त्रार्थ, जैनमुनि, धर्मकथन, पर्व, क्षेत्र-काल, अनेक नगर-नगरियों प्रकृति, नारी-सौन्दर्य-व्यापार-आलापो, पुरुष-सौन्दर्य-वैभव-व्यापारों, सम्भोग-क्रीडा, उत्सव-आमोद, युद्ध, सेना, यात्रा, उपद्रव, शस्त्र, वाद्य, वेपभूषा, विरह-विलाप, पशु-पक्षी, शकुनापशकुन, यन्त्र, वाहन, नगरसमृद्धि,

साहित्य, विविध शास्त्र तथा विविध कलाओं का वर्णन करते हुए तत्सम्बद्ध शब्दावली का भरपूर उपयोग किया है। यहाँ कुछ शब्द प्रस्तुत हैं<sup>७७</sup>

१ समवसरण-सम्बन्धी शब्द समवस्थान (११४६), प्राकार (२१३५), गोपुर (२१३६), अष्टमगल (२१३७), स्फटिकभित्ति (२१३८), द्वादश विभाग (२१३८), प्रादक्षिण्य पथ (२१३८), निर्ग्रन्थ (२१३९), गणनाथ (२१३९), इन्द्रपत्नी (२१३९), कल्पवासिसुराङ्गना (२१३९), आर्यिकासघ (२१४०), गणपाली (२१४०), द्योतिषा योणित (२१४०), वैयन्तरी (२१४०), भावनस्त्री (२१४१), द्योतिषा गण (२१४१), व्यन्तर (२१४१), भावनसघ (२१४१), कल्पवासी (२१४२), मानुष (२१४२), तिर्यञ्च (२१४२), अशोकपादप (२१४५), यक्षराज (२१४५), चामर (२१४५), गतित्रय (२१४५) तथा समवसरण (१२२७२) आदि।

२ जिनेन्द्रमन्दिर-सम्बन्धी शब्द रत्नवातायन (२८८६), मुक्ताजालक (२८८६), शातकौम्भमहास्तम्भसहस्र (२८८६), नानारूपसमाकीर्ण (२८८७), मेरुशृङ्गसमप्रभ (२८८७), वज्रवज्रमहापीठ (२८८७), जिनाधिप (२८८८), नित्यालकृतपूजित (३१२२४), चन्द्रनाम्नोऽनुलिप्तक्षम (३१२२४), त्रिद्वार (३१२२४), तुगतोरण (३१२२४), दर्पणादिविभूष (३१२२५), मणिपीठ (३१२२८), जिनविम्ब (३१२३०), चैत्य (४०२७), महावष्टम्भ-सुस्तम्भ (४०२८), युक्तविस्तारतुंगता (४०२८), गवाक्ष (४०२८), हर्म्य (४०२८), वलभी (४०२८), तोरण (४०२९, ११२४६), महाद्वार (४०२९), शाला (४०२९), परिखा (४०२९), सितचारुपताका (४०२९), बृहद्वण्टा (४०२९), सगीत (४०३०), महोत्सव (४०३१), जिनप्रासाद-पत्ति (४०३१), जिनेन्द्राणा पञ्चवर्णा प्रतिमा (४०३२), शासनदेवत (६७१२), कृताभिपवपूजन (६७१३), त्रिसन्ध्यवन्दना (६७१७), विविधा-श्चर्य (६७१७), चित्रपुष्पोपशोभित (६७१७), महाध्वजविराजित (६७१८), हेमरूप्यादिभूति (६७१९) जाम्बूनदमय (११२४४), भानुकूटप्रतिम (११२-४४), अशेषोत्तमरत्नीधभूषित (११२४५), मुक्तादामसहस्राद्य (११२४५), बुद्बुदादर्शशीमित (११२४५), किंकिणीपट्टलम्वूषप्रकीर्णकविराजित (११२४६), उत्तुंगगोपुर (११२४६), प्राकार (११२४६), नानावर्ण-चलत्केतु (११२४७), काञ्चनस्तम्भ (११२४७) तथा प्रासादालीसमावृत (६६१२) आदि।

३ जिनपूजा-सम्बन्धी शब्द अभिषेक (६६१४), वादित (६६१४), माल्य (६६१४), धूप (६६१४, १०८६), वलि (६६१४), उपहार (६६१४), सङ्घर्ष अनुलेपन (६६१४), पूजा (६६१५), विविध प्रणाम (६६१७), पर्यकार्धनियुक्ताग

(६६६), अक्षमाला (६६६), आलेपन (१०६६), पुष्प (१०६६), भक्ति (१०६६) तथा स्तुति (१०६०) आदि ।

४ जैन मुनि-सम्बन्धी शब्द : पञ्चोदारप्रतोटुगमातगस्कन्धवर्ती (६२६०), त्रिगुप्तिदृढनीरघ्नककटच्छन्नविग्रह (६२६०), पञ्चभेद समिति (६२६१, १४११६६), नानातपोमहातीक्ष्णशस्त्रयुक्तमनस्कर (६२६१), कषाय (६२६२), मोह (६२६२), भवाराति (६२६२), निरम्बरमहानृप (६२६२), सर्वारम्भ-परित्याग (६२६३), सम्यग्दर्शनसंगत (६२६३), अनगार (६२६३), नासिकाग्रनिविष्टातिसौम्यनिश्चलचक्षु (२१६४), मुमुक्षा (२१६५), विमुक्ति (२१६६), कल्याणाभिनिविष्टधी (२१६६), सम (२१६७), मानमत्सर-निर्मुक्त (२१६७), वशीकृतहृषीकात्मा (२१६८), निष्प्रकम्प (२१६८), नीराग (२१६८), श्रेय (२१६८), मलकचुकसवीत (२२१), धोरतपोधारी (२२१), वीतमान (२२१), महामना (२२१), तप शोषितसर्वांग (२२२), धीर (२२२), लुञ्चविभूषण (२२२), प्रलम्बितमहाबाहु (२२२), युगाध्व-न्यस्तलोचन (२२२), निर्विकार (२२३), समाधानी (२२३), विनीत (२२३), लोभवर्जित (२२३), अनुसूत समाचार (२२४) दयाविमलमानस (२२४), स्नेहपकविनिर्मुक्त (२२४), श्रमणश्रीसमन्वित (२२४), नग्न (२२६), श्रमण (२२७), लिङ्गी (२२१३), योगी (२२१२), मुनि (२२१४), गगनाम्बर (२६३३), रोपतोषविनिर्मुक्त (३६१६), प्रशान्तकरण (३६१६), शुभध्यानगतात्मा (३६१७), श्रमणश्री (३६१७), सद्धानारूढ (३६३३), प्रतिमा (३६३३), शरीरचेतनान्यत्ववेदी (३६३४), मोहवर्जित (३६३४), सयत (३६३५), महायोगेश्वर (३६४६), सुचेष्टित (३६४६), अर्हदक्षर (३६५०) धर्मानुष्ठान (३६५१), महाभाग (३६१०६), वनरेणु-समुक्षित (३६१०६), मुक्तियोग्यक्रियायुक्त (३६१०६) प्रशान्तहृदय (३६१०६), प्रलम्बितभुजद्वय (३६१०७), षण्ठाष्टमादिभिस्तीर्त्रैरुपवासैर्विशोधितान् (३६१०७), स्वाध्यायनिरत (३६१०८), पाणिपादसमाहित (३६१०८), ज्ञान-व्रित्तपसम्पन्न (४११४), महाव्रतपरिग्रह (४११४), दुस्पृहामुक्तमानस (४११४), मासोपवासी (४११५), यथोक्ताचारसम्पन्न (४११६), गाम्भीर्यधैर्यसम्पन्न (१०५१६०), वरासनकृतस्थिति (१०५१६०), परमद्विक (१०५१६१), केवलज्ञान (१०५१६२), विसृष्टसर्वसग (१४१६५), महात्मा (१४१६५), सुव्रतनायक्य मते लीना (१४१६६), निखिलवेदिन् (१४१६६), मृत्यु-जन्म-समुद्भूत-महावाससमन्वित (१४१६६), सगेन रहिता (१४१६७), पञ्चमहाव्रत (१४१६८), तत्त्वावगमनतत्पर (१४१६८), गुप्ति (१४१६९), अहिना (१४१७०), सत्य (१४१७०), अस्तेय (१४१७०), ब्रह्मचर्य (१४१७०), परिग्रह (१४१७०), राग (१४१७१), ग्रन्थ (१४१७२), समस्तप्रतिबन्धेन

समीरणवदुज्जिता (१४।१७३), मलसम्बन्धरहित (१४।१७४), श्लाघ्यचेष्टित (१४।१७४) सौम्य (१४।१७४), दीप्त (१४।१७४), गम्भीर (१४।१७५), भीतकूर्मवदत्यन्तगुतेन्द्रियकदम्बक (१४।१७५), कपायोद्रेकवर्जित (१४।१७६), अशीत्या गुणलक्षणा चतुसहितयान्विता (१४।१७६), अष्टादशजिनोद्दिष्टशील-लक्षसमन्विता (१४।१७७), सिद्ध्याकाक्षतत्पर (१४।१७७), जिनोदितार्थससक्त (१४।१७८), विदितापरशासन (१४।१७८), श्रुतसागरपारस्थ (१४।१७८), यमधारी (१४।१७९), नियमाना विधातार (१४।१७९), समुन्नद्धतयोज्जिता (१४।१७९), नानालब्धिकृतासग (१४।१७९), महामगलभूति (१४।१७९), तनुकर्मा (१४।१८०), प्रासुकस्थान (२२।६४), चातुर्माभीव्रत (२२।६४), दिग्विरामव्रत (२२।६५) तथा शुक्लध्यान (३६।६८) आदि।

५ जैन-गृहस्थ-सम्बन्धी शब्द . गृहाश्रमनिवासी (१४।१८२), द्वादशधा स्थित धर्म (१४।१८२), पञ्च अणुव्रत (१४।१८३), चतुर्विधा शिक्षा (१४।१८३), त्रयो गुणा (१४।१८३), यथाशक्ति सहस्रश नियम (१४।१८३), स्थूल-प्राणाति-पात-विरति (१४।१८४), परवित्तग्रहण (१४।१८४), परदारसमागम (१४।१८४), अनन्तगर्द्धा (१४।१८५), भावना (१४।१८५), दया (१४।१८६) अनर्थदण्ड-विगम (१४।१८६), दिग्विदिक्परिवर्जन (१४।१८६), भोगोपभोग-संख्यान (१४।१८६), गुणव्रत (१४।१८६), सामायिक (१४।१८६), प्रोष-धानशन (१४।१८६), अतिथि-सविभाग (१४।१८६), सल्लेख (१४।१८६), भिक्षोपकरण (१४।२०१) मधु (विरति) (१४।२०२), मास (विरति) (१४।२०२), मद्य (विरति) (१४।२०२), रात्रिभोजन (विरति) (१४।२०२) वेक्ष्यासगम (विरति) (१४।२०२) गृहधर्म (१४।२०३), रत्नत्रय (१४।२०४), आसन्नशिवालय (१४।२०५), सम्यग्दर्शनलाभ (१४।२०६), जिनेन्द्रनमस्कार (१४।२०७), जिनबिम्ब (१४।२१३), जिनाकार (१४।२१३), जिनपूजा (१४।२१३), जिनस्तुति (१४।२१३), कृत्याकृत्यविचलक्षण (१४।२१५), शील (१४।२२६), त्याग (१४।२२६), सम्यक्त्व (१४।२२६), दिनभोजन (१४।२२०), मुनिवेलाव्रत (१४।३२८), एकभक्त (१४।३३४), चतुर्दशी-अष्टमी-उपवास (१४।३३६), जिनशासन (१४।३४३), विरति (१४।३४७) तथा चतुशरण (१४।३७२) आदि।

६ पर्व तथा उत्सव-सम्बन्धी शब्द : आपाढधवल्लाष्टमी (२६।१) पञ्चवर्ण-चूर्ण (२६।३), माल्य (२६।३), उदक (२६।४), बहुविधच्छवि (२६।४), द्वारशोभा (२६।५), नानाधातुरस (२६।५), भित्तिमण्डन (२६।५), जिनस्नपन (२६।७), अष्टोहोपोषित (२६।८), शान्तिगन्धोदक (२६।१०), शान्त्युदक (२६।११), जिनवरोदक (२६।१२), नन्दीश्वरभट्ट (६८।१), धवल्लाष्टमी (६८-१), पीर्णमासी (६८।१), पलाशादिपुट (६८।७), सभा (६८।११), प्रपा (६८।११, मञ्च

(६८११), पट्टशाला (६८११), नाट्यशाला (६८११), वापी (६८११), सर (६८१२), सोपामक (६८१२), चैत्यकूट (६८१२), रम्भादि विमूर्षितसद्धार (६८१३), कनकादिरजश्चित्तमण्डलादि (६८१३), घृत-क्षीरादिपूर्ण कलश (६८१४), मुक्तादामादिसत्कण्ठ (६८१४), जातरूपमय रजतादिमय मणिरत्न-शरीर पद्म (६८१८) पटह (६८१८), तूर्य (६८१८) काहल (६८१८) तथा शख (६८१८) आदि ।

७ जैनदर्शन-सम्बन्धी शब्द सत्ता (२१५५), तत्त्व (२१५५), जीव (११५५), अजीव (२१५५), सिद्ध (२१५५, १०५, १४६), ससारवाम् (२१५५), भव्य (२१५६), अभव्य (२१५६), जिनदेशित तत्त्व (२१५८), एकेन्द्रियादि (२१५८), गति (२१५८), काय (२१५८), ज्ञान (२१५८), योग (२१५८), वेद (२१५८), लेश्या (२१५८), कषाय (२१५८), ज्ञान (२१५८), दर्शन (२१५८), चारित्र्य (२१५८), गुणश्रेण्यधिरोहण (२१५८), निसर्गशास्त्रसम्यक्त्व (२१६०), नामादिन्यासभेद (२१६०), सदधष्ठानुयोग (२१६०), चेतन (२१६०), ससारिजीव (२१६१), नारक (२१६२), तिरश्चा (२१६३), मानुष (२१६४), देव (२१६५) चतुर्गति (२१६६), कर्मभूमि (२१६६), धर्मोपार्जन (२१६६) मिथ्यादृष्टि (२१८६), मिथ्यादर्शन (२१८७), समाधि (२१८८), निदानकृत दोष (२१८८), वासुदेव (२१८८), वलदेव (२१८९), षोडश जिनकर्म (२१८९), तीर्थकृत (२१८९), कर्मण्टकलक (२१८९), घातिकर्मविनाशन (१२२१७१), पृथिवी (१०५१४१), आप (१०५१४१), तेज (१०५१४१), मातरिक्षवा (१०५१४१), वनस्पति (१०५१४१), तम (१०५१४१), जीव (१०५१४१), निकाय (१०५१४१), धर्म (१०५१४२, २१५७), अधर्म (१०५१४२, २१५७), वियत् (१०५१४२), काल (१०५१४२), जीव (१०५१४२), पुद्गल (१०५१४२), द्रव्य (१०५१४२), सप्तभगीवचोमार्ग (१०५१४३), प्रमाण (१०५१४३), नय (१०५१४३), एकद्वित्रिचतुषच-हृषीकेषु सत्त्वम् (१०५१४४), सूक्ष्मत्वादरभेद (१०५१४५), भव्याभव्यादिभेद (१०५१४६), जीवद्रव्य (१०५१४६) उपयोग (१०५१४७), अष्टविध ज्ञान (१०६१४८), चतुर्धा दर्शन (१०५१४८), ससारी (१०५१४८), विमुक्त (१०५१४८), सचित्त (१०५१४८) विचेतस् (१०५१४८), स्थावर (१०५१४८), शेषक (१०५१४८), पञ्चेन्द्रिय (१०५१४८), गर्भसम्भव (१०५१५०), उपपाद (१०५१५०) नारक (१०५१५१), सम्मूर्च्छन (१०५१५१), औदारिक (१०५१५२), वैक्रिय (१०५१५२), आहारक (१०५१५२), तेजस् (१०५१५२), कर्मण (१०५१५२) सूक्ष्म (१०५१५२), चारणापि (१२२१७१), केवल (१२२१७३) केवलज्ञान (३६१७५) आदि ।

८ ब्रह्माण्डकल्पना-सम्बन्धी शब्द अन्तर्लोक (१०५१०८) लोक

(१०५११०६), सप्तभूमि (१०५१११०), रत्नाभा (१०५११११), शर्करा-वालुका-  
पक्ष्वान्तमोनिभा (१०५१११२), नरक (१०५१११७), देवारण्य (१०५११४०),  
अर्णव (१०५११४०), द्वीप (१०५११४०), योग्यभूमि (१०५११४०), जम्बूद्वीप प्रमुख-  
द्वीप (१०५११५४, १५५), लवणादिसागर (१०५११५४), मेरु (१०५११५६) कुलपर्वत  
(१०५११५७), हिमवान् (१०५११५७), निपथ (१०५११५७), नील (१०५११५७),  
रुक्मी (१०५११५८), शिखरी (१०५११५८), भरतक्षेत्र (१०५११५८)

६ विद्या-सम्बन्धी शब्द २४ सख्यक टिप्पणी से दर्शित स्थल में विद्या-  
सम्बन्धी शब्दों की सूची दी गई है। उन शब्दों के अतिरिक्त कुछ ये हैं सर्वाहा  
(७३३३), रतिसंवृद्धि (७३३३), ऋग्भिणी (७३३३), व्योमगामिनी  
(७३३३), निद्राणी (७३३३), सिद्धार्था (७३३४), शत्रुदमनी (७३३४),  
निर्व्याघाता (७३३४), खगामिनी (७३३४), आमरी (८३०८), योधिनी  
(१६६१), प्रतिवोधिनी (६०६२), सिंहयान (६०१३५), गारुड (६०१३५),  
अमोघविजया (६५१४२) तथा प्रज्ञप्ति (६५१४२) आदि।

१० शास्त्रार्थ सम्बन्धी शब्द ग्यारहवें पर्व में शास्त्रार्थ का वर्णन है जिसमें  
वैदिक मतानुयायी तथा जैन मतानुयायी विचार पद्धतियों पर वाद प्रतिवाद  
हुआ है। इस प्रसंग में पर्याप्त पारिभाषिक तथा विशिष्ट शब्द प्रयुक्त हुए हैं,  
यथा यज्ञद्वीक्षाख्यपातक (१११६), अज्येष्टव्यम् (१११४१), आलम्भन  
(१११४३), पशु (१११४३, ८४, २४४), प्राश्निक (१११४५)। यौनसम्बन्ध  
(१११५५), शास्त्रीय मवध (१११५५), दक्षिणा (१११५७), ऋषि (१११५८),  
चतुर्विध जनपद (१११६५), नाना प्रकृति (१११६५), सामन्त (१११६५),  
मन्त्री (१११६५), जलमण्डल (१११६५), विवाद (१११६६), तत्त्व (१११६७),  
वितयसामर्थ्य (१११७०), परमार्थनिवेदन (१११७०), हिंसाधर्मप्रवर्तन  
(१११७२), वामस्कन्धस्यसूत्रक (१११७६), कमण्डलस्वक्षमालादिनानोपकरणावृत  
(१११७६), हिंसाकर्मपर शास्त्र (१११८०), तापस (१११८१), सूत्रकण्ठ  
(१११८१, १०८, २३८), हिंसाधर्म (१११८१), पक्ष (१११८२), यज्ञ  
(१११८३), ब्रह्मा (१११८३), वध (१११८४), सौत्रामणि (१११८५),  
सुरापान (१११८५), अगम्यागमन (१११८५), गोसव (१११८५), मातृमेघ  
(१११८६), पितृमेघ (१११८६), अन्तर्वेदि वध (१११८६), आशुशुक्षणि  
(१११८७), जुह्वक (१११८७), स्वाहा (१११८७), शुद्ध द्विजन्मा (१११८८)  
खलति (१११८८), अस्यदहन (१११८८), ज्वलन (१११८८), आहुति (१११८८)  
पुरुष (१११८०), ईशान (१११८०), अमृत्त्व (१११८०), अन्न (१११८०),  
प्राणिनिपातन (१११८१), मास-भक्षण (१११८२), यायजूक (१११८२),  
देवोद्देश्य (१११८२) हिंसायनस्यनी (१११८४), दीक्षित (१११८४, १०८),  
कुग्रन्थ (११११०३), यज्ञवाट (११११०६), ऋत्विक् (११११०७, १६२),



यथाविधि उपदेश (११११०७), निमन्त्रित (११११०८), यज्ञमही (११११०९),  
 वेदमगलनिस्वन (११११०९), अन्नह्म (११११०९), आत्विजीन (११११६३),  
 माणवक (११११६३), हेतुवर्जित असम्बद्ध भाषण (११११६४), उपपत्ति  
 (११११६५, १६६), अकर्तृक वेद (११११६७), प्रमाण (११११६७), अतीन्द्रिय  
 (११११६७), वर्णलय (११११६७), कर्म (११११६७), अपूर्व धर्म (११११६८),  
 याग (११११६८), फल (११११६८), स्वर्ग (११११६८), प्रत्यवाय (११११६९),  
 शास्त्रचोदित (११११६९), वित्तान (११११७०), दुर्ग्रन्थभावनादूषितात्मा  
 (११११७१), सर्वज्ञ (११११७२, १७७), शब्दार्थबुद्धिभेद (११११७२), असत्  
 अर्थ (११११७४), वाग्व्यतिक्रम (११११०४) अनुमान (११११७६), प्रतिज्ञा  
 (११११७६), अभाव (११११७६), आगम (११११७८), विरोध (११११७८),  
 अनेकान्त (११११७८), साध्य अर्थ (११११७८), सिद्धप्रसाधक (११११७८),  
 सर्वथा अयुक्तवक्तृत्व (११११७९), असिद्ध (११११७९), स्याद्वाद् (११११७९),  
 सिद्ध (११११८०), विरुद्ध (११११८०), साधन (११११८०, १८६), दोषवान्  
 आगम (११११८१), साध्यविहीन दृष्टान्त (११११८२), एकान्तयुक्तोक्ति  
 दृष्टान्त (११११८३), साध्यसाधनवैकल्य (११११८३), सधर्मा (११११८३),  
 अदृष्टवस्तु (११११८४), वेद (११११८४) दूषण (११११८४), हेतु-समाश्रयण  
 (११११८४), सर्वज्ञतायोग (११११८५), व्यतिरेक (११११८६), अविनाभाव  
 (११११८६), स्वपक्ष (११११८७), अपेक्षितविपर्यय (११११८८), वेदस्य  
 कर्त्तृभाव (११११८९), युक्त्यमात्र (११११८९) ससाध्य (११११८९), दृश्य  
 (११११८९), हेतुसम्भव (११११८९), पदवाक्यादिरूप (११११९०),  
 विज्ञेयप्रतिषेधार्थ (११११९०)। प्रजापति (११११९१), श्रुति (११११९२),  
 रागद्वेष (११११९२) ग्रन्थदेशन (११११९३), जात्या चातुर्विध्यम् (११११९४),  
 श्लोकाग्नि (११११९४), जातिभेद (११११९५), वर्णव्यवस्थिति (११११९८),  
 ब्रह्मण्य मुखादिसम्भव (११११९९), निर्हेतु (११११९९), भाषमाणक  
 (११११९९), गुणयोग (१११२००), ब्राह्मण (१११२०१), क्षत्रिय (१११२०२),  
 वैश्य (१११२०२), शूद्र (१११२०२), जाति (१११२०३), गुण (१११२०३),  
 चातुर्वर्ण्य (१११२०५), अपूर्वाख्य धर्म (१११२०६), नित्य (१११२०६),  
 अनित्य (१११२०६) प्रायश्चित्त (१११२१०), सोम (१११२११), प्रतर्पण  
 (१११२१२), द्वादशीदक्षिणा (१११२१३), मायु (१११२१४), व्यभिचार  
 (१११२१५), स्वयम्भू (१११२१७), लोक (१११२१७), सर्ग (१११२१७),  
 पुराणतृणदुर्बल (१११२१७), कृतार्थ (१११२१८), सम्यक्त्व (१११२२३),  
 एकान्तवादी (१११२२३), निश्चय (१११२२६), अनवस्था (१११२२७),  
 प्रश्न (१११२३१), बीज पादप (१११२३१), ब्रह्मलोक (१११२३७) वसु  
 (१११२३८), स्वपक्षानुमतिप्रीति (१११२३९), वल्लि (१११२३९, २४४),

पिष्ट (१११२४०), यजकल्पना (१११२४१), यजमान (१११२४२), वितदिका (१११२४२), पुरोडाश (१११२४२), हवि (१११२४२), दर्भ (१११२४३), दक्षिणा (१११२४३), प्राणायाम (१११२४३), सितध्यान (१११२४३), सिद्धपद (१११२४३), फल (१११२४३), यूप (१११२४४), समित् (१११२४४), धर्मयज्ञ (१११२४४), देवतृप्ति (१११२४५), स्पर्श (१११२४६), रस (१११२४६), रूप (१११२४६), गन्ध (१११२४६), त्रयोऽग्नय (१११२४६), दक्षिणाग्नि (१११२४६), अनेकान्तदिवाकर (१११२५२), शास्त्रार्थ (१११२५२), वेदार्थभ्यसन (१११२५३) आदि।

११ कामशास्त्रीय शब्द : ताम्रलराग (१६१८५), माल्य (१३११४८), अनुलेपन (१६११४८) योग (१६११४९), सखी (१६११५३), स्तम्भ (१६११६९), वेपथु (१६११६९, १८९), सम्भ्रम (१६११७०), स्वेद (१६११७२), पुलक (१६११७२), स्पर्श (१६११७२), अकुर (१६११७२), त्रपमाण (१६११७४), विलक्ष, (१६११७५), आद्यसम्भाषण (१६११७६), चिबुकेऽङ्गुलिनिधानम् (१६११७६), मुखोन्नमन (१६११७६), अपराध (१६११८०), प्रणाम (१६११८०), प्रसाद (१६११८०), समाश्लेष (१६११८३), सुखामीलितलोचन (१६११८३), वियोग (१६११८४), आर्लिगन (१६११८५), पाद (चुम्बन) (१६११८६), कर (चुम्बन) (१६११८६), नाभि (चुम्बन) (१६११८६), स्तन (चुम्बन) (१६११८६), अलिक (चुम्बन) (१६११८६), गण्ड (चुम्बन) (१६११८६), मदनातुर (१६११८६), वक्त्र चुम्बन (१६११८७), अवरपान (१६११८८), नीवीविमोचन (१६११८९), नितम्बफलक (१६११९०), वेग (१६११९१), ग्राहग्रहण (१३११९१), वैदग्ध्य (१६११९२), स्मर (१६११९२)। अनुराग (१६११९२), रति (१६११९३), दम्पती (१६११९३), स्तन (१६११९४), जघन (१६११९४-१९८), रत्न (१६११९५), रतिभ्रम (१६११९५), अग्रग्रहण (१६११९६), सीत्कार (१६११९६), नखाक (१६११९७), सेचनकत्व (१६११९८), वलयरणत्कार (१६११९९), कलालाप (१६११९९), प्रस्नेदविन्दु (१६१२०१), रतान्त (६११२०१), रदग्रहाणीभूत अवर (१६१२०२), सुरतीत्सव (१६१२०४), निद्रा (१६१२०४, २०९), खिन्नदेह (१६१२०४), अन्योन्यभुजाश्लेष (१६१२०६), सौरभ, निश्वास (१६१२०७), परिष्वगचक्रितस्तनमण्डल (१६१२०७), यथेष्टदेश, विन्यस्तनानाकारोपवानक (१६१२०८), स्पर्शमुख (१६१२०९), शयनीय (१६१२१०), परिमल (१६१२११), प्रमद (१६१२११), त्रपा (१६१२११), लम्बमनोरथा (१६१२११), कृतध्वनि (१६१२१५), विजृम्भण (१६१२१७), निद्राशेषाण्यनिरीक्षण (१६२१७), वामतर्जन्याश्रवणकण्डूयन (१६१२१९), दक्षिणवाहुमकोच (१६१२१८), स्मित (१६१२२०), सुखरान्ति (१६१२२०),

निवेदन (१६।२२०), लज्जन (१६।२२३), ऊष्काण्डदर्शन (३६।१८६), मार (३०।१८६), लावण्यरस (६६।१८६), वक्षसिजद्वय (३६।१६०), सत्तस्त, नीग्विरतेर्ग्रहम् (३६।१६१)- उत्तेजनाभिमण्डल (३६।१६१), कक्षोद्देश्य (३६।१६१), स्मरवाण (३६।१६३), स्रसमानाशुक (१२।२।५७), बाहुमूलदर्शन (१२।२।५७)- नितम्बफलक (१२।२।५६) आदि।

१२ युद्ध, सेनायात्रा उपद्रवादि से सम्बद्ध शब्द चतुरग सैन्य (४।६८), दृष्टियुद्ध (४।७१), बाहुरण (४।७३), चक्ररत्न (४।७२), चमू (६।४३६, ५।१।४), बाहिनी (६।४४६), गज (६।४४७), रथ (६।४४७), पदाति (६।४४७), तुमुल (६।४५१), नगर-रोध (६।४५८), ध्वज (६।४५८), रणसज्जा-विधान (७।६७), सन्नाहमण्डनोपेत (७।६८), ककटच्छन्नविग्रह (७।७१), सप्ति (७।७३), वाजि (७।७३), शस्त्रवर्ष (७।८१), स्वकनामाङ्कितशर (७।८५), पलायन (७।९०), अनुमार्ग (७।९१), महारथ (८।१६७), विमान (८।१६८), स्यन्दन (८।१६६), सेना-सम्पात (८।२०१), शस्त्रसम्पात (८।२०१, १०।११२), रणमस्तक (८।२०८), वीर-शय्या (८।२४१), कलकल (८।२४०), प्रतिक्रिया (८।२४३), चिकित्सक (८।२४३), लुण्ठन (८।४४२), प्रयाणक (१०।४३), धनव्यूह (१०।१०७) भर्तृवाक्य (१०।११४), धानुष्क (१०।१२१, १२७) रथस्य (१०।१२१), मत्तवारण (१०।१२२, १२।१६०), ककट (१०।१२५), धनुर्वेद (१०।१२८), ब्रणभग-विधान (१०।१३६), गवेषण (१०।१३६), प्रभातहततूर्य (१०।१३७), सन्नाहमण्डप (१२।१८१), सन्नाहमञ्चार्य तूर्यवादन (१२।१८१), आधोरण (१२।१६०), चमूमुख (१२।१६३), मुखभग (१२।१६४), सेवामुखावसाद (१२।१६५), पृतनावक्त (१२।१६५), सुमनस (१२।१६७), सुशस्त्र (१२।१६७), सुयान (१२।१६७), सैन्यवक्त्र (१२।१६६), समरविधि (७।५।१), न्याय्य सग्राम (१२।२६०), युद्ध-ग्रहण (१६।८६), जीवग्राह (१६।६१), लुण्ठित (१६।७०) उपद्रव (१६।६१), पत्ति (५६।४), सेनामुख (५६।४), गुल्म (५१।४), पृतना (५६।४), अनीक (५६।५), अशौहिणी (५६।४, १०।१६) आदि।

१३ सैनिक वेषभूषा-शस्त्रास्त्र सम्बन्धी शब्द हेति (७।६८), सन्नाह (१२।१८१), मण्डलाग्र (१२।१८२), ककट (१०।१२५, १२।१८२), धनु (१२।१८३), शिरस्त्राण (१२।१८३), अर्द्धबाहुट्टिका (१२।१८३), सायकपुत्तिका (१२।१८३), असि (१०।११२, १२।१८८, २११, २५७, ६२।७), तोमर (१२।१८८), पाश (१२।१८८, २५८), ध्वज (१२।१८८), छत्र (१२।१८८), शरामन (१२।१८८), करवाल (१२।२१५, ७३।१७६), कनक (१२।२११, २३४, २५७, २७।६१, ७४।४६), गदा (१०।११२, १२।२११, २५७,

५०३२), शक्ति (७८६, १२२११, २५८, ५२३६, २७६१), चाप (१२२११, २५७, ५२३७), मुद्गर (१२२११, २५८, ५०३२, ६२७), कोदण्ड (१२२३२), सिण्डिमाल (१२२३६, ८२३६), प्रास (१०११२, २४४२१), बाण (१०११२, १२५, ५०३२, ५२३८), सायक (१०१३०, ८२३५), कुन्त (१२२५७, ५२४०), मुसल (१२२५७, ५२४०, ६०१४०), शर (१२२५७, ५२३६, परिध (८२०६, ६२७, १२२५७), चक्र (१२२५७, ५२४०, ५२७, ३४५६, २७६१), कर्वाली (१२२५७), अल्लिप (१२२५७), शूल (१२२५८, २६६१, ६२७४), पाश (१२२५८), भुशुण्डि (१२२५८, ५०३२), कुठार (१२२५८), धन (१२२५८, ६२७), ग्रावा (१२२५८), लागल (१२२५८), दण्ड (१२२५८), कोण (१२२५८), सायकवेणु (१२२५८), परशु (५०३२, ५२४०), शतघ्नी (५०३२, ५२४०), शैलशिखर (५०३२) उल्का (५०३७, ७५५७, १६५५), लागूल (५६३७, ७५५७), शिला (५२४०), वज्रदण्ड (८२३८, ५२४०), क्रकच (६२७, २७६), यष्टि (६२७), अष्टि (६२७ ७४४२), कृपाण (६४५२, ८२२६), विशिख (७८२), शशाकार्धेयु (०२३६) वज्रसूची (८३११), चन्द्रार्धसायक (२२२१६), लागूलपाश (१६५४) असिधेनु (२७६७), हल (६०१४०), प्राकृतास्त (१२३१२), आग्नेय (१२३२२), वरुण (लक्षित) अस्त (१२३२५), तामसास्त (१२३२८ ६०१००), प्रभास्त (१२३३०), नागास्त (१२३३२), गण्डास्त (१२३३६), नागसायक (६०१०२) आदि ।

१४ वाद्य-सम्बन्धी-शब्द शख (१२३५५, ५८२६ ७८६२-६३, ८८२६) तूर्य (७३६५, ५८२६, ६८१६, ८८२७), भमा (५८२७), भेरी (५८२७, ७८६२-६३, ८८२६) मृदग (५८२७, ६८१६, ७८६२-६३, ११०६७), लम्पाक (५८२७), धुन्धु (५८२७) मण्डुक (५८२७), झल्ला (५८२७), अम्लातक (५८२७), हक्का (५८२२) हुकार (५८२२), कुम्भकाणक (५८२७), झर्झर (५८२८), हेकगुञ्जा (५८२८), काहल (५८२८, ६८१६), दर्दुर (५८२८), पटह (६८१६, ७८६२-६३), सुमुन्द (६८६२-६३), झर्झरीक (७८६२-६३), दुन्दुभि (७८६२-६३, ८८२७), झल्लरी (८८२७), प्रवर (८८२७), वश (८८२७, १२२५१), घण्टा (१२१८६) पटल (१२३५५), बीणा (३१०५ ११४, ४०१३०, ७८६७-६३, ११०६७, १२२५१), तन्त्री (३१०५) वेणु (११०६७) आदि ।

१५ वास्तुकला (भवन-निर्माण कला) सम्बन्धी शब्द . कुछ शब्द सख्या (२)

मे जिनेन्द्र-मन्दिरो से सम्बद्ध सूची में दिये गये हैं, प्रासादो से सम्बद्ध कुछ शब्द यहाँ दिये जा रहे हैं प्रासाद (११०६३), कनकस्तम्भसहस्रपरिशोभित (११०६३) कुट्टिम (१४१२६, ११०६४), सर्वोपकरणान्वित (११०६४), स्नानादिविधिसम्पत्तियोग्य निर्मलभूमि (११०६५), वलभीशोभि (४६१२), रत्ननिर्मितशेखर (४६१२), हेमद्रव्यस्त लेप्यतेज समुज्ज्वल (४६१२), मुक्तादामसमाकीर्ण (४६१३), वातायनविराजित (४६१३), उद्यानाकीर्णपर्यन्त (४६१३) हेमस्फटिकवैडूर्यस्तम्भनिर्माण-निर्मित (१४१२८), बहुभूमिक प्रासाद (१४१२८), भित्ति (१४१२८), विचित्रमणिकुट्टिम (१४१२६), ६० चमर-सिंह-गजादि-रूप-निचित-पार्श्व वेदिकालङ्कृत (१४१३०), चन्द्रशालादियुक्त (१४१३१), ध्वजमालाविभूषित (१४१३१), सोपाश्रय-मनोहारिशयनासनसगत (१४१३१), आतोद्यवरसम्पूर्ण (१४१३१), शृङ्गकोटि (८२०) तथा शखशुभ्रमहागृह (८२५) आदि।

१६ स्त्रियों के लिए ज्ञातव्य कलाओं से सम्बद्ध शब्द : कौकया की कलाओं के वर्णन में तथा कुछ अन्य प्रसंगों में इन कलाओं से सम्बद्ध शब्दावली का प्रयोग हुआ है, यथा

(अ) नाट्यकला-परक शब्दावली नृत्य (२४१६), गीत (२४१६), वाद्य (२४१२१), नाट्य (२४१२२), अगहाराश्रय (२४१६), अभिनयाश्रय (२४१६), व्यायामिक (२४१६), तेवालेवाध्वनि (३७१००), रेचक (३७१०३), ललितागविवर्तन (३७१०३), सस्मितालोकित (३७१०४), विगलद्भ्रूसमुद्गम (३७१०४), गमकानुगतस्तनकम्प (३७१०४), जघनसंचार (३७१०५), बाहुलताहार (३७१०५), सुलीलकरपल्लव (३७१०५), पादन्यास (३७१०६), लघुस्पृष्टविमुक्तधरणीतल (३७१०६), आशुसम्पादितस्यान (३७१०६), केशपाशविवर्तन (३७१०६), त्रिकवलग्न (३७१०७), गात्रसन्दर्शन (३७१०७), मूर्च्छना (३७१०८), परिलीनसखीस्वर (३७१०८), आतोद्यानुगतनृत्य (३७११२), कण्ठ (२४१७), शिरस् (२४१७), उरस् (२४१७), पङ्क (२४१८), ऋपभ (२४१८) गान्धार (२४१८) मध्यम (२४१८), पञ्चम (२४१८), वैवत (२४१८), निषाद, (२४१८), द्रुत (२४१८), मध्य (२४१८), विलम्बित (२४१८), लय (२४१८) अक्ष (२४१८), चतुरस्त्र (२४१८), तालयोनि (२४१८), वर्ण (२४११०), पद (२४११०) स्थायी (२४११०), संचारी (२४११०), आरोही (२४११०), अवरोही (२४११०), नाम (२४१११), आख्यात (२४१११), उपसर्ग (२४१११), निपात (२४१११), संस्कृता, (२४१११), प्राकृती (२४१११), शौरसेनी (२४१११), भाषा (२४१११), धैवती (२४११२), आर्षभी (२४११२), पङ्कपङ्का (२४११२), उदीच्या (२४११२), निपादिनी (२४११२), गान्धारी (२४११२),

पङ्जकैकशी ((२४।१२), पङ्जमध्यमा (२४।१२), गान्धारीदीच्या (२४।१३)  
मध्यमपञ्चमी (२४।१३), गान्धारपञ्चमी (२४।१३), रत्तगान्धारी  
(२४।१३), मध्यमा (२४।१३), आन्ध्री (२४।१४), मध्यमोदीच्या (२४।१४),  
कर्मारवी (२४।१४), नन्दनी (२४।१४), कौशकी (२४।१४), अष्टजाति  
(२४।१५), दशजाति (२४।१५), त्रयोदश अलकार (२४।१५), प्रसन्नादि  
(२४।१६, १८), प्रसन्नान्त (२४।१६, १८), मध्यप्रसादवान् (२४।१६)  
प्रसन्नाद्यवसान (२४।१६), चतुर्धा स्यायिभूषण (२४।१६), निर्वृत्त (२४।१७),  
प्रस्थित (२४।१७), विन्दु (२४।१७), प्रेखोलित (२४।१७), तार (२४।१७),  
मन्द्र (२४।१७), प्रसन्न (२४।१७), षोढासचारिभूषण (२४।१७), आरोहण  
एकमेवविभूषणम् (२४।१८), कुहर (२४।१८), अलकार योजन साधुगीत  
(२४।१९) । तत (२४।२०), तन्त्रीसमुत्थान (२४।२०), अवनद्ध (२४।२०),  
मृदगज (२४।२०), शुषिर (२४।२०), वशसम्भूत (२४।२०), धन (२४।२०),  
तालसमुत्थित (२४।२०), चतुर्विद्यावाद्य (२४।२१), नानाभेद (२४।२१), शृंगार  
(२४।२२), हास्य (२४।२२), कर्षण (२४।२२), वीर (२४।२२), अद्भुत  
(२४।२२), भयानक (२४।२२), रौद्र (२४।२३), वीमत्स (२४।२३), शान्त  
(२४।२३), नव रस (२४।२३) ।

(आ) लिपि-विज्ञान-सम्बन्धी शब्द अनुवृत्त (२४।२४), विकृत (२४।२४)  
कल्पित (२४।२४), सामयिक (२४।२५), नैमित्तिक (२४।२५), प्राच्य (२४।२६),  
मध्यम (२४।२६), यौघेय (२४।२६), समन्द्र (२४।२६), लिपिज्ञान (२४।२४, २६)

(इ) उक्ति-कौशल-सम्बन्धी शब्द उक्ति-कौशल (२४।२७), स्थान  
(२४।२७), स्वर (२४।२७), सस्कार (२४।२७), विन्यास (२४।२७), काकु  
(२४।२७), समुदाय (२४।२८), विराम (२४।२८), सामान्याभिहित  
(२४।२८), समानर्थत्व (२४।२८), भाषा (२४।२८), जाति (२४।२८),  
लक्षणा (२४।३०), उद्देश्य (२४।३०), पदविन्यास (२४।३०), वाक्यविन्यास  
(२४।३०), सापेक्षा काकु (२४।३१), निरपेक्षा काकु (२४।३१), गद्य  
(२४।३१), पद्य (२४।३१), मिश्र (२४।३१), सक्षिप्तता (२४।३२),  
तुल्यार्थता (२४।३३) एकशब्देन वल्लर्थाप्रतिपादनम् (२४।३३), आर्यभाषा  
(२४।३३), लक्षणभाषा (२४।३३), म्लेच्छभाषा (२४।३३), पद्यव्यवहृति  
(२४।३४), लेख (२४।३४), व्यक्तवाक् (२४।३४), लोकवाक् (२४।३४),  
मार्गव्यवहार (२४।३४), मातृका (२४।३४) ।

(ई) चित्रकला-सम्बन्धी शब्द : शुष्कचित्र (२४।३६), नानाशुष्क  
(२४।३६), वर्जित (२४।३६), आर्द्रचित्र (२४।३६), चन्दनादिद्रवोद्भव  
(२४।३६), कृत्रिमरंग (२४।३७), अकृत्रिमरंग (२४।३७), भूजलाम्बरगोचर  
(२४।३७), वर्णकक्षेप (२४।३७) ।

(उ) पुस्तकर्म-सम्बन्धी शब्द : पुस्तकर्म (२४।३८), क्षय (२४।५८), उपचय (२४।३८), सक्रम (२४।३८), तक्षण (२४।३८), काष्ठादि (२४।३८), उपचिति (२४।३९), मृदादि (२४।३९), उपचेय (२४।३९), सक्रान्त (२४।३९), प्रतिबिम्बाधान (२४।५९) यन्त्र (२४।४०), निर्यन्त्र (२४।४०), सन्धिद्र (२४।४०) निषिद्ध (२४।४०) ।

(ऊ) पत्रच्छेद्य-सम्बन्धी शब्द : पत्रच्छेद्य (२४।४१), वृष्मिक (२४।४१), छिन्न (२४।४१), अछिन्न (२४।४१), सूची (२४।४१), दन्त (२४।४१), कर्तरी (२४।४२), सम्बन्धसयुत (२४।४२), सम्बन्धपरिवर्जित (२४।४२), पत्रवस्त्रसुवर्णादिसम्भव (२४।४३), स्थिर (२४।४३), चंचल (२४।४३), सवृतासवृतादिज (२४।४३) ।

(ऋ) माल्यनिर्माण-सम्बन्धी शब्द आर्द्र (२४।४४), शुष्क (२४।४४), तदुन्मुक्त (२४।४४), सिक्थकादि समुद्भूत (२४।४५), रणप्रबोधन (२४।४६), व्यूहसयोग (२४।४६) ।

(ॠ) सुगन्धित पदार्थ-निर्माण-सम्बन्धी शब्द : योनि (२४।४७), द्रव्य (२४।४७), अधिष्ठान (२४।४७), रस (२४।४७), वीर्य (२४।४७), कल्पना (२४।४७), परिकर्म (२४।४७), गुण (२४।४७), दोष (२४।४८), तगर (२४।४८), वर्ण (२४।४८), वर्तिका (२४।४८), कषाय (२४।४९), मधुर (२४।४९), तिक्त (२४।४९), कटुक (२४।४९), अम्ल (२४।४९), शीतवीर्य (२४।५०), उष्णवीर्य (२४।५०), विवादानुवादसवादयोजन (२४-५०), स्नेह (२४।५१), शोधन (२४।५१), क्षालन (२४।५१), स्वतन्त्र (२४।५२), अनुगत (२४।५२), गन्धयुक्ति (२४।५२), ।

(लृ) आस्वाद्यविज्ञान-सम्बन्धी : भक्ष्य (२४।५३), भोज्य (२४।५३), पेय (२४।५३), लेह्य (२४।५३, ५५), चूष्य (२४।५३), कृत्त्रिम (२४।५३, ५५) अकृत्त्रिम (२४।५३, ५५), यवागू (२४।५४), ओदन (२४।५४), शीतयोग (२४।५४), जल (२४।५४), मद्य (२४।५४), राग (२४।५५), खाण्डव (२४।५५), पाचना (२४।५६), छेदन (२४।५६), उष्णत्वकरण (२४।५६), शीतत्वकरण (२४।५६), आस्वाद्यविज्ञान (२४।५६) ।

(लृ) रत्न-परीक्षा सम्बन्धी शब्द वज्र (२४।५७), मौक्तिक (२४।५७), वैडूर्य (२४।५७), सुवर्ण (२४।५७), रजतायुध (२४।५७), वस्त्र (२४।५७), सख (२४।५७), रत्न (२४।५७), लक्षण (२४।५७) ।

(ए) सिलाई-कढ़ाई-सम्बन्धी शब्द तन्तुसन्तानयोग (२४।५८) बहुवर्णक रागाधान (२४।५८) ।

(ऐ) उपकरण-निर्माण-सम्बन्धी शब्द लोह (२४।५९), दन्त (२४।५९),

जनु (२४।५६), धार (२४।५६), शिला (२४।५६), सूत्र (२४।५६), उपकरण (२४।५६) ।

(ओ) मानज्ञान-सम्बन्धी शब्द मेय (२४।६०), देश (२४।६०), तुला (२४।६०), काल (२४।६०), प्रस्थ (२४।६०), वितस्ति (२४।६१), पल (२४।६१), समय (२४।६१), आरोह (२४।६२), परीणाह (२४।६२), तिर्यक् (२४।६२), गौरव (२४।६२), क्रियामुत्पन्न (२४।६२), मान (२४।६२) ।

(औ) क्रीडा-सम्बन्धी शब्द चेष्टा (२४।६७), उपकरण (२४।६७), वाणी (२४।६७), कलाव्यत्यसन (२४।६७), शरीरजा (२४।६७), कन्दुकादि (२४।६८), वाक्क्रीडन (२४।६८), सुभाषित (२४।६८), दुरोदरन्यास (२४।६९), बहुभेद (२४।६९), क्रीडा (२४।६९) ।

(अं) लोकज्ञान-सम्बन्धी ज्ञान आश्रितलोक (२४।७०), आश्रयलोक (२४।७०), जीव (२४।७०), निर्जीव (२४।७०), पृथिव्यादि (२४।७०), नानामवोत्पत्ति (२४।७१), स्थिति (२४।७१), नश्वरता (२४।७१), पौर्वपर्य (२४।७२), धर (२४।७२), भू (२४।७२), द्वीप (२४।७२), देश (२४।७२), स्वभावावस्थित लोक (२४।७२), लोकज्ञत्व (२४।७१) ।

(अ) सवाहनकला-सम्बन्धी ज्ञान कर्मसंश्रया (२४।७३), शय्योपचारिका (२४।७३), त्वड्मासास्थिमन-सौख्य (२४।७४), सस्पृष्ट (२४।७४), गृहीत (२४।७४), मुक्ति (२४।७४), चलित (२४।७४), आहत (२४।७५), भगित (२४।७५), विद्ध (२४।७५), पीडित (२४।७५), भिन्नपाटित (२४।७५), मृदु (२४।७५), मध्य (२४।७५), प्रकृष्ट (२४।७५), सुकुमार (२४।७६), मध्यम (२४।७६), उत्कृष्ट (२४।७६), मृदुगीति (२४।७६), दोष (२४।७७), प्रतीप (२४।७७), लोम (२४।७७), उद्वर्तन (२४।७७), निर्मासपीडित (२४।७७), केपाकर्षण (२४।७७), अद्भुत (२४।७७), अष्टप्राप्त (२४।७८), अमार्गप्रयात (२४।७८), अतिमुग्धक (२४।७८), अदेशाहत (२४।७८), अत्यर्थ (२४।७८), अवमुत्तप्रतीपक (२४।७८), योग्यदेशप्रयुक्त (२४।७९), सुकुमार (२४।७९), ज्ञाताकूत (२४।७९), शोभन (२४।७९), करण (२४।८०), शय्योपचरणात्मिका (२४।८०), सवाहनकला (२४।८१) ।

(क) शरीरवेष-संस्कारकौशल सम्बन्धी शब्द शरीरवेषसंस्कारकौशल (२४।८२) । स्नान (२४।८२), मूर्धजवास (२४।८२) स्नान-पादपीठ (७।३६१), वक्र (७।३६२), राजत कुम्भ (७।३६२), पल्लवमञ्जन (२४।३६२), हारविगजित (२४।३६२), आमोद-वामिताशेषदिव्यचक्रजल-पूरित (७।३६३, ७।३६४), एकानेकमुख (७।३६४), गन्ध (७।३६५) उद्वर्तन (७।३६६, ७।३६५), कान्तिविधान (७।३६५), अभिषेक (७।३६५), दिव्यवन्त्रविभूषण (७।३६६), मंगल (७।३६६), राजत कलश (७।३६७),



हाटक-कलश (७२।१३), गरुत्मणिनिर्माण-कुम्भ (७२।१४), नानामणि-स्फीतप्रभाभाक् वरासन (७२।१४), पद्मच्छत्रमनोहर कुम्भ (३।१८३), सद्गन्ध (३।१८६), अनुलेपन (३।१८६) । स्नानपीठ (८०।७३) शृंगार-प्रसाधन विभूषण (३।१८७) कुण्डल (३।१८७, ७८।३१), वज्रसूचीविभिन्नकर्ण (३।१८८), पद्मरागमणि (३।१८९), चूडा (३।१७९), अर्द्धचन्द्राकृति ललाटिका (३।१९०), जात्यहेमकेयूर (३।१९०), केयूर (८८।३१), नक्षत्रस्यूलमुक्ता (३।१९१), हार (३।१९१), पीनकेयूर (६९।६), श्रीवत्स (३।१९१), हरिन्मणि (३।१९२) सरोजश्रीरत्न (३।१९२, ८८।३१), प्रालम्ब (३।१९२), कटक (३।१९३), पट्टाशुक (३।१९४), (३।१९८) कटिस्त्र (३।१९४), दाम (३।१९४) मुद्रिकाभूषण (३।१९५), चन्दन (३।१९७), रोचना (३।१९७), स्यासक (३।१९७), उत्तरीय (३।१९८), अशुक कृतपुष्पक (३।१९८), शेखर (३।१९९), तिलक (३।२००), अम्बर (५।२।३३), रक्ताशुक (१४।१३७), शुल्काशुक (६९।६), धौतवाससी (१०।८५), शुल्ककर्पट (१०।८५), अलकार (३।२।३३), आमोद (३।२।३३), वरलेपन (८८।३१), सीमन्तमणि (८।७०), मुक्तापरीतपद्माभिमणिसीमन्त-भूषण (१४।१४३), अवगुण्ठन (८।७०), वालिका (८।७१), काञ्ची (८।७२, १४।१३८), तुलाकोटिक (१४।१३७), रत्नावली (१४।१४०), महार्धमणिवाचालवलय (१४।१४१), केशकलाप (१४।१४४), असितोत्पल-दाम (३।१००), तमालदल (३।१०१), रत्नकनककुण्डल (३।१०२), रत्नप्रभा-प्रदीप (३।१०३), पटवास (३।१०४), कर्पूरपाशु (३।१०४), अगराग (३।१०६), कौकुम पक (३।१०६), मृणालशकल (३।१०७), हारभार (३।१०८), ऐन्द्रनीलनूपुर (३।११०), वपु कषण (८०।७४), पानीयविसर्जन (८०।७४), गन्धोदक (८०।७५) आदि ।

(ख) विविधकलाविषयक शब्द : भूतिकर्म (२४।६३), निधिज्ञान (२४।६३), रूपज्ञान (२४।६३), वणिग्विधि (२४।६३), जीवविज्ञान (२४।६३), मानुषद्विपगोवाजिप्रभृतीना चिकित्सितम् (२४।६२)- निदान (२४।६४), मायाकृत (२४।६५), पीडा (२४।६५), शक्रजाल (२४।६५), विमोहन (२४।६५), मन्त्र (२४।६५), औषधि (२४।६५) आदि ।

१७ रोग-सम्बन्धी शब्द : महारोग (६४।३४), उरोघात (६४।३५), महादाहज्वर (६४।३५), लालापारिस्ताव (६४।३५), सर्वशूल (६४।३५), अरुचि (६४।३५), छद (६४।३५), श्वयथु (६४।३५), स्फोटक (६४।३५) आदि ।

१८ शकुनापशकुन-मगल सम्बन्धी शब्द : मूर्ध्नि चुम्बित (१६।८०), दक्षिणेनाङ्घ्रिणा पूर्व कृतोन्माल (१६।८२), दक्षिणबाहुस्फुरण (१६।८२),

सपल्लवमुखपूर्ण कुम्भ (१६।८३), शकुन (५४।६६), दक्षिणावर्तनिर्धूमज्वाला (५४।५०)- रम्यस्वनशिखी (५४।३०)- परमालकृत नारी (५४।५०), सुरभि-प्रेरक अनल (५२।५०), निर्ग्रन्थसयत (५४।५१), छत्र (५४।५१), गम्भीर-वाजिहेपित (५४।५१), घण्टानिस्वनित (५४।५१), दधिपूरित कलश (५४।५१), निर्मुक्तमधुरस्वर विस्फुरत्पक्ष वामतो गोमयोत्किरणकारी वायस (५४।५२), भेरीशखरव (५४।५३), मंगलशब्द (५४।५३) ।

अनिमित्त (७।४२), शुष्कद्रुम (७।४३), शुष्ककाष्ठ (७।४४), ध्वाक्ष (७।४४)- ज्वालारीद्रमुखी शिवा (७।४५), पतगविम्बपरिवेश (७।४६), कवन्ध (७।४६), वृष्टकीलाललवजालक (७।४६), निर्धाति (७।४६), पर्वत, कम्पन्न (७।४७), मुक्तकेशी वनिता (७।४७), खरस्वर (७।४८), दक्षिणतो भयानकमहास्वन प्रयाणवारणोद्युक्त वद्धमण्डल भल्लूक (५७।६६), विकृत-निस्वन-नृद्ध-भ्रमण (५७।७०), पृष्ठत क्षुत (७३।१७), अग्रे महाहिंसित मार्ग (७३।१८), हा-ही-धिक्त्वाक्वयासीति वचासि (७३।१८), छत्रभग (७३।१९), उत्तरीयपात (७३।१९), दक्षिणवलिभुग्नटन (७३।१९), नानाशकुनविज्ञान-प्रवीणघिषण (७३।२१), गैहोत्पात (७३।२१), शुष्कद्रुमसमास्त्ववायसकुलरटन (६७।७५)- परिदेवनकृच्छरीरोदन (६७।७६), दुर्निमित्त (६७।७७)- (स्त्री) दक्षिणचक्षु सस्यन्द (४६।६) आदि ।

उपर्युक्त विषयो के अतिरिक्त अन्य अनेक विषयो से सम्बद्ध पारिभाषिक तथा विशिष्ट शब्दों का रविपेण के पद्मपुराण में उल्लेख हुआ है। भौगोलिक शब्दावली में, नदी, समुद्र, पर्वत, वन, ग्राम, नगर, जनपद-राष्ट्र, देश, राज्य तथा द्वीप परक शब्दों का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार व्यक्तिवाचक बृहत् नामावली का प्रयोग रविपेण ने किया है। ये दोनों सूचियाँ पर्याप्त स्थान की अपेक्षा रखती हैं। यहाँ उनका उल्लेख सम्भव नहीं है। हमने इन दोनों सूचियों को अपने ग्रन्थ 'जैनाचार्य रविपेणकृत 'पद्मपुराण और तुलसीकृत 'रामचरित मानस' में दिया है। कृपालु विद्वान् इन्हें वही देखने की कृपा करें।<sup>१८</sup>

### संदर्भ

- १ द्रष्टव्य (१) जैनाचार्यरविपेणकृत पद्मपुराण और तुलसीकृत रामचरितमानस (डा० रमाकान्त शुक्ल) । प्रका० वाणी-परिपद, दिल्ली । सस्क १९७४ । पृ० १८-३१ ।

- (२) 'Influence of Bāna's 'Harsh-charita on Ravisna's Padmapurana' (Dr Rama Kant Shukla) The Journal of the Ganganath Jha Research Institute,

Allahabad, Vol XXIII, Pt 1 4, Jan 1967 Dec 1967, Issued in March 1969 pp 91 105

(३) 'रविपेणाचार्य कालिदासस्य प्रभाव' (डा० रमाकान्त शुक्ल) "A I O C XXVIII Sesson 1976 Summaries of Papers Editors Dr K Krishnamoorthy & Dr Shrinivas Ritti Karnatak university, Dharwar pp III 29

२. साधुरस्यति काव्यस्य दोषवत्तामयाचित ।

पावक शोधयत्येव कलघोतस्य कालिकाम् ॥

काव्यस्यान्तर्गते लेप कुतश्चिदपि सत्तमा ।

(हरिवंशपुराण १।४३-४४)

हरिवंशपुराण सम्पादक—प० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९६२ ।

३ न काव्यवन्धव्यसमानुबन्धतो

न कीर्तिसन्तानमहामनीपया ।

न काव्यवर्गेण न चान्यवीक्षया

जिनस्य भक्त्यै कृता कृतिर्यया ॥

(हरिवंश ६६।३६)

४ कवीना कृतिनिर्वदि सतो मत्वावलम्बनम् ।

कविताम्भोधिमुद्वेल लिलङ्घयिषुरस्म्यहम् ॥

कवेर्भावोऽथवा कर्म काव्य तज्ज्ञैर्निरूप्यते ।

तत्प्रतीतार्यमग्राभ्य सालकारमनाकुलम् ॥

केचिदर्यस्य सौन्दर्यमपरे पदसौष्ठवम् ।

वाचामलत्रिया प्राहुस्तद्वय नो मत मतम् ॥

सालकारमुपाख्यरसमुद्भूतसौष्ठवम् ।

अनुच्छिष्ट सता काव्य सरस्वत्या मुखायते ॥

अस्पृष्टवन्धलालित्यमपेत रसवत्तया ।

न तत्काव्यमिति ग्राम्य केवल कटु कर्णयो ॥

सुश्लिष्टपदविन्यास प्रबन्ध रचयन्ति ये ।

श्राव्यवन्ध प्रसन्नार्थं ते महाकवयो मता ॥

महापुराणसम्बन्धि महानायकगोचरम् ।

निवर्गफलसन्दर्भ महाकाव्य तदिष्यते ॥

निस्तनन् कतिचिच्छलोकान् सर्वोऽपि कुश्ले कवि ।

पूर्वपिरार्यघटनै प्रबन्धो दुष्करो मत ॥

शब्दराशिरप्यन्त स्वाधीनोऽर्थं स्फुटा रसा ।

सुलभाश्च प्रतिच्छन्दा कवित्वेका दरिद्रता ॥

प्रयान्महति वाङ्मार्गे खिन्नोऽर्थगहनाटनै ।

महाकवितश्छाया विश्रमायाश्रयेत् कवि ॥

प्रशामूलो गुणोदग्रस्कन्धो वाक्पल्लवोज्ज्वल ।

महाकवितश्छन्ते यश कुसुममञ्जरीम् ॥

प्रज्ञावेल प्रमादोर्मिगुणरत्नपरिग्रह ।  
महाध्वान पृथुस्रोता कविरम्भोनिधीयते ॥  
यथोक्तमुपयञ्जीध्व वृद्धा काव्यरसायनम् ।  
येन कल्पान्तरस्यायि वपुर्वं स्याद्यशोमयम् ॥  
यशोधन चिचीर्युणा पुण्यपण्यपणायिनाम् ।  
पर मूल्यमिहान्नात काव्य धर्मकथामयम् ॥

(आदिपुराण (प्रथम भाग) सम्पादक—प० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६३।१।६३-१०६)

५ व्यावर्णनानुसार माझात्कृतमवशास्त्रसद्भावम् ।  
अपहन्तितान्यकाव्य अव्य व्युत्पन्नमतिमिरादेयम् ॥  
जिनसेनमगवतोक्त मिव्याकविदर्पदलनमतिललितम् ।  
सिद्धान्तोपनिबन्धनकर्त्ता भर्त्ता विनेयानाम् ॥

(चत्तरपुराण सम्पादक प० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य । भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन । द्वितीय सस्क० १९६८ । प्रशस्ति १८-१९ । पृ० ५७५)

६ (अ) विदितसकलशास्त्रो लोकसेनो मुनीश  
कविरविकलवृत्तस्तस्य शिष्येषु मुस्य ॥  
(वही, प्रशस्ति, २८)

(आ) महापुराणस्य पुराणपुस पुरा पुराणे तदकारि किञ्चित् ।  
कवीशिनानेन यथा न काव्यचर्चासु चेतोविकला कवीन्द्रा ॥  
मजयति जिनसेनाचार्यवर्य कवीड्य  
विमलमुनिगणेश्वर्यो मव्यमालासमीड्य ।  
सकलगुणसमाह्वयो दुष्टवादीर्मसिहो  
विदितसकलशास्त्र सर्वराजेन्द्रवन्द्य ॥  
यदि सकलकवीन्द्रप्रोक्तसूक्तप्रचार  
श्रवणमरसचेतान्तरत्वमेव सखे ! स्या ।  
कविवरजिनसेनाचार्यवक्त्रारविन्द  
प्रणिगदितपुराणाकर्णनाभ्यर्णकर्ण ॥  
स जयति गुणमद्र सर्वयोगीन्द्रवन्द्य  
सकलकविवराणामग्रिम सूरिवन्द्य ।  
जितमदनविलासो दिक्चलत्कीर्तिकेतु  
दूरिततत्कुठार सर्वभूपालवन्द्य ॥  
धर्मं कश्चिदिहाम्ति नैतदुचित वक्तु पुराण महत्  
श्रव्या किन्तु कथास्त्रिपष्टिपुरुषाख्यान चरित्रार्णव ।  
कोऽप्यस्मिन्कवितागुणोऽस्ति कवयोऽप्येतद्वजोऽञ्जालय  
कोऽसावन्नकवि कवीन्द्रगुणभद्राचार्यवर्य स्वयम् ॥  
(वही, प्रशस्ति ४०-४३)

७ (अ) व्यञ्जनान्त स्वरान्त वा किञ्चिन्नामेह कीर्तितम् ।  
अर्थस्य वाचक शब्द शब्दो वाक्यमिति स्थितम् ॥  
लक्षणालङ्कृती वाच्य प्रमाण छन्द आगम ।  
सर्वं चामलचित्तेन ज्ञेयमत्र भुखागतम् ॥

(पद्मपुराण (रविप्रेण) १२३।१८५-१८६ ।

सम्पादक प० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य ।

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी । १९५८-५९)

(आ) प्रकाममाकाक्षितकामसिद्धय

प्रसिद्धमर्यादिविमोक्षलब्धय ।

भवन्ति तेषां स्फुटमल्पयत्नत

पठन्ति भक्त्या हरिविशमन् ये ॥

(हरिवंश ६६।४६)

(इ) घर्मोऽत्र भूतितपदमत्र कवित्वमत्र

तीर्थेऽग्निना चरितमत्र महापुराणे ।

यद्वा कवीन्द्रजिनसेनमुखारविन्द-

निर्यद्वचासि न मनासि हरन्ति केषाम् ?

(उत्तरपुराण, प्रस्तावित ३८)

८ द्र० हरिवंश पुराण ५७।१-१८३

९ द्र० आदिपुराण २२ ७६-३१६

१०. द्र० पद्मपुराण २४।७-२१

११ द्र० हरिवंशपुराण १९।१४१-२६१

१२ द्र० हरिवंशपुराण २३।५९-१०७

१३ द्र० आदिपुराण ३८, ३९ तथा ४० वां पर्व ।

१४ द्र० हरिवंशपुराण १२।५५-७०

१५ द्र० आदिपुराण २५।१००-२१७

१६ द्र० आदिपुराण १६।१४३-१७५

१७ पद्मपुराण ५।३७१-३७३

१८ वही १०१।७९-८४

१९ हरिवंशपुराण २२।८४-२२।८४-१०१

२० वही ११।६३-७५

२१ आदिपुराण १९।७७-८७

२२ वही १६।१५१-१५६

२३ उत्तरपुराण ६३।२०८।२१७

२४ पद्मपुराण ७।३२४-३३२

२५ हरिवंशपुराण २२।६१-७३

२६ वही ५७।३

२७ पद्मपुराण ५।४ तथा ९।७५

२८ वही १९।७७

२९ वही ८।१४३, १९।४८

३० वही ६०।५५

३१ वही १९।४५, ६२।७७

३२ वही ६।४६२

३३ वही ३९।१०९, १८४ (विमलसूरि 'विजयपञ्च' पञ्चमचरिय ३९।३८)

३४ वही १०।१२२

## ४६२ संस्कृत-प्राकृत व्याकरण और कोश की परम्परा

- ३५ आदिपुराण २५।१००-१०३, १२०, १२४
- ३६ वही २५।१५१-१६२
- ३७ पद्मपुराण ५।१७-१९
- ३८ वही ५।५२-५३
- ४९ वही ७।७७
- ४० आदिपुराण २५।१२४
- ४१ वही २५।१२०
- ४२ वही २५।१०९-११०
- ४३ वही २५।१५६, १५८, १५९
- ४४ पद्मपुराण १०२।१९५-२००
- ४५ वही ३३।२२-३३
- ४६ वही १।९।८५
- ४७ आदिपुराण ३४।६३
- ४८ पञ्चमचरिय (विमलसूत्रि) प्राकृत टैक्स्ट सोसाइटी वाराणसी ५, अहमदाबाद-९, १९६२, १९६८ (द्वि भाग) २६।६६
- ४९ वही २६।५०
- ५० वही २६।५३, ५३।८६
- ५१ वही ३३।८
- ५२ वही १२।११२
- ५३ वही ९।९८
- ५४ वही २।४०
- ५५ वही ६।२०९
- ५६ वही २२।३२
- ५७ वही ८।२६२
- ५८ वही १०२।२०
- ५९ वही १०५।५९
- ६० वही ३।८१
- ६१ वही २६।५१
- ६२ वही २६।४८
- ६३ वही १२।११२
- ६४ वही १०५।५९
- ६५ पद्मपुराण १२।२६१-२६३
- ६६ वही १०५।३३
- ६७ वही २१।५९-७१
- ६८ वही १०।११३
- ६९ वही ७।८।६२ श्लोक के अनन्तर गद्य
- ७० हरिवंशपुराण, परिशिष्टानि, पृ० ८०-१५९
- ७१ आदिपुराण (प्रथम भाग) पृ० ६८८-७४६, (द्वितीय भाग) ५५८-५८८
- ७२ उत्तरपुराण पृ० ६४५-७०७
- ७३ द्र० पद्मपुराण (तीनों भाग)

७४. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के द्वारा स्वीकृत योजना जिसे दो वर्ष के अन्तराल में पूरा कर लेने की आशा है। १४ अध्यायों में यह योजना विभाजित है जिसमें सभा तथा विशेषणपरक शब्दावली का अध्ययन होगा।
७५. कोष्ठको में आदिपुराण के पर्वों तथा श्लोकों की सख्या दी हुई है।
७६. कोष्ठको में आदिपुराण के पर्वों तथा श्लोकों की सख्या दी हुई है।
७७. कोष्ठको में पद्मपुराण के पर्वों तथा श्लोकों की सख्या दी हुई है।
७८. द्र० "जैनाचार्य रविषेणकृत 'पद्मपुराण' और तुलसीकृत 'रामचरितमानस' " (डा० रमाकान्त शुक्ल), भौगोलिक शब्दावली के लिए पृ० २६८ ३०२ तथा व्यक्तिवाचक सभा शब्दावली के लिए पृ० १३४-१४५)





# ASPECTS OF JAIN SANSKRIT

AS EXEMPLIFIED BY MUNI SUMATIVIJAYA'S  
*VRTTI ON THE MEGHADŪTA*

by *Dr W H MAURER*

A LARGE portion of Jaina literature is written in a peculiar kind of Sanskrit (Skt) to which scholars have devoted relatively little attention<sup>1</sup> In fact, the greater part of the extra-canonical literature of the Jaina-s is composed in it Much of this literature consists of independent works, but much is exegetical in character and hence of considerable importance to text-critics and literary historians The characteristic features of this Skt are numerous and rather far-reaching and concern every department of the language its phonological laws, morphology, syntax and vocabulary The differences from standard or classical Sanskrit (cl Skt) within each of these spheres are often only slight and of sporadic occurrence, they may even pass unnoticed, except with a careful reading, or be imputed to these imperfect transcription Undoubtedly, certain of these phenomena might easily be explained away by scribal blundering, but their continual recurrence inevitably suggests that, if indeed they are 'errors', they must have been committed with method and plan A somewhat analogous situation prevails with Buddhist Hybrid Sanskrit (BHS) in which most northern Buddhist texts are written a casual reading of a few pages gives the impression that either one is confronted with a badly transcribed MS or the author did not know how to write the language correctly But a careful reading reveals the same forms and usages again and again, the deviations from the standard language fall into well-defined patterns so that scribal carelessness or imperfect acquaintance with Skt on the part of the author are quite insufficient to explain the fact, and it has long since been clearly demonstrated that the language of these texts is really not Skt at all, but a

Middle Indic Prakrit (Pkt) which was subjected to partial, haphazard Sanskritization. There is, then, no question about its being 'bad' Skt in any sense because it is another language which obeys different laws.<sup>2</sup> But it must not be supposed that in a similar fashion this peculiar Skt of the Jaina-s is basically not Skt at all, but only some Pkt dialect imperfectly disguised as Skt, or, to put it more directly, simply the Jaina version of BHS. In point of fact, Jaina Sanskrit (JS) is quite the reverse of this: it is essentially nothing else than Skt which has been Prakritized and vernacularized, but this process has been carried out to a lesser degree than that of Sanskritization in the case of BHS. In its basis JS is always Skt, whereas BHS is an unidentified Pkt, JS is Prakritized Skt, BHS is Sanskritized Pkt.

The origin of JS certainly lies in the intense desire of the Jaina-s to popularize and disseminate their faith, this could only be achieved by adopting a means of communication meaningful to the majority of people. Skt was the language of the few, Pkt of the many, yet the Jaina *munis* were versed in Skt as the medium of the *śiṣṭa-s*. Their contact with the laity, however, caused them to introduce into their discourses, doubtless unconsciously, many localisms and popular words which were more readily understood by their listeners. In the course of time these words became part and parcel of the language they used also in their writings. There was probably not a great deal of difference between the two levels, at least between the language of certain types of exegetical and narrative writing on the one hand and that of the discourses on Jaina *dharma* on the other. Not only was there a tendency towards popular words, but there was a general liberalization of the vocabulary which readily permitted many Skt words to enlarge their periphery of meaning under the influence of local vernacular usage. There was also a fairly general relaxation of the rigid laws of Skt grammar and free rein was given to analogy. All these tendencies and impulses gradually produced a freer, less fettered language than ordinary Skt but different enough from it, not always to be readily intelligible to one unacquainted with its peculiarities and more especially its strange and diverse vocabulary. In the light of present research, however, no accurate description of these peculiarities for JS as a whole is possible, to do this would require the

critical examination of a considerable number of texts. Even then it is doubtful whether any systematic account could be presented, for by nature it is a language of infinite variety and fluctuation differing with time, place, and author. So indeterminate a thing cannot be described if taken in its whole extent, except in the most general terms. The most that can be done is to describe this language as exhibited in a single work. Here too, there is an element of uncertainty in the absence of an accurate tradition thus, peculiarities are liable to be attributed to JS which are due only to imperfect transcription. What is said, then, even of a particular text must be regarded as tentative and to some extent hypothetical. Of course, when certain features recur independently in other Jaina works, it may be accepted that they belong to JS as a whole. Clearly, therefore, it is only by means of a comparison of the characteristics of many texts that the minimal features of JS can be stated.

In this article it is proposed to set forth the peculiar properties of JS as exemplified in a *vyākhyāna* on *Kālidāsā, Meghadūta* by Muni Sumativijaya (Su) of the Kharataragaccha who flourished in Bikaner in the first half of the 17th century.<sup>3</sup> These matters are arranged under the following broad topical headings: 1 Phonology, 2 Morphology, 3 Derivation, 4 Composition, Syntax and Idiom, 5 Vocabulary, 6 Orthography. These categories are by no means mutually exclusive, and often an item discussed under one subject might well have been included elsewhere in the arrangement, ex *pūrāyamānāḥ* is treated under 'Derivation', but could, with equal justification, have been put under 'Vocabulary', since the word does not occur in cl. Skt.

## I. Phonology

The rules governing *sandhi* between words in a sentence (sentence-sandhi) are in general haphazardly and sporadically applied,<sup>4</sup> exx *valmīkah mṛttikāsamcayah tasyāgram* (15), *mayūrasya meghena saha samtosaḥ atah megharūpabāndhavam drśtvā mayūrāḥ nṛtyantīti bhāvah* (36), *kathamabhūtaḥ garjitaḥ* (48), *kṛmṇarībhūḥ tripuravijayah mahādeva gīyate* (60), *yatra alakāyām bhavanaśikhināḥ gṛhamayūrāḥ nityabhāsvatkalāpāḥ vartante* (77), *yatra puri tvāḍṣāḥ jalamuco meghāḥ yantrajālaḥ gavāksaḥ kṛtvā*

*jarjarāḥ jarjarībhūtāḥ santah niḥpatanti nihsaranti* (79), etc It does not seem possible to discover any principle or pattern in this usage in the very same paragraph a recurrent phrase may appear both with *sandhi* and without *sandhi* as, for example, in the comment on stanza 1 where we read *kathamabhūtah yaksah* and a few lines farther on *punah kathamabhūto yaksah* At word-junctures within compounds also *sandhi* is oftentimes omitted, exx *varsā-ṛtau* (9, 25, 83), *vegavat-viśīyā* (18), but cf *vegavad-varsanāḥ* (47), *vanastha āmravīksaḥ* (18), *piśasiddhadik-laksanām* (26), *vidyut-mālādedīypamānā* (29), *paścāt-bhāge* (40), *bahutara-īrsyāluḥ* (43), *kusumaviśṭikī-megharūpatām* (47), *bhavat-śyāma-kāntiā* (55), *prāpitaadharosṭhau* (91), *āmagni-āśrame* (107); *atīucchvāsasahitena* (108)

## II. Morphology

The present participle feminine of  $\sqrt{kr}$  in cl Skt is supposed to be formed without the nasal infix, thus, *kurvatī* not *kurvantī* <sup>5</sup> But In late MSS the nasalized form is frequent, and in Su this is the predominant form by far, in only one of many occurrences does the testimony of the MSS favour *kurvatī* (31). The nasalized version occurs also in the *Bīhat Kathākośa* of Ācārya Harisena <sup>6</sup> Conversely, from *abhi-√las* (*bhū*-class) is found *abhi-lasatīm* (97) for *°lasantīm*.<sup>7</sup>

Infinitives from causatives (*cur*-class) in cl Skt are required to retain the causative affix *prāpayitum*, *kārayitum*, *dhārayitum*, etc There are, however, sporadic examples where this affix is dropped and the *-tum* is added to the strengthened root with or without the 'Bindevokal' *-i*.<sup>8</sup> Su has *bheditum* (41), the causative sense is wanting in this case, and perhaps this influenced the omission, but this is extremely doubtful, as so very many cl Skt roots of the *cur*-class are non-causative and, nevertheless, retain the affix *-aya-* in the infinitive, furthermore, *bhedayati* is also used in cl Skt without causative meaning The full form occurs in *vidhyāpayitum* (57), *atīkramayitum* (58), etc

According to rule, the gerund in cl Skt ends in *-tvā* when the root is uncompounded, otherwise in *-ya*, but this distinction is not always observed, and usage is reversed,<sup>9</sup> In Su too, there

is frequent reversal of this prescription, exx *sthāpya* (11), *āī ādhayitvā* (49), *prasāī ayitvā* (50, but also the 'correct' form *prasārya* nearby'), *uttaritvā* (51), *ullanghayitvā* (61), *utpādayitvā* (79) <sup>40</sup>

The addition of the secondary derivative suffix *-vant* to participles of intransitive verbs, though found in cl Skt, is generally a later phenomenon <sup>11</sup> Su has *sthitavantam* (81) and *sthitavati* (123)

From  $\sqrt{\text{grath}}$  Su has two past participles, namely *grahita* in *agiathutavenīdandā* (31) and *granthita* in *agranthita*<sup>o</sup> (also 31) The former is the usual classical form, but the latter occurs sporadically and is frequent in late MSS <sup>12</sup> The nasalized variety is probably due to association with *grantha*

Anomalous from the point of view of the standard language is *uddharita* ('taken out' hence 'remaining' in 32 and 42, 'remainder' in 33) It may be a past participle of either *ud-* $\sqrt{\text{dhr}}$  or *ud-* $\sqrt{\text{hī}}$ , since the combination of *ud-* and *h-or dh* yield *uddh-*, thus rendering many of the formations from these two roots indistinguishable The anomaly here lies in the short penultimate vowel, the causative of both verbs in cl Skt is *uddhārayati* of which the participle is *uddhārita* Perhaps therefore, Su knew a causative with the *guna*-vowel instead of the *vrddhi*

Another anomaly involving vowel-quantity is seen in *lambāyamānam* (91), cl Skt has only *lambayate*.

A transfer of a root from the *bhū*-class to the *div*-class is exemplified by *avagāhyamānah* (52) which according to the context must be taken as a middle participle, though the form is not separable from the passive

In explanation of *nayanasaḷilam śāntim neyam* (43) 'the tears should be soothed' Su gives *vastrena kareṇa vā natrāmbu pramīṣṭavyam* 'the tears are to be wiped away' Now, *pramīṣṭavyam* might be derived from *pra-* in combination with  $\sqrt{\text{mṛj}}$ , or  $\sqrt{\text{mṛś}}$ , cerebral *-s-* results from *-j-* or *-ś-* when in contact with dental *-t-* which is then, of course, assimilated, and therefore, many forms from these roots coalesce The sense of the passage suggests that it is form *pra-* $\sqrt{\text{mṛj}}$  'wipe away', but

$\sqrt{mrś}$  means primarily 'stroke, rub' (cf. Latin *mulceō*) and with *pra-* might be nearly synonymous with *pra-√mrj*, though the attested occurrences mean rather 'lay hold of, handle' and figuratively 'lay hold of mentally, reflect upon, consider'. The meanings under  $\sqrt{mrś}$  as well as *pra-√mrś* seem to exclude this root from consideration here. But whether *pramrśavyam* is based on *pra-√mrj* or *pra-√mrś*, it is certainly not classical: the gerundive should have the same stem as the infinitive.<sup>13</sup> Thus, if from  $\sqrt{mrj}$  the gerundive is *mārśavya* or *mārjitavya*, since the infinitive is either *mārśum* or *mārjitum*,<sup>14</sup> Monier-Williams (MW) also lists *marśum* (with the *guna*-increment) which theoretically would allow *\*marśavya*.<sup>15</sup> If, on the other hand, it is from  $\sqrt{mrś}$ , the infinitive of which is only *marśum*, the gerundive ought to be *\*marśavya*, in practice, however, only *marśanīya* is used.<sup>16</sup> In any case then, Su's *pramrśavyam* is not a standard form.<sup>17</sup> It is of some interest to note that in two MSS *pramarśanīyam* is subjoined to *pramrśavyam*, a clear indication that the author of that gloss derived *\*mrśavyam* from *pra-√mrś* instead of the more plausible *pra-√mrj*.

The genitive singular of *strī* is *striyah* in the classical language, but Su uses *striyah* with short final syllable in at least five instances (45, 72, 85, 102, 104), there is also a doubtful example in 106. This usage seems to be based on the analogy of the monosyllabic stems like *dhī* which allow either the brief or fuller form in the genitive i.e. *dhīyah* or *dhīyāh*.

Polysyllabic feminines in long *-ī* form their locative in *-ām* in cl. Skt., thus, from *valabhī* is made *valabhyām*. But in the *vigraha* of the compound *bhavanavalabhau* (42) Su uses *valabhau* which would be allowable only from a feminine in short *-i*: *bhavanasya valabhī gr̥hoparī kuṭṭhī varandīṭī vā tasyām bhavana-valabhau*. Only, therefore, if *valabhī* here were a transcriptional error for *valabhih* would *valabhau* be the 'correct' locative, in this case, of course, *valabhyām* would be equally 'correct', since feminines in short *-i* have either option.

In the analysis of *varsāgrābindūn* (39) *agre* is employed as the nominative masculine plural of *agra* 'first' *varsāyāh ye agre bindavah prathamajalakanāh varsāgrābindūnavah tān varsāgra-*

*bundūn* Cl Skt prescribes pronominal terminations in certain cases of numerals and words of numerical character,<sup>18</sup> ex *prathama* the nominative masculine plural of which is *prathame*, *agre*, which is here synonymous with *prathame*, may, therefore, be an analogical creation

A considerable number of words in Su have a gender different from that of cl Skt., exx *mandatvagunam* and *śaittyagunam* for °*gunah* (46), *tam puram tyaktvā* for *tat puram* (29), *vr-ksāni* for *viksāh* (28), *rasam* for *rusah* (53), *śuc* is masculine in 83 instead of feminine as indicated by the agreement of the adjectives *vyapagatah gamitah śuk śoko yais te vyapagataśucah*. A few words are used in a gender that is very rare in cl. Skt *randhra* (46) is masculine, but in the standard language almost always neuter, so also *aśru* (100) and *vana* (80). Contrarily, *avaśeṣa* is neuter in 33, but usually masculine in cl Skt, also *apānga* in 29, but in the 48 it is masculine and *maccha*, i.e. *matsya* (44). In 120 is found *āśvāsanā* for cl Skt *āśvāsana*.

### III Derivation

-*apamarsana* which is given in explanation of -*apanayana*- in *gandasvedāpanayanarujā* (28) 'from the abrasion of wiping away the perspiration from their cheeks', is not recorded in the lexicons, from its form it appears to be derived from *apa-√mrś*, but the sense required here, namely 'removal, wiping away', precluded this, and furthermore *√mrś* is not found in composition with *apa*-. On the other hand, *apamāśana* may stand for °*marśana* (< *√apa-√mrś*), but cl Skt has only *apamarśa* (a word of doubtful authenticity),<sup>19</sup> *marśa* (a medical term) and *māśana* which, being the verbal noun from *√mrś*, exhibits both lines of meaning found in the verb, namely touching and examining. The explanation of Su's *apamarsana* seems to lie in a conflation of *√mrś* and *√mrś*. MSS regularly confuse these two roots, doubtless because many conjugational forms of *√mrś* have the cerebral sibilant -ṣ-, exx *marksyaṇi*, *amārksīt*, *marṣtum*, *mīṣta*, moreover, the derivative substantives of the two roots parallel each other and contribute to the confusion. Thus from *√mrś* comes the verbal noun *marśana* 'enduring' with which the same derivate from *√mrś* may have been conflated,

leaving one *marsana*, whose diverse lines of meaning can only be explained by resorting to both  $\sqrt{mrs}$  and  $\sqrt{mrs}$ . The cerebral -s- got the upper hand probably because on the whole it is commoner than -ś- in the inflectional forms of  $\sqrt{mrs}$

-*tyajati*- 'abandonment' occurs in *nadīvirahāvas-thātyajati-vam* (31), but the passage may be corrupt, and the genuineness of this word is, therefore, subject to some doubt. It is a *nomen actionis* formed from the present stem of  $\sqrt{tyaj}$  in the same way as *vasati*, *ramati*, *īratati* in cl. Skt.<sup>20</sup> Ordinarily, of course, nouns in -*ti* are formed on a weakened or abbreviated base which is usually identical with that of the past passive participle. thus, *ukti* (<  $\sqrt{uac}$ , cf. *uk-ta*), *supti* (<  $\sqrt{siap}$ , cf. *sup-ta*), *śānti* (<  $\sqrt{śam}$ , cf. *śān-ta*), etc

Similar to -*tyajati* is *muñcanam* (64) which is derived from the base of the present stem of  $\sqrt{muc}$ , i.e. *muñc* + *ana*, cf. cl. Skt *suñcana*. In cl. Skt *mocana* is used.

*Mūrī-* (81), a synonym for *jyā* 'bowstring', appears to be a cross between Skt *mūrā* (the grass from which bowstrings were made) and *maurī* ('bowstring', literally '[the string] made from *mūrā* grass')

Of similar cross-mintage appears to be *rauksam* (27) 'rough', but cl. Skt has only an adjective *rūksa* and derivative noun *rauksya*

*Vārdhikyam* (71) 'old age' corresponds to cl. Skt *vārdhakya*; the different penultimate vowel may be due to analogy with words like *ādhikya*

*Daurbalyam* (92) is used adjectivally, but in cl. Skt it can only function as a noun. However, secondary derivatives in -*ya* or -*a* with initial *vṛddhi* strengthening ordinarily may be either adjectives or nouns, in fact, they are primarily adjectives of appurtenance.<sup>21</sup> In the compound *īrahadaurbalyakhedāt*, 'from distress due to weakness from separation' which expands *khedāt* (99), -*daurbalya* is employed as a noun



*Pūrā*amānāhi (60) is apparently formed on analogy with *śabdā*a- or the like, *pūra* 'filling' (adjective or noun) could yield *pūrāyā*- with lengthening of the final syllable according to Whitney (§1059 b) But *pūra* is active in sense, and in the context a passive is wanted. 'caused to be filled' (not 'filling').

#### IV Composition, Syntax and Idiom

##### (a) COMPOSITION

In cl Skt. in the forepart of a *karmadhāraya* compound the masculine stem-form is used even when the final element is a feminine noun; so Wackernagel, *Altindische Grammatic*, Band II, Teil 1, p 50 (21 b), and cf. Pāṇini VI 3 42: *pumvat karmadhārayajātīyadeśīyesu* 'In a *karmadhāraya* compound and before the suffixes *-jātīya-* and *deśīya* the feminine takes the masculine form' But in about a dozen instances Su uses the feminine instead of the masculine stem-form *narmadānāmnīnadyāhi* (21) '(water) of the river named Narmadā', *nirvindhyanāmnīnadyāhi* (30) '(in the path) of the river named Nirvindhya', *sindhunāmnīnadīrūpā* (31) '(a sweetheart) in the form of the river named Sindhu', *śīprānāmnīnadīsambandhī* (35) '(wind) connected with the river named Śīprā', *indrasambhadhmīsenānām* (47) '(for the protection) of the armies connected with Indra In the first two examples it is possible to argue that °nāmnī is scribal for °nāmmo (i e. *sandhu* for °nāmmah) which would then be an uncompound-ed *bahuvrīhi* with genitive ending agreeing with *nadyāhi* as a separate word, the similarity of postconsonantal *ikāra* and *okāra* could have facilitated this kind of mistake But the other examples cannot be explained away on palaeographic grounds, and this fact, combined with the complete unanimity of the MSS. in these two cases, indicates that it is a regular construction in JS Exceptions to the general rule are occasionally met with in ordinary Skt <sup>22</sup>

An extremely anomalous type of compound is seen in the explanation of *darśitāvartanābheh* (30) where the two components are separated from each other by the emphatic *eva*, thus *avalokitajalabhramanarūpa eva-nābhīpradeśāyāh* Unfortunately, however, this solitary example is insufficient to establish whe-

ther the phenomenon really belongs to the grammar of JS or is due to defective transmission of the text

The so-called *cvi*-compounds of cl Skt, which consist of a substantive (with modified final vowel) and  $\sqrt{kr}$  or  $\sqrt{bhū}$  and denote a conversion to the state indicated by the substantive, are extended in JS to  $\sqrt{jan}$  and *sam-* $\sqrt{jan}$  when used as synonyms of  $\sqrt{bhū}$ , e.g. *śyāmījātāni* (25) 'become black', *namrījāte* (50) 'become bent', *pustījātam* (36) 'become well-nourished' and *ekatrījātah* (62) 'become in one place'. The classical construction is also found, sometimes alongside this extension, as in 36 where *sthūlibhūtam* is used with *pustījātam* to explain the textual *upācīta-*, also in explanation of *rāśībhūtah* (62) are given both *puñjībhūtah* and *ekatrījātah*. The transition to this construction with  $\sqrt{jan}$  is provided by equivalences like *jātam* for *abhūt* (34), the synonymity of  $\sqrt{jan}$  and  $\sqrt{bhū}$  in cl Skt and their mutual substitution are common enough, but no example of the use of  $\sqrt{jan}$  in *cvi*-compounds is available. An isolated instance with  $\sqrt{gam}$  occurs in *sammukhīgataṁ* (18) [i.e. *sammukhī*<sup>o</sup>]<sup>23</sup> 'gone opposite' for the textual *pratimukhagataṁ*.

When there is a distinction between strong and weak stems, cl Skt requires the latter in the forepart of a compound, but in one example all the MSS attest a final lengthened vowel *kāmījanāh* (80) for *kāmī*<sup>o</sup>. Again want of additional instances renders it a questionable JS formation.

In two undoubted instances the adverbial suffix *-vat* is added to inflected forms: *vastrānivat* for *aṁśukānīva* (66) 'like clothes' and *mamavat* for *evam* (122) 'just as [there is a separation] of me'.

In a single instance the laudatory prefix *su-* is replaced by *sad*, i.e. *sat* 'good', neuter participle of  $\sqrt{as}$ , used adverbially *sadabhyastabhrūlatāvilāsānām* (51) '(eyes) whose conquettish movements of the brow are well practised'. Cl Skt. has apparently no example of *sat* used adverbially either as a separate word or in composition.

## (b) SYNTAX

When an instrumental expresses pure instrumentality or means in contrast to accompaniment or association, the gerund of  $\sqrt{kṛ}$  is often subjoined, thus, *vidyutā kṛtvā* (41) 'by means of lightning', *garjāravāṇi kṛtvā* (48) 'by means of thunderous roars', *prāsādaiḥ kṛtvā* (67) 'by means of the palaces', *āsrubhniḥ kṛtvā* (112), by means of tears' In cl Skt a number of gerunds are used postpositionally in a similar way, exx *muktvā* 'except, save', *ādāya* 'with', etc But this use of *kṛtvā* seems to be confined to JS In one instance *pārśvataḥ* replaces *kṛtvā* in this sense *meghena pārśvataḥ* (4) 'by means of the could'

By another curious construction *prati* is appended to an accusative to mark a direct object, obviously this has grown out of the primary sense of 'with reference to', and its use thus binds the object more closely to the action of the verb, *kim adreḥ parvatasya śṛṅgam śikharam prati pavanah vāto harati* (14) 'Is the wind carrying off the peak of a mountain?' *kāntim śobhām prati [śyāmam vapur āpatsyate]* (15) '[your swarthy body will obtain] beauty', *ātmabimbam svakīyabimbam prati pātrikurvān sthānīkurvan* (51) 'making your reflection an object (of the eyes)'

Placed after a noun in the ablative case *pārśvāt* emphasizes the concept of separation *tābhyah suastrībhyah pārśvāt* (64) 'from the wives of the gods' It is probably a kind of afterthought or parenthesis, at least in origin, otherwise the genitive would be expected in *°strībhyah*.

In cl Skt *paścāt* is construed with the genitive or ablative, but Su has an instance with the accusative *tīrtham paścāt* in explanation of *anukanakhalam* (54) But the meaning here is 'near' beside', not 'behind, after' and thus, it seems to be used as though it were the Skt original of Hīndī *pās* 'near', of course, this is etymologically wrong, since *pās* comes from *pārśve* via Middle Indic *pāsa*

Words denoting proximity in cl Skt. require the genitive, but Su has an instance of the ablative *bhūmīśayanāt samīpaga-*

*vāksah san* 'situated at the window near the ground which serves as her bed' for *avanīśyanāsannavātāyanasthah* (95) This is perhaps, an example of analogy just as word of opposite meaning like similarity and dissimilarity are construed with the same case (whether instrumental, genitive or locative), so words of nearness and distance may be both associated with the ablative, though logically only with the notion of separation.

In a single instance the ablative without a post-position means 'after' *mukhāvalokanāt* (53) 'after seeing her face' This usage is very rare in cl Skt, <sup>24</sup> except in the technical literature of the grammarians, thus, cf Pāṇini III 1. 73 *svādibhyah śnuh* 'After √su, etc [let there be] śnu (i e. the infix -nu-)'

*Ādhukyam* is employed adverbially with *śabdayan* to explain *dūghīkuivan* (35), but in cl Skt the adverbial accusative is fairly restricted to certain substantives such as those listed by Whitney in §1111 b and Monier-Williams §713 b The adverbial locution *anekavārān* (113) 'many times' is apparently modelled on formation like *bhūrivārān* or *vārāms trīn* 'thrice' where an accusative plural replaces the commoner singular In Rajvaidya J K Shastri's commentary on the same stanza of the *Meghadūta* (114 in his sequence) *anekavāram* occurs <sup>25</sup> Obviously the plural is a logical usage based on the meaning

According to Whitney 'genitives of apposition or equivalence (city of Rome) and of characteristic (man of honour)' do not occur <sup>26</sup> Su has an instance where there are the two elements of apposition and characteristic in an expression in ablative *himavato nāmnah paravatāt* (54) 'from the mountain of the name Himavat'

A curious usage which is repeated with considerable frequency juxtaposes two locatives of which the first is in apposition to the second *visālāyām nagaryām* (33) in the city of Visālā,' *ujjayinyām purī* (twice in 34) 'in the city of Ujjayinī', *alakāyām purī* (76) 'in the city of Alakā', etc, but cf *alakānagaryām* (68)

There are more than a dozen instances in Su of the locative

of the relative (or the relative adverb *yatra*, which is equivalent to it) where the genitive only is appropriate *mityabhāsvaikalāpā* [li] (77) '(peacocks) whose tail-feathers are always shiny' is thus analyzed *mityam bhāsvanti dedīpyamānāni kalāpāni bahapīcc-hām yeṣu te nitya*°.

In cl Skt the disjunctive particle *vā* is always placed after the second of two alternative terms, unless, of course, two *vā*-s are used, in which case the particle is adjoined to each member. Su, however, very frequently subjoins it to the first term instead of the second, exx. *gahvarāni vā latācchādītasthānāni* (20) 'thickets or places covered over with creepers', *utkaṇṭhāyuktāni vā utsāhayuktāni* (23) 'provided with longing or provided with intense feeling (?)' *Devaviśeśānām vā kinnarānām* (49) 'of god-like beings or Kinnara-s'. In one of the MSS a second *vā* is appended. The classical placement also occurs *vastrena kareṇa vā* (43) 'with the garment or with the hand'.

In a single instance a prohibition is expressed by *mā* with the optative, this construction is rare in cl Skt<sup>27</sup> *mā gaccheh* (29) 'do not go', but note the imperative in 116 *mā gaccha*.

A remarkable and frequency recurrent phenomenon is the omission of the relative pronoun in the analysis of *bahuvrīhi* compounds. That the omission is deliberate on the part of the *vṛttikāra* and not the work of scribes is proved by the unanimity of the MSS and the frequency with which the omission occurs. That Su did not misconstrue these particular *bahuvrīhi* s as *tatpursa*-s or *karmadhāraya* s is clear from his use of the interrogative adjective *kathambhūta*? 'What sort of?' to elicit the *bahuvrīhi* in reply,<sup>28</sup> ex the *bahuvrīhi sphaṭikaphalīka* (86), given in answer to *kathambhūtā kāñcanī vāsayaṣṭhi*?, omits the relative in the *vigraha sphaṭikasya phalīkā pāṭikā sphaṭikaphalīkā* '(a golden perching-stick) having a pedestal of crystal'. There is an instance in the comment on 25 where, in answer to the question *kathambhūtāḥ deśāḥ?* 'What sort of regions?', the answer, which consists of the epithet *pāṇduccāyopavanavīṭayāḥ* is followed by synonyms of the two principal part of the compound separated syntactically (*dhavalaprabhāḥ upavanavīṭikāḥ*) but unaccompanied by the relative pronoun *yeṣām* (or its equi-

valent *yatra*) essential to show that the factors involved belong to the noun *deśāḥ* in the question. Farther on, however, where the same compound is analyzed, *yatra* is included *pānducchāy-āḥ dhavalaprabhāḥ upavanavṛtīnām yatra te* 'the Daśārṇa country) where the enclosures around the groves are pale coloured' <sup>29</sup> Of course, this strange process of abbreviation may be a peculiarity of analysis belonging only to Su, and perhaps it ought to be so regarded until examples are forthcoming from other JS texts.

A characteristic feature is the use of causative stems with the value of the primitive <sup>30</sup> This phenomenon is well enough known from cl Skt where many verbs belonging to the *cur*-class do not have, or only occasionally have, causal meaning <sup>31</sup> But the verbs in Su which are causative in form but not in sense are nearly always causative in cl Skt, furthermore, in most instances these 'causatives' are given as synonyms of the simplex of the same root, that is to say, they are used interchangeably and with no perceptible difference in meaning. Thus, *bhramitah* for *udbhāntah* 'having wandered off, (34), *uttaritvā* for *uttrīya* 'having crossed' (51), *uttaritām* for *-avatīrnām* 'having descended' (54), <sup>32</sup> *atīkramayitum* 'to surpass, overcome' (58), but the cl. Skt causative of *ati-√kram* means 'allow to pass' (of time, *prāpita-* (91) 'arrived at', *sp-arśitam* for *sprśtam* 'touched' (114), *harsita-* for *pramudita-* (123) and *hrsta-* (124) 'joyful', *siñcitām* for *-sīkta-* 'sprinkled' (111) *Uttaritvā* is remarkable not only because it is without causative value, but because the causative affix *-aya-* is omitted <sup>33</sup> (cf *bheditum* above) and the vowel of the root has the *guna* instead of the *vrddhi* vowel-change, *uttaritām* too, has the same vowel-gradation. Furthermore, cl Skt requires that *-ya* be added to the compounded root, not *-tva* (*vide supra*) There is a single example of a stem which is causative in form as well as in meaning but never has causative value in cl Skt when inflected in the *cur* class *avalokaya* for *darśaya* 'make to see, show' (41).

### (c) IDIOM

Past passive participles are used as nouns with much greater frequency than in Skt. This phenomenon is especially remarkable in composition with *-anantaram* 'after .'; thus, *skanda-*

*pūjītānantaram* (48) 'after worshipping Skanda', *langhūtānantaram* (54) 'after traversing', *sambhogakṛtānantaram* (103) 'after taking pleasure' In *pusparasāsvāditakvanitaśabdāh* (77) '(trees) having the sound of humming of bees which have tasted of the nectar of the flowers' -*kvanita*-, literally 'sounded, humming, hence, the humming one, i.e. a bee', has acquired a specialized meaning. Other examples of participles used normally are *uddharitam* for *avaśesam* (33) 'remainder', *nisiddham* for *nisiddhi* (38) 'prohibition', *paricita* for *paricaya* (51) 'practice'. In 51 -*anuga*-, a verbal adjective in *kundaksepānugamadhukarāśrīmusām* '(eyes) which steal the beauty of bees going after the movement of the *kunda*-flower', is analyzed by Su as a noun which is in turn explained in the *vigraha* by the past participle of *ā-√gam* used as a noun *kundaksepānugena mucikundapuspavāsanāpreranāgatena kundakusumopariśṭhātānām īdṛśānām madhukarānām śrīyām śobhām vā sādīśyatām musnanti* . . . Though not all of this is crystal-clear, nevertheless, the noun-value to be attached to -*anuga*- and -*āgata* is sufficiently certain.

A curious instance of specialization in this use of past participles is seen in *svakīyāngagupta*-, a synonym for *nīda*- 'nest' in *nīdārambhair* (25). Clearly, -*gupta*- does not here function as a past participle 'protected by', a noun to which *svakīyānga*- in the genitival relation is wanted. Now, there is some precedent in Skt for *gupta* in the role of a noun, thus, the locative singular (*gupte*) may mean 'in a hidden or secret place' (so MW, p. 359, col 1)<sup>34</sup> Once the use of *gupta* as a noun became established, the meanings of the abstract *gupti* would naturally have been transferred to it 'a place of concealment, a hole in the ground, a place where refuse is thrown, a leak in a boat, a prison' (MW, p. 359 under *gupti*). The compound, then, is presumably a genitival *tatpuruṣa* and means 'a secluded place for their limbs or bodies, viz. a nest'.

Nouns are very frequently combined with *√kr* to form clusters quite identical with those which belong to the idiomatic structure of the modern Indo-Aryan languages. The germs of it are found in cl. Skt, but at no period is this usage so pervasive and so intimate a part of the language as in this vernacularized

Skt of the Jaina-s; exx. *vr̥ṣṭim kṛtā* (20) 'having rained', *nṛtyam kārāyeh* (48) 'you should cause to dance', *krīdām kuryanti* (78) 'they play', etc

## V Vocabulary

### (a) WORDS WHICH ARE UNKNOWN OR RARELY USED IN CL. SKT.

*Adhīryatvam* for *kātaratvam* (116) 'faint-hearted-ness', a rare word, or more accurately, based on a rare word, since only the positive *dhīrya* is recorded, the usual word is *dhīra* MW (p 517, col. 1, under *dhīrya*) refers to 2. *dhīra* 'steady, constant, resolute', etc, and records an occurrence in the *Śāṅkhāyana-brāhmaṇa* XIX. 3, Böhtlingk, *Sanskrit-Wörterbuch in Kurzerer Fassung*, (1879-83) (BR) gives '2 *dhīra*' as the equivalent of *dhīrya* but defines it thus 'verständig, klug, weise, geschickt, kunstfertig, sich verstehend auf', but these meanings are inappropriate to the context in which Su's *adhīrya*<sup>o</sup> is used, furthermore, since this equivalence is not adopted by MW, probably '2 *dhīra*' is a typographical error for '1 *dhīra*'.

*Kalācike* for *-prakosṭha-* (2) 'forearm' in *kanakavalayarikta-prakosṭhah* is rare in cl Skt, and it is doubtless in this circumstance that the explanation of the interpolation *bāhū* in two MSS is to be sought

*Kheṭanam* for *-utkasana-* (16) 'ploughing' in *sadyahsīrotka-sanasuabhi* is not listed in MW or BR, under  $\sqrt{khiṭ}$  'be terrified, terrify' MW gives a participial form *kheṭita* 'ploughed' but only on the authority of the lexicons, i.e. the indigenous *kośa-s* of the Indian lexicographers. The meaning required in the context ('ploughing') is the noun-counterpart of this *kheṭita*. Unquestionably there is some relationship between *kheṭita*, *kheṭana* and *kheṭa* 'village, residence of farmers' as well as *kheṭaka*, apparently the diminutive of *kheṭa*

$\sqrt{caṭ}$  which is used participially (*caṭitam*) in explanation of *ārūdham* (8) 'having arisen' and in the primary derivative *catana* in *caṭanāya* to explain *-ārohanāya* (65) 'for climbing' is a vague word in cl Skt (like  $\sqrt{kal}$ ) with many very diverse meanings



(‘reach, fall to the share of, hang down from, rain; cover, break, kill’ in MW) It is frequent in the *Pārśvanāthacarita* and occurs once in the *Pañcadandacchatraprabandha*, but in both works always in connection with *kare* or *haste* in the sense of ‘getting into one’s hand’<sup>35</sup>

*Cūca* in *cūcapradeśe* (19) ‘in the region of the nipple’ is quite obviously related to *cūcuka*, *cucuka* and *cucuka* ‘nipple (of the breast)’ which appear to be diminutive formations of it A variant *cūñca*- occurs in two MSS.

*Jyotirangana*- for *khadyota*- (88) ‘fire-fly is °*ingana* in cl Skt, literally ‘moving light’ <√*ing* ‘move’. This spelling is probably due to false connection with *angana* ‘walking’ (cf. also *angana* ‘court, yard’) or *anganā* ‘woman’ In any case, the differing vowel cannot be due to bad transcription, as Sthiradeva too, uses a clearly related word *jyotiranginah sphuritānu-kārnīm* (your eye) imitating the flashing of a fire-fly’.

*Parisamantād* (-*i*) ‘round about’ for *pari*- in *pariyāh* (59) is very rare in cl Skt, it is marked with an asterisk in BR and called ‘lexical’ by MW, Macdonell and Bhide do not list it at all None mention the adverbial ablative seen in the context here, but only its basic sense. ‘*umkreis* circumference, circuit’.

-*paksmasampuṭa* in *prasphurātpaksmasampuṭam sat* (102) ‘whose eyelids (?) are quivering’ in explanation of the textual *upariṣpandī* The lexicons do not list a compound *paksmasam-puta* ‘eyelid’, but *samputa* means ‘a hemispherical bowl or anything so shaped’ (MW) and in combination with *paksmā*- can plausibly be referred to the similarly shaped eyelid A very close parallel is found in Hindī *papoṭā* which derives from *paksmā-putaka* and is, therefore, practically a synonym of °*samputa*<sup>36</sup>

*Papīhah* is a synonym for *cātakah* (9), the mythological bird that is alleged to subsist on drops of rainwater This is found in Hindī with long final vowel (*papīhā*) and also with both penultimate and final vowels lengthened (*papīhā*), Platts also gives *pappīhā* with geminated -*p*- and derives it from Skt,

*pappīha* (or *vāpīha*) 'cātaka-bird' with *-kah* subjoined<sup>37</sup> The suffix *-kah* must be supposed to account for the long terminal vowel in Hindi *Vappīha* seems to be the older and original Skt. word, and *vāpīha* a new formation based on a fanciful etymology deriving it from *vāpī* 'lake' and the verbal extracted from  $\sqrt{hā}$  'abandon', thus, literally 'abandoning lakes'<sup>38</sup> The initial *p-* in the Hindi *papīha* (etc.) and JS *papīha* is probably due to regressive assimilation rather than any isolated phonological law involving a change of *v-* to *p-*

*-phalikā* occurs in *sphaṭīkaphalikā* 'a perching-stick having a base of crystal' in *pāda* a of 78, but only *phalaka* (*phalakā* in the feminine at the end of a compound) is found in cl Skt That Su did not regard the penultimate *-i-* as a particular form of *phalaka* in composition is clear from his *vigraha* of °*phalikā* where he gives this form independently Perhaps it is an analogical form based on JS *pāṭīkā* (*vide infra*)

*Pratyañcā* for *jjā* (81) 'bowstring' is also found in Hindi, but not in cl Skt, it is probably to be derived from *pratyañc* literally 'turned towards, coming from behind' and, when applied to the bowstring, may refer to the fact that the string (*jjā*) is drawn towards the archer or to its position behind the bow, thus, cf Platts, 'that which comes behind' (the bow)<sup>39</sup> But it need not originally have been connected with *pratyañc*, but could have been derived from Middle Indic \**paṭijjā* (<\**prati-jjā* 'near the bowstring') wrongly assumed to be the Pkt equivalent of *pratyañcā*<sup>40</sup> MW records a curious *patañcikā* as a word given by the *kośa-s* for bowstring,<sup>41</sup> but it looks suspiciously like an error for \**pratyañcikā*, if so, this would be an extension of Su's *pratyañcā*

*Rātrimukhāh* (masc or fem ?) for *pradosāh* (77) 'evenings', literally 'faces of the night' or perhaps rather 'openings of the night' or 'foreparts' is not given in the lexicons as a compound of *rātri-*, cf *Abhidhānacintāmanī* (cited by Su here) where the precise equivalent *yāminīmukham* occurs *pradoso yāminīmukham* 111

*-vipathagā-* in *śrībhagū athapathapī asthūtavipathagāpayahpū-*

*raplāvitāh* (54) '(the sons of Sagara) washed by a flood of water from the heavenly stream (i.e. the Gangā) gone forth as a result of the course [of penance] of Bhagīratha' This word is not attested, though the elements of which it is compounded are perfectly clear. their application to a 'stream' and more particularly the Ganges is somewhat obscure If *ṛpathagā* is only a general word for 'river', the etymological meaning would be 'going by diverse (ṛ-) paths', if it is an *ad hoc* compound and hence, applicable only to the Ganges, it probably means literally 'going by different paths, i.e. by a celestial as well as a terrestrial course'. Which of these semantic explanations is correct can only be determined by further uses of the word in other contexts.<sup>2</sup>

√*sphuṭ* is listed in the *Dhātupāṭha* X. 91 with the meaning *himsāyām* 'hurt', but asterisked by BR, it is given by MW but without example Su uses this root three times, always in the sense of 'doing away with, removing' It first occurs in the past participle *spheṣṭa* (17) as a synonym for *-praśamita-* in *āsāia-prasamitavanopaplavam* where the specific sense 'extinguished' is required In 35 *spheṣayati* explains *harati* 'removes', and in 73 the same tense in the plural explains *vyālumpanti* 'destroy', in both these instances it is used in an identical setting, namely with reference to dispelling the languor induced by amorous pleasures (*surataglānim* and *angaglānim* respectively). In the latter two occurrences there are variant readings from √*sphuṭ*, which may occasionally be used in the causative in the meaning 'destroy, kill', etc. These *variae lectiones*, however, are probably just transcriptions of an earlier copyist's error where the superscript vowel 'e' was converted to 'o' by the addition of a vertical staff or *danda*

#### (b) WORDS WHICH DIFFER IN MEANING FROM CL SKT.

-*ākāra* is a synonym for *-viśesa* 'kind of' in *ayojālākārah* (73) 'a kind of iron network'.

-*udbheda* 'source, origin' in *puspodbheda* (72) which Su makes an adjective to *madhu* 'honey which has its origin in flowers', is taken by the other *vyatikāra*-s in the sense of 'sprout,

shoot' There are no recorded examples with the meaning assigned by Su

*Kāvya* is frequently used by Su as a synonym for *śloka*, exx *asmīn kāvye* (39) 'in this stanza,' *pūrvakāvyaḍ grāhyah* (40) '([The word] *tatra* is) to be understood from the foregoing stanza, *ced hi kāvya* (46) 'for if in the stanza', *kāvya-yugmasya vyākhyā* (89-90) 'commentary on the two stanzas', *kāvya-traya-sya vyākhyā* (92-4) 'commentary on the three stanzas'.

Without parallel in cl Skt is Su's use of the interrogative *kva* in the sense of 'when?' Since his commentary is of the *kathambhūtinī ṭīkā* type, it occurs with considerable frequency in asking questions on temporal locutions, exx *kva? nṛtyārambhe* (40) 'When? At the time of beginning the (*tāḍava*) dance', *kva? savituh udaye* (75) 'When? At the rising of the sun' This usage is perhaps only an extension of meaning from the spatial to the temporal sphere, as seen, for example, in the case of the pronominal adverb *tatra*, which may mean 'there' as well as 'then', but *kva* is not employed in this dual capacity in cl Skt *Kva* is also commonly combined with *satī* (present participle locative singular of  $\sqrt{as}$ ) to phrase questions concerning locative absolute or other locative phrases of attendant circumstances, exx: *kva satī? nabhasi śrāvane māse pratyāsanne samīpasthe satī* (4) 'Under what conditions' While the month of Śrāvana was near', *kva satī? viprayoge satī bhartuh virāhe satī* (10) 'Under what circumstances? When there is a separation, i.e. when one's husband is away'. The plural of this curious phrase is *keṣu satsu*, exx ' *kesu satsu? śanakaih nīrantaram puskaresu mṛdangesu āhatesu vādyamānesu satsu* 'Under what conditions? While drums are beaten gently' This suggests that *kva* in the singular phrase is just a substitute for *kasmin* in a rather vague and general way without reference to any particular noun.

-*gamānikā-* (or °*ka-*?) occurs in a compound *divasagamānikopāyāh* (94) 'means of passing the days' in explanation of *vinodāh* 'amusements, pastimes' Obviously it is a synonym of *yāpana* 'passing (of time)' and like this is formed on a causative base, phrases with  $\sqrt{gam}$  referring to time are in fact common

in cl Skt., cf. *kāle gacchati* 'with the passage of time', *kālam gamayati* 'he passes the time' *Gamanukā* is listed in MW only in the meaning 'explanatory paraphrase'.

*-parimala-* (75) which occurs in *pāda c* in the long compound *muktālaganastanaparimalacchinnasūtraṇi* '(by necklaces) whose threads are broken due to rubbing against the breast . ' is defined by *-sammarda* 'rubbing together, friction,' a meaning wholly unknown to cl Skt *parimala* Perhaps *-parimala-* was taken as another form of *parimarda*, substantially a synonym of *sammarda*, indeed, *parimala* may be originally a Pkt word from *pari-√mṛd* applied to perfume produced by the trituration (*parimarda*) of fragrant substances. Yet in explaining the textual *sphuṭitakamālāmodamaitrikasāyali* (35) '(the wind from the Śiprā River) which is fragrant through contact with the perfume of full blown lotuses' Su uses *parimala* for *-āmoda-*, the ordinary meaning in cl Skt

*Bhujamadhya* used as a synonym for *-prakosṭha-* 'forearm' in *kanakavalayabhramśarikṭaparakosṭhaḥ* (2) means in cl. Skt. 'breast', literally 'interval between the arms' But here it means 'the middle of the arm', probably with reference to the forearm (*prakosṭha*), though the elbow or upper arm may equally well be meant by so vague a word (at least when viewed only from its etymological constituents)

*-roga* in *gallasthalotpannaprasvedadūrīkaranenotpannairogena* 'on account of the affliction which has arisen from removing the perspiration appearing on the cheeks' is a synonym for *-rujā* in *gandasvedāpanayanarujā* (28) In cl Skt , however, *roga* refers only to 'bodily affliction, disease', whereas *ruj* (instrumental *rujā*) has the same senses as the parent *√ruj* 'afflict, hurt, harm', if, then, the sense of *roga* in this passage is typical of JS, it may be that it has preserved an older range of meaning no longer attested for *roga* in cl Skt where only a specialization of the original concept has been retained

*vi-√lok* which in the gerundive *vilokanīyāṇi* explains *anveṣṭavyāṇi* (78) 'to be sought after' preserves its literal sense 'look for in different places (*vi-*)', whereas cl Skt *vi-√lok* means

'look upon, examine, study, inspect' and appears, therefore, to be only an intensification of  $\sqrt{\text{lok}}$ .

$\sqrt{\text{śabdaya-}}$  in cl Skt. only means 'give forth sounds, cry, call' but in 35 Su employs the present active participle *śabdayan* in a transitive sense as an explanation of *dūghīkuvān*. Ordinarily denominatives with causative value are derived from adjectives, exx *kalusayati* 'makes turbid', *śithulayati* 'makes loose' <sup>43</sup>

*Śāla-* (with variant *śārāla-* in two MSS ) for *nīda-* ('nest') in *nīdānambhaiḥ* (25) is unrecorded in the lexicons in this or any related sense. As used here it can be plausibly referred to  $\sqrt{\text{śal}}$  in the *Dhātupāṭha* (I 519) which is defined *calanasamvānanayoh* 'to move and to cover'. With  $\sqrt{\text{śal}}$  are to be connected *śarman*, *śarana*, and *śaiṭra*,<sup>44</sup> in all of which the concept of 'cover' is involved in one way or another. The simple  $\sqrt{\text{śal}}$  is not found in cl Skt, only forms compounded with *ut*, *sam-ut*, etc, though none of these compounds of  $\sqrt{\text{śal}}$  has the meaning 'cover', there cannot be any doubt that Indo-Aryan possessed  $\sqrt{*śr}$ ,  $\sqrt{*śl}$  in this sense. This is proved not only by the inclusion of  $\sqrt{\text{śal}}$  in the *Dhātupāṭha* and the obvious derivatives of its variant  $\sqrt{*śar}$ , but also by its well-attested status in other Indo-European languages where the meaning 'cover' is preserved, thus, cf Latin *cēl-āre* 'hide' (with lengthened grade of ablaut), *cl-am* (with total loss of vowel), and < I E *\*kolmos*, *kolmos* cf Anglo-Saxon *helm* 'protector, protection' (normal grade), Gothic *hilms* and Lithuanian *sālmas*, all three of which precisely correspond to Skt *śarman* except for a difference in declensional scheme. As a derivative of  $\sqrt{*śr}$ ,  $\sqrt{*śl}$  JS *śāla* might mean either 'that which covers' (*nomen agentis*) or 'a covering' (*nomen actionis*), precisely as the Anglo-Saxon *helm*. These meanings of *śāla*, then, are clearly older than those given by MW for cl Skt *śāla*, or perhaps the two words are not even related, and the meaning 'nest' subsumed under JS *śāla* ought to be included under a new entry.

### (c) PRAKRITISMS

*Kudyām* in the phrase *gīhopanī kudyām* (42) 'in a little hut

on top of the house' in explanation of *bhavanavalabhau* is a Prakritism for *kuṭyām*<sup>45</sup> MW records *kudī*, but regards it as a wrong reading for *kuṭī*. Actually both *kuṭī* and *kudī* are found in Skt MSS (apart from JS texts), nor is this phenomenon surprising, as the vocabulary of standard Skt has many Pkt words

*Kumpalāni* which occurs in a discussion of the compound *viśakīśalayacchedapātheyavantah* (12) as a synonym for *-kīśalaya-* 'sprout' is a Pkt word with Skt termination. It derives from *kuṭmala*,<sup>46</sup> but Pischel states that since there is also a form *kuñcala*, which cannot be derived from *kuṭmala* or *kudmala*, a dialectical form in addition to the latter is to be postulated in order to explain *kumpala* (or *kuñcala*)<sup>47</sup>

*Jāsū* in *jāsūkusumam*, as a synonym of *-japā-* 'China rose' in *vikasitajapāpusparaktam* (40) '(glow) red as the China rose in full bloom', is undoubtedly identical with Pkt *jāsumana jāsumina* and *jāsuyana* which according to Sheth<sup>48</sup> derive from *japāsumanas* probably through the stages *\*javāsumana > \*jāsumana > jāsumana > jāsuyana > \*jāsūna*. This last form is in fact one of the variants afforded by two MSS and may well have appeared in Su's autograph, especially since *jāsūn* (with dental-*n*) occurs in Urdu (see Platts, p. 371)

*Pāṭikā* in explanation of *-phalīkā* 'plank, board', 'pedestal' in *sphaṭīkaphalīkā* (86) 'having a pedestal of crystal' is Pkt *pāṭa* (< earlier *patta* < *pattra* 'leaf') with the suffix *-ikā*, cf also Pañjābī *paṭṭ* 'sandy place' and Hindī *pāt* 'board'<sup>49</sup>

*-macchāny* (-i), for *-śaphara-* in *catulaśapharodvartanaprekṣitāni* (44) is an obvious Prakritism for *matsya*<sup>50</sup> Note also the neuter gender, whereas Skt *matsya* is always masculine

*Melāpo* (-ah) occurs in the analysis of *asthānopagatayamunāsamgamā* (55), cf Skt has only *melāpaka*, an extension of a supposed *\*melāpa*, but probably *\*melāpa* here is simply vernacular *milāpa* (cf Hindī *nulāp* 'meeting', with change of *-i-* to *-e-* due to the gunated derivatives of  $\sqrt{mil}$ , especially the causative *melāpayati*)

*Lasṭikā*, a synonym for *-yaṣṭi* 'stick' in *kāñicanī vāsayasṭih* (86), is a Sanskritization of the common Pkt word *laṭṭhi* or *laṭṭhī* (in Ardhamāgadhī, Māhārāstrī, etc. and also in the modern Indo-Aryan vernaculars generally in the form *lāṭhi*, but Pañjābī has *laṭṭh* 'axle of a water-wheel')<sup>51</sup> Since Pkt. *-ṭṭh-* corresponds to Skt *-ṣṭ-*, *laṭṭhi* (or *laṭṭhī*) could theoretically represent Skt *\*lasṭi* (or *lasṭī*), to this, as in the case of *pāṭikā* above, was added the secondary derivative suffix *-kā*, which here seems to have diminutive value as seen in Skt *putraka*, *rājaka*, *aśvaka*, *pādaka*, etc. The use of *-ka* or *-kā* in the formation of such diminutives is determined by the gender of the primitive, and hence, since *laṭṭhi* (or *laṭṭhī*) is feminine, the Sanskritized form is provided with *-kā*. Ultimately, of course, Pkt *laṭṭhi* and *laṭṭhī* are probably derived from *yaṣṭi* with change of *y-* to *l-*

*Vādati*, locative singular masculine, present participle, in explanation of *vahati* (57) 'while (the wind) blows' seems to be based on a Pkt *\*vāddaī*, though the form of the participle is patterned after Skt, this is, of course, an artificial creation from *vāta* 'wind' with verbal termination and softening of medial *-t-* to *-d-*. Or is *vādati* an error in transcription for *vāti*?

*Vādyanti* (39) is a passive with *parasmaipada* ending formed from the causative of  $\sqrt{\text{vad}}$  'speak', thus, 'are caused to speak, i.e. sound' (said of the tinkling of the *kaṭimekhalā*). According to the general rule Pkt uses active endings for passives<sup>52</sup>

*Vinasisyati* (49) is a curious, partial Sanskritization, apparently modelled on cl Skt *vināśisyati* 'will be ruined, go to ruin' (< *vi-*  $\sqrt{\text{naś}}$ ), but the cerebral *-n-* and dental *-s-* seem explainable only on the assumption of influence from a Pkt *\*vinasissadi*. The use of this word is peculiar too it occurs in a sentence which explains why the *siddha-s* fear the drops of water released by the cloud (*jalakanabhayād*) due in Su's view to the *vinā* being ruined when it gets wet (*jale lagne vīnā vinasisyati*); *vi-*  $\sqrt{\text{naś}}$  in its classical connotations seems a very strong word to describe a *vīnā* whose strings have been wet

*Vidhyāpayitum*, synonym of *praśamayitum* (57) 'to extin-



guish' (a forest-fire), is a false Sanskritization of the Pkt stem *vijjhāve-*, forms of *vidhyāpaya-* are common in Jaina works <sup>53</sup> *Vijjhāve* is presumably from *\*viksāpaya-*, causative of *vi √ksai*. In cl Skt, however, *√ksai* is not found in composition with *vi-*, so that both the combination and the reversive meaning attaching to *vi-√ksai* are in the hypothetical sphere, and Turner too, expresses doubt about the semantics involved <sup>54</sup> Pkt *-jjh-* can represent an original *-ks-* or *-dhy-* (ex *majjha* > *madhya*), and since the *-jjh-* in *vijjhāve-* was wrongly supposed to have stemmed from *-dhy-*, the spurious stem *vidhyāpaya-* was created. With *vijjhāve-* cf. Hindi *bujhānā*, Gujarātī *bujhāvum*, Marāṭhī *vijhavinem*, and Nepālī *bujhāunu* 'extinguish'. Pāli has *vijjhāpeti* 'extinguish' and *vijjhāyati* 'be extinguished'.

#### (d) FOREIGN WORDS

*Tīra-* 'arrow' given as a synonym for *-śara-* in *śiṭaśaraśatair* (52) is a late Persian loan-word. The feminine *tīrī* is one of the four varieties of arrows listed by Hemacandra in the *Abhidhānacintāmaṇi* <sup>55</sup> Both *tīra* and *tīrikā* (a diminutive?) occur in the *Pañcadandacchatrapīabandha* in a long aggregative compound containing the names of weapons <sup>56</sup> Persian *tīr* is to be compared with Avestan *tigrī-* 'arrow', in which is seen the cognate of Skt. *√tij* 'be sharp', and Pahlavī *tīr* 'arrow' <sup>57</sup>

*Varandī* (or *°ī*) for *valabhi* (42) 'a turret or separate building on the roof of a house'. Hindi has *varandā* 'portico' which Platts derives from Skt *varanda* with suffix *-ka* (to explain the long final vowel), <sup>58</sup> but Skt *varanda* is an umbrella-word with many diverse meanings ('string of a fishhook, multitude, eruption on the face, heap of grass, package, rampart separating two combatant elephants', etc). MW lists *varandaka* immediately after *varanda*, the meanings of these two words are very nearly the same, though *varandaka* has also some standing as an adjective ('round, large, miserable, fearful'). Thus, Skt *varanda+ka* (according to Platts) and MW's *varandaka* would practically coalesce the meanings of one being communicated to the other. *Varanda* appears in a variety of forms in almost all the vernaculars, <sup>59</sup> and Skeat, <sup>60</sup> following a suggestion by Yule and Burnell, was of the opinion that the Skt word was

borrowed from Portuguese *varanda* 'balcony', and from Skt into the vernaculars. But if the vernacular words were borrowed from Skt *varanda* (in turn < Portuguese *varanda*), it is difficult to explain the widely different forms this word has assumed. Skt loan-words would normally be less subject to change in the vernaculars. Furthermore, it is a *priori* implausible for a Portuguese word of this import to enter Skt directly: some intermediary language seems necessary. Since the Portuguese had early contact with Konkani- and Marāthī-speaking Indians, either of these two languages might have served as the bridge. There are variant readings in two MSS of Su's *vr̥tti*, viz *varamki* (or °ī) and *paramdi* (or °ī), but they seem valueless in tracing out the affiliations of this difficult word.<sup>61</sup>

### (c) VERNACULARIZATION

*Uttārayantīm* for *sārayantīm* (98) 'removing, pushing aside' (a braid of hair) has probably fallen under the semantic influence of New Indo-Aryan: the causative of *ut-√tr̥* in Skt sometimes means 'remove' with reference to clothing or ornaments, but in the vernaculars this is perhaps its commonest meaning, though the etymological value of the root still persists in its modern forms, thus, cf. Hindī *utārnā*,<sup>62</sup> Pañjābī *utārnā*, Gujarātī *utārvum*, Marāthī *utārnem* and Nepālī *utārnū*,<sup>63</sup> all with more or less the sense of 'set down'.

-*utsāha* 'joy' in *nirutsāhām*, a synonym for *nirvinodām* (95) 'without pleasures or amusements' has almost certainly been infected by Hindī *utsāh* 'joy', since Skt *utsāha* regularly means 'effort' (mental or physical). MW records the meaning 'joy, happiness' from the *Vetālapañcavimsatikā*, but it is doubtful whether *nir°* which he defines 'without energy or courage, indolent, indifferent', would ever mean 'joyless' in Skt. But since the concept of 'joy' is, on the contrary, uppermost in the Hindī word, it can be reasonably assumed that this predominant value was imparted to the word as used in JS.

*Choṭanīyām* in explanation of *udvestanīyām* (98) 'to be loosed or undone' (said of the *venī* 'braid of hair') is < *√chuṭ* 'cut, split, cut off' (*Dhātupāṭha*, VI 84 and X 72. *√cuṭ* and *chuṭ* 'chedane'),

but this root is apparently never used in Skt. In other JS texts it generally has the sense of 'escape' from some sort of dangerous situation, so, in the *Pāśvanāthacaritra* I 175 *tava bānapraharataḥ katham chut ye* 'How shall I escape from the blow of your arrow'<sup>64</sup> As used by Su, the range of meaning appears to have been extended by influence from the semantic development of this root in the vernaculars, thus, cf Hindī *chuṭnā* (< Pkt passive stem *chuṭ* < *chuttaī*, present passive with *parasmaipada* ending < *chutyate*) 'be set free, be let go, get loose, be loose'.<sup>65</sup> Developments of this root are widespread in the modern Indo-Aryan languages. Bengālī *chuṭā*, Oriyā *chuṭibā*, Pañjābī *cuṭṭnā*, Gujarātī *chuṭvum*, Marāṭhī *suṭnem*, Nepālī *chuṭnu* <sup>66</sup>

-*moṭana-* in *kaṭāksamoṭanakriyāyām* (16) 'with regard to making coquettish movements of the eye', in cl Skt this word generally has a very violent connotation, ex *gajamoṭana* 'destroyer of elephants' (i.e. a lion), but less so in *angulimoṭana* 'snapping of the fingers' <sup>67</sup> Nowhere, however, is it applied to the sidelong glances of the eye (*kaṭāksa*) or the coy movements of the brow (*bhrūvilāsa*) But in some of the modern Indo-Aryan languages words related to the root on which *moṭana* is based ( $\sqrt{muṭ}$ ) have a range of meaning much closer to that required in Su's usage of the word; thus, cf Nepālī *mornu* 'bend, twist, fold' and similarly Hindī *moṛnā* (or *mornā*) and Gujarātī *modvum*, but Marāṭhī *modnem* exhibits the same general meanings as cl Skt  $\sqrt{muṭ}$  Hindī *moṛnā* is also used for 'plaiting, gathering'<sup>68</sup> which practically brings us to Su's *moṭana* It seems, then, that Skt *moṭana* has fallen under the influence of local vernacular usage and its meaning become attenuated and somewhat particularized The germs of this process were probably in cl Skt phrases like *angulī*<sup>o</sup> given above

## VI Orthography

In the matter of orthography it is very difficult to be certain how far to attribute any feature to JS, since in this area so much rests with the transcribers who tend to introduce their own local peculiarities into the text either purposely or perhaps quite unconsciously. In any case, under this heading essentially the same points may be mentioned as given by Weber <sup>69</sup> the

interchange of *kh* and *s*, *-hph-* instead of *-sph-* after *-i-* and *-u-*, the confusion of *ś* and *s*, and of *b* and *v*, the use of *anusvāra* before all occlusives instead of the *parasavarna* nasal (but this is hardly peculiar to JS<sup>1</sup>) the frequent spelling *svarna* for *suvarna* 'gold' <sup>70</sup> There is a marked tendency to double a constant after *r* in most of the MSS Occasional vulgarisms like *parśu-rāma* for *paraśurāma* (61) and *ujainī* for *ujjayinī* (34) are also found

## References

- 1 See Albrecht Weber's introd to his ed of the late Jaina text (c 17th century) entitled *Pañcadandacchattraprabandha*, in *Abhandlungen der Koniglichen Akademie der Wissenschaften zu Berlin Philosophische und Historische Klasse* (1877), pp 1-103

Also Maurice Bloomfield's digest of Bhāvadevasūri's *Pārśvanāthacaritra* entitled *The Life and Stories of the Jaina Saviour Pārśvanātha*, Baltimore, The Johns Hopkins Press, 1919 (Appendix II 'The Language of the *Pārśvanātha*', pp 220-39), and 'Some Aspects of Jaina Sanskrit', *Festschrift Jacob Wackernagel zur Vollendung des 70 Lebensjahres am 11 Dezember 1923, gewidmet von Schülern, Freunden und Kollegen* (Gottingen, Vandenhoeck & Ruprecht, 1923) pp 220-30 Unfortunately, a copy of this *Festschrift* was not available to me during the preparation of this article

See Also A N Upadhye in the *Bṛhat Kathākośa* of Ācārya Hariṣeṇā (Singhī Jain Series, No 17, Bombay, Bharatiya Vidya Bhavan, 1943), pp 94-110 of the Introd (He includes a list of the peculiar words on pp 102 ff), B J Sandesara and J P Thaker, *Lexicographical Studies in "Jaina Sanskrit"*, I Prabandhacintāmaṇi of Merutūgasūri (A D 1305), *Journal of the Oriental Institute* vol 8, No 2 (Dec 1958), pp 1-40 (Supplement M S University Series, No 5) cf Mohanlāla Dalīcamda Desāi in *Jaina Gūṛjara Kavī*, Bombay Śrī Jaina Śvetāmbara Conference Office, (1926-44) part I, pp 228-30, (In Gajarātī)

- 2 For particulars regarding BHS, vide Franklin Edgerton, *Buddhist Hybrid Sanskrit Grammar and Dictionary* (New Haven Yale University Press, 1953), vol I Grammar, Introduction, pp 1 ff

- 3 Su's commentary, called *Sugamānvayā Vṛtti*, has not so far been published *in toto*, but excerpts *in extenso* were made by Gopal Raghunath Nandargikar in *The Meghadūta of Kālidasa with the Commentary of Mallinātha* (Bombay Gopal Narayan and Co, 1894) Variant readings for the text of the *Meghadūta* were extracted from Su's *vṛtti* (probably from Nandargikar's edition above) by Kashinath Bapu Pathak in *Kālidasa's Meghadūta, or The Cloud-Messenger (as Embodied in the Pārśvābhīyudaya) with the Commentary of Mallinātha* (2nd ed, Poona, Oriental Books-Supplying Agency, 1916) Similar *variae lectiones*, though far

fewer in number, are given by Sushil Kumar De in *The Megha-dūta of Kālidāsa*, New Delhi, Sahitya Akademi, 1957

In the preparation of the present investigation five MSS of Su's *vr̥tti* have been used Nos 510 and 511 in Volume 13, pt 2 of the Descriptive Catalogue of the Bhandarkar Oriental Research Institute, pp 155-7 No 510 was copied in the year 1851 Vikrama Samvat, and No 511 in 1803 V S The author is indebted to the B O R I for its kindness in allowing these two MSS to be examined A third MS emanates from the personal library of Muni Śrī Punyaviṣṇavajī and bears the number 369 It is undated The other two are in London in the Wellcome Historical Medical Library collection, listed for the first time by Dr V Raghavan They were provided with the tentative identification numbers P 87 and R 122, of these the former bears the date 1916 V S, but the latter, being an incomplete MS, is without date The writer is obliged to Mr F N L Poynter, Librarian of the Wellcome Historical Medical Library, for his courtesy in putting these MSS at his disposal

Another MS is listed in the Catalogue of the Vishveshvaranand Vedic Research Institute, Hoshiarpur, 1959, pt I p 318, MS No 231, pt. II, pp 267-8, gives extract from the MS This MS is complete and bears the date *dasūṣṭasatam* of the V S (i.e. [1] 810 V S ? but the Catalogue entry gives 800)

- 4 cf Weber's comments on *sandhi* in the *Pañcadaṇḍa*, p 7, also Upadhye *Br̥hat Kathākośa*, p 97
- 5 William Dwight Whitney, *Sanskrit Grammar* (2nd ed Harvard University Press 1955), 449 and h, i, j
- 6 Upadhye, *Br̥hat Kathākośa*, p 99
- 7 Whitney, *Grammar*, §449 c
- 8 *ibid*, §1051 and a, c
- 9 *ibid*, §989 and a
- 10 This usage is seen also in the *Br̥hat Kathākośa*, exx *vyāpayitvā* (XII 128), *snānya* (LVI 260 and 263) and *sthāpya* (XCIII 286) and it is frequent in the *Pañcadaṇḍa* vide Weber's notes 14 and 15, pp 13 and 223, p 25, also his remark, p 3, *sthāpya* occurs on p 37, 1 13
- 11 Whitney, *Grammar* §§ 959 and 960 end
- 12 Whitney, *The Roots, Verb-forms, and Primary Derivatives of the Sanskrit Language* (Leipzig, 1885, lithoprinted in 1945 as vol 30 in the American Oriental Series), does not list *granthita*
- 13 Whitney, *Grammar*, § 964 b
- 14 Whitney, *Roots*, has *mārṣṭavya*, Monier-William *A practical Grammar of the Sanskrit Language* (4th ed, Oxford, 1877 § 651 lists *mārṣṭavya* and *mārjṭavya*
- 15 Monier-Williams, *A Sanskrit-English Dictionary*, p 829 under  $\sqrt{mrj}$
- 16 So according to Whitney, *Roots*, under  $\sqrt{mrṣ}$  where the form in *-tavya* is not recorded
- 17 In the *Pārśvanāthacaritra* III 653 occurs *vmrṣṭar* (noun of agency) 'reflecting conservative, vide Blomfield, *Pārśvanātha*, p 232
- 18 Whitney, *Grammar*, §§ 522 ff, esp § 526

- 19 According to MW, p 50, *apamarsa* is a *varia lectio* for *ablumarsana* in the *Śākuntala*
- 20 Whitney, *Grammar*, §1157 3 g
- 21 *ibid*, §§ 1208 and 1211
- 22 Monier-William, *Grammar*, § 755 b
- 23 For *-n-* before *-m-* instead of *-m-* or *anusvāra*, vide Weber, *Pañcadāda*, p 6
- 24 Whitney, *Grammar*, § 219 b affords one example *agacchan ahorātrāt tīratham* (*Mbh*) 'They went to the shrine after a whole day'
- 25 *Meghadūtan of Mahākavi Kalidās with the Katyayani Sanskrit Commentary, Gujarātī Samashloki and Gujarātī Translation* by Kt C Rajvaidya J K Shastri (Gondal, Kathiawad, 1953), p 109
- 26 Whitney, *Grammar*, §295
- 27 *ibid*, §579 b
- 28 Su's *vṛtti* is of the so-called *kathamblhūtīnī* *ṭikā* variety in which a series of questions is asked by the commentator in order to set forth the epithets of the *mūla* in reply and show what nouns they modify
- 29 In this *vigraha*, *pānducchāya-* appears to be taken as a *karmadhārya* instead of a *bahuvrīhi* and *-upavanavṛti* as a possessive genitive 'where there are pale colours belonging to the enclosures' This is, of course, at variance with the relationship of the parts of the compound implied in *dhavalaprabhāh upavanavāṭikāh* where *dhavala°* is a *bahuvrīhi* adjective limiting *upa°*
- 30 vide Upadhye, Introduction, p 110, e g in the *Bṛhat Kathākosa* Weher also notes occasional non-causative uses of causative stems, exx p 35, I 21 *ākarsitam* ('erwartet man hier statt des Causatives das einfache ākṛṣṭam') and p 36, I 9 *mocayisyāmi* ('das Causativ hat hier keine rechte Stelle, moksyāmi wāre passender')
- 31 Whitney, *Grammar*, §1041 b, c
- 32 For *ut-√tṛ* in the sense of the *aya-√tr*, vide Bloomfield, *Pārcvanātha*, p 221
- 33 Whitney, *Grammar*, §1051, a
- 34 cf *Kathāsaritsāgara* LXXV 92  
*dattāmbuyavasau vāhan gupte* 'vasthāpya cātra sah |  
*rājaputre sthite vṛddām mantriputro jagāda tām ||*
- 35 In connection with *√caṭ* cf Bloomfield's *Pārcvanātha*, pp 221-2 and Weber, *Pañcadāda*, p 37, I 16 *yady esāmatkare caṭati*, Whitney, *Roots*, under *√caṭ* gives the meaning 'go'
- 36 John T Platts, *A Dictionary of Classical Urdu, Hindī and English* (London, Oxford University Press, 1930) wrongly gives *pakṣa* for *pakṣma* under *pototā*, p 223
- 37 *ibid*, under *pāpīhā*, p 223
- 38 cf MW under *vāpīha*, p 941, col 1
- 39 Platts, *Dictionary*, p 244
- 40 vide Ralph Lilly Turner, *A Comparative and Etymological Dictionary of the Nepālī Language* (London, Kegan Paul, Trench, Trubner, 1931), p 365 under *parījo*
- 41 MW, p 582, col, 1

- 42 cf *tripathagā* for the Ganges (ed )
- 43 Whitney, *Grammar*, § 1058 c
- 44 The change from -l- to -r- is common in Skt which is predominantly an 'r'-language, cf Skt *śruta* < I E \**kluto* 'heard', as shown by the Greek Latin and Germanic cognates, but -l- is preserved in Skt *śloka*
- 45 Hargovind Das T Sheth, *Pāṇi-sadda-mahāṇuṣo*, *A Comprehensive Prakrit Hindi Dictionary* (Calcutta, 1923-28), p 318, lists *kudī* and derives it from *kuḷi*
- 46 cf *Hemacandra* II 52 *smakmoḥ* 'In place of [the consonantal clusters] -ṭma- and -kma [pa is substituted]'
- 47 Richard Pischel, *Grammatik der Prakrit-Sprachen*, Strassbrug, 1900, §277
- 48 Sheth, op cit , p 444
- 49 Turner, *Dictionary*, traces Nepālī *pāṭi* 'tablet' (q v p 373) to Skt *paṭṭa* of which there is a feminine pendant *paṭṭikā*, but his is undoubtedly a Prakritism in Skt *Pāṭikā* occurs in the *Pañcadanā*, p 11 in the phrase *rājāpāṭikām kṛtvā* the meaning of which puzzled Weber, vide his note (ibid ),
- 50 *maccha* is found in the *Pañcadanda*, p 24, vide Weber's note 110 and also his general comments on Pkt forms, p 5
- 51 cf Turner, *Dictionary*, p 553 under Nepālī *laṭho*
- 52 Pischel, *Grammatik der Prakrit Sprachen*, §535 end
- 53 Both the primitive as well as the causative of JS *vi-√dhyai* 'be extinguished' are found, for example, in the *Pārśvanāthacaritra*, vide Bloomfield's translation, pp 220-1, where many instances are given, and cf references in his footnotes, p 221
- 54 Turner, *Dictionary*, p 452, remarks under Nepālī *bhujau* (1).
- 55 *Abhidhānacintāmaṇi*, 780 *kṣarapratadbālārddhendutīrīmukhyās tu tad-bhīdah*
- 56 Weber, *Pancadanda*, p 29
- 57 cf Paul Horn, *Grundriss der neupersischen Etymologie* (Strassburg, K J Trübner, 1893), §406, p 91, and note Greek quotation there from Eustathius' commentary on the geographical epic of Dionysius Periegetes (994) in which the identical Medean word is given: *tigrin kaloūsi to toxouma hoi medoi* 'The Medes call the arrow "tigrī-"'.
- 58 Platts, *Dictionary*, p 1189
- 59 The many vernacular forms are listed and discussed in detail in *Portuguese Vocables in Asiatic Languages*, from the Portuguese original of Monsignor Sebastião Rodolfo Dalgado, trans into English by Anthony Xavier Soares (Gaekwad's Oriental Series 74, Baroda, 1936), pp 358 62 and 402
- 60 Walter William Skeat, *Concise Etymological Dictionary of the English Language*, (Oxford, 1911), p 590 under *veranda* In the earlier edition entitled *An Etymological Dictionary of the English Language* (Oxford, 1888), p 683, Skeat traced the Portuguese *varanda* to Persian *barāmadah* 'balcony' (past participle of *barāmadan* 'ascend, climb out, emerge, appear', thus, literally 'that which has emerged, is prominent'), but in the *Concise Dictionary* he derives the Portuguese word from Old Spanish

*aranda* 'a stair-railing' given by Pedro de Alcalá This is likely to be correct, since Persian *barāmadah* appears to be a modern artificial creation —a *Volksetymologie* probably based on one of the vernacular Indic words<sup>1</sup>

- 61 Turner, *Dictionary*, concludes his entry under Nepālī *barandā* (p 422) on a note of uncertainty, but feels all the vernacular words may have a common origin
- 62 Platts, *Dictionary*, p 14 under *utārnā*
- 63 Turner, *Dictionary*, p 47 under Nepālī *utārnū*
- 64 cf Bloomfield's note on  $\sqrt{chu}$  in the *Pārcvanātha*, pp 232-3
- 65 cf Platts, *Dictionary*, p 460 under *c huṭnā*
- 66 cf Turner, *Dictionary*, p 199, under Nepālī *chuṭnu*, also in Addenda p 647 where the assumption is made that  $\sqrt{chu}$  is a *t*-extension of  $\sqrt{*chu}$
- 67 cf *angusṭhamotana* in the *Pañcadanda*, pp 15 and 20, where it is used in the sense of walking someone with a snapping of the fingers
- 68 Platts, *Dictionary*, p 1090
- 69 Weber, *Pañcadanda*, p 6
- 70 *ibid*, p 18, note 60 '*svarna* [sic] *ist huer die reguläre Form des Wortes, nur einmal* (s Note 148a) *findet sich die vollere Form*' In Su 2 and 78 the fuller form is found



# DIALECT AND SUB-DIALECTS OF PRAKRIT

*Dr. SATYA RANJAN BANERJEE*

Prākṛta, europeanised as Prakrit, or linguistically Middle Indo-Aryan (=MIA), belongs to the middle period of the Indic group of the Indo-Iranian sub-branch of the Indo-European family of languages. It is, therefore, intimately connected with the Old Indo-Aryan (=OIA), i.e., with the Vedic and classical Sanskrit on the one hand, and remotely with the Iranian, and still more remotely with the Indo-European on the other.

The word Prākṛta is used to include a number of languages or dialects, traces of which are found in the religious, literary and dramatic literature of the Jains and non-Jains, beginning from about the 6th or 5th century B.C. down to the 10th or 11th century A.D., covering a period of over fifteen centuries. It is very difficult to say whether the term Prākṛta as employed by the Indian grammarians and rhetoricians in their respective treatises included Pāli and Inscriptional languages. It is normally considered that the Indian authorities, perhaps, excluded them from their considerations. As a result, the linguists have employed the term Middle Indo-Aryan as opposed to Indian term Prakrit, by maintaining a parity with the Old and New stages of Indo-Aryan languages. Hence the Middle Indo-Aryan does not only include Prakrit as described by the grammarians and rhetoricians, but also Pāli and other Inscriptional languages, such as, the edicts of Aśoka, the pillar edicts of Kāluvāki and Heliodora, the copper plate Inscription of Kalawan and the Hathigumpha Inscription of Khāravēla, the Kharosthī documents from Niya region and the Khotan Dhammapada from Chinese Turkestan, etc. The Middle Indo-Aryan also

includes the Buddhist literature in the gāthā dialects and in the hybrid Sanskrit, the Apabhramśa and the Avahattha. In a nutshell, it covers all the languages and dialects which lie between the Vedic and classical Sanskrit (=OIA) and the New Indo-Aryan (=NIA) languages. So linguistically the term Middle Indo-Aryan is wider and appropriate.

The etymological meaning of the word *Prākṛta* is 'natural', 'common' (*'Prakṛtā svabhāvena siddham*) as opposed to 'artificial' which stands for *Samskr̥ta*. The Prakrit dialects in India have a parallel with the Vulgar Latin in Italy. This parallelism is described by Max Muller in the following lines:

"Dante ascribed the first attempts at using the vulgar tongue in Italy for literary compositions to the silent influence of ladies who did not understand the Latin language. Now this vulgar Italian, before it became the literary language of Italy, held very much the same position there as the so-called Prakrit dialects in India, and these Prakrit dialects first assumed a literary position in the Sanskrit plays where female characters, both high and low, are introduced as speaking Prakrit, instead of the Sanskrit employed by kings, noble men, and priests. Here, then, we have the language of women, or, if not of women exclusively, at all, events of women and domestic servants, gradually entering into the literary idiom, and in later times even supplanting it altogether, for it is from the Prakrit, and not from the literary Sanskrit, that the modern vernaculars of India, branched off in course of time. Nor is the simultaneous existence of two such representatives of one and the same language as Sanskrit and Prakrit confined to India. On the contrary, it has been remarked that several languages divide themselves from the first into two great branches, one showing a more manly, the other a more feminine character; one richer in consonants, the other richer in vowels, one more tenacious of the original grammatical terminations, the other more inclined to slur over these terminations, and to simplify grammar by the use of circumlocutions. Thus we have Greek in its two dialects the Aeolic and the Ionic, with their sub-divisions, the Doric and Attic. In German we find the

High and the Low German, in Celtic, the Gadhelic and Cymric, as in India the Sanskrit and Prakrit, and it is by no means an unlikely explanation, that, as Grimm suggested in the case of High and Low German, so likewise in the other Aryan Languages, the stern and strict dialects, the Sanskrit, the Aeolic, the Gadhelic, represent the idiom of the fathers and brothers, used at public assemblies, while the soft and simpler dialects, the Prakrit, the Ionic, and the Cymric, sprang originally from the domestic idiom of mothers, sisters and servants at home ”

Although compared with some dialects of Europe the position of Prakrit dialects in India is different from Europe. A comprehensive history of Prakrit dialects can easily be reconstructed on the basis of documents written in different Prakrit dialects. Thus the early or first MIA (600 BC 200 BC) and the first two stages of the second MIA (200 BC 200 AD and 200 A D 400 A-D) are replenished with Inscriptions, Pāli, Jaina-Writings, Aśvaghosa's Prakrits, etc. Some of the very important and noteworthy Inscriptional Prakrit are given below

- |                 |    |  |
|-----------------|----|--|
| B C 3rd Century | 1  | The Aśokan Inscriptions (with Brahmi and Kharoṣṭhi scripts)      |
|                 | 2  | Jogimara Cave Inscriptions of Devadīna, Ramgar hill              |
|                 | 3  | Mahāsthān Stone Plaque Inscriptions, Bogra, North Central Bengal |
|                 | 4  | Sohgaura Copper-plate Inscriptions, Gorakhpur, U P               |
|                 | 5  | Piprahwa Vase Inscriptions, Piprahwa Basti Distt U P             |
| B C 2nd Century | 6  | Heliodora's Besnagar Pillar Inscriptions, M P                    |
| B C 1st ,,      | 7  | Hathi gumphā Inscriptions of Kharavela                           |
|                 | 8  | Tiṣya Abhaya's Ritigala Cave Inscription, Ritigala, Ceylon.      |
| A D 1st ,,      | 9. | Ḳharoṣṭhī or Khoṭan Dhammapada.                                  |

10. Patika's Taxila Copper Plate Inscription.

11. Mathura Stone Inscription

12. Kalawan Copper-Plate Inscription, near Taxila.

A D. 2nd Century 13. Vakanapati's Mathura Stone Inscription

14. Gautamīputra Sātakarni's Mother's Nasik Cave Inscription

A D. 3rd ,, 15. Nāgārjuni Koṇḍa Stūpa Inscription, Guntur, Andhra,

16. Niya Documents from Chinese Turkestan.

A D 4th ,, 17. Śivaskandavarman's Hirahadagalli Copper-plate Inscription.

Then come the literary documents in Pāli and Ardhamāgadhī and the Digambara canonical texts in Śaurasenī The dramas of Aśvaghosa fall within this stage The third stage of the second MIA (400 A D—600/700 A D) is represented by the *literary Prakrits* whose characteristic features have been described by the Prakrit grammarians, like Vararuci, Hemacandra, Purusottama, Kramadīśvara Rāmatarka vāgīsa, Mārkaṇḍeya and others These Literary Prakrits have got numerous dialects and sub-dialects of which the Mahārāṣṭrī, Śaurasenī, Māgadhī, Paisācī and Apabhramśa are important for their literary documents Apabhramśa in fact, belongs to the third stage of MIA (600 A.D—1000. A D) which is ended with Avahattha (1000 A-D 1500 A D)

Leaving aside the Inscriptional Prakrits, I am concerned in this dissertation only with the dialects and sub-dialects of Prakrit which have been described by the Prakrit grammarians and rhetoricians,

The Prakrit grammarians are again divided into two Schools—an Eastern and a Western The names of the Prakrit grammarians belonging to these two schools are given below in a tabulated form.

*The Eastern School*

<i>Authors</i>	<i>Works</i>
1. Śākalya .	? Ref in Pu RT. MK.
Māndavya	? Ref. in RT MK
Kohala :	? Ref in MK.
Kapila :	? Ref in RT MK
2. Bharata	? Ref in MK.
	cf NS Ch XVII.
3 Vararuci	Prākṛta-prakāśa
4 Commentators on Vararuci	
(i) Kātyāyana :	Prākṛta-mañjari
(ii) Bhāmaha :	Manoramā-Vṛtti
(iii) Vasantaṛāja .	Prākṛta-Saṅgīyam
(iv) Sadānanda	Subodhinī
(v) Nārāyana	Prākṛta pāda-Tīkā
Vidyāvīnoda	
(vi) Rāmapām vāda	Prākṛta-Tīkā
(vii) Raghunātha	Prākṛtananda
5 Kramadīśvara :	Prākṛtādhyāya
6. Puruṣottama :	Prākṛtānuśāsana
7 Rāma Śarmā .	Prākṛta-Kalpataru
8. Mārkaṇḍeya :	Prākṛta-Sarvasva
9. Jīva Gosvāmī :	Prākṛtapāda
10 Rāvana Lankeśvara	Prākṛta kāma-dhenu.

*The Western School*

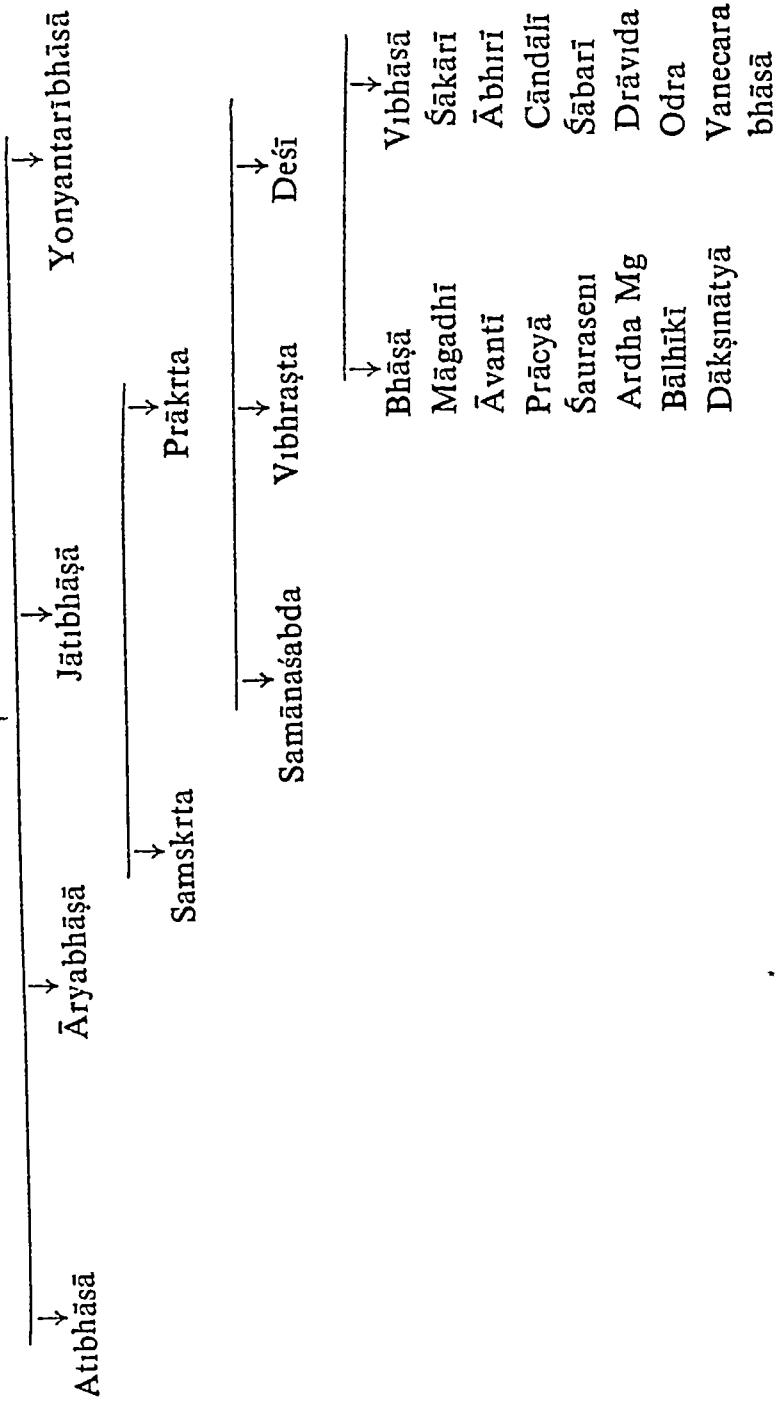
<i>Authors</i>	<i>Works</i>
1. [Vālmīki ?]	[Some Sūtras]
2 Namisādhu	Ref Commentary on Rudrata's Kāvya-lankāra II 2.
3 Hemacandra :	Prākṛtavayākaraṇa
<i>Commentators :</i>	
(i) Udaya Saubhāgya- gani	Vyutpattidīpikā
(ii) Nara (Narendra) :	Prākṛta-prabodha
Candra Sūri :	

## Followers

(iii) Sīmhadevaganī	Ref Commentary on Vāg bhatalankāra II.
4 Trivikrama	Prākṛta-vyākaraṇa Selection from him by
(i) Narasimha	Prākṛta-(Śabda) Pradīpikā
5 Sīmharāja	Prākṛta-rūpāvatāra
6 Lakṣmīdhara	Śadbhāṣā-candrikā
7 Appayyadīkṣita	Prākṛta-manidīpa
8 Bālasarasvatī	Sadbhāṣā-Vivarana
9. Śubhacandra	Śabda-Cintamani
10 Śruta Sāgara	Audārya-Cintamani

These two schools differ quite a lot in their accounts of Prakrit dialects. The Easterners describe a number of dialects and sub-dialects which, are altogether omitted from the consideration of the westerns. As for example, Vararuci (following the edition of Cowell) mentions only the Mahārāṣṭrī, Paśācī, Māgadhī, and Śaurasenī dialects and to these Hemacandra adds Cūlikapaśācī and Apabhraṃśa. Hemacandra also incidentally mentions Ārṣa and Ardhamāgadhī. Trivikrama, Sīmharāja, Lakṣmīdhara, and Appayyadīkṣita follow the classification of Hemacandra, but they have excluded Ārṣa or Ardhamāgadhī from their considerations of the eastern Prakrit grammarians. Bharata is the first one, so far as it is known to us, who mentions several Prakrit dialects in his Nāṭyaśāstra. He divides the Prakrit dialects mainly into bhāṣā, and vibhāṣā, and bhāṣā includes not only Māgadhī, Śaurasenī and Ardha māgadhī, but also Āvantī, Prācyā, Bāhlikī and Dākṣināṭya, and vibhāṣā includes Śākārī, Ābhīrī, Cāṇḍālī, Śābarī, Drāviḍī, Audrī, and the languages of foresters. But he has not given the characteristic features of these dialects. Bharata describes various forms of Prakrit and its dialects and sub-dialects as employed in dramatic performance together with the fundamental classification of languages in the following manner:

Four types of Language



Kramadīśvara also mentions several other sub-dialects, such as, Vrācata, Nāgara, Upanāgara, Srāvantī, etc., besides the four principal Prakrits mentioned by Vararuci. He too has not dealt with the Characteristics of those dialects. It is only when we come down to Purusottama that we find sundry Prakrit languages or dialects as opposed to the above six of Hemacandra. He divides Prakrit into four categories: Bhāṣā, Vibhāṣā, Apabhramśa, and Piśāca. Among the bhāṣās he includes Mahārāstrī, Śaurasenī, Prācyā, Āvantī and Māgadhī. To these Rāma Śarmā and Mārkaṇḍeya, add three more dialects, such as, Bāhlikī, Dākṣiṇātyā, and Ardhamāgadhī, but they have not given any characteristic features of them, because they are the same with the other dialects. Bāhlikī with Āvantī, Ardhamāgadhī with Māgadhī, and Dākṣiṇātyā is called when it is used in a poem 'sweeter in its essence than even nectar intermingled with words from the south, influenced by Sanskrit and other languages' Rāmaśarmā says

*Dākṣiṇātya-pada-sambalītam yat  
Samskr̥tā dibhirabhiḥchuritam ca |  
Svādusaram amṛtāt api Kāvyaṃ  
Dākṣiṇātyām iti tat Kathayanti || (II 2.32)*

Mārkaṇḍeya (XII. 38 Vṛtti) also defines the Dākṣiṇātya as follows :

*Dākṣiṇātyā-padāvalambī Samskr̥tāṅgam Vyṛmbhitam |  
Kāvyaṃ pīṇasaniḥṣyaṇḍī Dākṣiṇātyam itīritam ||*

Under the vibhāṣās he mentions Śākārī, Cāṇḍālī, Śābarī and Ṭakkī. He treats of the three principal Apabhramśas besides several others, such as, Pāñcāla, Vaidarbhī, Lātī, etc., of the many Piśācī dialects he enumerates the three : Kaikeya, Śaurasena and Pāñcāla. It is to be noted that Rāmaśarmā and Mārkaṇḍeya truly follow the classification of Purusottama with the exception that the former two enumerate many more sub-dialects than the latter. A few characteristic features of some of them are mentioned below with their authorities.



1 Māgadhī

The characteristics of Māgadhī as collected from the texts of the eastern grammarians along with Hemacandra are given below

- I ś is substituted for s and s (Vr XI 3, Kr. V. 85, Pu XII 2-3, RT II 2 13, Mk XII. 2 ; Hc. IV 288), e g , *esoh eśe*,
- II The change of *n* to *n* (Śiṃha Vagbha 2 2)
- III ś is substituted for the first letter in the combinations *tt*, *tth*, *ṭt*, *ṭṭh* and *cch* (RT II 2 16, Mk 12 7)
- IV *t* becomes *dha* in the word *vasatī* (Mk 12 6)
- V *kkh* (>*kṣ*) becomes *śka* except in the word *kkhu* (Pu. XII 6-7, RT. II, 2. 15, Mk XII 4-5)
- VI *r* becomes *l* (Kr V 86, Pu XII 4, RT II. 2 14, Mk XII 3, Hc IV 288 and Śiṃha-Vagbha)
- VII *y* is substituted for *j* (Vr XI 4, Kr V 89, RT II 2 14, Hc IV 293) But Puruṣottama says that *j* and *jh* are respectively substituted by *y* and *yh* (Pu XII 5)
- VIII *ccha*, except when initial, becomes *śca* (Pu XIII 11, RT II 2 18, Hc IV 295)
- IX The palatal letters are pronounced with but a very slight contact of the tongue with the roof of the mouth (Vr XI. 5, Kr V. 87, Pu. XII 13-14, RT II 2 18 and Mk. XII 21 (*y* is prefixed to *c* and *j*))
- X *h* is substituted for *dh* The commentary adds "when not initial" and says that *tha* is sometimes changed to *h* (Pu XII 12, Mk XII 9)
- XI Before the suffix *ka* the vowel is optionally lengthened (Pu XII 17, RT II 2 2, Mk XII 22)
- XII *sk* is substituted for *ks* (Vr XI 8, Pu XII 8, Hc IV. 29)
- XIII. *s* and *s* in consonant groups become *s*, except in the word *grīśma* (Hc. IV 289)
- XIV. *ksa*, when not initial, becomes *Jihvāmūliya* plus *k* (Hc IV 296).

- XV *stha* and *ṛtha* become *sta* (Hc IV. 291)
- XVI *ṭṭa* and *ṣṭha* become *sta* (Hc IV. 290)
- XVII *nya*, *ṇya*, *jña* and *ñja* become *ñña* (Hc IV 293)
- XVIII *yy* is substituted for *iy* and *ry* (Vr XI 7)
- XIX Śaurasenī *tt* and *ṭṭ* are changed to *śt* and *ṣt* respectively (Pu XII. 10)
- XX The śaurasenī conjuncts *tth* and *ṭṭh* are changed to *śt(h)* and *ṣt* respectively (Pu XII 9)
- XXI The nominative singular of nouns in a stems ends in *i*, *e*, or *a* (Vr XI 10, Pu XII. 25-26, RT II 2 27, Mk XII 26, Hc. IV. 287, Śimha-Vagbhata. II 2)
- XXII The nominative singular of nouns in *ta* ends in *u*, *i*, *e*, or *a* (Vr XI 11)
- XXIII The nominative plural ends in *āhu* or *ā* (Lassen, p 393)
- XXIV *ha* may optionally be substituted for the ending of the genitive singular, and before it the vowel is lengthened (Vr. XI. 12, Kr V 93, Pu XII 27-28, Mk XII 29, Hc IV 299-300)
- XXV The vocative singular of nouns in *a* ends in *ā* (Vr XI 13, Kr V 92, Pu XII 29-30, Mk XII 27-28)
- XXVI Case-endings are often dropped or interchanged (Pu XII 26, Mk XII 35)
- XXVII. *hake*, *hage* and *ahake* are substituted for *aham* (Vr XI 9, Kr V 96, Pu XII 31, RT II 2 12, 28, Mk XII 30, Hc IV 301, Śimha-Vagbha. II 2)
- XXVIII The nominative plural of the second personal pronoun is *tupphe* or *tumhe* (RT II 2. 28)
- XXIX *tumham* or *tumhe* are used for *yusmān* (Pu XII 32, Mk XII 31)
- XXX *bhaviadī* or *bhuvīadī* are used for *bhaviṣyati* (Pu XII 35, Mk XII 33)
- XXXI *ścinṭa* is used for *cittṭha* (Mk XII 32), and *ycinṭa* by RT (II 2 28).
- XXXII *cisṭha* is substituted for *cittṭha* (Vr XI 14, Kr. V 94, Pu XII 33, Hc IV 298, Śimha-Vagbha. II 2)

- XXXIII. The root *krt* is changed into *kappa* (Pu XII 36, RT II 2 30)
- XXXIV *da* is substituted for *ta* in the past passive participles of *kr*, *mṛ* and *gam* (Vr XI 15, Kr V 92, Pu XII 37-38, Mk XII 34-35)
- XXXV *dāni* is substituted for the gerund ending in *tvā* (Vr. XI 16, Kr V 91, Pu XII 15-16, RT II 2 20, Mk. XII 23)
- XXXVI The personal endings of verbs sometimes have the final vowel lengthened The commentary gives *ośaladhā* as an example (Mk XII 37)
- XXXVII *vaññadi* is substituted for *vrajati* (Hc IV 294)
- XXXVIII *u* takes the place of *ava* and *apa* (Pu XII 18, RT. II 2 22, Mk XII 25)
- XXXXI *kva cid it* The commentary says *ktvāsthāne syāt* and quotes from the sixth act of the Śakuntalā *paśumālī kaledi* These seems to be some confusion here (Mk XII 24),
- XL *ladana* is used for *ratna* (RT II 2 23, Mk XII 20)
- XLI *hadakka* is substituted for *hrdaya* (Vr XI 6, Kr V 89 Mk XII 14), and also *hīdakka* (RT II 2 22)
- XLII. *śiāla*, *śiāle* or *śiālake* are substitutes for *śṛgāla* (Vr XI 17, Mk XII 12)
- XLIII *vaśca* is used for *vṛksa* (Pu XII 34, Mk XII 19)
- XLIV *pivvava* is used for *piśācaka* (Mk XII 18), also *piśallaa* (RT II 2 23)
- XLV *gannā* is used for *gananā* (Mk XII 17), and also *likkhā* (RT II 2 23)
- XLVI *vaṭau va (du)vvaah* (RT II 2 23, Mk XII 16)
- XLVII *macchikā* is used for *mātr* (Mk XII 15)
- XLVIII *kośna* etc are use for *kosna* and other compounds of *usna* (RT II 2 24, Mk XII 13)
- XLIX. *vaamśā* is used for *vayasya* (RT II 2.23, Mk XII. 11)
- L. *gomika* is used for *gauravita* (RT II 2 24, Mk XII 10)
- LI *bu* of *bubhuksā* is dropped (RT II 2 23, Mk XII 8).
- LII *lele* and *ale* are used to indicate *āksepa* (reproach) and *sambhāsana* (address) (Pu XI, 24, RT II 2 28)

- LIII *hi* is used to indicate *vismaya* (surprise), *upahāsa* (ridicule) and *kuśala* (happiness) (Pu. XII 23)
- LIV The words *kosana* etc become *kośina* etc. (Pu. XII. 22)
- LV *purusa* becomes *puliśa* (Pu XII. 21, RT II 2 22).
- LVI The word *vasatī* becomes *vasadhī* (Pu. XII 20).
- LVII *ahunī* is used in the sense of *adhunā* (Pu. XII 1<sup>c</sup>; RT II 2 13).
- LVIII. The word *tattha* (<*tatīa*) becomes *taśca* (RT. II 2.16)

## 2 Śākārī

The Vibhāṣā known as Śākārī is a particular variety of Māgadhī. But when there is no special rule for this it is to be considered as Māgadhī (Pu. XIII 1, RT. II. 3 2; Mk XIII 1) The Śākārī is the language of Śākāra who is described by Mārkaṇḍeya thus :

*rājño' nūdhō bhrātā śyālastvaiśvarya-sampannah/  
mada-mūrkhata' bhumānī śakāra itī duskulīnah syāt||*

(Comm. under XII.1).

“Possessed of pride, folly and vanity one of low family, raised (by the connexion) to power, the brother of the unmarried (concubine), and (in so far) the brother-in-law of a king, is called Śākāra” (JRAS, 1918, p 499). The dialect of Śākāra (known as Śākārī) is devoid of good sense, disorderly, contradictory, full of repetitions and false similes, and opposed to propriety and good conduct (Pu XIII 13, RT II. 3 9). It is described thus “containing words with wrong meanings or with no meanings, tautological, with mangled similes or with similes that are no similes at all, contradictory ocular evidence, convention etc, and in other respects unidiomatic is the speech of the Śākāra” (JRAS, 1918, p 503) The following characteristics are noted here

- I The vowel before a conjunct consonant is optionally regarded as long for metre's sake (Pu XIII 12, RT. II 3 8; Mk. XIII 9)

- II. Sometimes there are elision, augmentation and substitution of letters (Pu XIII 9, RT II 3.2, 5-6, Mk XIII 6)
  - III. In the Śākārī dialect *y* is to be prefixed to the letters of ca-varga (Pu. XIII 14)
  - IV The pleonastic suffix *k* is often added to a word (Pu XIII 7, RT. II. 3 5, Mk III 5) e.g. eśake dāsikāe puttake
  - V. The conjunct *tth* is not changed, it may remain as it is (Pu XIII 4; RT II 3 4, Mk XII 4) e.g. ycinthāmi atthānagade kkhu hakke.
  - VI. The conjunct *kkha* is not changed (Mk. XIII. 4). But in Māgadhi *sth* > *śk* (Mk XII 7 4)
  - VII *kṣ* is optionally substituted by *kkh* in the words like *duṣpreksa* and *sadṛksā* (Pu XIII 2) But Rāmaśarmā says that *śc* is optionally substituted for *kṣ* in the words *duṣpekṣa* and *sadṛkṣa* (RT II 3 2) e.g. duppeśca ycāṇḍāla-śaliśca ycinta. On the other hand the regular form will be *śaliccha*, *duppeccha* (Mk XIII 2)
  - VIII *ṣṭa* is used in place of *ṣṭa* in the word *viṣṭara*. (Pu. XIII 3)
  - IX *śiāla* is used for *śyāla* (Pu XIII 5, RT. III. 3 5)
  - X *hutaka* is optionally used for *hṛdaay* (Pu XIII. 6). But *hadakka* is optionally used for the same according to Rāmaśarmā (RT II. 3 5)
  - XI. Sometimes *yatra* becomes *yanṭha* and *tatra* becomes *tanṭha* (RT. II 3 4) e.g. vaam śilam miśśaśi tantha dāva.
  - XII. *iva* is optionally substituted by *vva* (Pu. XIII 7) and also by *va* (RT. II 3 5)
  - VIII Sometimes the declensional terminations (like *su* etc.) are elided (Pu XIII II, RT II 3 7, MK. XIII 8, cf Mg XII. 36)
  - XIV Often there is also confusion of the vowels of declensional and conjugational terminations (Pu XIII. 10, RT II 3.7, MK XIII 7)
- (a) Confusion of declensional terminations —
- Mk XIII 7 for e.g. *tumam* etc (Acc for locative)  
*hakke* etc (Inst for Acc. or Loc.)

- (b) Confusion of conjugational terminations —  
 Mk XIII 7 for e g *se* etc. (3/pl for 3/sg )  
*tum* etc (1/sg for 2/sg ).  
*hakka* etc (2/sg for 1/sg.)
- (c) Confusion of gender.  
*sarve* etc Masc pl for fem. pl.  
*ku* Neut sg for fem pl
- (d) Pulling apart of vowels (i.e. diphthongs are separated into their component) —  
*śailinī* Mg *śelinī*, Skt *svairinī*  
*miando* Skt *mrgendrah*  
*aschauhinī* Skt *aksauhini*
- XV The nominative plural termination of a feminine pronoun is optionally *e* (RT II 3.7)
- XVI The Māgadhi *ścintadi* (Skt *tiṣṭhati*) should be *ciśadi* in Śākārī (Mk XIII 3).

### 3. Cāṇḍālī

Cāṇḍālī is a corrupt form of the Māgadhi dialect (Pu XIV I) Truly speaking Cāṇḍālī, a variety of Vibhāsā, is based on an admixture of Śaurasenī and Māgadhi (RT II. 3 10, Mk XIV.1) In Cāṇḍālī sub-dialect many rustic or vulgar expressions are used (Pu XIV 9, RT II 3.13, Mk XIV.9). The following are the characteristics of Cāṇḍālī

- I The intervocalic *t* is elided like Mahārāṣṭrī, bearing its vowels behind (RT. II 3 15)
- II. *va* is sometimes elided (Pu XIV 6)
- III The conjunct *ṭṭā* is not changed, it remains in its original form (Pu XIV 5)
- IV. The conjunct *ṭṭha* is not changed, e g *rama haṭṭha-tutttha* (RT. II 3 12; Mk XIV 7)
- V. Nominative singular (*su*) of a-bases is substituted by *o* and *e* (Pu XIV. 2, Mk XIV. 3) According to Rāmaśarmā it should be in *u* (RT II 3.12) e g. *peśka utthie ycandu mahaṅganammi*
- VI The termination of the nominative and accusative plural of feminine nouns is *e* , (RT II 3 11, Mk XIV 2) e g *ye utthike tatthayeṣam vasanti majjham*

- pi tānam harinā lamantīm le lāhike peśka kudan-  
gaammī*
- VII Genitive singular (*nas*) is substituted by *śśa* (Pu. XIV 3, RT II 3.12, Mk XIV 5) e g. *puliśaśśa atthe*.
- VIII Locative singular (*ni*) is substituted by *mmī* (Pu XIV 4, RT. II 3 13) e g *peśka gharammī kanham*. Sometimes it ends in *e*, (Mk XIV 6) e g *peśka vane vi edam*
- IX The termination of Vocative is *o* and *ā*, but they are used in two different senses
- (a) When used respectfully it always ends in *o* (Mk XIV 2) e g *bhaṣṭako tum mahāālaveśī*
- (b) But when it is not used respectfully, it ends in *ā*, (RT II 3 14) e g *kaha ettha ycedā āneśi me ayyja vi na kkhu vedham*
- X The nominative plural of pronouns, irrespective of Masculine and feminine, ends in *e* (Mk. XIV 4)
- XI Some pronominals substitutions (RT II 3 15) e g.  
*tvadīya>tuhakelia*,  
*madīya>mahakelia*,  
*ātmiya>appānaakelia*
- XII. The gerundial suffix *ktivā* is substituted by *ia*, (Pu, XIV 8, Mk, XIV 8)
- XIII *va* is optionally used in place of *iva* (Pu. XIV 7, RT II 3 13)
- XIV. The interjection *arū* is used in place of *are* (RT. II 3 15)

#### 4. Śābarī

The Śābarī vibhāsā is another variety of Māgadhī (Pu, XV 1, RT II. 3 16) But Mārkaṇḍeya (Mk XV 1-2) derives it from Gāṇḍālī as well as from Śaurasenī and Māgadhī (cf NŚ XVII 53-64) It is said that this dialect is spoken by the charcoal-burners, by hunters and by those who make their livelihood by boats and by woodcutting (RT II 3 16) In this dialect the want of agreement between the former and the later sentences is noticed The peculiarities of this dialect are to be gathered from the usages of the poets (RT II 3 21 cf Mk XV 8) Deśī vocables

are often used in Śābarī (Pu XV 8, RT. II 3 20) The characteristics of Śābarī are noted below

- I In Śābarī *c* (or *ɪ*) remains unchanged (Pu. XV.2).
- II *kḥ* (<Skt *ks*) is changed to *śc* (and not to *śk* like, māgadhi). (Pu XV 3, RT II 3 17) e g *śāmī maham peś-cadi angam angam* But in other Māgdhī words this change does not take place (RT II 3 17) e.g. maha daśkine śe
- III The nominative singular (*su*) of a-bases, whether Masculine or Neuter, ends in *e* or *ɪ* and also in *o* optionally (Pu XV 6, MK XV 3)
- IV The nominative singular termination *su* is optionally elided (Pu XV 6, RT II 3 20)
- V The genitive suffix is *keaka* as well as *kelaka* (MK XV 7) e g. *amha-keakam*, (or, *amha-kelakam*) dhanam
- VI *hum* (also *ɪ*, MK XV 6) may optionally to be used in the locative singular (RT II 3 18), e g
- VII In order to indicate disrespect the particle *kā* (or *ā*) is used in the vocative (Pu XV 7) But Rāmaśarmā (II 3 20) recognises only *ā* and Mārkaṇḍeya (XV 4) admits only *le* in the vocative and in the same sense
- VIII In Śābarī *aham* is replaced by *hake* (Pu.XV 4, Mk XV 5) and *ham* (Pu XV 4) and *hagā* (RT II.3 17) and also by *aham* (RT II 3 17)
- IX. The word for come *ehu*, *eeh* and *eha* (RT.II.3 21.)

### 5 Takkī

The Takkī vibhāsā is the language of Ṭakka deśa It is based on an admixture of Sanskrit and Śaurasenī (Pu XVI 1, RT II 3 28, Mk XVI 1) Ṭakkī is spoken by gamblers (gamesters), merchants and other knaves It is thus said—

*prayujyate nāṭakāḍau dyūtādi-vyāvahāribhiḥ |*  
*vanigbhir hīnadehaśca tad āhus Takka-bhāṣitam ||*

i e “The speech of Takka is that which is employed in plays and the like by professional gamblers and by merchants of lowly position”, (JRAS, 1918, p 510) It is to be noted that Ṭakkī



infected by Drāvida has no special characteristics (RT II.3 27). It is said

*Takkadeśīya-bhāsāyām dṛśyate Drāvidī tathā |  
tatra cāyam viśeso'sti Drāvidair ādī tāparam ||*

i.e. Drāvidī is found in the language of the Takka country. Its peculiarity as a language is this it is honoured by Drāvidas. The grammarian Hariścandra intends to say that this Takka-dialect is an Apabhramśa, because Apabhramśa is used by the poets (lit. skilled) in dramatic compositions (Mk XVI 2). It is, therefore, not an ordinary Prakrit says Puruṣottam (Pu XVI 10). These are the characteristics of Takkī

- I The suffix *u* is profusedly used in Takkī (Pu XVI 2), but not always (Mk HVI.3)
- II The instrumental singular termination of a-base is *em* optionally (Pu XVI.3) but Mārkaṇḍeya (XVI 4) admits only *e*
- III The (dative)—ablative and genitive plural termination is *ham* and *hum* (Pu XVI 4-5, Mk XVI 5-6)
- IV. Even the pronominal terminations of ablative and genitive plural are also *ham* and *hum* optionally. In this case the penultimate is lengthened (Pu. XVI 6, Mk XVI 7) e.g. kham (kesam), jaham (yesam), taham (tesam), edham (eteṣām), imāham (eṣām)
- V The following pronominal substitutes are found tvam > tuhum (Pu XVI 7 and Mk XVI 8 reads tunga) aham > hamam and hamum (Pu XVI 7, hammi, hum (Mk XVI 9) mama > mahum (Mk XVI.10)
- VI. The substitute of—  
yathā > jidha (Pu XVI 8) and jahā (Mk XVI 11-12)  
tathā > tidha (Pu XVI 8) and tahā (Mk XVI. 11-12)
- VII. The rest depends on usage (Pu XVI 9, Mk XVI 13)

## 6 Audhī

Audhī is the same as Śābarī. It becomes Audhī only when

some local words of the Odhira country are added to it. (Mk. XV 9),

## 7 Ābhīrī

Ābhīrī is the same as Śābarī. The only distinction is that the gerundive ends in *ia* or *ua* (Mk. XV 10) e.g. Skt. *gatvā* > *gaś-cia*, or *gadua*, Skt., *pathitvā* < *paḍhia*, or *padhua*

## 8 Prācyā

The *pracya*, a variety of *bhāsā*, is derived from Śauraseni for its basis (Pu X 1 & 14, RT II 2 2 1, Mk X 1). In this dialect proverbs, contradictory sentences and vulgar expressions are profusely used (Pu X 13, RT II 2 3). Markandeya (X 1) quotes a couplet.

*pūrvāparahatam kvāpi kvacicchekotisundaram |*  
*grāmyābhyām upamoktibhyām yuktam vakti vidūṣakah ||*

According to the canons of dramaturgy, the *Prācyā* dialect is to be spoken by the *Vidūṣaka* (jester) of the play. Markandeya quotes from *Bharata-prācyā vidūṣakādīnām* (NS 17 51) (RT II 2 4, Mk X 1). The characteristics of *Prācyā* are noted below

- I The nominative singular of the word *bhavat* is *bhavam* (Pu X 2, RT II 2 1, Mk X.4 comm)
- II The feminine of *bhavat* is *bhodī* (Pu X 3, RT II 2 1, Mk X 4)
- III The vocative of a-bases, in addressing a person of lower rank, ends in *ā* (Pu X 5, RT II 2 2, Mk X.8)
- IV The neuter pronoun *idam* becomes *inam* (Pu X 6, RT. II 2 4)
- V The changes in the following words are noticed in *Prācyā*: Skt. *mūrkha* > *murakkha* (RT II 2 2), *murukha* (Mk X 3), *duhitā* > *dhidā* (Pu X 4, RT II 2 2)
- VI The Future participial form of the root *bhū* is *hattamāno* (Pu X 9, RT II 2 2) and *otthamāno* (Pu X 9, RT II 2 2) and *okkhamāno* (Mk X 2).

- VII The following is used in the sense noted below
- (a) *luhibho* (in the sense of satisfaction) Mk X 9
  - (b) *hīmānahe* (in the sense of surprise) Mk X 11.
  - (c) *avida avida* (as an expression of sorrow) Pu X 12, Mk X.12
  - (d) (v) *bankuda* (Pu X 7) in the sense of crooked, *vaknu* (Mk X 5), *vankubha* (Mk X 6) also *vahana* ? (Mk X 7)
  - (e) *avahada* (in the sense of upakṛta, favoured) Pu X.8
- VIII *eva* is substituted by *ppeva*, *cīa* and *cea* (Pu X 10) and *jjea*, *jja* (Mk X 10)
- IX *āre* is used in the vocative and *upekṣā* (deplore) (Pu X 11)
- X The peculiarities of this dialect should generally be gathered from the usage of the people (Pu.X 13, RT II 2.3,

### 9. Āvantī

Puruṣottama derives Āvantī from an admixture of Mahārāṣṭri and Śaurasenī (Pu XI 1) But according to Rāmaśarma (II 2.5) the Avantī and the Bāhlikī dialects are practically the same. The only difference is that they are used by different characters in a drama. Basically the forms of Bāhlikī are derived from an admixture of Śaurasenī and Prācyā (II 2 5) But Mārkaṇḍeya (XI 1) follows the view of Puruṣottama when he says—“*Āvantī syān Mahārāṣṭrī-Sauraseniyostu sankarāt*” In this commentary he adds that the countries Malavā, Ujjayinī etc, constitute the Avantideśa, and says—“*īd bhavā Āvantī-Dāndikādi-bhāsā*” He quotes a verse from Bharata which is not found in the Nāṭyśāstra

*Dāndika-pāṃka-pāṇṭika-nagarādhīpa-dāndapāṇika sadṛksesu |  
madhyama-pātresu sadā yojoyāvantī tu nāṭyavidhau ||*

As for example “*esa kirādo maam anusaranto vedasalaā-gaṇaṇam paṭtho atro hirādo vedasa itī Śaurasenī anyānī padānī Mahārāṣṭrī*” According to the Canons of dramaturgy the Avantī is spoken by characters of medium rank, a town mayor,

a door-keeper and a knove, and also by constables and merchants (RT.II 2 10) The characteristics of Avantī are noted below

- I The intervocal *t* and *d* are optionally elided leaving behind their accompanying vowel (Pu XI 3, RT.II 2 6)
- II The word *sadrksa* is replaced by *sariccha* (RT II 26, Mk XI 2)
- III The pronominal substitute for *tava* is *tuha* (text *tuddhu*, Pu XI 10) and *mama* is *muha* (Pu. XI 10)
- IV In Āvantī the active voice (parasmaipada) and middle voice (ātmanepada) are used side by side.  
 bean>bhannaī, bhannae (Mk XI. 11)  
 vrdh>vaddhai, vaddhae (Mk XI 11)
- V Puruṣottama says that in the present and future tenses and in the imperative mood *jja* and *jjā* are used for conjugational suffixes (Pu XI. 4, RT II 26, Mk XI 4) e g bhojja, bhojjā
- VI. The suffixes *jja* and *jjā* are also used between the verb and the conjugational suffix (Pu. XI 5, RT. II. 2 6, Mk XI 5) e g dejjau, dejjāu
- VII The following verbal substitutes are found —
  - (a) Active *bhū>ho*, (Pu XI. 8, RT II. 2 7, Mk XI 6) and *hoi* (Pu XI 8)  
*drś>pekkha* (RT II 27) *peccha* (Mk XI.7).  
*drś* (causal)>*darisa* (RT II 2 7;  
 Mk XI 8) also *darasa* (according to some, Mk XI 8 comm )
  - (b) Passive *śru>suva* (Pu XI 6, RT. II 2 8, Mk XI 9)  
*ji>jippa* RT. II. 2 8)  
*bhan>bhanna* (RT II. 2 8).  
*gam>gamma* (RT II 2 8, Mk XI 9)  
*kr>kijja* (RT II 28)  
*jñā>munijja* (RT II 28).  
*lih>lijja* (Mk. XI 9)  
*dru>duvva* (Mk XI 9)  
*darbh>dubbha* (Mk XI 9)
- VIII. The following verbal substitutes are found in the Future

śru > soccham (Pu XI 7, RT II 29, Mk XI 10)  
 bru > voccham (Mk. XI 10)  
 ruc > roccham (Mk XI 10)

IX. In Avantī the suffix *tvā* is *tūna* (RT. II. 27; Mk XI 3) e.g. *lankam gantūna sīa diṭṭhā*

X. The word *ccea* and *ccia* are used in the sense of *iva*. (RT II. 26, M7 XI 12)

## 10 Bāhlikī

Mārkaṇḍeya says Bāhlikī is the same with that of Avantī, the only difference is—*ra* becomes *la* in it (Mk XI 13) e.g. *salasī-luhaso-laha-nibbhalo māludo vahaī*. It is the language of dhūrta and others

## 11 Nāgaraka Apabhramśā

Purusottam recognises three clear dialects of Apabhramśa, e.g. Nāgaraka, Vrācadaka and Upanāgaraka, besides less remarkable local variants Rāmaśarmā and Mārkaṇḍeya also follow him, but mention some other varieties without giving their characteristics. These are—Vrācada, Lāta, Vaidarbha, Upanāgara, Nāgara, Vārvara, Āvantya, Pāñcāla, Ṭakka, Mālava, Kaikeya, Gauda. Auḍra, Daiva, Pāścātya, Pāndya, Kauntala, Sīmhala, Kālinga, Prācyā, Kārnāta, Kāñca, Draviḍa, Gaurjara, Ābhīra, Madhyadeśīya and Vaidāla (=27 in all). Kramadīśvara's Śrāvantī (or Śrāvastī) is not mentioned by any of them. He has given also twelve varieties of Apabhramśa which will be found in the classification of Rāmaśarmā and Mārkaṇḍeya. Of these Nāgara is regarded as the main dialect. The chief characteristics of Nāgara are given below

I The following consonantal changes are noticed

k > g, nāka > nāgu,  
 kh > gh, sukha > sughu,  
 t > d, patita > padida,  
 th > dh; śoṭha > sodha.

(Pu XVII. 3, 13; RT. III 12, Mk XXV<sup>II</sup> 2)

- II  $\text{ṣk}$  and  $\text{sk} > \text{kk}$ ,  $\text{puṣkara} > \text{pukkara}$ ,  
 $\text{maskara} > \text{makkara}$   
 (RT III 1 3).
- III The suffixes *dā*, *dī*, *ulla*, *ullī* and *ā* are added to the noun and adjective stem As, *hiadā*, *goladī* etc (Pu XVII 16-19, RT. III 1-6-7, Mk XVII. 5-8)
- VI In all genders the declensional termination is elided, and the termination of the base is optionally lengthened As, *aggi*, *aggi*, *vanadam*, *vanādām* (Pu XVII 41, RT III 1 8-9, Mk XVII. 10)
- V The nominative singular may be in *o*, as, *narao*, *narao* (Pu XVII 41)
- VI *u* is added to *a* and *ā* bases. as *kanhu*, *kīlantu*, *mālāu*. (Pu XVII. 42, RT. III. 1.11, Mk XVII 15-16)
- VII. In all genders Instrumental singular termination is *e*, as, *vanāe vahue*, *panālie*, but in *i* and *u* base it is *ena*.
- VIII The ablative singular termination is *he* and *ho*, as, *gharahe*, *gharaho* (Pu XVII 43, III 1.12, Mk XVII 18-19).
- IX The following substitutes are noticed:  
 $\text{stokam} > \text{thodam}$ ,  
 $\text{bhadram} > \text{bhallam}$ ,  
 $\text{tvadiyam} > \text{teram}$ ,  $\text{toharam}$ ,  
 $\text{madiyam} > \text{meram}$ ,  $\text{moharam}$ ,  
 $\text{kīdṛṣi} > \text{kehi}$   
 (Pu XVII. 30, RT III 1 5)
- X Some pronominal substitute  
 $\text{yat} > \text{jadru (m)}$ ,  
 $\text{tat} > \text{tadru (m)}$   
 $\text{idam} > \text{imu}$ ,  
 $\text{etad} > \text{eha, e}$ ,  
 (Pu XVII 56-57, RT III 1 20-21; Mk XVII 34-38)
- XI *yusmad* is declined as follows:

	Singular	Plural.
Nom	tuham	tumbhaim
Acc.	pāim	tumbhaim
Inst.	paim	tumbahim

Abl	tumha, tumhe tuha, tumbha.
Gen	tumha, tumhe, tuha, tumbha

Loc paim

(Pu XVII 63 64, RT III 1 23, Mk. XVII 41-46)

XII. *asmad* is declined like the following.

	<i>Singular.</i>	<i>Plural</i>
Nom	humu	amhaim
Acc.	maim	amhaim
Inst.	maim	amhahim, amhehim, amhe
Abl	maha, majjha majjhu	amha
Gen	maha, majjha, majjhu, amha	no
Loc.	maim	ahmāsu, ahmasu (should be amhāsu, amhasu)

(Pu. XVII. 65-67, RT. III 1 23, Mk. XVII 48-55).

XIII The terminations of the third person singular and of the first person plural are *di* and *hum* respectively  
As, so *hasedi*, *hasahum amhaim*

(Pu XVII 70-71, RT III. 1 26, Mk XVII 57-58)

XIV The suffix of the future is *ihu* and *isu*, as, *bālau edu hasihu*, *ehu hasisai kanha*

(Pu XVIII 73-75, RT III 1 28, Mk XVII 59-61)

XV The following dhātuvādesas are found in Nāgaraka Apabhramśa -

<i>sthā</i> > <i>thakka</i> , <i>thā</i> ,	<i>sthāpaya</i> > <i>thāva</i> , <i>thāvva</i> ,
<i>pra-viś</i> > <i>paisara</i> ,	<i>ā-śliṣ</i> > <i>ārunḍa</i> (= <i>ārunṇa</i> ?),
<i>tim</i> > <i>timma</i> ,	<i>ḍṛś</i> > <i>dekkha</i> , <i>passa</i> ,
<i>vad</i> > <i>volla</i> ;	<i>darśaya</i> > <i>dākkha</i> , <i>darasa</i> ,
<i>vraj</i> > <i>vañca</i> ,	<i>muc</i> > <i>mukkhā</i> , <i>mua</i> , <i>mulla</i> ,
<i>grah</i> > <i>gunha</i> ,	<i>kr</i> \ <i>kada</i> ,
<i>ānaya</i> > <i>āpāva</i> ;	<i>ā-cakṣ</i> > <i>akkha</i>

XVI The following Apabhramśa words occur in the meanings described thereon —

tvām=tomme,	adhunā=muchī,
tesām=tāṇna,	amībhīh=ehim,
dvi=dui,	tri=tinnī>mod Beng tin
catur=cārī>mod. Beng. car.	

## 12 *Vrācadaka Apabhramśa*

The basis of *Vrācada Apabhramśa*, which is current in the Sindhu country, is recorded as being nothing but *Nāgara*. The following are its chief characteristics

- I ṣ, s>ś
- II The c-varga is pronounced as clear palatals, (spaṣṭa-talavsah), *t* and *dh* are pronounced as slurred (aspaṣṭa)  
(Pu XVIII. 2-4, RT III. 2 2-3, Mk XVIII. 2-4)
- III. *t* and *d*> ṭ and ḍ respectively.
- IV. Some substitutes.  
eva>je, jji,                      śaiva>sojji,  
bhū>bho;                      ohaḍgaḥ>khaṇḍu,  
brū>bro;                      vrṣ>varha,  
vraj>vañja

## 3. *Upanāgaraka-Apabhramśa*

Puruṣottama says that *Upanāgara* is an admixture of *Nāgaraka* and *Vrācada*, and it has several other local speeches, such as, *Vaidarbhī*, *Lātī*, *Auḍrī*, *Kaikeyī*, *Gaudī* and the speeches of the countries such as *Ṭakka*, *Varvara*, *Kuntala*, *Pāṇḍya*, *Simhala* etc. The characteristics of these dialects as found in *Puruṣottama* (XVIII 16-23) and *Rāmasarmā* (III 2.5-13) have been summed up by *Mārkaṇḍeya* in his commentary on XVIII.12. There are the following

- I. tu-bahulā *Mālavī*
- II vāḍī-bahulā *Pāncalī*
- III ulla-prāyā *Vaidarbhī*
- IV. sambodhanāddyā *Lātī*
- V ikāro'kāra-bahulā *Audhrī*
- VI savīpsā *Kaikeyī*
- VII. samāsādhyā *Gaudī*



- VIII da-kārabahulā *Kauntalī*  
 IX. ekārini ca *Pāndyā*.  
 X yuktādhyā *Saimhalī*.  
 XI. himyuktā *Kālingī*.  
 XII. *Prācyā* tad-desīya-bhāsādhyā  
 XIII. bhattyādi-bahulā *Ābhīrī*.  
 XIV varna-viparyayāt *Kārnātī*  
 XV *Madhyadeśīya* tad-deśiyādhyā.  
 XVI samskr̥tādhyā ca *Gaurjarī*  
 XVII. ca-kārāt pūrvo'kta-*Takka*-bhāṣāgrahanam  
 XVIII ra-la-ha-bhyām vyatyayena *Pāścātyā*  
 XIX repha-vyatyayena *Drāvidī*  
 XX dha-kāra-bahulā *Varāṅhalī*.  
 XXI e-o bahulā *Kāñcī*.

#### 14. *Kaīkeya Paisācī*

The easterners describe the Paisācī dialect much more fully than the westerners Grierson (The Prakrit Dhātuvādesas, p 84) says that "when we come to Paisācī we find two very different dialects described. Vararuci, Rāmsarmā and Mārkaṇḍeya all agree in their accounts of a language which they call 'Paisācī' or 'Paisācika', and which is not the same as the language described under that name by Trivikrama, Hemacandra, Lakṣmīdhara and Sīmarāja" They have mentioned numerous Paisācī dialects, such as, Kaīkeya, Śaurasena, Pāñcālā, Kāñca, Gauḍa, Dākṣiṇātya, Drāvida, Pāṇḍya, Māgadha, Vrācada and Śābara, but they did not mention Cūlikā-paisācī Of these the Kaīkeya-paisācī is the basis of all other varieties, excluding Cūlikā-paisācī The chief characteristics of Kaīkeya-paisācī, corrupt form of Śaurasenī mixed with Sanskrit, are given below.

- I ś and ṣ > s  
 II cerebral n > dental n,  
 (Vr X 5-8, Pu, XIX 8, 12, RT. III 3.3, Mk. XIX 3-7)  
 III Generally intervocative—  
 g > k, and similarly, gh > kh,  
 j > c, „ „ jh > ch,  
 ḍ > t, „ „ ḍh > th,

e>t, ,, ,, dh>th,  
b>p, ,, ,, bh>ph

IV Conjuncts are treated like the following :

ny, jñ, ny>ñ ñ,

ry>ria

(Vr X 11-12, Pu XIX 21-22, Mk XIX 6-12)

V r>l (RT III 3 7)

VI Some words are substituted like the following :

grham>kiham, iva>piva,

prthivī>pr̥thumī, hrdayam>hitapakam,

parthamam>pr̥thumam, vismayah>piśumao;

kvacit>kupaci, suksma>sukhama,

kāryam>kaccam, pakṣma>pakhamam;

rājan>rāci, kṛta>kada:

mṛta>maḍa, gada gada (analogically).

(RT.III 3 4-8)

### 15 Śaurasena Paiśācī

The Śaurasena-paiśācī is based on Kaikeyapaiśācī Its chief characteristics, as given by Purusottama, are given below

I r>l (Pu XX 2),

II s and ś>s (Pu XX 3 )

III The pronunciation of ca-varga is clear palatal (cu-vyakta-tālavya, Pu XX.4)

IV ks>śk (Pu XX 5)

V cch>śc (Pu XX 6)

VI tth>śt (Pu XX 7)

VI. st, śt, remain unchanged (Pu XX 8-9).

VIII piba>pia (Pv XX 10) kada, maḍa and gada are also used in this dialect (Pu XX 11)

IX adhunā>ohunā (Pu XX 12)

X Declensional engine :—(Pu.XX.14-16)

ah>o, a, am>am, o. a

### 16 Pāñcāla Paiśācī

The Pāñcāla-paiśācī is strictly based on the Kaikeya and Śaura-

sena-paiśācī It does not vary very much from these to standard of speeches of Paiśācī He mentions only one characteristics of Pāñcāla 1>r(P.XX 19, RT III 3 11, Mk XX 14) Rāmaśarmā (III 3 11) says that in Gauda Paiśācika either r or l may be used for r or for l According to Rāmaśarmā (III 3 13-17) Paiśācī can mainly be divided into two groups suddha and asuddha

Lastly it may be added that in the works of Kramadīśvara, Puruṣottoma, Rāmaśarmā and Mārkaṇḍeya, we find some interesting modern Bengali forms These forms though can be derived directly from Prakrit, are still important, because the eastern grammarians recorded them a few centuries ago Some forms are directly mentioned by them, and some can be obtained with easy phonetic equations As these forms will be interesting, I have noted them below. [As all the forms are mentioned by them, I have avoided references, except in some particular cases which are not mentioned by all]

āthī<atthī (seed) (RT.I.3 9)

kāna<kanha<krsna

kāndha<khandho<Skt. skandha (shoulder)

kāhana>kāhāvano<Skt kārsāpana (an aggregate of eighty articles)

keha<Skt kidrśa (RT III 1 7)

khām<khambho<Skt stamba (post)

khādā<khandu<khadga (RT III 2 3).

gūi<gomīa<Skt gomika (RT II 2.24) which probably goes back to *gaumalkā*, an officer in charge of a *gulma*, a small part of an army

ghol (buttermilk)<gholla<Skt ghūrṇa

gholā (turbid)<gholla<ghūrṇa

cār<cāri<catur (RT III 1 31)

cikhīla<cikhīla Kramadīśvara's sūtra *cikhīla picchile* Compare Caryāpada 5/2 cikhīla

chādan<chandānīa (>chādani) <Skt sandānita (fettters) (RT III 1 3)

jokār<jaakkāra, jokkāra<jayakāra

tīn<tīnṇī<tri (RT III 1 31)

nāc(h)<racchā lacchā<Skt rathyā lakṣmī Beng lāch, nāch. cf nāc(h)-duār (front door) RT I.3 5)

- pālam < pallanka < Skt paryanka (cushioned bed)  
 pīrthimī < prthumī (> pīrthumī) < pr̥thivī Beng dialectal  
 pīrthimī (RT III 3 4)  
 bej (a surname) < vejjo > Skt. Viadya  
 be (y)ādā viaddha < Skt vitardī (obstinate) (RT I 3 10)  
 maḍā < madaa < mrtaka. RT II 2 29)  
 māchī < macchīā < Skt mrkṣikā  
 mājā-ghasā (cleaning and subbing) < cf Skt mrj > (maj) and  
 ghrs > (ghas)  
 mīchā < micchā < Skt mithyā  
 meye (daughter) < maiā < mātr (a mother) RT II 2 24)  
 'women', then daughter.  
 vilā (in the sense of creeper) < vallī, vellī, vellā < Skt vallī  
 sej < sejjā < Skt śayyā  
 Old Beng. sanā (hint) < sannā.  
 hārāy (loses) < hārāvedī < Skt hārayatī

## APPENDIX

### *Alphabetical list of Prakrit Languages*

[This index is prepared to facilitate the study of Prakrit dialects. The references are in two columns which stand for the two schools of Prakrit grammarians.]

Apabhramśa	Kī V 1-113 Pu 17-18 chapters RK III 1-2 Stavakas MK 17-18 chapters	C III 41 NŚ KV II 11-12 HC IV. 329-448. Tr III 3 1-58. III 4 1-71.
Ardhamāgadhī (cf Ārsam)	Bh XVII KT V 98 RT II 2-12 MK. XII. 38	HC IV 287.
Atibhāṣā	Bh XVII 26-28	
Avahatta bhāṣā		Pischel § 28
Ābhīrā'pabhramśa	KT V 99 (vrthi) RT III 2 11 MK (Introduction)	
Āndhrā	Bh XVII	
Ārṣam (=Ardhamg.)		HC. 1 3
Ābhīra	Bh XVII	
Ābhīrikā	RT II 3 23-26	
Ābhīrī	MK. XV 1-10	
Āvantī	Bh XVII KT V 99 (Vṛtti) Pu XI 1-10 RT II 2 5-10 MK XI 1-13.	
Āvantyā' pabhramśa	KT V 99 (vṛtti) MK (Introduction)	

Inscriptional Prakrits		Mehendale-His- torical Grammar of Insci- ptional Prakrits
Uḍīcī	MK (Introduction)	
Upanāgarā' pabhramśa	KT V 99 (Vrtti) Pu XVII 14-15 RT III 2-5 MK XVIII 1-12	
Audhrā' pabhramsa Odhra	MK (Introduction) KT V 99 (Vrtti) RT III 2 9	
Audhrī (cf Audhra) Audhriyā		
Kāñcyā' pabhramśa	RT III 2 12. MK (Introduction)	
Kāñcyā-paiśācī	MK (Introduction)	
Kālingā' pabhramśa	RT III 2 10 MK (Introduction)	
Kārnatā' pabhramśa	RT III 2 11 MK (Introduction)	
Kīrāta		Nitti-Dolci p 77
Kaikayā, pabhramśa	Pu XVII 21	
Kaikeyī „	RT III 2 9 MK (Introduction)	
Kaikaya-paiśācī (cika)	Pu XIX 1-24	
Kaikeya-paiśācī (cika)	RT III 3 1-6 MK XIX 1-21	
Kauntalā' pabhramśa	Pu XVIII 23 RT III 3 9 MK (Introduction)	
Kharoṣṭhi-Prakrit } Khotanese Prakrit }		Burrow-Language of the Kharoṣṭhī documents
Gathā Dialect		Leumann, 2 DMG XXIX. 212-34

		Macdonell, HSL, 25-26
Gandhārī Dialect		Brough, The Gandharī Dham- mapada Nitti-Dolci p 164 Pischel § 27
Grāmyā' pabhramśa		
Grāmya-bhāsā		
Gauḍā' pabhramśā	Pu XVIII 22	
(cf Gaudī)	RT III 2 9	
	MK (Introduction)	
Gaudā-pai sākikā	RT. III '3 11	
	MK (Introduction)	
Gaurjā' pabhramśā	RT III 2-11	
	MK (Introduction)	
Cāṇḍāla }	Bh XVII.	
Cāṇḍālī }	Pu XIV 1-9	
	RT II 3 10-15.	
	MK XIV. 1-9.	
Cūlikā-paiśācī		HC. IV 325-28 Tr III 2. 63-67.
Jātibhāsā	NS. XVII 26, 28.	
Jaina Prakrit		Pischel § 16 Nitti-Dolci p 172 Pischel §§ 16, 20 Nitti Dolci pp-172, 174
Jaina Mahārāṣṭrī		Pischel § 21 Pischel § 20
Jaina-Śaurasenī		
Jaina-Saurāṣṭrī		
Takkā' pabhramśa	Pu XVIII 23	
	RT III. 2 6	
	MK (Introduction)	
Ṭakkī	Pu XVI. 1-10	
	RT. II 3 27-31	
	MK XVI 1-13	
Ḍhakkī		Pischel § 25 Grierson, JRAS, 1913, pp 875-83
Dākṣinātyā	Bh XVII	
	Kī V 99 (Vitti)	

	RT. II. 2. 11-32	
	MK XII. 38.	
Dākṣiṇātyā Paisācī	MK (Introduction)	
Dramila }	Bh. XVII	Nitti-Dolci p. 77
Drāmīlī }		Nitti-Dolci p. 122.
Drāviḍā }		
Dravida }		
Drāviḍā' pabhramśa	KĪ V 99 (Vṛtti)	
	RT III 2 12	
	MK (Introduction)	
Drāviḍa-paisācī	MK (Introduction)	
Drāṇīdī		Nitti-Dolci pp. 120-22
Desaja }		
Deśa bhāṣā }		Nitti-Dolci pp 73,
Deśī }		77, 118
Deśī bhāṣā }		
Deśya	KĪ V 99 (Vṛtti)	
	Pu IV 36	Tr III-IV 72.
Daiva (cf. Haiva		
Haimavat)		
Nāgarā' pabhramśa	KĪ V 70	
	Pu XVII 1-90	
	RT III 1 1-31.	
	MK XVII 1-78	
Niyā Prakrit		
Pāñcālā' pabhramśa	Pu XVIII 16-17	
	RT III 2 7-8	
	MK (Introduction)	
Pāñcālā-paisācī	Pu XX. 18	
	RT III 3 11.	
	MK XX 1-16	
Pāṇḍyā' pabhramśa	Pu XVIII 23	
	RT II 2-10.	
	MK (Introduction)	
Pāṇḍya-Paisācī	MK. (Introduction)	
Pāli		
Pāścātyā' pabhramśā	RT III 2 12,	
	MK (Introduction)	



Paiśācika } Paiśācī }	Vr. X 1-14 KĪ V 96, 102 Pu XIX-XX RT. III 3 1-21 MK, XIX-XX.	C. III 42. HC IV. 303-24 Tr III. 2. 43-62.
Prākṛta-Dhamma- pada bhāṣā (See Kharosthi Prakrit) Prācyā	Bh XVII KĪ V. 99 (Vṛtti) Pu X 1-14 RT II. 2 1-4. MK X 1-12	
Prācyā'pabhramśa	KĪ. V. 99 (Vṛtti) RT III. 2-10 MK (Introduction)	
Baṛbarā' pabhramśā	Pu XVIII 23 MK (Introduction)	
Bāhlikī	KĪ. V. 99 (Vṛtti) Bh XVII RT. II 2 5-10 MK. XI 13	
Buddhist Hybrid Sanskrit Bhāṣā Bhūtabhāṣā		Danḍin, KV. I. 38. Pischel § 27
Madhyadesīyā' pabhramsa	RT III 2 11 MK (Introduction)	
Māgadha-Paiśācī (Cikā)	RT III 2 12 MK (Introduction)	
Māgadhī	Bh XVII Vr XI 1-17 KĪ V. 86-97 Pu XII 1-38 RT. II 2. 11-32 MK, XII 1-13.	C IV 43 HC IV 287-330 Tr III. 2 27-42.

Mālrā' pabhramśa	MK (Introduction)	
Mahārāṣṭrī	Bh XVII 6-25	C I-III 1-40.
	Vr I-IX chaptas	HC I-IV. 259
	Kī I-IV „	Tr. I-III.
	Pu III-VIII. „	
	RT I 1-9 Stabakas	
	MK I-VIII chapters.	
	Jī 38 sūtras	
	La 38 sūtras	
Mīśrārdhamāgadhī	Kī	
Rantikā		
Lātā' pabhramśa	Pu XVIII 19 (Lātī)	
	RT III 2 8	
	MK. (Introduction)	
Lena Dialect		Pischel § 27
Vārendra Bhāsā		Pischel § 28
Vibhāsā		Grierson, JRAS, 1918, pp. 489-517.
Vibhrasta		Pischel § 8
Vrācata-Apabhramśa	} MK (Introduction)	
Vrācada Apabhramśa		
		Kī V 99
		Pu XVIII 1-13
		RT III 2 1-13
		MK XIII 1-12
Vrācada Paisācīkā	RT III 3 12	
	MK (Introduction)	
Vaidāla		
Vaitāla Apabhramsa	RT III. 2 12	
	MK (Introduction)	
Vaidarbhī		
Apabhramsa	Pu XVIII 18	
	MK. (Introduction)	
Śākkī }		
Śākkī }		
Śākārī }		
Śākārikā }		
	Bh. XVIII	
	Kī V 99 (Vrtti)	
	Pu XIV 1-15	
	RT. II 3 1-9.	
	MK XIII 1 9.	
		Pischel § 3, 28

Śabara	Bh XVII	
Śābarī	Kī V 99 (Vrtti)	
Śābarī }	Pu XV 1-7	
	RT II 2 16-22	
	MK XV 1-10	
Śaurasena Paisācī	Pu XX 1-20	
	RT III 3. 7-10.	
	MK XX 1-16	
Śaurasenī	Bh. XVII	C III. 44
	Vr XII 1-32	HC IV 260-86.
	Kī V	Tr III 2 1-26
	Pu IX 1-93	
	RT II I 1-38	
	MK IX 1 158	
Śrāvantī }	Kī V 99 (Vrtti)	
Śrāvastī }		
Sarī Kīrṇa Paisācī	RT III 3	
Saippalā'pabhramśa	RT III 2 10	
Saimhalā'pabhramśa	Pu XVIII 23	
	MK (Introduction)	
Haiva }	cf Daiva Ap	
Haimarat }	MK. (Introduction)	

*Abbreviations used in the Appendix*

Bh	=Bharata's Nāṭya-Śāstra
C	=Canda's Prākṛta-lakṣanam
HC	=Hemacandra's Prakṛit grammar
HSL	=History of Sanskrit literature.
JĪ	=Jīva Gosvāmī's Prakṛit grammar
JRAS	=Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland
Kī	=Kramadīśvara's Prakṛit grammar
Kv	=Dandin's Kāvyaḍarśa
La	=Rāvana Lankeśvava.
MK	=Mārkaṇḍeya's Prāhṛtasarvasva
MK (Introduction)	=Introductory verses of Mārkaṇḍeya's Pra- kṛta Sarvasva
NŚ	=Nāṭya-Śāstra of Bharata
Nitti-Dolci	=Nitti-Dolci's Les Grammaires Prakṛit
Pu	=Purusottama's Prakṛtānu Śāsana
Pischel	=Pischel's Grammatik der Prakṛit Sprachen
RK	=Rāmatarakavāgiśa's Prākṛta Kalpatarum
Tr	=Trivikrama's Prakṛta-Prakāśa
Vr	=Vararuci's Prākṛta-Prakāśa
ZDMG	=Zeitschrift der Deutschen Morgenlandischen Gesellschaft

# SEMANTIC CHANGES IN KṚTA, TRETA, DVĀPAR AND KALĪ

DR RAM PRAKASH PODDAR

The words *Kṛta*, *Tretā*, *Dvāpara* and *Kalī* denote the four consecutive ages viz *Kṛtayuga*, *Tretāyuga*, *Dvāparayuga* and *Kalī yuga*. According to the *Paurāṇic* reckonings *Kṛtayuga* consists of 1728000 years, *Tretā* of 1296000 years, *Dvāpara* of 864000 years and *Kalī* of 432000 years. The present age is *Kalī* which began on 18th February 3102 B C.

In early references to these ages the periods assigned to them are respectively 4000, 3000, 2000 and 1000 years. To these main periods are added mornings and evenings each comprising of 400 years in case of *Kṛta*, 300 years in case of *Tretā*, 200 years in case of *Dvāpara* and 100 years in case of *Kalī*. Thus together with their mornings and evenings the four ages extended respectively to 4800 years, 3600 years, 2400 years and 1200 years, the whole cycle was complete in a period of 12000 years.

Dr. Fleet<sup>1</sup> assumes that the mornings and evenings are latter additions to convert the decimal system of the earlier reckoning into the duodecimal one for astronomical purposes. He further suggests that the extension of the periods from 4800 years *etc.* to 1728000 years *etc.* pertains to the astronomical period viz 4th century A D. when the astronomers reckoned a coincidence of the planets about 3500 years back and took it as the beginning point of the current *yuga* viz *kalī*. Dr. Fleet's contention is further corroborated by the retrograde nature of dating as evinced by the somewhat vague etymology of these words. *Kalī* may be associated with the  $\sqrt{\text{kal}}$ =to count, and may be interpreted as the initial point of counting viz one *Dvāpara*.

and *Tretā* can be easily associated with two and three respectively on the basis of their phonetic similarity with *Dvi* and *Tri*. Though etymological association of *Kṛta* with four is not evident yet it may be concluded that *Kṛta*, *Tretā*, *Dvāpara* and *Kalī* dating is going backward into the past, the present is marked as the first, the immediate past as the second and farther and farthest pasts as the third and the fourth respectively.

Apart from the etymological associations as suggested above the words *Kṛta*, *Tretā*, *Dvāpara* and *Kalī* were connected with the numbers 4, 3, 2 and 1 respectively from very early times. These four words were primarily associated with the game of dice. The ancient practice of playing with dice was to pick up tiny *Vibhītaka* nuts, which were thrown on the board for this purpose, and to count them. If the number picked up by a player happened to be the multiple of four he had obtained *Kṛta* which was the highest score. If it was not so the score was determined according to the remainder: three fetched *Tretā*, two *Dvāpara* and one *Kalī*. The first three scores viz. *Kṛta*, *Tretā* and *Dvāpara* were winning once in descending order. The last viz. *Kalī* entailed loss.<sup>2</sup> In the *Vedas* these words have been used to denote scores in the game of dice as mentioned above<sup>3</sup> where as they have not been used to denote the four ages.

The ancient practice of playing with dice underwent a change, centuries before the beginning of the Christian era, and the place of the *Vibhītaka* nuts was taken by the four-faced metallic or earthen die marked with the digits 4, 3, 2, and 1 or bearing as many points on the respective faces. After the throw by the player the figure or points on the upward face decided the score, i.e. it was *Kṛta* when the face bearing the digit 4 or as many points was upward and so on down to *Kalī*.

These words are met with in ancient *Jaina Āgamas* viz. *Ācārāṃga* and *Bhagavatī*.<sup>4</sup> Here they have been used to denote different organizations of the atoms in matter. When the number of atoms is a multiple of four the organization is called *Kaṭajumma* (*Sanskrit Kṛtayugma*). When it is not so the nomenclature follows the remainder after a division by four, being

*Tretā* when the remainder is three, *Dvāpara* when it is two and *Kalī* when it is one

In the *Pāli* canonical literature also these words have been used in the context of the game of dice. In the *Vidhura Pandita Jātaka Kaṭa* (Sanskrit *Kṛta*) denotes the highest score in the game of dice and *kalī* occurs as its antonym<sup>5</sup>. These words have also been used figuratively. Thus *Kaliggaha* means unlucky and *Kaṭaggaha* lucky. Here they are in compound with *gaha* (Sanskrit *graha*)=Score. So the literal meanings will be 'one who scores *Kalī*' and 'one who scores *Kaṭa*' respectively. In the *Theragatha* (1 462) we come across the phrase '*ubhayattha kaṭaggaha*' meaning lucky in both the worlds i.e. here and beyond. *Vinaya* (6 93 360) uses '*Kalīñ āropeti*' in the sense of putting allegation on somebody.

The lexicons have not recorded any use of these words in the sense of the ages (*yugas*) either in the *Ardhamāgadhī* *Jaina* canons or in the *Pāli* canonical literature. But by this absence we should not be led to conclude that the four ages came to be denoted by these words at a date later than the compilation of the *Pāli* and *Ardha māgadhī* canons. Utmost this can prove, is the comparative immunity of these canons from the *Brahmanical* tradition in which we find the above denotations occurring much earlier.

In the late *Brahmanas* the words *Kṛta*, *Tretā*, *Dvāpara* and *Kalī* have been used to denote the four consecutive ages. The *Sadvimśe Brahmana* mentions the four ages *kṛta khārvā*, *Dvāpara* and *Pusya*<sup>6</sup>. *Dvāpara* as denoting the third age is mentioned in the *Gopatha Brahmana*. As regards the mention of these names in the famous '*Kalī sayāno bhavati*'<sup>7</sup>, verse of the *Āitareya Brahmana* it may be noted that some scholars interpret them in the context of the game of dice while thus regard this verse itself as a later interpolation. But the verse has been adapted in the *manusmṛiti* (1 × 302)<sup>8</sup> and explicitly interpreted as the consecutive ages. Commenting on ch. 231 verses 19 onwards of the *Mahābhārata Nīlakanṭha* refers to the *Kalī sayāno bhavati*—'verse of the *Āitareya Brahmana* and explains the words *kṛta* etc.

of the verse as standing for the four ages but used figuratively in that context

Stray references to *Kṛta*, *Tretā*, *Dvāpara* and *Kalī* as denoting the ages are met with in the *upaniśads*. In the *Ramāyana* these words seem to have settled down as the names of the four consecutive ages. But here we do not come across any deliberations regarding their nature and extent.

In the study of the semantics of these words the *Mahābhārata* is of immense importance. Here we find the words used to denote different throws in the game of dice. At the same time they have also been used to denote the consecutive ages with elaborations upon their nature and extent. In between these two denotations there are also abundant evidences of their figurative uses which form a sort of bridge between the two denotations and indicate the process of transition.

In *Udyoga Parva Krishana* intending to cow down *karna* and avert the war describes to him the feats and fury, the *Pāndavas* would exhibit, in the ensuing war. This description runs through ten verses and each pair is concluded with the refrain 'Na tadā bhavitā Tretā na kṛtam Dvāparam na ca'.<sup>9</sup> Obviously the words *kṛta*, *Tretā* and *Dvāpara*, here are figuratively used in the sense of winning scores in the game of dice. *Kṛishna* makes an oblique reference to the game in which *Duryodhana* and his friends including *Karnā*, had got an easy victory securing frequently *Kṛta*, *Tretā* and *Dvāpara*. In the battle field it was not going to be like that where they would not secure *Kṛta etc.* as they had done in the game of dice. On the contrary here they would face the wrath of the brave *Pāndavas* which would utterly rout and ruin them. The allusion here to the game of dice is quite apt and pointed. Of such oblique hints to the game, there is no dearth in the epic. In the *Virāṭa Parva* (50-24) *Aśvatthāmā* warns *Duryodhana*

*Naksūṅkṣipatī gāṇḍivam na kṛtam Dvāparam na ca|*  
*Jvalato nṛṣṭānbanāmstīkṣṇāṅkṣipatī gāṇḍivam||*



But the commentator *Nīlakanṭha* interprets the words *Kṛta* etc of the line

*Na tadā bhavitā Tretā* etc

as the names of the ages and misses the mark. It is through an exalted strain of ingenuity that he fits the 'ages' into the context. He says that *kṛta* implies *Moksa* for in this age it is *Moksa* alone which is coveted, the other three '*Purusārthas*' being always at hand. In the same way he interprets *Tretā* as *Dharma* and *Dvāpara* as *Artha* and *Kāma*. Thus the whole line according to him means that the war will not deliver any *Purusārtha* to *Duryodhana* and his friends. It will only bring about their annihilation. A very ingenious interpretation indeed!<sup>10</sup> But it is obstructed by the last verse of *Kṛṣṇa*'s speech in the same chapter. When *Karna* would not be dissuaded *Kṛṣṇa* concludes that in the inevitable war '*Duryodhana*'s followers would die and attain the highest course. Now the highest course for the dead is obviously *Moksa*. The above interpretation of *Nīlakanṭha* denies all the *Purusārthas* to *Duryodhana* and his side but the original vouchsafes the highest one!"<sup>11</sup>

This meandering on the part of the commentator is on account of the original denotations of the words viz those associated with the same of dice becoming comparatively obsolete in course of time.

In the *Mahābhārata* there are numerous examples of these words being used as the names of the four consecutive ages with elaborations upon their respective nature and extent. In chapter 188 of the *Vana Parva Mārkaṇḍeya* relates to the *Pāṇḍavās* the duration of the ages viz *Kṛta*, *Tretā*, *Dvāpara* and *Kalī*. He says, "There are four thousand years in *Kṛtayuga*, its morning and evening each comprises four hundred years. In *Tretā* there are three thousand years, its morning and evening each comprises three hundred years, *Dvāpara* has two thousand years, its morning and evening each has two hundred years. *Kalī* proper lasts for one thousand years, its morning and evening each consists of one hundred years. *Kalī* having been spent up *Kṛta* sets in again and thus the cycle consisting of twelve thousand years

goes on The reckoning of time is again taken up and elaborated in the *Shanti Parva* at chapter 231 Verses 19 onwards. It compares with the reckoning of time given in the *Manusmṛiti* at chapter I Verses 69 onwards

Neither the *Mahābhārata* nor the *Manusmṛiti* contains any suggestion to warrant that the texts mean the celestial years and not the human years But the commentators invariably impose the celestial years each of which, according to them, consists of 360 human years

This sort of reckoning of the four ages is a recurrent theme in the *Purāṇas*, *Linga*, *Kūrma*, *Vāyu*, *Brahmānda*, *Matsya*, *Viṣṇu* and *Bhāgavata*—all these *Purāṇas* contain the *yuga*-reckoning which falls in with that of the *Mahābhārata* cited above, except that *Viṣṇu*, *Matsya* and *Bhāgavat* explicitly mention the celestial years

It seems that the imposition of the celestial years is a post-*Mahābhārata* manipulation Dr. Fleet assumes that the astronomers of the 4th century India found a coincidence of planets some 3500 years thence which they took as the beginning point of the *Kali* era Now the 1000 years duration for *Kali* not reconciling with the astronomical reckonings the celestial years were imposed to make it sufficiently accomodating Since one human year contained 360 days, one celestial year come to 360 human years At this rate the whole periods of *Kṛta*, *Tretā*, *Dvāpara* and *Kali* came to 1728000, 129600, 864000 and 432000 years respectively <sup>12</sup>

At this stage these words are so metamorphosed that they cannot be easily traced back to the primary denotations in the game of dice, nay, it is difficult to believe that they had ever anything to do with the game of dice But a close examination would reveal that the genu of the primary meanings are not extinct for the ratio of the total periods of duration of the ages is 4 3 2 1 which reminds one of the primary denotations of the terms *Kṛta*, *Tretā*, *Dvāpar* and *Kali* In the game of dice these words were associated with the numbers 4, 3, 2 and 1 respectively Moreover they also denoted the best, second best,

third best and the worst in the game. If a player obtained *Kṛta* he won all the five points at stake. If he obtained *Tretā* or *Dvāpara* only 3 or 2 points respectively were won over all the participants. *Kali* was not only a barren score but also entailed loss of one's own stake. Now in the *Kṛta* age there is unsullied good which goes on diminishing till the worst is reached in *kali*. Thus it may be assumed that through a process of figurative denotations the words *Kṛta* etc., which primarily denoted different throws at the game of dice, also implied the best, second best, third best and the worst of the ages. In course of time, the ancient practice of playing with dice dwindling and ultimately disappearing the primary denotations became obsolete and the secondary ones survived and gained popularity. This conclusion is corroborated by the fact that the consecutive order of the ages *Kṛta* etc., which was later strictly established, seems to be in a state of flux in their earlier occurrences. According to the reckoning of time in terms of *Kṛta*, *Tretā*, *Dvāpara* and *Kali* the *Mahābhārata* war was fought in the twilight period of *Dvāpara* and *Kali*.<sup>13</sup> So *Dhṛtāśṛṣṭra* *Pāṇdu* and *Vidura* were born towards the end of *Dvāpara*. But in the *Ādi-parva* of the *Mahābhārata* chapter 109, verses 5 onwards, it has been said that when these children - *Dhṛtarāṣṭra* etc. - were born, *Kṛta* prevailed, not only in the vicinity but also among the nations.<sup>14</sup> This shows that in denominating the period as *Kṛta* what is taken into account here is the nature of the period rather than its consecutive order. In the *Udyogaparva* chapter 132 verse 16, it is said that the king (by virtue of his deeds) causes *Kṛta* etc. among his people.<sup>15</sup> The same idea is found in the *Manu-smṛiti* at IX 301.<sup>16</sup> In the *Mahābhārata* this theme is taken up again and celebrated in the *Shantiparva*, chapter 69. The account begins with the statement that it is the king who brings about the periods designated as *Kṛta* etc. When he administers justice in its entirety he causes the *kṛta* age. But when he administers only three out of the four parts of justice, he brings in *Tretā* and when he employs only two parts he causes *Dvāpara* and *Kali* comes in when the king is altogether bereft of justice. Here the terms *Kṛta* etc. have been used to denote periods of time. But these do not seem to be fixed and consecutive ones. So the secondary denotations of the words still remain in a state of flux. The pri-

many ones somehow linger in the fact that all the *four* parts of justice are employed by the king to causes the *Kṛta* age, *three* to cause the *Tretā* and *two* to cause the *Dvāpara* To *Kalī* not even the *one* part of justice, which would have been its due on the basis of analogy, is vouchsafed This theme is repeated at many places in the *Shantī Parva* <sup>17</sup>

The *Dharmaviṣa*, as described in the *Mahābhārata* at several places in course of delineating the nature of the ages (*Yuga-dharma*), stands on all four legs in *Kṛta* age He loses one leg as he proceeds to subsequent ages, having three in *Tretā* two in *Dvāpara* and only one in *Kalī* <sup>18</sup> This bull allegory is found in the *Manusmṛiti* also Besides, the *Manusmṛiti* further adds that in the *Kṛta* age human life span was 400 years It diminished by one fourth in subsequent ages and thus came to 300 years in *Tretā* 200 years in *Dvāpara* and 100 years in *Kalī* All these facts evince the primary association of these words with the numbers 4, 3, 2 and 1 as in the game of dice and also suggest the process of semantic transition from the context of the game of dice to that of the reckoning of time

In the *Nala* episode the two meanings of the word *Kalī*, the one related with the game of dice and the other with the age of this name, move side by side The personified *Kalī* brings defeat to *Nala* in the game of dice So he can be taken as the *Kalī* of the game Nevertheless he has all the evil intentions of the *Kalī* age *Kalī* and *Dvāpara*, going to participate in *Damayanti's* *Svayamvara* were informed by the deities of the quarters that *Nala* had already won her hand Infuriated at this they conspired to ruin *Nala* *Kalī* entreated *Dvāpara* to assist him by entering into the dice and he himself possessed *Nala*. Further he encouraged *Puskara* to play at the game of dice with *Nala* and assisted him in completely routing the latter Later when *Nala* learnt the mystery of the dice from *Rtuparna* he could get rid of *Kalī* The episode is concluded with the remark that the tab of *Nala* annihilated all the evils of the *Kalī* (age)

In the encounter of king *Parīkṣita* with *Kalī* as described in the *Bhāgavata* the two meanings of *Kalī* are combined The king saw *Kalī* in the form of a *Śūdra's* kingship tormenting a cow

bull. Here the *Śūdra*'s kingship indicates that the order of the castes had suffered reversion. The cow and the bull being tormented are the symbol of righteousness. So what is suggested here is the disorder of *Kali* age. The king washing to restore order aimed an arrow at *Kali* and subjugated him. But *Kali* entreating for a shelter, he bade him live in gambling, drinking, women, murder and gold. The places of shelter indicate that here two meanings of *kali* viz the losing throw in the game of dice and strife are at the focus. *Kali* lives in gambling in the form of the losing throw and also in the form of strife. Strife has always been an usual feature of the game of dice. Since drunken people, women, murderers and those covetous of gold are all prone to fighting, *Kali* lives in them in the form of strife. Strife a denotation of *Kali* may be a figurative one and derived from its primary meaning in the game of dice—association of strife with this game is very natural, the more so with the throw *Kali* which is the worst in the game.

Besides the main semantic transition from the context of the game of dice to that of the reckoning of time, the words *Kṛta* etc. have had some derivatives associated with their primary meanings. Thus the word *kitava*=clever, shrewd, may be a *Prakritization* of *Kṛtavid*<*Kṛti*=one who is skilled in obtaining *kṛta* in the game of dice, by unfair means as well. 'Kitava's' essential association with the game of dice is a well established fact. The *Pāli* expression '*kaṭaṇ alāto ganhāti Kīṭavā sikkhitô jāthā*' (*Jātaka* VI-228) evidently connects it with *Kaṭa* (*Sanskrit Kṛtā*). The hybrid *Sanskrit* from *Kṛtāvin* (*Divyāvdāna*-58-28, 100-13, 442-9)=having worldly skills, too, seems to have evolved from *Kṛta* in the same process. The word, '*Catura*'=skilled, may be a syncope of '*Caturvāna*'=the possessor of the four viz *Kṛta* for *Kṛta* in the game of dice stands for four and its multiples. In the *Rgveda* (I-41-9) it has been said that 'one should fear him who holds all four'. The text runs as follows

*Caturaś cīd dadamānāt bibhīyād*

The scholiast explains it as—

*Catur*oksān *dhārayath* *Kitavāt* Here it seems that the

holder of all four is the holder of *Kṛta* throw, everybody should fear him for he will Vanquish them all In this context the use may be a figurative one as many commentators have opined But it is plain that the holder of the four is the holder of the *Kṛta* throw, so it is not far-fetched to assume that the word '*Catura*' is a syncopation of '*Caturvān*' = holder of the four viz *Kṛta* Generally the lexicons connect this word with the  $\sqrt{cat}$  or  $\sqrt{cad}$  in the sense of asking or begging. But one fails to establish any direct semantic link between the root and the derivative

The form *Kata* as noted above is a *Prakritization* of *Kṛta* obtained through the cerebralization of the dental preceded by *r* Later this form seems to have been absorbed in *Sanskrit* for *Darduraka* of the *Mṛcchakatika*, a *Sanskrit* speaker says, '*Kaṭena Vinipātito yāmi*'.

In the same way it can also be concluded from the speech of the same person that '*Pāvāra*' a derivative from *Dvāpara* (*Dvāpara* + assimilation > \**Vāpara* + metathesis > *pāvāra*) has also been absorbed in *Sanskrit*, for the same speaker says, '*pāvāra patanacca Sōsitaśarīrah*'

The game of dice in course of time, becoming more popular among the *Prakrit* speaking people, the *Prakrit* names of the terms associated with the game ousted their *Sanskrit* counterparts It should be investigated if the phrase '*pau bāraha*' is not a popular etymology of the above mentioned '*Pāvāra*'—doubtless it is connected with the game of dice, they say, '*pade pāsā pau vāraha*' etc

Now one may ask : 'Was the game of dice so extensive and popular that the terms primarily connected with it yielded such rich harvest of semantic expansions?' If one looks into the *Vedic* literature and the ancient *Sanskrit* literature in general and the *Mahābhārat* in particular one cannot but conclude that the game of dice was fairly wide-spread in ancient India The *Apabhramsa* literature testifies that the tradition continued in the medieval period too Anyway, for undergoing a semantic expansion it is not necessary that the term should be wide-spread On the

contrary its being wide-period may hinder the process of semantic change. The word '*kuśala*' initially meant 'one who was an expert in uprooting the *Kuśa* grass'. The present popularity is hardly commensurate with its limited scope at the initial stage. Another example is '*Pravīna*' and there may be numerous others.

### Notes

- 1 Dr J F Fleet THE KALIYUGA ERA OF B C 3102  
Journal of the Royal Asiatic Society 1911  
(pp 479-496 and 675-698)

- 2 H. Luders THE GAME OF DICE IN ANCIENT INDIA  
("Das Würfelspiel in alter Indian" an article  
collected in "Philologica Indica" Gottingen  
1940 pp 106-175)

3. *Rgveda* 1 112 24  
10 42 9  
10 43 5  
*Atharvaveda* 7 50. 8

- 4 *Ācārāṅga* 1 1 1  
*Bhagavatī* 34 1  
25 3

- 5 ते पाविसु अक्खमदेन मत्ता राजा कुश्न पुण्णको चापि जक्खवो ।  
राजा कस्सि विचिन्न अग्गहेसि कटमग्गही पुण्णको नाम जक्खवो ॥

ते तत्थ जूते उभयो समागते रञ्ज सकासे सखिञ्च मञ्झे ।  
अजेसि अक्खो नरवरियसेट्ठु तत्थप्पनादो तुमुलो वभूव ॥

*Vidhura Pandita Jātaka*  
(91-92)

Here one fact may be noted that the game of dice referred to in the gathas is the one played with the *Vibhītaka* nuts. But the prose explanation imposes the type played with the four-

faced earthen or metallic dice, which fact evinces that by the time of the prose explanation the earlier type had grown absolute so the commentator imposed upon it the later type.

## 6. *Sadvimśa Brāhmana* . V. 6

6 कलि शयानो भवति सजिहानस्तु द्वापर ।  
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृत सगच्छते चरन् ॥

8 कलि प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापर युगम् ।  
कर्मस्वप्नुद्यतस्त्रेता विचरस्तु कृत युगम् ॥

9 उद्योग, १४२ (६-१५)

यदा ब्रह्मसि सद्ग्रामे श्वेताश्व कृष्णसारथिम् ।  
ऐन्द्रमस्त वि कुर्वणिमुभे चाप्यग्निमास्ते ॥६॥

गाण्डीवस्य च निधोष विस्फूर्जितमिवाशने ।  
न तदा भविता ज्ञेता न कृत द्वापर न च ॥७॥ इत्यादि ।

10 न तदेति । कृते हि सर्वे कृतकृत्या एवेति न निवर्ग कश्चिदपेक्षते । ज्ञेताया तु धर्म-  
प्राधान्येनार्थकामावानुपङ्गिकत्वेन चापेक्षन्ते । द्वापरे तु अर्थकामो प्राधान्येन धर्मं च  
तदङ्गत्वेन । तत्र कृत न भवितेति मोक्षाद् अश उक्त । न ज्ञेतेति । धर्माद् अश उक्त  
स च दुर्योधनादिनामस्त्येव । द्वापर न भवितेति तेषामर्थकामावपि न भविष्यतो युद्धेन  
मरणस्यावश्यम्भावादित्यर्थः ।

11. राजानो राजपुत्राश्च दुर्योधनवशानुगा ।  
प्राप्य शस्त्रेण निघ्नन् प्राप्स्यन्ति गतिमुत्तमाम् ॥

12. All those *Purānas* which do not specifically mention the celestial years need not be taken to be interior to the so called astronomical period These may not be aware of the new reckonings of time cooked up by the astronomers On the contrary those which impose the celestial years can be safely placed in the post-astronomical period. The *Viṣṇu Purāna* contains clear evidence of its awareness of the approach of the astronomers It talks of a co-relation between the coincidence of planets and the extent of the ages (4-24-102)



- 13 अन्तरे चैव सम्प्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत् ।  
समन्तपञ्चके युद्धे कुक्ष्याण्डवसेनयो ॥  
महाभारत 1-2-13
- 14 तेषु त्रिषु कुमारेषु जातेषु कुक्ष्याङ्गलम् ।  
प्रदक्षीष्वपि राष्ट्राणां कृतं युगमवर्तते ।  
महाभारत 1-109-5
- 15 कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।  
इति ते सशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम् ॥
- 16 कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च ।  
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥
- 17 कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।  
इति ते सशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम् ॥  
दण्डनीत्या यदा राजा सम्यक्कात्स्न्येन वर्तते ।  
तदा कृतयुगं नाम कालसुष्ठु प्रवर्तते ॥  
...  
दण्डनीत्या यदा राजा क्षीनशाननुवर्तते ।  
धनुर्धर्मशमूत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्तते ॥  
...  
अर्धं त्यक्त्वा यदा राजा नीत्यर्धमनुवर्तते ।  
ततस्तु द्वापरं नाम स कालः सप्रवर्तते ॥  
...  
दण्डनीतिं परित्यज्य यदा कात्स्न्येन भूमिप ।  
प्रजां क्लिश्नात्ययोगेन प्रवर्तते तदा कलि ॥  
...  
X X X  
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्च भरतर्षभ ।  
राजवृत्तानि सर्वाणि राजैव युगमुच्यते ॥  
महाभारत १२-६१-६  
X X X  
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्च भरतर्षभ !  
राजमूला इति मतिर्भमं नास्त्यत्र सशय ॥  
महाभारत १२-१४१-१०

- 18 कृते चतुष्पात् सकलो निर्व्याजोपाधिवर्जित ।  
 वृष प्रतिष्ठितो धर्मो मनुष्ये भरतर्षभ ॥  
 अधर्मपादविद्धस्तु त्रिभिरशौ प्रतिष्ठित ।  
 नेताया द्वापरेऽर्धेन व्यामिश्रो धर्म उच्यते ॥  
 त्रिभिरशौरधर्मस्तु लोकानाक्रम्य तिष्ठति ।  
 तामस युगमामाद्य तदा भरतसत्तम ॥  
 चतुर्थशेन धर्मस्तु मनुष्यानुपतिष्ठति ।

. . . ... .

महाभारत वनपर्व अध्याय १६०—(६-१२)

× × ×

चतुष्पात्सकलो धर्म मत्स्य चैव कृते युगे ।  
 नाधर्मोणागम कश्चिन्मनुष्यान्प्रति वर्तते ॥  
 द्वेदरेष्वागमोद्धर्म पादशस्त्ववरोपित ।  
 चौरिकानृतमायामिधर्मश्चापैति पादश ॥  
 अरोगा सर्वसिद्धायश्चतुर्वर्षशतायुष ।  
 कृते नेतादिषु ह्येषामायुर्हसति पादश ॥  
 मनुस्मृति १ (८१-८३)

# IMPORTANCE OF JAIN LITERATURE FOR THE STUDY OF DESYA PRAKRIT

Dr H C BHAYANI

[ 1 ]

The term *deśī* (alternatively, *deśya*, *deśaja* etc) has been used in several distinct but interconnected meanings. Ancient Indian works on poetics defined Sanskrit and Prakrit as languages of literature. The latter comprised a cluster of literary idioms (Sanskrit-dependent, considerably 'artificial' and highly stylized) like *Māhārāṣṭrī*, *Apabhramśa*, *Paśācī*, *Śāurasenī*, *Māgadhī* etc. Sanskrit and Prakrit had to be learnt through formal instruction, and manuals of grammar and dictionaries were periodically composed by way of text books. Prakrit grammars provided a set of rules for Sanskrit poets for turning Sanskrit into Prakrit of different varieties. On the basis of phonological difference and derivability from Sanskrit, Prakrit words were traditionally into three categories: *Tatsama*, *Tadbhava* and *Deśya*. Those words which had the same sounds and meaning as their corresponding words in Sanskrit were *Tatsamas*, those which had modified sounds but the same meaning as their Sanskrit correspondents were *Tadbhavas*, those which were not derivable from Sanskrit i.e. not accountable either as *tatsamas* or as *Tadbhavas* and hence considered to be substitutes for Sanskrit words of correspondingly same meanings were *Deśya* words.

The *Deśya* class of words, traditionally used in literary works, were listed with meanings in special lexicons, like Hemacandra's *Rayanāvalī* (also popularly known as *Deśināmamālā*), which itself refers to numerous earlier similar compilations. The

term *deśya* or *deśī* was usually and most frequently employed in this sense. It designated that stock of Prakrit words which was found in the works of standard Prakrit authors, but which, unlike the rest of Prakrit words, was not derivable (according to the then accepted grammatical canons) from Sanskrit.

Manuals of Prakrit grammars had started to be composed from about the second century A D as shown by Vararuci's *Prākṛta prakāśa*. Deśya lexicography too seems to have its beginnings there-about. Among the earlier authorities on Deśya words cited by Hemacandra we find the name of *Sālāhana*, the famous royal poet and compiler of an anthology Prakrit lyrics, the *Saptaśataka*, who is generally assigned to the period of the second century A D. From Hemacandra we also know that a dozen or more Deśya lexicographers preceded him, but their works are lost to us. We are completely in dark about them, excepting a few citations and allusions in later works.

The importance of the Jain writings for studying Deśya words is twofold. Some Jain writers have made direct contribution to Deśya lexicography. But the indirect contribution of the Jain literature in this regard is even much greater. In Sanskrit and Prakrit there is vast amount of literature, religious, exegetical and narrative, composed by the Jainas. It comprises canonical texts and their commentaries (*Cūṛṇis*, *Bhāṣyas*, etc.), religious monographs (*prakaraṇas*) and the enormous amount of narrative works: legendary biographies, tales, parables, anecdotes etc. The language of these works is marked by causal or liberal use of Deśya words. Hence they are an invaluable source for studying the character, function and history of the Deśis. But so far very little work has been done in this regard. Hence, in the present short sketch, no precise or reliable account of the materials available from those sources can be given. We offer just a few observations and rather haphazard illustrations with a view to impress on the readers the importance of studying the Jain writings from this view-point.

the language of the Jain canonical texts. The following few words casually gleaned from only two or three texts may serve to illustrate<sup>1</sup>

अल्लिय	to resort to
अच्छ भएल	bear
ईसत्थ	archery
उड्डाह	censure
उच्छिपय	thiefs accomplice
उद्देहिया	termite
ओमयिय	headlong
कक्खड	harsh, fat
कडय	curtain
कुट	with maimed hands
खउरे	gum
खड्डा	pit
खरट	to smear
खाडहिला	squirrel
खिस	to censure
खेल	spittle
खोड	log of wood
गडी	cart
गुठो	bad horse
गोल्ल	olibanum
गोल्ला	the Bimba plant
घयसाला	mendicant's home
चडिक्किय	angry
चडगर	multitude, pomp
चडवेल	slap
चम्मेट्ट	whip
चिवखल्ल	mud
चिलिमिली (णी)	curtain
चिलिब्विल	wet and sticky
चोय	skin, bark

छल्ली	bark
छाण	cow-dung
छिक्क	touched
छुक्करण	shooing
छिवाडिया	sort of book
छुरधर	razor-case
छोड्	to release
जाम्	to burn
झोड	to cause to shed
झोसण	search
टिट्टियाव्	to rattle
डगल	slice
डहर	child, small
डाल	branch
ढिक	crane
तप्पण	groats
तुयट्ट	to turn on sides
थक्क	occassion
थिग्गल	patch
दवह्वस्स	quickly
पहकर	multitude
पाणालि	slap
पामिच्च	borrow
पाराई	pickaxe
पिरिपिरिया	kind of musical instrument
पिरिली	” ” ” ”
पुलपुल	continuous
पेहुण	peacock's feather
पोड	frint
पोक्क	swollun and depressed
पोग्गल	flesh
पोट्ट	belly
पोलड	to cross over
पोल्ल	hollow

पोत्ती	loin cloth, piece of cloth
फिफिस	lung
वप्प	father
वरुड	matmaker
विलकोली	deceptive change of voice
बोदि	body
वोड	shaven-headed
भडी	cart
भिलिग	to ammount
मगुस	mongoose
मक्कोडय	large ant
माढि	armour
मिसिमिस्	to flare up
मेरा	boundary
रूअ	cotton
रोह	rice flour
लचा	bribe
लडह	beautiful
लेच्छारिय	smeared
वग्धाडी	hooting
वग्धारिय	hanging down
वरलर	field
वहिलग	beast of burden
सएज्झग	neighbour
सयरह	quickly
हुड	deformed

Similarly a much bigger list can be easily prepared from the huge commeterial literature. Not only words but new formative suffixes and postpositions are found which after-wards gained wider currency in New Indo-Aryan. Several past passive participles extended with *-ella-* (like *gaellaya-*, *jāellaya-*, *laddhellaya-*, *siddhellaya*, *kahnellaya* are found in Haribhadra's commentaries *tanama* used with genetive to signify 'due to, an account of' *mūla* meaning 'near' and *ccāya* as a possessive suffix are also attested from the same source,

The proportion of Deśya words in the Kathā-literature is still greater. We may note some Deśya words from the *Vasudevahimḍī* and the *Kuvalayamālā*

From the *Vasudevahimḍī*

अवारो	shop
आल	useless
उम्मत्ति	infatuation
कडिल्ल	jungle
कुल्लरिय	sweetmeat seller
खोट्टी	servant girl
गणियारो	cow elephant
धत्	to throw
डिडिय	vagaband
नहरण	nailcutter
पइरिक्क	lonely
परियदणय	lullaby
वैटलिय	bundle
मयहरय	headman chief
मेहुणया	maternal uncle's daughter

Past passive participles in-ella

आणिएल्लिय, उद्दालियल्लिय, दिण्णेल्लिय, पडिहत्थेल्लिय, हएल्लिय ।

From the *Kuvalayamālā*

अलीढ	untouched
आडियत्तिय	agent
आयल्लय	yearning
आलप्पाल	meaningless, prattle
आलय	niche
आलुब्	to touch
आहोड्	to strike, to beat



उक्कटुलेय	longing
उक्कुण्ड	garbage heap
उक्कुड	to pluck
उत्तावल	hurrying
उप्पित्थ	frightened
उप्पील	multitude
उप्पागल	to tell
उरुपुल्ल	cake
ओड्डु	earth digger
ओरल्लि	roar
ओरुप	scraping
ओलग्	to serve
ओलेहड	fond of
ओहट्ट	to decrease
कैकेली	Asoka tree
कदोह	lotus
कडप्प	multitude, Stock
कडित्त	gambling board
कणिवका	dough
कल्ल	dumb
कालवट्ट	bow
किट्ट	dirt
कुभीरय	aquatic creature
कुडग	bower
कुडिच्छ	hole, opening
कुह्य	magic trick
कुहाड	axe
कोटी	sort of weapon
कोल्लुय	jackal
कोसल्लिय	present
खल	oil cake
खल्लइय	contracted
खुट्ट	to fall short
खेडय	shield

खेडु	sport
गदम्भ	harsh noise
गोदी	cluster of blossoms
गोस	morning
गोसम्भ	morning
घेप्	to seize
चण्डिक	adorned
चट्ट	pupil
चडफड	to be restless
चमद्	to destroy
चिलीणय	sticky dirt
चीरि	cricket
चुपालय	round window
चोपालय	„ „
छप्पणाय	man of taste and culture
छिप्	to touch
छूढ	thrown
छेछइय	unchaste woman
जंपाण	palanquin
जामइल	watchman
झोलिया	bag
ठक्कुर	village chief
डिभ, डिभरुय	child
डोविलय	domb
ढढा	drum
तडविय	spread
तडुविय	„
तरवारि	sword
तरिलच्छ	eager
निगिच्छि	pollen
थुहुडुविडय	sulky
दिल्लिदिलिय	child
दुप्परियल्ल	unfathomable
दोण्ड	offense, treachery

द्रग	village
निकमण	sewage
निधोल	to scowl
निलुक्क्	to hide
निव्वड	to result
नेडालि	head ornament
पच्चल	able
पच्चुप्फिट्ठिय	bounced back
पडियग्ग्	to serve
पत्तट्ठ	expert
पुअड	youthful
पुल्लि	tiger
पोट्टलय	bundle
वडल्ल	ox
वलाभोडिय	forced
वोल्ल	to speak
भल्लुकी	vixen
भेल्लिय	attacked
मउद	musical instrument
मग्गुल	bad, ugly
मड्ह	small
मुट्ठ	having bodily defect
मुग्गुग्गु	chaff fire
मुत्तुग्गु	to found
मूयल	dumb
भेढी	supporting beam
भैल्ल	to leave, to place
रग्ग्	to crawl
रक्खवाल	guard
रम्माल्ल	beautiful
रिच्छोलि	row
एद्	to hum
रेह	to appear beautiful

ललल	speaking
लललाय	indistinctly
लीव	child
वकिय	eaten
वचच	ordure
वज्जर	to say
वट्टड	to be sure
वणे	possibly
वलग्गु	to mount
वलत्था	horse's stable
वव्वीसय	musical instrument
वारुअ	quickly
वाहियाली	riding ground
विरय	rivulet
विसट्ट	bloomed
विहडप्फड	agitated
वुण्ण	dejected
वेगसर	mule
वेएलहल	tender
वोक्किएल	boasting
वोद्रह	youth
वोएलाह	kind of horse
मवच्छर	astrologer
सिलिका	small stick, chip
सिलिव	child
सुढिय	exhausted
सेराह	kind of horse
सोवणय	bed room
हलवोल	din
हलहल	agitation
हल्ल	to stir
हल्लफल	agitated haste
हिरिमथ	gram



Next we pass on to the most extensive and outstanding extant work of Deśya lexicography, viz., Hemacandra's *Rayanāvalī* or *Deśināmamālā*. Hemacandra aimed at preparing an up-to-date authentic lexicon of Deśya words for Prakrit writers and readers on the basis of various previous works. It was a very difficult and taxing task in view of the fact that something like utter confusion prevailed at that time in the field of Deśya lexicography owing to disagreement among authorities, immature writers, ignorant scribes and poor condition of preservation of old texts. It highly rebounds to Hemacandra's credit that, owing to his scientific attitude and practical approach, he succeeded in introducing considerable measure of order where disorder reigned. As a consequence the *Deśināmamālā* had such a success that it eclipsed almost all the earlier Deśi lexicons, which in course of time went out of use and eventually disappeared altogether. The success achieved by Hemacandra in this regard owes much to his adoption of some definite principles and methods in compiling his work.

He set up five criteria for defining the character and scope of the Deśya words

- (i) Those words which were confined to the ordinary speech of the peoples in various regions like Mahārāstra, etc (i.e. words of regional dialects) were to be ignored.
- (ii) Those prakrit words only which were handed down through the tradition reaching back to a hoary past were to be noted.
- (iii) Of these words only those were Deśya which were not analysable as complexes of root and suffix, and which could not be derived from Sanskrit through the grammatical processes of Loss, Intrusion, Modification etc.
- (iv) Certain Prakrit words inspite of being analysable and derivable from Sanskrit, were to be considered Deśya, if, in their Sanskrit form they were not found recorded in standard Sanskrit lexicons.

- (v) If the meaning of a Prakrit word could be explained through metaphorical transfer as compared with the meaning of the corresponding Sanskrit form of that word, that word was not be considered Deśya

Hemacandra introduced certain methodological innovations in the arrangement and presentation of his lexical material. This made for greater orderliness and clarity and enhanced the reference value of his work. He adopted an alphabetical order for the items selected, and under each latter-head he arranged the words according to the number of syllables. Items with multiple meanings were separately grouped. He composed verses to illustrate the use of the recorded items. These also provided the necessary context to remove ambiguities where the glossing word (in Prakrit or Sanskrit) had several meanings. Against the former practice, he excluded the verbal substituted (*dhātuvādeśas*) from the lexicon and assigned them to the Prakrit grammar, because of their special characteristic of combinability with derivative affixes of Sanskrit origin. But for the sake of convenience and to avert any sudden break with the tradition, he noted them in his commentary on the *Deśī nāmamālā*.

This commentary also served the purpose of a clearing house. Hemacandra critically evaluated earlier work in Deśya lexicography, distinguishing between inaccurate and authentic ones on the other. In his work he incorporated the materials from the latter sources. In numerous cases of doubt or disagreement, he selected and rejected after properly weighing the available evidence, noted the alternatives where he found them equally authoritative and left the choice open where no decisive evidence was available. We can well imagine the enormous effort involved in this sort of task, and appreciate the high scholarly spirit which saved the Deśya lexicography from utter confusion and threatened oblivion.

Hemacandra's *Deśīnāmamālā* gives the meanings of about four thousand words. If we count a word with multiple meanings as so many separate words, then the number may go up by a thousand. On the other hand the total would go down by a

few hundreds if we leave out those items which are mere orthographic or phonological variants<sup>6</sup> of some other items, or are such as can be shown to be the result of some confusion or error<sup>7</sup>

Even a superficial examination of the Deśīs recorded by Hemacandra makes obvious some of its striking characteristics. A majority of these words are such that they are not known so far from any other source. The *Pāṇasaddamahannavo* (and other modern Prakrit dictionaries) do not cite for them any other authority. It is however a fact that a considerable amount of Prakrit and Apabhramśa literature has remained as yet unpublished. Our experience so far shows that newly published Prakrit works are found to contain Deśya words which had remained so far unattested from the published literature.

A considerable number of words of the *Deśināmamālā* are such that though technically considered Deśya by Hemacandra's criteria, are quite good Tadbhavas and Hemchandra himself is fully aware of this alternative opinion. The following are a few instances out of hundreds.

अइठार		
अइरजुवई	अचिरयुवति	नववधू
अगुज्झहरो	अ-गुह्यधर	रहस्यभेदी
अग्वक्खघो	अग्रस्कन्ध	रणमुखम्
अग्वेओ	अग्रवेग	नदीपूर
अग्गिओ	आग्निक.	इन्द्रगोपकीट.
अकुसडअ	अकुशित	अकुशाकारम्
अजुअलवण्णो	अयुगलपर्ण	अम्लिकावृक्ष
अज्जो	अयं	जिन
अणेकज्झो	अनेक + ध्य	चञ्चल
अत्थग्घ	अस्ताचम्	अगाधम्
अधधू	अन्धान्धु	कूप
अधज्जो	आत्म + ध्य	आत्मवश
अरिहइ	अर्हति	नूनम्
अवगो	अपाङ्ग	कटाक्ष



अभिण्णपुडो	अभिन्नपुट	रिक्तपुट
अवरज्जो	अपर + द्यु	अतिक्रान्तं दिनम्
अविणयवरो	अविनयवर	जार
अहिहर	अहिगृहम्	वलभीक
आउरं	आतुरम्	सग्राम
आउलं	आकुलम्	अरण्यम्
आलयण	आलयनम्	वासगृहम्
आलासो	आलास्य	वृश्चिक
आलीवण	आदीपनम्	प्रदीप्तम्
इदग्गी	इन्द्राग्नि	तुहिनम्
इदमहकामुओ	इन्द्रमहाकामुक	श्वा
उण्होदयभडो	उण्होदकभाण्ड	अमर
ऊआ	यूका	यूका
एक्कधरिल्लो	एक + गृह + 'इल्ल'	देवर
एक्कसाहिल्लो	एक + शाख्य + 'इल्ल'	एकस्थानवासी
ओरत्तो	अवहृत्	गविष्ठ
ओलुगो	अवसृण	निस्थामा
ओसीस	अपशीर्ष	अपवृत्तम्
कमणी	क्रमणी	निश्रेणि
कुट्टोओ	कुट्टक	चर्मकार
कुडीर	कुटीरम्	वृत्तिविरम्
कुड्डुलेवणी	कुड्डुलेपनी	सुर्पा
कुलफसणो	कुलपासन	कुलकलङ्क
कोलो	क्रोड	ग्रीवा
कोसलिय	कौशलिकम्	प्राभृतम्
खञ्जोओ	खद्योत	नक्षत्रम्
खुड्डु	क्षुद्रम्	लघु
खेआलू	खेदालु	नि सह
गणोत्ती	गणयित्री	अक्षमाला
गडीव	गाण्डीवम्	धनु
गय	गतम्	मृतम्
गयणरइ	गगनरति	मेघ
गयसाउलो	गतस्वाद + 'उल'	नि स्नेह
गामेणी	ग्रामेणी	छागी

गोसण्णो	गोसञ्ज	मूर्ख
घणवाही	घनवाही	इन्द्र
घरघंटो	गृहघण्ट	चटक
घरयदो	गृहचन्द्र	आदर्श
चउरचिघो	चतुरचित्त	सातवाहन
चक्खुरक्षणी	स्वक्षूरक्षणी	लज्जा
चिधाल	चित्त 'आल'	मुख्यम्
छडक्खरो	षडक्षर	स्कन्द
छप्पण्णो	पट्प्रज्ञ	विदग्ध
छाइल्लो	छाया   'डल्ल'	प्रदीप
छिण्णोमवा	छिन्नोद्भवा	दूर्वा
छुदहीरो	क्षद्रहीर	शिशु शशी
छुरमड्डी	क्षुरमदी	नापित.
छुरहत्थो	क्षुरहस्त	नापित
छेत्तसोवणय	क्षेत्रस्वपनम्	क्षेत्रे जागरणम्
जच्छंदओ	यच्छन्दः	स्वच्छन्द
जपेच्छिरमगिरो	यद् + प्रेक्ष् + 'इर   म + मार्ग + 'इर'	यो यद् दृष्ट तदेव मृगयते
जहणरोहो	जघनरोह	ऊरु
जहाजाओ	यथाजातः	जड
जालछडिआ	जालघटिता	चन्द्रशाला
जेमणय	जेमनकम्	दक्षिणहस्त
जोइगणो	ज्योतिरिङ्गण.	इन्द्रगोप
डभिओ	दाम्भिक	द्यूतकार
णदिणी	नन्दिनी	गौ
णक्खत्तणेमी	नक्षत्रनेमि	विष्णु
णहेमुहो	नभोमुख	धूक
णह्वल्ली	नभोवल्ली	विद्युत्
णाहिदाम	नाभिदाम	उल्लोचमगध्यदाम
णाहिविच्छेओ	नाभिविच्छेद	जघनम्
णिअसण	निवसनम्	वस्त्रम्
णिअडी	निकृति	दम्भ
णिम्मसू	निश्मश्रु	तरुण
णिव्वित्ता	निवृत्त	सुप्तोत्पित

णिहुअ	निभृतम्	तूष्णीकम्
णीसीमिओ	नि सीमित	निर्वासित
तवकिमी	ता अकृमि	इन्द्रगोप
तवकुसुमो	ता अकुसुम	कुरवक
तिव्व	तीव्रम्	अत्यर्थम्
तोवट्टी	तपुपट्टिका	
थिण्णो	स्त्यान	दृष्ट
यिरसीसा	स्यिरशीर्षा	निर्भाक
थूलघोणो	स्थूलघोण	सूकर
थेणिल्लिअ	स्तेन + 'इल्लिअ'	हृतम्
थेरासण	स्यविरासनम्	पद्मम्
दहिउप्फ	दधिपुष्पम्	नवनीतम्
दिअधुत्तो	द्विजधूत	काक
दिअहुज	दिवाभुक्तम्	पूर्वाह्णभोजनम्
दिआहमो	द्विजाघम	भासपक्षी
दिवासा	दिवासा	चामुण्डा
दुअक्खरो	द्वयक्षर	षण्ड
दुद्धमो	दुर्दम	देवर
डुमुहो	दुर्मुख	मर्कट
दुरालोओ	दुरालोक	तिमिरम्
धवलसउणो	धवलशकुन	हस
धारावासो	धारावाश	भेक
धारावासो	धारावर्ष.	मेघ
धुअगाओ	ध्रुवगाय	अमर
धूमगो	धूमाङ्ग	अमर
धूमद्वार	धूमद्वारम्	गवाक्ष
धूमद्धओ	धूमध्वज	तटाक
धूमधयमहिसीओ	धूमध्वजहिष्य	कृत्तिका
धूममहिसी	धूममहिषी	नीहार
धूमसिहा	धूमशिखा	नीहार
पक्केगाहो	पक्वग्राह	मकर
पक्कसावओ	पक्वश्वापद	शरभ
पक्को	पक्व	समर्थ
पच्चुली	पञ्चाङ्गलि	एरण्ड

पडरगो	पाण्डुराङ्ग	एद्र
पयलायभत्तो	प्रचलाक-भक्त	मयूर
पल्लट्टजीहो	पर्यस्तजिह्व	रहस्यभेदी
पवरग	प्रवराङ्गम्	शिर
पाडलस उणो	पाटलशकुन	हस
पायप्पहणो	पादप्रहण	कुक्कुट
पिअमाह्वी	प्रियमाधवी	कोकिल
पिट्ट त	पृष्ठान्त	गुद
पिंगगो	पिङ्गाङ्ग	मर्कट
पुडडअ	पुटकितम्	पिण्डीकृतम्
वप्फाउल	वाष्पाकुलम्	अत्युष्णम्
वहुमुहो	वहुमुख	दुर्जन
वभहर	ब्रह्मगृहम्	कमलम्
वहुरावा	वहुरावा	शिवा
भयवग्गामो	भयवग्गामो	मोढेरकम्
भाउज्जा	आतुज्या	
भिमिअ	वृसिका	
भुक्खा	बुभुक्षा	
भूअण्णो	भू + यज्ञ	कृष्टे खले यज्ञ
भूमिपिसाओ	भूमिपिशाच.	ताल
माडमोहणी	मतिमोहिनी	सुरा
भउअ	मृदुकम्	दीनम्
मगलसज्ज	मङ्गलसाध्यम्	वीजवापशेष क्षेत्रम्
मज्जा	मर्यादा	
मज्झिमगड	मध्यमकाण्डम्	उदरम्
मडवोज्जा	भृत + वाह्या	शिविका
मडो	मृत	
मणिणायहर	मणिनागगृहम्	समुद्र
मणिरडआ	मणिरचिता	कटिसूत्रम्
मघाओ	मान्वाता	आद्य
भयणिवासो	मदनिवास	कन्दर्प
महगो	महाङ्ग	उष्ट्र
मसिण	ममृणम्	रम्यम्
महानडो	महानट	एद्र

महाविल	महाविलम्	व्योम
महालवक्खो	महालयपक्ष	भाद्रपदे श्रद्धपक्ष
महावल्ली	महावल्ली	नलिनी
महासउणो	महाशकुन	उलूक
महासद्द	महाशब्द	शिवा
महुमुहो	मधुमुख	पिण्डुन
माउआ	मातृका	दुर्गा
मारिलग्गा	मारीलग्ना	कुत्सिता
माह	माघम्	कुन्दकुसुमम्
मुहरोमराई	मुखरोमराजि	भ्रू
मुहल	मुख + 'ल'	मुखम्
मूअलो	मूक + 'ल'	मूक
मेरा	मर्यादा	
मेहच्छीर	मेघक्षीरम्	जलम्
रडलेक्ख	रतिलक्ष्यम्	जघनम्
रत्थामओ	रथ्यामृग	शवा
रत्तच्छो	रक्ताक्ष	हस
रत्तय	रक्तक	बन्धूकम्
रयणिद्धय	रजनीध्वज	कुमुदम्
रसाओ	रसाद	अमर
रसाल	रसाल	माजिता
रिच्छीभएलो	रक्ष + भद्र	ऋक्ष
रिट्ठो	अरिष्ट	काक
रेवईओ	रेवत	मातर
रोमलयासय	रोमलताशयम्	उदरम्
लासयविहओ	लासकविहग	मयूर
वइरोअणो	वैरोचन	बुद्ध
वको	पङ्क	कलङ्कम्
वगच्छा	वक्राक्षा	प्रमथा
वच्छ	पक्ष	पार्श्वम्
वणसवाई	वनश्वपाकी	कलहकण्ठी
वत्थउडो	वस्त्रकुट	वस्त्राश्रय
वायण	उपायनम्	भोज्योपायनम्
वायाडो	वाचाट	शुक

वालवासो	वालपाश	शिरआभरणम्
वासदी	वासन्ती	कुन्द
वासवालो	वासपाल	श्व
वाहगणओ	विवाहगणक	मन्त्री
विलुत्तहिअओ	विलुप्तहृदय	य काले कार्य कर्तुं न जानाति
विममय	विपमयम्	भल्लातकम्
विसारओ	विशारद	धृष्ट
विहुडुओ	विधुन्तुद	राहु
वेआलो	वेनाल	अन्धकार
वेणुणासो	वेणुनाश	अमर
स०रपमहो	खेरवृषभ	धर्मार्थित्ववनोवृषभ
स०लासओ	सदालक्षक	मयूर
स०सिलिपो	त्सनीशिशु	स्कन्द
सत्तावीमजोअणो	सप्तविंशतिद्योतन	इन्दु
सदाल	शब्द + 'आल'	नूपुरम्
समुद्वणवणीअ	समुद्रनवनीतम्	अमृतम्, चन्द्र
मिगिणी	शृङ्गिणी	गौ
मिसिर	शिशिरम्	दधि
मिहडइल्लो	शिखण्ड   'इल्ल'	वाल, मयूर
मिहरिणी	शिखरिणी	माजिता
मितरिल्ला	शिखर   'इल्ला'	माजिता
मिहिण	शिखिन्	स्तन
मिहो	शिखी	कुक्कुट
नीरोउहोनिआ	शिरउपहासिका	लज्जा
नीतगती	सिंहनद्यी	करमन्दिका
मु०जट्टो	सुरज्येष्ठ	वरुण
मुहनाणी	सुखस्वावा	मयूरी
मू०दुओ	मूर्यध्वज	दिन
गोल्हावगतओ	पोडशावर्तक	शङ्ख
हरिन्दण	हरिचन्दनम्	कुक्कुटम्
हरी	हरित्	शुक्ल
ह्रिगो	ह्र	कल्पम्

Allied to the above, and more or less distinguishable from it is another growth of words, whose Sanskrit origin is not so obvious, but which can be made out with some effort. Note for example the following words

उलुहलिआ	उल्लुखलिक words	तृप्तिरहित
अअ	ततम्	विस्तारितम्
अअखो	अकाक्ष	नि स्नेह
अङ्गय	Vedic अपिगतम्	प्रविष्टम्
अङ्गो	अतिराज	आयुक्त
अह्णिअ	Vedic अतिनीनम्	आनीतम्
ईसओ	ऋष्यक	मृगविशेष
निउक्कणो	नि + बुक्क्   अन	वायस

So also बुक्कणो = काक, उबुक्क — प्रलपितम्, बुक्कासोरो = भीरु वोक्किलो = अलीकशूर contain बुक्क 'to boast' 'to babble'

दवहुअ	= दवाभिमुखम्	श्रीष्ममुखम्
डुधुट्टो	५.   धुट्ट = पिष्	हस्ती
देहणी	from दिह 'smear'	पङ्क
आसिअओ	= आअसिओ = आयसिक	लोहमय
ओहसो ओहरिसो	अवधर्ष	चन्दनधर्षण शिला
झट्य	ध्वस्तम्	नष्टम्
पाडवण	= पावडण	पादपतनम्
पव्वज्जो	पर्वज	नख
बउहारी	= बहुआरी = बहुकारी	सम्मार्जनी
भसुआ	from भष् + उका	शिवा
भुक्कणो	from भुक्क	श्वा
माभीसिअ	from मा भैषी	अभय प्रदानम्
मग्गणिणो	मार्ग + अनु + इ + इर	अनुगमनशील
खओ	खव from रु to roar	मन्यान
रोअणिआ	रीदनिका	डाकिनी
वऊ	Vedic वपु	लवण्यम्
वम्मीसरो	मर्मेश्वरे	काम
वलयगी	वलयाङ्गी	वृत्तिमती

सिधुओ	(from सिंह + उक)	राहु
सिप्ता	(from स्नुह)	हिमम्

Past passive participles like खण्ण (खान), खद् (खादिन), रिद् (रह) etc are to be explained as analogical formations

A very large number of words from those recorded by Hemacandra have been inherited by the New Indo-Aryan languages. They are very valuable for the History of non-Aryan element of the NIA vocabulary and conversely, some uncertainties about the proper form and meaning of the Desya words can be cleared with the help of the corresponding NIA words सिटा and not सिढा is the correct form (DN 8 29. सिढा = नासिकानाद) as shown by Gujarati सीटी etc, पडद् is the correct form and not पड्ठ (DN 6, 66 पड्ठो = जातरस) in view of Gujarati पेद्यो पड्ठुआ (6, 8 = चरणाधात) Should be पट्टुआ as shown by Gujarati पाटु Besides this lexical importance, the Desya materials of the Desinamamala prove to be a valuable source for data on Middle Indo Aryan word-formation in view of several suffixes like °ल, °ल्ल °ड, °उअ, °आल, °इअ, °इर, °इल्ल, °क्क etc

From quite a different angle the Desinamamala proves further its great importance for us Numerous items are useful for shedding light on the cultural condition prevalent in the later part of the first millennium Names of several popular festivals, customs and games are recorded by Hemacandra We may draw attention to the explanations of words like अइराणी, अभिण्णपुडो, आइप्पण, आणदवडो, उड्डिआहरण, कत्ता, गदीणी, छिछटरमण, गवलया, पैवरिअ पोअलओ, महालवक्खो, फग्गु, वोरल्ली, सड्खसहो, मुगिम्हओ etc We have here very rich materials for studying religious, sociological and economic aspects of the society of those times

Trivikrama's Prakrit grammar almost wholly depends upon Hemacandra for its section on the Desya words, and it is quite obvious that Hemcandra standing at the dawn of New Indo-



Aryan also symbolized the end of fresh lexicographical activity in Prakrit

Before we close this brief account it is necessary to point out a third source of information about the Deśya expressions, for which all the credit goes to the Jain writers. Since the period of the Cūṛṇis Jain writers practised a style of writing in which Prakrit was liberally interspersed with Sanskrit. From about the eighth century another style becomes current in which the Sanskrit is characterized by an under current of Prakrit that becomes in course of time more and more pronounced and vigorous. The narratives found in the Bhāṣya, Carita, Dharma-kathā, Kāvya and Prabandha literature of the Jainas are composed in a peculiar kind of Sanskrit, called Jain Sanskrit, which contains numerous Prakrit (and later on, New Indo-Aryan) words, expressions and idioms in a Sanskritic garb. *Upamitibhava-prapañcakatha* of Siddharṣi, the canonical commentaries of Abhayadeva and others, Hemcandra's *Trisastīśalākāpuruṣacarita*, Hariṣena's *Bḥatkathākośa* and the Prabandha's Merutunga, Rājaśekhara and others are the typical examples.

Some of these texts have been already studied from this point of view,<sup>8</sup> but the literature being vast much remains still to be done.

It is hoped that even this sketching account would not fail to impress upon the readers the great value of Jain writings for the study of the Deśya words and hence for the history of middle and New Indo-Aryan. This field of study has unfortunately attracted very few scholars. So long as this area is not fully explored, we cannot hope to fill large gaps in the history of Indo-Aryan.

## Notes

1. For two small efforts by way of making a beginning in this direction, see the following two articles of mine
2. तीन अर्धमागधी शब्दों की कथा (मुनि श्री हजारीमल स्मृति-ग्रन्थ),  
तृण देश्य आगमिक शब्दों (मोहनलालजी स्मारक-ग्रन्थ)  
तो उच्चेकण गाहाओ पालित्तएण रड्वाओ ।  
देसी-पयाइ मोत्तु सखित्तयरी कया एसा ॥  
(सखित्त-तरगवई-कहा, ८)
3. See the word index to the three volumes of Svayambhū.  
deva's *Paumacariya* edited by H C Bhayani, 1953, 1960
4. See R. N Shriyan, A critical study of the Deśya and rare  
words from Puspādanta's Mahāpurāṇa, and other Apabh-  
raṁśa works, 1969 The *Paumasiri Cariya* of Dhāhila (ed  
by M C Modi and H C Bhayani,) has Deśya words The  
number for the Vilāsavaikahā of Sādhārana (ed Shah to  
be shortly published) is about one hundred and fifty.  
The word index given in other Apabhraṁśa works take  
the *Karakanda Cariya*, the Jambūsamī Cariya of Vira etc.  
also Deśya words
5. See the word index (prepared by R N Shriyan) to Śānti-  
sūri's *Puḥatcamdacariya* edited by Munī Ramnikvijaya,  
1972 In the Index of Deśya word given in the third Appen-  
dix to Śīlānka's *Caupannamahapūṣisacariya* (ed by A M.  
Bhojaka, 1961), composed in 869 A D same five hundred  
items are listed Similarly from the Ākhyanakamanikośa-  
vṛtti of Āmradeva (ed by Munī Punyavijaya, 1962), com-  
posed in 1134 A D about four hundred Deśya words are  
noted in the third Appendix to that work Actually both  
those works contain many more Deśya words
6. See H C Bhayani, Studies in Hemcandra's Deśināmamālā,  
1966
7. See H C Bhayani, 'Origins of multiple meanings of Deśya  
words', Vidyā, 9 1967, pp 30-37

